महिमभट्ट






डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी



महिमभट्ट

संस्कृत-साहित्यशास्त्र में अनुमितिवाद के प्रवर्तक ध्वनि-विरोधी आचार्य
महिमभट्ट की कृति एवं काव्य-सिद्धान्तों का गवेषणात्मक अध्ययन

•

डॉ॰ व्रजमोहन चतुर्वेदी

मूल्य : पचीस रुपये
प्रथम संस्करण : १९६८
आवरण : हरिपाल त्यागी

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २।३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली–६
मुद्रक : लीडर प्रेस, लीडर रोड, इलाहाबाद

सरगुजाराज्य के भूतपूर्व राजपण्डित
ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान्
अपने पितृव्यचरण
स्वर्गीय पं० श्री परशुराम जी चतुर्वेदी
को
श्रद्धाञ्जलि के रूप में

आधातुं व्युत्पत्तिं काव्यानुमितौ सहृदयानाम् ।
'महिमभट्टं' कुर्वे नत्वा सत्त्वां परां वाचम् ॥१॥

इह सम्प्रतिपत्तित एव व्यक्तिविवेककृद्वचो विवेचनं नः ।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय ॥२॥

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम् ।
हासैककारणगवेषणया नवार्थतत्त्वावमर्शपरितोषसमीहया वा ॥३॥

प्ररोचना

संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट का अपना एक विशेष स्थान है। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'व्यक्तिविवेक' संस्कृत अलंकार शास्त्र के प्रथम कोटि के उन ग्रंथों में परिगणित है जिन्होंने परवर्ती काव्य एवं तद्विषयक शास्त्र दोनों को प्रभावित किया है। आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा प्रोद्भावित काव्य की समीक्षा के सिद्धान्त ध्वनि का खण्डन कर उसके आधारभूत तत्त्व व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना नामक नवकल्पित वृत्ति का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से प्रणीत इस ग्रन्थमें रस, भाव, गुणालंकार, ध्वनि-वक्रोक्ति, औचित्यानौचित्य तथा शब्दार्थशक्ति प्रभृति साहित्य के प्रायः सभी तत्त्वों का विवेचन समालोचनात्मक रीति से हुआ है। महिमभट्ट साहित्य के ऐसे विलक्षण आचार्य हुए हैं जिन्हें वाङमय की वेद, पुराण एवं शास्त्र प्रभृति प्रायः सभी विधाएँ हस्तामलक थीं। फलतः निरुक्त, व्याकरण, न्याय और मीमांसा के सैद्धान्तिक विवेचनों से ओतप्रोत इनका ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का निकष हो गया है। इससे परीक्षित होकर ध्वनि-सिद्धान्त का भी परिष्कार हुआ है। यही नहीं, महिम के द्वारा व्याकरण एवं दर्शन के सिद्धान्तों को साथ मिलाकर ध्वनि का विवेचन करने से उसकी ऐसी अनेक महत्ताओं का प्रकाशन भी होता है जिनकी ओर विवुध व्यक्ति का भी ध्यान सहसा नहीं जाता। इसीलिए विद्वन्मण्डली में 'व्यक्तिविवेक' का अवगाहन किए बिना साहित्य का शास्त्रीय बोध पूर्ण नहीं माना जाता।

व्यक्तिविवेककार सम्भवतः अपने विवेचन की गरिमा से भी परिचित थे इसीलिए उन्होंने यथासम्भव उसे सरल एवं सुबोध करने का प्रयास किया है। फिर भी उनकी कृति का सम्यक् अवगाहन साहित्य या किसी भी शास्त्र के सामान्य विद्यार्थी के वश की बात नहीं है। यही कारण है कि महिमभट्ट की इस अनुपम कृति का आधुनिक पद्धति से मूल्यांकन अब तक नहीं हो सका था। प्रकृत ग्रंथ 'महिमभट्ट' मेरे शोध-प्रबन्ध 'द कान्ट्रीब्यूशन ऑफ महिमभट्ट टु संस्कृत पोयेटिक्स' का ही एक महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें आचार्य-प्रवर महिमभट्ट के व्यक्तिगत जीवन, वैदुष्य तथा कार्यकाल का निरूपण करते हुए उनके काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन अत्यन्त विशद रूप से किया गया है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र को उनकी देन का समीक्षात्मक मूल्यांकन करने में भरत-नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर तक के ग्रंथों में निहित विपुल सामग्री का यहाँ पूरा उपयोग हुआ है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी यह भली-भाँति जानता है कि मम्मट प्रभृति ध्वनिवादी प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महिमभट्ट के काव्यानुमिति सिद्धान्त का यथावसर खण्डन ही किया है। उसका सम्यक् अध्ययन कर विस्तारपूर्वक विवेचन का प्रयास अब तक नहीं के बराबर ही हुआ है। इस ग्रंथ के प्रणयन का मुख्य प्रयोजन व्यक्तिविवेककार के पक्ष का समर्थन करते हुए ध्वनि के खण्डन एवं उसके अनुमान

में अन्तर्भाव की पुष्टि में प्रदत्त उनकी युक्तियों एवं तर्कों की ग्रंथि को खोलकर उन्हें स्पष्ट रूप से उपस्थित करना है। इसी संकल्प की पूर्ति के लिए यह एक साहित्यिक अनुष्ठान किया गया है जिसमें उक्त उद्देश्य के आद्योपान्त निर्वाह से ही परम सन्तोष है। इसके युक्तायुक्त होने के सम्बन्ध में आचार्य महिमभट्ट की उक्ति को ही उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा ––

युक्तोऽयमात्मसदृशान्प्रति मे प्रयत्नो,
नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्।
केचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निमीलन्त्यन्ये,
यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥१।२॥

इस प्रसंग में आगरा कालेज के संस्कृत के भूतपूर्व अध्यक्ष पं० श्री कैलाशचन्द्रजी मिश्र का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनके अगाध पाण्डित्य, नीर-क्षीरविवेकिनी प्रतिभा तथा अतिनिर्मल दार्शनिक बोध से संपृक्त सान्निध्य ने ही मुझे यह दृष्टि प्रदान की जिससे 'व्यक्ति-विवेक' जैसे व्याकरण, दर्शन एवं भाषा सम्बन्धी गुत्थियों से परिपूर्ण ग्रन्थ के मर्मोद्घाटनमें मुझे कोई विशेष आयास नहीं हुआ। महिमभट्ट पर शोध करने की प्रेरणा के मूलस्रोत मेरे श्रद्धेय गुरुवर प्रो० बलदेव जी उपाध्याय हैं जिनके वेद, पुराण, दर्शन एवं साहित्य विषयक ग्रंथ-रत्न निखिल भारतीय वाङमय के दिग्दिगन्त को आलोकित कर रहे हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र के तो वे ख्यातनामा आधिकारिक विद्वान् हैं। उनके वैदुष्य का वरदहस्त मेरे ऊपर सर्वदा रहा है जो प्रकृत ग्रंथ की भूमिका के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। उनके इस अहैतुक स्नेह-सम्भार के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। वाराणसेय-संस्कृत विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग के प्रथम अध्यक्ष विद्वद्वरेण्य पं० श्री मुकुन्दशास्त्री जी खिस्ते का पुण्य-स्मरण करना यहाँ मैं नहीं भूलूंगा जिनके प्रियशिष्य होने की योग्यता छात्र का प्रबुद्ध जिज्ञासुभाव ही था। उनके अगाध स्नेह का पात्र होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। साहित्य के लक्षण-ग्रंथों में मेरी जो कुछ भी थोड़ी बहुत गति है वह इन्हीं का प्रसाद है। साहित्यिक समीक्षा के पौरस्त्य एवं पाश्चात्य उभयविध सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिक चिन्तक, सहृदय शिरोमणि डॉ० नगेन्द्र के हम (लेखक एवं प्रकाशक दोनों ही) हृदय से आभारी हैं जिनकी सत्प्रेरणा के फल-स्वरूप इस ग्रंथ के प्रकाशन का श्रेय 'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' को ही प्राप्त हुआ है। साहित्य-दर्शन एवं तन्त्र के अज्ञातरहस्यज्ञ, बहुश्रुत विद्वान् तथा सात्विकता के साक्षात् विग्रह गुरु-कल्प पं० श्री कृष्णशंकर जी शुक्ल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना परमधर्म समझता हूँ जिनके बहुमूल्य सुझावों से प्रकृत ग्रंथ का बड़ा उपकार हुआ है।

अन्त में सौजन्यमूर्ति अपने प्रकाशक श्री कन्हैयालाल मलिक को धन्यवाद देना भी मैं अपना विशेष कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने विघ्न पर विघ्न होने पर भी बड़े धैर्य एवं लगन से इस ग्रंथ का सुन्दर प्रकाशन किया है। इनके अतिरिक्त मैं उन सबके प्रति कृतज्ञ हूँ जिनकी अनन्त शुभकामनाएँ इस ग्रंथ के प्रकाशन के साथ संलग्न हैं।

प्रायः प्रतीतिवैचित्र्यरसास्वादविदः प्रति।
सूपकारक्रियेयं मे साफल्यमुपयास्यति॥

––व्रजमोहन चतुर्वेदी

संस्कृत-विभाग
दिल्ली वि[illegible]विद्यालय,
दिल्ली

भूमिका

भारतीय वाङ्मय के विकास के क्रम में एक समय ऐसा आया जब राष्ट्र का मूर्धन्य प्रदेश काश्मीर विद्या और कला का केन्द्र हो गया था जहां प्रत्यभिज्ञा-दर्शन एवं साहित्य की शास्त्रीय-मीमांसा की सरिताएँ एक साथ ही उमड़ पड़ी थीं। फलस्वरूप संस्कृत भाषा के साहित्य को उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट एवं क्षेमेन्द्र जैसे मूर्धन्य चिन्तक प्राप्त हुए। इनमें भी आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक का समय (ई० ८५०–ई० ११५०) काव्य की शास्त्रीय मीमांसा के चूड़ान्त विकास का निदर्शन है जिसने ध्वनि, वक्रोक्ति, साधारणीकरण एवं औचित्य नामक बड़े ही महत्त्वपूर्ण काव्य-सिद्धान्तों को जन्म दिया। महिमभट्ट का अनुमितिवाद भी इन्हीं में से एक है।

काश्मीरी आचार्य महिमभट्ट के काव्यशास्त्रीय मतों का उल्लेख व्यक्ति-विवेककार के नाम से अनेकानेक ग्रंथों में पाकर विद्वज्जन पूर्ण सन्दर्भ के साथ उन्हें मूल रूप में पढ़ने के लिए समुत्सुक थे। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक महिमभट्ट की कृति 'व्यक्तिविवेक' की उपलब्धि का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका था। सन् १९०७ में अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थमाला के अध्यक्ष श्री गणपति शास्त्री ने यह सूचना दी कि महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' उपलब्ध हो गया है। उसी ग्रन्थमाला में उसके प्रकाशित होने से संस्कृत-जन-मानस हर्ष-विभोर हो उठा। अनन्तर वही ग्रन्थ रुय्यक-कृत 'व्याख्यान' एवं मधुसूदन शास्त्री कृत 'विवृति' नामक टीकाओं के साथ चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, काशी से भी १९२५ में प्रकाशित हुआ जिससे वह अप्राप्य ग्रन्थ अब अध्ययनार्थ सुलभ हो गया है।

महिमभट्ट काव्यानुमितिवादी आचार्य थे। इनके पूर्व श्री शंकुक ने रस की व्याख्या अनुमितिपरक की थी जिसके उद्धरण नाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' टीका (षष्ठ अध्याय) तथा काव्य-प्रकाश (चतुर्थ उल्लास) में उपलब्ध होते हैं। रीति, व्यक्ति एवं औचित्य की तरह ही अनुमिति के द्वारा भी काव्य के विविध तत्त्वों की व्यवस्था की प्रणाली अति प्राचीन रही है। आचार्य महिमभट्ट उसी परम्परा के शिखर-मणि थे जिसकी महत्ता भट्ट गोपाल के निम्न श्लोक से स्पष्ट

प्रतीत होती है —

रसामृतनदीमग्ने ध्वनिकारे महागुरौ ।
अनुमाया हि महिमा काव्य-गोष्ठी न मुञ्चति ।।

यों तो अनुमिति अनुमान प्रमाण से होने वाली याथार्थ्य प्रतीति है, किन्तु उसका क्षेत्र प्रामाण्य-ज्ञान तक ही सीमित नहीं है; न ही वह स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि की तरह अभिव्यक्ति का एक प्रकार अथवा बुद्धि का विलास मात्र है; अपितु यदि यह कहा जाय कि प्राणिमात्र के जीवन में होने वाली प्रायः सभी अतीन्द्रिय प्रतीतियां अनुमान पर ही आश्रित होती हैं तो अत्युक्ति न होगी। 'अनु = पश्चात्, मितिः = ज्ञानात्मकं मानमनुमितिः' की व्युत्पत्ति से प्रत्यक्ष के बाद होने वाली प्रत्येक प्रतीति सामान्य रूप से अनुमिति ही कही जायगी। यहां तक कि आप्तवाक्य की प्रामाणिकता की पुष्टि भी अनुमिति से ही सम्भव है। अधिक क्या कहा जाय, प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता भी प्रायः अनुमिति से ही प्रेरित होती है, अन्यथा उसमें विकल्प सम्भव नहीं। अतः अनुमिति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं असीमित है। किसी एक वस्तु को देखकर या पाकर उससे जिस किसी भी प्रकार सम्बन्धित परोक्ष विषय का ज्ञान अनुमिति ही होता है। काव्य में भी विवक्षित अर्थ की प्रतीति के लिए शब्दों का प्रयोग होता है। शब्द एवं अर्थ में से किसी एक को निमित्त बनाकर अन्य अर्थ की प्रतीतिरूप चमत्कार की अनुभूति भी अनुमिति की प्रक्रिया का ही फल है। यह चमत्कार काव्य-सौन्दर्य से ही उत्पन्न होता है जिसकी अनुभूति शब्द एवं अर्थ के माध्यम से प्रत्येक सहृदय सामाजिक को होती है। अतः शब्दार्थ रूपी एक वस्तु से चमत्कार या अर्थान्तर रूपी दूसरी वस्तु का बोधक होने से काव्य भी अनुमिति का ही विलास सिद्ध हो जाता है, चाहे वह अलंकृति, रीति, वक्रोक्ति या अभिव्यक्ति किसी नाम से क्यों न कहा गया हो। आचार्य महिमभट्ट ने इसी का विवेचन अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' में विशद रूप से किया है। व्यक्ति अर्थात् व्यंजना का सदसद्विवेचन ही उसका विवेक अर्थात् परीक्षण है। प्रतीयमानता या व्यंजनीयता अनुमिति का ही एक प्रकार है जहां व्याप्ति-साधक प्रमाण के अभाव में भी परिपुष्ट हेतु के प्रयोग से साध्य की प्रतीति अनायास हो जाती है। फलतः लक्षणा एवं व्यंजना अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। महिमभट्ट के काव्य-सिद्धान्त का यही निर्गलितार्थ है जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन उनके ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' के प्रथम एवं तृतीय दो उद्योतों में हुआ है।

ग्रन्थ का द्वितीय उद्योत काव्य-दोषों का मार्मिक विश्लेषण करता है जिसमें अनौचित्य की आधार-शिला पर भाषा एवं भावविषयक दोषों का विवेचन अत्यन्त

ही वैज्ञानिक रीति से हुआ है। यहां भी महिमभट्ट सर्वथा मौलिक सिद्ध हुए हैं। तथा पौनरुक्त्य, वाच्यावचन प्रभृति पांच दोषों एवं उनके मूल में निहित समस्याओं के साथ-साथ अलंकारों के प्रयोग में दोष की सम्भावनाओं का भी विवेचन किया है। इस प्रकरण के लिए स्वयं महिमभट्ट ने ठीक कहा है कि वह कवि-मार्ग पर आरोहण के इच्छुक आद्यतन तथा भावी शिक्षार्थियों के लिए एक शास्त्र है—

इदमद्यतनानां च भाविनां चानुशासनम्।
लेशतः कृतमस्माभिः कविवर्त्मारुरुक्षताम्॥ २।१२६॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'व्यक्तिविवेक' में विवेचित महिमभट्ट की काव्य-विषयक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में एक महती परम्परा है जिसमें व्याकरण, दर्शन तथा साहित्य—तीनों का सामंजस्य सन्निहित है। उसका ऊहापोह करते हुए महिमभट्ट के काव्य-सिद्धान्तों के अनुसन्धानात्मक अध्ययन की महती आवश्यकता थी। आधुनिक युग में संस्कृत-अलंकारशास्त्र के ऊपर काम करने वाले विद्वानों ने भी 'व्यक्तिविवेक' का महत्त्व समझा है तथा उसका निरूपण भी किया है। किन्तु इन सबकी सीमाएँ हैं। महिमभट्ट के ऊपर अनुसन्धानात्मक एक स्वतंत्र ग्रन्थ की आवश्यकता थी जिसमें उनका यथोचित मूल्यांकन किया गया हो। डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी की प्रकृत कृति 'महिमभट्ट' उसी कमी की पूर्ति है।

डॉ० चतुर्वेदी को मैं तब से जानता हूं जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरे अन्तेवासी थे। महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' को ही अपने अनुसन्धान का विषय चुनकर उन्होंने वस्तुतः बड़े साहस का परिचय दिया। इसे साहस मैं इसलिए कहता हूं कि 'व्यक्तिविवेक' जैसे दुरूह ग्रन्थ को केवल लगा लेना ही कम कठिन नहीं है, उसके अर्थ को समझकर उसका मूल्यांकन करना तो साहित्य के असाधारण विद्यार्थी के लिए भी सरलतया सम्भव नहीं। जब राजानक रुय्यक प्रभृति आचार्यों ने इसे अतिगहन एवं 'कुशाग्रधिषणक्षोदनीय' कहा है तो उस छात्र के लिए जो अपने साहित्यिक जीवन के अरुणोदय में है, इस पर अनुसन्धान कार्य करना साहस की ही बात है।

श्री व्रजमोहन चतुर्वेदी मेरे उन थोड़े-से शिष्यों में से हैं जिनकी प्रतिभा की विलक्षणता का आभास उनके अध्ययन-काल में ही हम लोगों को होने लगा था। भविष्य में साहित्य के क्षेत्र में कुछ स्थायी मूल्य के अनुसन्धान कार्य सम्पन्न करने की आशा उनसे उसी समय हो गई थी। प्रकृत ग्रन्थ ने उसे ही सत्यापित किया है। इसके सात अध्यायों में काव्यशास्त्र के विवेचनीय प्रायः सभी तत्त्वों के विषय में महिमभट्ट की उपलब्धियों का तुलनात्मक एवं सांगोपांग विवेचन हुआ है। भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर संस्कृत-अलंकारशास्त्र पर उपलभ्यमान आधुनिकतम

सामग्री का इसमें समुचित उपयोग किया गया है। युक्तियों एवं तर्कों से महिमभट्ट के पक्ष का सहानुभूतिपूर्वक विवेचन इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है जिसका निर्वाह ग्रन्थकार ने बड़ी कुशलता एवं विद्वत्ता के साथ आद्योपान्त किया है। ग्रन्थ में प्रयुक्त भाषा एवं शैली ग्रन्थकर्त्ता की मर्मग्राहिणी प्रतिभा के परिचायक हैं जो प्रतिपाद्य विषय का सर्वथा अनुगमन करती हैं। फलतः विषय के बोध में कहीं भी व्याघात नहीं होता। गहन शास्त्रीय विषय का विवेचन होने पर भी प्रतिपादन की प्रणाली ग्रन्थ को पढ़ने की रुचि पैदा करती है जो शुष्क शास्त्रीय-सिद्धान्त के विवेचक ग्रन्थों में प्रायः नहीं मिलती। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ से साहित्य के क्षेत्र में डॉ० चतुर्वेदी के वैदुष्य की प्रतिष्ठा होगी तथा साहित्य-शास्त्र के छात्रों, अध्यापकों एवं शोध-कर्ताओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना के लिए मैं ग्रन्थकार को आशीर्वाद देता हूं और आशा रखता हूं कि वे अश्रान्त उत्साह से अनुसन्धान-कार्य में लगे रहेंगे तथा उपयोगी प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन करते रहेंगे। तथास्तु।

—बलदेव उपाध्याय

संचालक, अनुसन्धान संस्थान
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
ज्येष्ठ पूर्णिमा, सं० २०२५

विषयानुक्रमणिका

१. महिमभट्ट, उनका काल एवं कृतियाँ

२. काव्य की परिभाषा

६. अनौचित्य अर्थात् काव्य-दोष

७. अलंकार निरूपण

८. उपसंहार

परिशिष्ट

शब्द-संकेत

१.	अ० पु०	अग्निपुराण
२.	अ० वृ० मा०	अभिधा वृत्ति मातृका
३.	अ० भा०	अभिनव भारती
४.	अ० स०	अलंकार सर्वस्व
५.	ई० प्र० वि०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
६.	एका०	एकावली
७.	क० क०	कवि कण्ठाभरण
८.	का० द०	काव्यादर्श
९.	का० नु०	काव्यानुशासन
१०.	का० प्र०	काव्य प्रकाश
११.	का० मी०	काव्यमीमांसा
१२.	का० लं०	काव्यालंकार
१३.	का० सा० सं०	काव्यालंकार सारसंग्रह
१४.	का० सू० वृ०	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
१५.	कु० न०	कुवलयानन्द
१६.	च० लो०	चन्द्रालोक
१७.	चि० मी०	चित्रमीमाँसा
१८.	द० रू०	दशरूपक
१९.	ध्व० लो०	ध्वन्यालोक
२०.	ध्व० लो० लो०	ध्वन्यालोकलोचन
२१.	ना० शा०	नाट्य शास्त्र
२२.	प्र० रु० य०	प्रताप रुद्र यशोभूषण
२३.	र० ग०	रसगंगाधर
२४.	व० जी०	वक्रोक्ति जीवित
२५.	वा० प०	वाक्यपदीय
२६.	व्य० वि०	व्यक्ति विवेक
२७.	व्य० वि० वि०	व्यक्ति विवेक विवृत्ति
२८.	व्य० वि० व्या०	व्यक्ति विवेक व्याख्यान
२९.	शृं० प्र०	शृंगार प्रकाश
३०.	स० क०	सरस्वती कण्ठाभरण
३१.	हृ० द०	हृदय दर्पण

प्रथम-अध्याय

प्रथम-विमर्श

विषय-प्रवेश

संस्कृत के काव्यात्मक साहित्य के समान ही उसकी आलोचना का इतिहास भी अत्यन्त समृद्ध एवं परम महनीय है। विक्रम-पूर्व की विलक्षण कृति 'नाटचशास्त्र' से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगङ्गाधर' की रचना के काल तक लगभग दो सहस्र वर्षों में संस्कृत के काव्यात्मक साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का जो निरन्तर विकास हुआ है उसने दोष, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति प्रभृति अनेकानेक तत्त्वों एवं ध्वनि, वक्रोक्ति, अनुमिति तथा औचित्य आदि सिद्धान्तों को जन्म दिया है। इन सिद्धान्तों के परिवेश में काव्यतत्त्वों का विवेचन साहित्यशास्त्र के तत्तद् ग्रन्थों में विविध प्रकार से हुआ है। विविध रूप में विवेचित होकर ये तत्त्व साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा के इतिहास में एक महती परम्परा की सृष्टि करते हैं। इस परम्परा ने अपने प्रवाह की गति में कई मोड़ लिए हैं। प्रत्येक मोड़ पर कोई-न-कोई विशेष वाद खड़ा है जो किसी विशिष्ट तत्त्व की ओर अंगुल्यानिर्देश करता है तथा उसी का विशद विवेचन प्रस्तुत कर उसी में अलंकार-शास्त्र के उद्भूत प्रायः सभी अन्य तत्त्वों को अंग-प्रत्यंग के रूप में व्यवस्थित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार अलंकार, गुण (रीति), ध्वनि, वक्रोक्ति, अनुमिति एवं औचित्य नामक सिद्धान्तों का उद्भव एवं विकास इस परम्परा की देन है जिसने अलंकार-शास्त्र के इतिहास की सृष्टि की है। उक्त सिद्धान्त ही इस ऐतिहासिक परम्परा के प्राण हैं जिन्होंने निरन्तर विकसित होते हुए इसे जीवन प्रदान कर रखा है।

इन सिद्धान्तों के उद्भव का क्षेत्र एवं उसका परिवेश अत्यन्त व्यापक है जो शास्त्रान्तरों से भी सम्बन्धित है। पर बीज रूप में दो प्रश्न इनकी प्रादुर्भूति के असाधारण कारण हैं। इनमें एक यह है कि काव्य की आत्मा या प्राण-तत्त्व क्या है? दूसरा भी उसी से सम्बन्धित है कि उस प्राण-तत्त्व या आत्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है? काव्य का व्यक्तीकरण कर उसके शरीर एवं अंग-प्रत्यंग के रूप में विविध तत्त्वों के विवेचन की प्रणाली उतनी ही पुरानी है जितना काव्यशास्त्र का इतिहास। आरम्भ में चमत्कृति रूप अलंकार को काव्य का सर्वस्व समझा गया तथा शब्द और अर्थ को ही उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम या प्रकार। भामह, दण्डी एवं उद्भट ये अलंकारवादी आचार्य हैं। इनके पूर्व यद्यपि सौशब्द्य अर्थात् शब्द के सुन्दर प्रयोग को ही अलंकारत्व का आधायक समझा गया था, पर इन लोगों ने उसका निषेध कर शब्द और अर्थ दोनों को वह श्रेय दिया।[१] यह प्रथम मोड़ था। दूसरे मोड़ पर वामन का रीतिवाद आता है जिसने गुण को काव्य की आत्मा होने का विधान किया तथा रीति को उसकी अभिव्यक्ति या सृष्टि का प्रकार बताया। वामन का कहना है कि काव्य-

१. तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी। शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥
—भामह : 'काव्यालंकार'—१-१५।

जन्य चमत्कार की सृष्टि सौन्दर्य से होती है, अतः सौन्दर्य ही अलंकार है। पर उपमा, रूपक, दीपक आदि के रूप में नहीं अपितु माधुर्यादि गुणों के रूप में। काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि गुणों से होती है जो काव्य के नित्य धर्म हैं। उपमा-रूपक आदि अलंकार तो गुणों द्वारा सृष्ट (कृत) काव्य-शोभा की वृद्धि मात्र करते हैं, अतः वे बहिरंग हैं। दूसरे शब्दों में गुण अलंकृति हैं जो अलंकरण की प्रक्रिया के द्योतक हैं। अतः उनकी सृष्टि रीति के साथ अभिन्न रूप में होती है। कहने का आशय यह है कि अलंकरण के साधन (उपादान) भूत तत्त्व अलंकार काव्य की आत्मा या सर्वस्व इसलिए नहीं हो सकते कि वे बाह्य तत्त्व हैं। आत्मा तो कोई आभ्यन्तर तत्त्व होता है जो नित्य भी होता है और एक मात्र गुणों में ही वह योग्यता उपलब्ध होती है। इस प्रकार काव्य की आत्मा या सर्वस्व गुण हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति अर्थात् सृष्टि का माध्यम रीति है जो अलंकरण की प्रक्रिया अर्थात् व्यापार का बोध कराती है। इस प्रवाह की गति का तीसरा मोड़ है ध्वनि-सिद्धान्त, जो ध्वनि को काव्य की आत्मा और व्यञ्जना को उसकी अभिव्यक्ति या सृष्टि का प्रकार अर्थात् माध्यम मानता है। इसके उद्भावक आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यात्मा विषयक चिन्तन को आगे बढ़ाया है और व्यापार के काव्यात्मा होने के वामन के पक्ष को अस्वीकार करते हुए व्यापार्य व्यङ्ग्य के रूप में ध्वनि को काव्यात्मा होने का गौरव प्रदान किया है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि-सिद्धान्त का उद्भव एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना है। क्योंकि ध्वनि-सिद्धान्त ने काव्यात्मा के प्रश्न को अपने विवेचन का मुख्य विषय बना कर काव्यमनीषियों की अन्तर्दृष्टि को अलंकार एवं अलंकृति (गुणात्मारीति) से हटाकर अलंकार्य की ओर आकृष्ट किया। उनका कहना है कि न तो अलंकारों में काव्यात्मा होने की क्षमता है और न अलंकृति रूप गुणात्मारीति में। अलंकार तो शब्दचित्र एवं अर्थचित्र रूप काव्य के बाह्य तत्त्व हैं ही, अलंकृति भी पदसंघटनात्मक व्यापार रूप होने से काव्यात्मा पद की भागिनी नहीं हो सकती। शब्दार्थ के शरीरगत वैचित्र्य रूप अलंकार जब काव्यात्मा नहीं हो सकते तो गमनागमन रूप व्यापार क्या आत्मा होने में समर्थ हो सकता है? कदापि नहीं। अतः काव्यात्मा तो वही तत्त्व हो सकता है जो गुणों का आश्रय एवं अलंकारों से अलंकार्य हो। और वह तत्त्व है ध्वनि जिसकी अभिव्यक्ति व्यञ्जना व्यापार से होती है।

ध्वनि तथा व्यंजना पदों का प्रयोग यद्यपि आनन्दवर्धन के सुदूर पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में अनेकत्र किया है[१], किन्तु यह ध्वनि शब्द का प्रयोग मात्र है। उससे व्यञ्जना या प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति नहीं होती। ध्वनि के सिद्धान्त का उद्भव एक महत्त्वपूर्ण घटना इसलिए है कि यह तब तक की परम्परा से हट कर सर्वथा स्वतंत्र रूप से काव्य के मूलभूत प्रश्नों का विवेचन एवं उन्हीं के अनुसार विविध तत्त्वों के व्यवस्थापन का एक नूतन प्रयास है। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वयं ही ध्वनि को 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी' अर्थात् अब तक की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न तथा 'अनुन्मीलितपूर्व' (जिसे अब तक किसी ने भी नहीं प्रकाशित किया है) कहा है।[२]

---

१. भामह : काव्यालङ्कार—का० ६।१७, १९, २८।

२. ध्वन्यालोक—का० १।१ पर आलोक (वृत्ति)।

ध्वनि-सिद्धान्त की दूसरी महनीय विशेषता ध्वनि-तत्त्व की व्यापकता है। गुण, अलंकार, रीति एवं रस आदि काव्य के प्रायः सभी आधायक तत्त्वों का विनिवेश इसमें जिस उत्तमता के साथ हो जाता है वह अन्यत्र सुदुर्लभ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्वनि-सिद्धान्त गुण अलंकार आदि सिद्धान्तों की भाँति एकाङ्गी न होकर सर्वांगपूर्ण एवं सुव्यवस्थित है। यद्यपि यह आनन्दवर्धन की एक नयी उद्भावना है, फिर भी इसमें काव्य के अन्यान्य तत्त्वों को भी आत्मसात् करने की असीम क्षमता है। अतएव ध्वनिकार अपने विवेचन में पदे पदे इसे 'महाविषय' कहते हैं और गुण अलंकार आदि काव्य के अन्य तत्त्वों को ध्वनि का अङ्ग मानते हैं।[१] इस सम्बन्ध में सबसे अधिक जो विलक्षण बात है वह यह कि रस भी यहाँ ध्वनि तत्त्व के अङ्ग के रूप में ही व्यवस्थापित हुआ है जिसे आगे चलकर काव्य की आत्मा के रूप में स्थायी प्रतिष्ठा मिली। इस प्रकार तब तक प्रतिष्ठा प्राप्त गुण, अलंकार, रीति एवं रस आदि काव्य तत्त्व जिन्हें प्रसिद्ध प्रस्थान की संज्ञा प्राप्त हो गई थी और जो काव्य के प्राणभूत तत्त्व समझे जाते थे, ध्वनि तत्त्व की उद्भावना के साथ ही इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग होने से गौण हो गये और ध्वनि अङ्गी रूप में मूर्धन्य बन गया।

ध्वनि-सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता है व्यञ्जना नामक वृत्ति जिसने इसे व्याकरण एवं दर्शन आदि शास्त्रों की कोटि में लाकर बिठा दिया, जिससे ध्वनि वाङमय की सभी विधाओं के आचार्यों की विवेचना का विषय बन गया। 'व्यञ्जना' आनन्दवर्धन की सर्वथा नयी उद्भावना है जिसके लिए वह न केवल साहित्यशास्त्र अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङमय के इतिहास में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में अमर हो गये हैं। व्यञ्जना वह तत्त्व है जिसके ऊपर भारतीय साहित्यशास्त्र को गर्व है और वह अन्य शास्त्रों के समक्ष अपनी मौलिकता एवं महनीयता के गौरव से अपना सिर ऊँचा किये हुए है। व्यञ्जना की स्थापना इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि साहित्यशास्त्र अन्य शास्त्रों के उच्छिष्ट का संकलनमात्र नहीं है, अपितु उसकी भी चिन्तन की अपनी परम्परा है; तथा नव-नवोन्मेष की प्रक्रिया से वाङ्गमय वृक्ष की उस शाखा में भी जो फल लगे हैं उनका अपना एक विलक्षण स्वाद है जिसकी उपलब्धि अन्यत्र सम्भव नहीं। यह वही व्यञ्जना वृत्ति है जिसका निर्यात कर साहित्यशास्त्री व्याकरण एवं दर्शनों की परम्परागत अधमर्णता से अपने को विमुक्त मानते हैं। नागेश प्रभृति धुरन्धर वैयाकरणों ने भी व्यंजना को स्वीकार एवं उसका परिष्कार कर साहित्यिकों को भी उत्तमर्ण होने के गौरव से मण्डित किया है।

ध्वनि-सिद्धान्त की इसी व्यापकता एवं सर्वांगसम्पन्नता से अभिभूत होकर अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति उच्च कोटि के आचार्यों ने न केवल ध्वनि का समर्थन ही किया अपितु समय-समय पर उठायी गई ध्वनि-सिद्धान्त सम्बन्धी विप्रतिपत्तियों का निराकरण करते हुए ध्वनि तत्त्व का विशद रूप से विवेचन अपनी कृतियों में किया है। फलतः ध्वनि को संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में एक सार्वभौम सत्य के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। अभिनवगुप्त ने, जो शैवदर्शन एवं तंत्र के प्रकाण्ड पण्डित तथा ख्यातनामा आचार्य थे, काव्यशास्त्र पर भी अपनी लेखनी उठायी और आनन्दवर्धन की महनीय

१. ध्वन्यालोक—का० १।१३ पर आलोक (वृत्ति)।

कृति 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नाम की टीका लिख कर उसे अमर बना दिया। उन्होंने आनन्द-वर्धन की ध्वनि की इस उद्भावना पर मुग्ध होकर उन्हें 'सहृदय-शिरोमणि' कह कर सम्मानित किया। यही नहीं, 'भरत-नाट्यशास्त्र' की अपनी टीका 'अभिनव भारती' में भरत के रस के सूत्र की व्याख्या भी ध्वनि-सिद्धान्त की सरणि पर ही करते हुए विभावादि एवं स्थायी भावों के व्यंग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध से रस को व्यञ्जना व्यापार का विषय व्यंग्य ही माना। ध्वनि की पंचमुखी व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुए उन्होंने उसकी पाँच प्रकार की व्याख्याएँ समुपस्थापित कीं। अभिनव के प्रशिष्य, साहित्यशास्त्र के धुरन्धर आचार्य मम्मट ने ध्वनि के सिद्धान्त को ही आधार-शिला बना कर 'काव्यप्रकाश' नाम के जिस महनीय ग्रन्थरत्न की रचना की उसका स्थान संस्कृत ही नहीं, विश्व के आलोचनाशास्त्र के इतिहास में अद्वितीय है। काव्यप्रकाश की शताधिक टीकाएँ इस बात की प्रबल साक्षी हैं कि ध्वनि के सिद्धान्त एवं उस पर लिखा गया यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय एवं विद्वानों द्वारा समादृत है। वस्तुतः ध्वनि-सिद्धान्त भारतीय साहित्यशास्त्र की एक अनुपम देन है।

इस पूरे ध्वनि-सिद्धान्त को यदि एक शब्द में कहा जाय तो वह है 'व्यञ्जना-व्यापार'। अभिधा एवं लक्षणा नामक शब्द के दो व्यापार व्याकरण तथा मीमांसा प्रभृति दर्शनशास्त्रों में सुप्रसिद्ध एवं प्रायेण सर्वग्राह्य हैं। संकेत-ग्रह की सहायता से वाच्य की प्रतीति करानेवाला व्यापार अभिधा कहा जाता है। इसे मुख्य-वृत्ति भी कहते हैं। अतएव वाच्यार्थ की 'मुख्यार्थ' संज्ञा भी है। वाक्य में शब्द के इस मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा होने पर उससे सम्बन्धित ही किसी अन्य अर्थ की कल्पना प्रयोजन-विशेष-वश या परम्परा-प्राप्त प्रयोग (रूढ़ि) के आधार पर करना ही लक्षणा है। अवान्तर व्यापार होने के कारण इसे अभिधा की अपेक्षा गौण माना गया है। अतएव इसे गुणवृत्ति पद से भी कहीं-कहीं अभिहित किया गया है। व्यञ्जना-व्यापार लक्षणा से भी विलक्षण है। इसमें अभिधा की तरह न तो संकेत-ग्रह की अपेक्षा होती है और न ही लक्षणा के समान मुख्यार्थबाध आदि तीन हेतुओं का होना आवश्यक होता है। फिर भी वाक्य में विशेष प्रकार के शब्दों के प्रयोग से प्रकरण पर्यालोचन द्वारा वाच्य या लक्ष्य से भिन्न अर्थान्तर की जो प्रतीति होती है वह एकमात्र व्यञ्जना-व्यापार का विषय है। यह इतना व्यापक है कि वस्तु अलंकार और रसादि सभी इसमें अन्तर्निहित हैं।

जहाँ ध्वनि-सिद्धान्त इतना महनीय है वहाँ उसके विरोधी भी अनेक आचार्य हुए हैं जिनमें राजशेखर, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट, भोज एवं क्षेमेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी इस बात को तो स्वीकार करते हैं कि साधन या व्यापार काव्य की आत्मा या उसका सर्वस्व नहीं हो सकता, अतः अलंकार या गुणात्मा रीति को काव्य की आत्मा या प्राण नहीं माना जा सकता। काव्य की आत्मा व्यापार्य ही कोई तत्त्व हो सकता है जो अलंकार्य है। दूसरे शब्दों में अलंकार या अलंकृति नहीं अपितु अलंकार्य ही काव्यात्मा होने की क्षमता रखता है। पर वह ध्वनि नहीं हो सकता। क्योंकि ध्वनि भी तो प्रकारान्तर से व्यापार ही ठहरता है। व्यञ्जना का निरसन कर दिया जाय तो उससे व्यतिरिक्त ध्वनि क्या है? और व्यञ्जना एक व्यापार मात्र है। अतः ध्वनि-विरोधी इन आचार्यों ने ध्वनि से भिन्न रस, विच्छित्ति, अनुमेय प्रभृति तत्त्वों को अलग-अलग अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार अलंकार्य कहा और ध्वनि के अलंकार्य होने की बात का खण्डन किया। उक्त ध्वनिविरोधी आचार्यों में से भट्टनायक,

कुन्तक एवं महिमभट्ट तीन ऐसे हुए हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ध्वनि का खण्डन किया है। शेष ने ध्वनि के विषय में मौन धारण कर उससे अपनी असहमति मात्र सूचित की है। इन्हीं तीनों के विषय में यहाँ कुछ कहा जायगा।

भट्टनायक—रस-निष्पत्ति के प्रसंग में भावनात्मक साधारणीकरण व्यापार के उद्भावक आचार्य भट्टनायक का नाम कौन नहीं जानता। यह भरत-नाटचशास्त्र के अन्यतम टीकाकार हैं जिनकी टीका यद्यपि उपलब्ध नहीं है तथापि रस-सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में 'अभिनव-भारती', मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तथा हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' की उनकी अपनी ही टीका 'विवेक' में उसके कुछ उद्धरण उपलब्ध होते हैं। साहित्यशास्त्र पर इनकी स्वतंत्र कृति 'सहृदयदर्पण', 'हृदयदर्पण' या 'दर्पण' की सर्वथा अनुपलब्धि एक बहुत ही बड़े दुर्भाग्य की बात है। इसका खेद साहित्य के प्रत्येक अध्येता को है। इस महनीय ग्रन्थ में भट्टनायक ने अवश्य ही व्यञ्जना-सहित ध्वनि का सविध खण्डन प्रस्तुत किया होगा। आचार्य महिमभट्ट ने इनकी कृति का दर्पण के नाम से उल्लेख करते हुए कहा है कि शीघ्रतावश मैं उसे देख नहीं सका।[१] इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों भी 'हृदयदर्पण' की प्रतियाँ सरलता से उपलभ्य नहीं थीं। महिमभट्ट को न मिलने का यह भी कारण हो सकता है कि वह अपनी मौलिकता की रक्षा के लिये उसे नहीं देखना चाहते थे। अतः उसकी उपलब्धि के लिये उन्होंने प्रयास ही नहीं किया होगा। पर इतने थोड़े से दिनों में वह कृति विश्रुत हो गई थी यह बात तो इस उल्लेख से प्रकट होती ही है। भट्टनायक की व्यञ्जना-विरोधी प्रवृत्ति का संकेत उनके रससूत्र की उद्धृत व्याख्या से तथा 'ध्वन्यालोक' की अभिनवगुप्त कृत व्याख्या 'लोचन' में उद्धृत ध्वनि-लक्षण-कारिका में प्रयुक्त 'व्यंक्तः' पद में द्विवचन के प्रयोग पर की गई आपत्ति से भी हमें स्पष्ट मिलता है।[२] ध्वन्यालोक लोचन में आचार्य अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की विप्रतिपत्तियों का अनेकत्र उल्लेख किया है। रससूत्र की व्याख्या में इन्होंने प्रतीति एवं उत्पत्ति के साथ रस की अभिव्यक्ति की मान्यता का भी खण्डन किया है।[३]

भट्टनायक का अपना मत संभवतः यही था कि काव्य की आत्मा एक मात्र रस है। वही अलङ्कार्य है। उसकी प्रतीति आस्वादनात्मक होती है। उसका प्रयोजक व्यापार भावकत्व है जिसे साधारणीकरण कहते हैं। वस्तु एवं अलंकार काव्य के गौण तत्त्व हैं। समुद्रबन्ध ने अपनी 'अलङ्कार-सर्वस्व' की टीका में साहित्यशास्त्र के विविध वादों का वर्गीकरण करते हुए भट्ट-नायक को जो व्यापारवादी कहा है, वह रस के चर्वणात्मक भोजकत्व व्यापार को लेकर ही बनता है। काव्यात्मा की दृष्टि से वह व्यापारवादी नहीं अपितु रसवादी है। रस की क्रियात्मकता का निरसन अभिनवगुप्त, विश्वनाथ एवं पण्डितराज प्रभृति सभी आलङ्कारिकों ने किया है। चर्वणा के साथ ही रस की निष्पत्ति भी उपचरित ही मानी गयी है, वास्तविक नहीं। भट्टनायक रस को

---

१. सद्यतादृष्टदर्पणा ममधीः। —व्यक्तिविवेक—का० १।४।

२. ध्वन्यालोक—कारिका १।१३ पर लोचन टीका।

३. भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते। शक्तिरूपत्वेन पूर्वस्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः।
—नाट्यशास्त्र, प्र० भाग; (अभिनव-भारतीटीका), पृ० २७६, (बड़ौदा)।

भोग्य मानते हैं जिसका उपभोक्ता सहृदय-हृदय ही होता है। रस और विभावादि में भोग्य—भोजक सम्बन्ध तथा सामाजिक को भोक्ता की संज्ञा देने से ही इन्हें सांख्य के सिद्धान्त का अनुयायी भी समझा जाता है। यहाँ अप्रासंगिक होने से हम इसके विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि भट्टनायक स्पष्टतया ध्वनि के विरोधी आचार्य थे जिनके विरोध का स्थल बिन्दु व्यञ्जना ही था।

राजानक कुन्तक—ध्वनि-सिद्धान्त के दूसरे विरोधी आचार्य 'कुन्तक' हुए हैं, जिनकी कृति 'वक्रोक्तिजीवित' सौभाग्य से उपलब्ध है और कई स्थानों से प्रकाशित भी है। कुन्तक ने ध्वनि के साक्षात् खण्डन के लिये अपने ग्रन्थ की रचना नहीं की किन्तु ध्वनि के विपरीति 'वक्रोक्ति' नामक तत्त्व को काव्य का जीवित मानकर ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति तत्त्व का प्रतिपादन एक महनीय सिद्धान्त के रूप में किया है। ध्वनि-सिद्धान्त में व्यंजना वृत्ति और ध्वनि दो तत्त्वों का निरूपण होने से गौरव होता था। उसका निराकरण कर दोनों के स्थान पर एक मात्र 'वक्रोक्ति' की स्थापना महान् लाघव है। जहाँ काव्य की आत्मा या जीवित तो वक्रोक्ति है ही, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भी वक्र उक्ति अर्थात् उक्तिवैचित्र्य ही है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक की दृष्टि काव्य-मर्म के विवेचन के अवसर पर उस ओर गई जहाँ व्यापार एवं व्यापार्य का भेद नहीं होता तथा वहाँ अलङ्कार और अलंकार्य एक हो जाते हैं। उनका यह पक्ष सहृदय-हृदय को व्यञ्जना व्यापार की तुलना में कम आवर्जित नहीं करता। शब्द के व्यापार की अपेक्षा वैदग्ध्य-भंगीभणिति रूप उक्ति की विचित्रता का निरूपण काव्यशास्त्र की विवेचना का अधिक उपयुक्त विषय था। उन्होंने ध्वनि की अपेक्षा वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहना इसलिये अधिक उपयुक्त समझा कि काव्य में विवेच्य विषय की अपेक्षा उसकी अभिव्यक्ति अर्थात् कहने के प्रकार का ही विशेष महत्त्व है (कन्टेन्ट्स नहीं, फार्म ही प्रधान होता है)। बात की अपेक्षा उसके कहने के ढंग की महत्ता अधिक होती है और वह प्रकार ही वक्रोक्ति है। काव्य के कान्ता-सम्मित उपदेश होने का भी यही तात्पर्य है।

यद्यपि वक्रोक्ति एवं व्यञ्जना दोनों ही व्यापार स्वरूप हैं तथापि ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार व्यापार में आत्मा होने की क्षमता न होने से व्यापार्य ध्वनि ही काव्य की आत्मा हो सकता है जब कि कुन्तक ने बिना किसी विसंवाद के वक्रोक्ति को ही काव्य के जीवित (प्राण) की संज्ञा देकर व्यापार और व्यापार्य में तादात्म्य स्थापित कर दिया है। शब्द-शक्ति व्यञ्जना के व्यापार-विशेष होने से व्यंग्य की अभिव्यक्ति में पौर्वापर्य भाव तथा विषय के अर्जनादि रूप तारतम्य को भुलाया नहीं जा सकता जो व्यञ्जना एवं व्यंग्य की तादात्म्यानुभूति में बाधक सिद्ध होते हैं। पर व्यापार की आत्मता स्वीकर करना अपने में ही एक दोष है, अन्यथा वामन की रीति को ही काव्यात्मा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं थी। वक्रोक्ति के ऊपर महिमभट्ट का आक्षेप है कि उसमें और व्यञ्जना व्यापार में कोई भेद नहीं। उभयत्र एक उक्ति के द्वारा अन्य का बोध किया जाता है। व्यञ्जनावादी उस अन्य अर्थ को व्यंग्य या ध्वनि के नाम से कहता है, कुन्तक उसे भी वक्रोक्ति ही कहते हैं। चूँकि दोनों में एक अर्थ से दूसरे अर्थ का आक्षेपात्मक ग्रहण या बोध होता है अतः दोनों अर्थों के साध्य-साधन-भाव सम्बन्धी होने से व्यञ्जना एवं वक्रोक्ति दोनों ही अनुमान में अन्तर्हित हो जाते हैं। क्योंकि अनुमान का विषय ही यही है कि एक अर्थ से दूसरे अर्थ (अभिप्राय) को समझा जाय। इस प्रकार वक्रोक्ति के विवेचन से, जो

प्रायशः ध्वनि की सरणि पर ही हुआ है, ध्वनि का खण्डन न होकर प्रकारान्तर से मण्डन ही हो जाता है। विशेष रूप से उस समय जब हम यह विचारने लगते हैं कि काव्य की आत्मा होने की सामर्थ्य व्यापार विशेष में सम्भव है या नहीं।

राजानक महिमभट्ट—ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबलतम विरोधी आचार्य हैं प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् राजानक महिमभट्ट, जिनकी ख्याति एकमात्र इसी बात के लिये है कि इन्होंने ध्वनि तत्त्व के सांगोपांग रूप से खण्डन को ही अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' का विषय बनाया है। उनका कहना है ध्वनिकार को अपनी जिस उद्भावना पर इतना गर्व है उसकी परीक्षा का होना अनिवार्य है। किसी सिद्धान्त की समीक्षा के दो प्रकार होते हैं—सम्प्रतिपत्ति पूर्वक और विप्रतिपत्ति पूर्वक। सम्प्रतिपत्तिपूर्वक समीक्षा कृति या सिद्धान्त की सौजन्यमूलक परीक्षा को कहते हैं जिसमें उसके गुणों का ही गान किया जाता है। उसकी वास्तविक समीक्षा तो विप्रतिपत्तिपूर्वक परीक्षण में ही संभव है जिसमें ग्रन्थकर्त्ता के आशय का विवेचन खण्डनात्मक रीति से किया जाता है। महिमभट्ट का कहना है कि ध्वनिकार के सिद्धान्त का विवेचन इसी विप्रतिपत्ति की प्रणाली से करना मेरा उद्देश्य है।[1] पूर्ववर्त्ती कतिपय विद्वानों के द्वारा ध्वनि के पृष्ठ-पोषण किये जाने पर वे कहते हैं कि किसी भी कृति या सिद्धान्त के गुण का ग्रहण करना ठीक है, पर विद्वान् को उसके विषय में निरन्तर सावधान रहना चाहिये; अन्यथा गुणग्रहण के नाम पर दोषों का भी ग्रहण हो सकता है। अथवा वास्तविक विद्वान् या समीक्षक वही है जो शूर्प के समान भूसी की तरह निस्तत्त्व वस्तु या विषय को कभी स्वीकार न करे।[2]

काव्य के समीक्षकों में महिमभट्ट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्यत्व के आधायक तत्त्वों की मीमांसा दर्शन एवं व्याकरण की पृष्ठभूमि पर की है। काव्य को भी वे शास्त्र ही मानते हैं। उनका कहना है कि शास्त्र के तीन प्रकार होते हैं—शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा उभयप्रधान। शब्दप्रधान शास्त्र वेद हैं जिनके पाठ-मात्र से पुण्य होता है। पाठ में किंचित् परिवर्तन से भी प्रत्यवाय होता है। दूसरा प्रकार अर्थप्रधान है जिसमें इतिहास, पुराणादि आते हैं। इनमें अर्थ को प्रधानता होती है। शब्द का प्रयोग अर्थ के लिये होने से वह गौण होता है। काव्य ही शास्त्र के तृतीय प्रकार हैं जहाँ शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व समान होता है। क्योंकि काव्य रसात्मक होता है और रस का परिपोष शब्द एवं अर्थ दोनों के प्रयोग के औचित्य से ही संभव है।[3] अतः तीनों प्रकार के शास्त्रों में मूलतः एकरूपता होनी चाहिये। इस तथ्य को आज भी

---

१. इह सम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचोविवेचनं नः।
—व्यक्तिविवेक—का० १।३।

२. किन्तु तदवधीर्यार्यैर्गुणलेशे सततमवहितैर्भाव्यम्।
परिपवनवदथवा ते न शिक्षितास्तुषग्रहणम्॥ —व्यक्तिविवेक—कारिका १।६।

३. त्रिविधं हि शास्त्रं शब्द प्रधानमर्थप्रधानमुभयप्रधानं चेति। तत्र शब्दप्रधानं वेदादि, अध्ययनादेवाभ्युदयश्रवणात् मनागपि पाठविपर्यासे प्रत्यवायश्रवणाच्च। अर्थप्रधानमितिहासपुराणादि तस्यार्थवादमात्ररूपत्वात्। उभयप्रधानं सर्गबन्धादिकाव्यं तस्य रसात्मकत्वात् रसस्य चोभयौचित्येन परिपोषदर्शनात्। काव्यस्यापि शास्त्रत्वमुपपादितमेव। —व्यक्तिविवेक, पृ० ४२२।

हम जानते और मानते हैं कि शास्त्र और साहित्य दोनों के सिद्धान्तों में कोई मौलिक भेद नहीं होता। ध्वनि नामक नये सिद्धान्त की उद्भावना से साहित्य एवं दर्शन तथा व्याकरण प्रभृति शास्त्रों के बीच व्यञ्जना की दीवार के आ जाने से उनके परस्पर का सामञ्जस्य ही नहीं बन पा रहा था। इस प्रकार सम्पूर्ण वाङमय की एकता के प्रवाह में इस प्रबल अवरोधक तत्त्व के उपस्थित होने से जो विश्रृंखलता या विकीर्णता आ रही थी महिमभट्ट ने उसे ही दूर करने का बीड़ा उठाया। इन्होंने शास्त्र से साहित्य के पार्थक्य की भित्ति व्यञ्जना का सर्वथा निरसन कर साहित्य को भी वेदादि शास्त्रों का ही स्तर प्रदान किया।

यह पहले कहा जा चुका है कि ध्वनि-सिद्धान्त व्यञ्जना-व्यापार और काव्यात्मा ध्वनि, इन दो तत्त्वों को लेकर साहित्य की समीक्षा के क्षेत्र में अवतरित हुआ। इनमें प्रथम व्यञ्जना के शब्द-व्यापार होने से वह जहाँ व्याकरण-शास्त्र के विवेचन का विषय है वहीं काव्यात्मा का प्रश्न साक्षात् नहीं तो परम्परया ही सही दर्शनों के क्षेत्र की बात है। इसीलिए इनकी परीक्षा के लिये महिमभट्ट ने व्याकरण एवं दर्शन का समाश्रयण करना उचित समझा। उन्होंने यह ठीक ही समझा कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्राणभूत तत्त्व व्यंजना ही है। उसी पर ध्वनि का विशाल प्रासाद अवस्थित है। व्यञ्जना का विवेचन ही ध्वनि के युक्तायुक्त होने का विवेचन है। वस्तु अलंकार एवं रस आदि ध्वनि के अन्य भेद-प्रभेदों की व्यवस्था उनके व्यंग्य होने की अपेक्षा अन्य प्रकार से भी हो सकती है। अतः उनके प्रति महिम की विमति नहीं है[1]। क्योंकि व्यञ्जना व्यापार के निरस्त हो जाने पर ध्वनि के सिद्धान्त की सारी व्यवस्था ही भंग हो जायेगी और व्यञ्जकत्व के साम्य पर कल्पित ध्वनि के तत्त्व की सिद्धि के लिये अन्य कोई आश्रय नहीं रहेगा। इस प्रकार काव्यात्मा के प्रश्न का भी निर्णय स्वतः हो जायेगा कि वह ध्वनि नहीं हो सकता। महिमभट्ट की कृति 'व्यक्तिविवेक' इसी उद्देश्य की पूर्ति है। अतएव इसका नाम व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना के युक्तायुक्त होने का विवेक-विवेचन रखा है, जो एक अन्वर्थ संज्ञा है।

व्यञ्जना के निराकरण के लिये महिमभट्ट ने अनुमान का समाश्रयण किया जिसकी मान्यता संस्कृत वाङमय में बहुत पहले से थी। इस प्रसंग में इसका उपयोग महिमभट्ट के पूर्व भी किया जा चुका था। भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार वाक्यार्थ सदा अनुमेय ही होता है। अभिधा वृत्ति से तो मात्रशब्द के अर्थ की प्रतीति होती है अतः अभिधेय होने से शब्दार्थ ही वाच्य होता है। पदार्थों के परस्पर के अन्वय के अनन्तर सम्पूर्ण वाक्य से जिस एक अर्थ की प्रतीति होती है वह अनुमेय ही होता है।[2] महिमभट्ट ने मीमांसकों के वाक्यार्थ विषयक इस सिद्धान्त का उपयोग काव्य के क्षेत्र में भी किया तथा वस्तु अलङ्कार एवं रसादि रूप वाक्य के तीनों प्रकार के अर्थों के व्यंग्य होने की बात का खण्डन कर

---

१. प्रागभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता।
यस्त्वन्यस्तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम्॥ व्यक्तिविवेक—कारिका ३।३३।

२. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः। स एव मुख्य इत्युच्यते। तत एव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूतात् यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ३९।

अभिहितान्वय दोनों पक्षों को अस्वीकार्य कहा है। इनके मीमांसक न होने का प्रबलतम प्रमाण इनके द्वारा लक्षणा की अस्वीकृति है। लक्षणा मीमांसकों का प्राण है। भाट्ट एवं गुरु दोनों मत लक्षणा के विषय में एक हैं, क्योंकि उसकी स्वीकृति के बिना उनका जाति में संकेत-ग्रह का सिद्धान्त ही नहीं बन सकेगा। इन सबका समुचित रूप से विवेचन इस ग्रन्थ में यथावसर हुआ है। अतः अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि महिमभट्ट मीमांसकों के अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान पक्षों में से किसी के भी अनुयायी नहीं माने जा सकते।

महिमभट्ट के सम्बन्ध में अब तीसरी सम्भावना शेष रह जाती है कि वह वैयाकरण थे। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के बाद वैयाकरणों की परम्परा भी दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। एक शाखा उन्हीं सूत्रवार्तिक एवं भाष्य ग्रन्थों की टीका-प्रटीका की है जिसमें काशिकाकार, कैयट एवं नागेश आते हैं। एक दूसरी शाखा ने व्याकरण-दर्शन को अपनाया और उसके मूलभूत सिद्धान्तों का शास्त्रीय स्तर पर निरूपण करने का बीड़ा उठाया। इसके सुप्रसिद्ध आचार्य भर्तृहरि हैं जिनका महनीय ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' आज भी आकर ग्रन्थ समझा जाता है। महिमभट्ट निश्चित रूप से इस दूसरी शाखा के अनुयायी थे। इसकी पुष्टि उनके ग्रन्थ में हुए शब्दार्थ विवेचन से होती है। शब्द, अर्थ, वाक्य एवं शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा शब्द-शक्ति के विवेचनों में अपनी उक्ति के समर्थन में महिमभट्ट ने 'वाक्यपदीय' की कारिकायें बिना नामोल्लेख के उद्धृत की हैं। इनमें से अधिकांश 'वाक्यपदीय' के द्वितीय काण्ड की हैं जो सम्प्रति उपलभ्य नहीं।

वाक्य से पृथक् शब्द की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। 'निरुक्त' तथा 'भाष्य' आदि में जो पद के दो, चार, या पाँच प्रकार बताये गये हैं वह उसी प्रकार कल्पित हैं जिस प्रकार एक ही शब्द में प्रकृति एवं प्रत्यय का विभाग करके भेद समझ लिया जाता है।[1] इसी प्रकार वाक्य की परिभाषा करते हुए जो कहा है कि वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है, उसमें प्रयुक्त पद परस्पर तो साकांक्ष होते हैं पर वाक्य से बाहर के किसी पद की आकांक्षा वे नहीं करते, उसके समर्थन में 'वाक्यपदीय' की ही कारिका उद्धृत की है।[2]

महिमभट्ट ने अर्थ के केवल दो भेद माने हैं—वाच्य एवं अनुमेय। अभिधा प्रतिपादित अर्थ वाच्य है जिसे ही मुख्य अर्थ कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों की जो प्रतीति होती है वह शाब्दी न होकर आर्थी होती है और अर्थ अनुमेय होते हैं। इन्हें ही गौण अर्थ कहा गया है। पद का अर्थ वाच्य ही होता है। वाक्यार्थ अनुमेय होता है।[3] इस विवेचन का आधार भी वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका ही है जो वहीं उद्धृत भी की गई है :—

१. द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृति-प्रत्ययादिवत्॥ वा० ३।१; व्यक्तिविवेक, पृ० ३७-३८।

२. साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥ वाक्य० २।४; व्यक्तिविवेक, पृ० ३८।

३. व्यक्तिविवेक पृ० ३९॥

श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते ।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ॥[१]

"शब्द को सुन कर ही जिस अर्थ का निश्चय हो जाता है उसे मुख्य तथा जिस अर्थ की प्रतीति (मुख्यार्थ के बाद या प्रकरण पर्यालोचन रूप) प्रयत्न के बाद होती है वह गौण अर्थ है।" महिमभट्ट की यह मान्यता भी कि प्रादि उपसर्ग अपना स्वतंत्र अर्थ नहीं रखते, अपितु धातु के अर्थ में उनका अर्थ अन्तर्निहित रहता है, तथा उपसर्ग सहित धातु का एक ही अर्थ होता है, 'वाक्यपदीय' प्रतिपादित ही है। इसके समर्थन में उद्धृत कारिका भी 'वाक्यपदीय' की ही है।[२] स्थाली-पुलाकन्याय से कृत इस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि महिमभट्ट भर्तृहरि की शाखा के वैयाकरण थे।

इनके वैयाकरण होने का पोषक प्रबलतम प्रमाण 'व्यक्तिविवेक' का मङ्गल श्लोक है जिसमें आचार्य ने परावाक् को प्रणाम निवेदन किया है।

व्यक्ति-विवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥[३]

"महिमभट्ट परावाक् को प्रणाम निवेदन कर 'व्यक्तिविवेक' की रचना करते हैं।" परावाक् व्याकरण दर्शन का एक निगूढ़ विषय है। भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरणों की यह मान्यता है कि अनादि अनन्त निर्गुण ब्रह्म शब्द तत्त्व के रूप में अवस्थित है। उसका विकास पहले अर्थ के रूप में होता है। अनन्तर उसी से निखिल जगत् की उत्पत्ति होती है।[४] इस प्रकार 'परावाक्' 'शब्द-ब्रह्म' ही है। ब्रह्म वेद को भी कहते हैं। वेद अनादि एवं अनन्त हैं। साथ ही अक्षर भी। इन्हीं के अनुसार ब्रह्मा जगत् की सृष्टि करते हैं। वेदों का मूल प्रणव कहा गया है। वेद शब्दतत्त्व होने से वाक् रूप हैं तथा उनका मूल प्रणव ही परावाक् है।[५] वाक् के दो भेद होते हैं—परा और अपरा। शब्द-ब्रह्म से अपृथक् भूत सूक्ष्म उस शक्ति को परा कहते हैं जो गुदा और लिङ्ग के अन्तरालवर्ती मूलाधार चक्र में स्थित होती है। वाक्यपदीयकार का कहना है कि परमार्थ का विमर्श रूप जो चमत्कृति है पदार्थों के सारभूत उसी परमार्थ को परावाक् कहते हैं।[६] जीव के रूप में जो सभी प्राणियों में अवस्थित है वह नाद नामक सूक्ष्म वाक् ही है जो अनादि और अनन्त है तथा जिसका विनाश कभी नहीं होता।[७] अनादि,

---

१. वाक्यपदीय, २।२८०; व्यक्तिविवेक, पृ० ३९।

२. अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम् ।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव च तादृशः ॥ —वाक्यपदीय, २।८२।

३. व्यक्तिविवेक, १।१।

४. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द-तत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ —वाक्यपदीय, का० १।१।

५. सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥ —वही, १।९।

६. येयं विमर्श-रूपेण परमार्थ-चमत्कृतिः ।
सैवसारं पदार्थानां परावागभिधीयते ॥

७. नादाख्या सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता ।
अनादिनिधना सैव सूक्ष्मावागनपायिनी ॥ —वाक्यदीय प्रकीर्ण

अनन्त एवं अक्षर (अविनाशी) शब्द तत्त्व ब्रह्म ही अर्थ के रूप में विवृत होता है जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वेदान्ती जिसे चित्तत्व अर्थात् आत्म-तत्त्व रूप अक्षर ब्रह्म कहते हैं वैयाकरण उसे ही परावाक् कहते हैं। अपरावाक् से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक शक्तियों का ग्रहण होता है। इनका विवेचन भी 'वाक्यपदीय' में ही उपलब्ध होता है—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ॥
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥[1]

वैयाकरण शिरोमणि नागेश ने अपनी 'परमलघुमंजूषा' में स्फोट तत्त्व के विवेचन के अवसर पर परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी नामक वाक् की चार अवस्थाओं का निरूपण किया है। इनमें से परावाक् का वर्णन निम्न प्रकार से किया है :—

चतुर्विधाहि वागस्ति परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी च। तत्र मूलाधारस्थपवनसंस्कारीभूता मूलाधारस्था शब्द-ब्रह्म-रूपा स्पन्दशून्या बिन्दुरूपिणी परावागुच्यते।[2]

विस्तारपूर्वक इसके विवेचन का यह अवसर नहीं है। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि शब्द-ब्रह्म रूप परावाक् को ग्रन्थ के आदि में प्रणाम अर्पण करनेवाले विद्वान् की मान्यताओं से उसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। अन्य प्रमाण भी सहायक हैं। 'व्यक्ति विवेक' में व्याकरण सम्बन्धी विषय जहाँ भी आया है उसका विवेचन महिमभट्ट ने बड़े ही विशद् एवं गहन रूप में किया है। अतः इसमें कोई सन्देह का अवसर ही नहीं है कि महिमभट्ट व्याकरण के एक विशिष्ट विद्वान् थे। वैयाकरणों का साहित्य से साक्षात् सम्बन्वित होना भी स्वाभाविक माना गया है। आनन्दवर्धन एवं मम्मट दोनों आचार्यों ने अपनी कृतियों में वैयाकरणों की प्रशंसा की है और विद्वानों में उन्हें प्रथम कोटि का कहा है। साथ ही व्याकरण को सभी विद्याओं का मूल भी माना है।[3] अतः वैयाकरण होने से महिमभट्ट के साहित्य-शास्त्र के आचार्यत्व में किसी भी प्रकार का व्याघात नहीं होता। न्याय एवं व्याकरण तो सभी शास्त्रों के उपकारक माने गये हैं।

काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम् ।

साहित्य और व्याकरण का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ट है। जो साहित्य-शास्त्री व्याकरण नहीं जानता उसे शब्द और अपशब्द का विवेक किस प्रकार हो सकता है ? व्याकरण ज्ञान के बिना उसमें वाक्य रचना की प्रवृत्ति में प्रवीणता का अभाव सर्वदा खटकेगा तथा वाक्य आदि के विषय में दोष-अदोष की दृष्टि भी नहीं बन पायेगी। कोई वाक्य सदोष क्यों है ? अथवा एक ही दोष से संक्रान्त दो वाक्यों में एक दोष युक्त तथा दूसरा निर्दोष कैसे हो सकता है ? इसे ही वाक्य-दोष दृष्टि कहते हैं। उदाहरणस्वरूप "चिन्ता-रत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ्मन्द भाग्यस्य मे।" (मुझ अभागे को धिक्कार है जिससे तुम इस प्रकार बिछुड़ गये जैसे चिन्तामणि ही हाथ से सरक कर कहीं गिर गया हो) तथा "गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो

---

१. वाक्यपदीय, १।१४३।
२. नागेश : परमलघुमंजूषा, पृ० २३ (चौखंभा, काशी, १९१७)।
३. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ॥
—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक—का० १।१३ पर वृत्ति।

रत्नैरिव महार्णवः" (जिस प्रकार महासमुद्र बहुमूल्य रत्नों से भरा होने के लिये विख्यात है उसी प्रकार वह अपने महनीय गुणों के कारण प्रसिद्ध हैं।) इन दोनों वाक्यों में एक ही दोष है—उपमान एवं उपमेय में भिन्न लिङ्ग का प्रयोग। किन्तु इनमें से प्रथम वाक्य ही सदोष है, द्वितीय नहीं। यह बात हम तभी समझ सकते हैं जब यह मान लेते हैं कि द्वितीय वाक्य में पुंल्लिङ्ग 'गुण' तथा नपुंसक 'रत्न' शब्दों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त अनर्घ्य पद का लिङ्ग नियत नहीं है। अतः तृतीया के बहुवचन में एक साथ ही दोनों के विशेषण के रूप में इसका प्रयोग निर्दुष्ट ही नहीं चमत्कारी भी है। इस प्रकार वाक्य के प्रयोग में प्रवीणता के लिये व्याकरण का ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है। इस प्रकार वैयाकरण होना आचार्यत्व का विघातक न होकर साधक ही है। मेरी मान्यता है कि आचार्य महिमभट्ट मूलतः वैयाकरण थे पर साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा में भी वह किसी से पीछे नहीं, अपितु प्रथम कोटि के ही आचार्य हैं।

तृतीय-विमर्श

महिमभट्ट का समय

किसी भी लेखक या कवि के काल का निर्धारण अन्त: एवं बाह्य उभयविध प्रमाणों से किया जाता है। ग्रन्थकर्त्ता की कृति में प्रसंगवश कुछ पूर्ववर्ती व्यक्तियों या उनकी कृतियों का नामत: अथवा उद्धरण के रूप में उल्लेख अवश्य होता है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती लेखकों द्वारा भी उस व्यक्ति या उसकी कृति के विषय में कुछ कहा जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। इस तरह अन्त:साक्ष्य से उसके काल की पूर्ववर्ती सीमा एवं बाह्य-साक्ष्य से उत्तरवर्ती सीमा का निर्धारण कर प्रमाणान्तरों से एक निश्चित तिथि पर पहुँचा जाता है।

(क) पूर्ववर्ती सीमा

जहाँ तक महिमभट्ट के काल-निर्धारण की पूर्व-सीमा का सम्बन्ध है उसके लिये इनके ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' की अन्त:परीक्षा करने पर हमें ज्ञात होता है कि इन्होंने नाट्यशास्त्र के कर्ता मुनिभरत का नामत: उल्लेख किया है, साथ ही 'नाट्यशास्त्र' से उद्धरण भी दिये हैं।[1] 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकाल के विषय में अनेक विसम्वाद हैं। उसे, जिस रूप में वह उपलब्ध हुआ है, किसी एक व्यक्ति की रचना न मानकर संग्रह-ग्रन्थ कहने की प्रथा भी चल पड़ी है। 'नाट्यशास्त्र' के वर्तमान स्वरूप की रचना भी ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद की नहीं है यही विद्वानों की धारणा है।[2] भामह, दण्डी एवं वामन का 'व्यक्तिविवेक' में न तो नामत: उल्लेख हुआ है, न इनकी कृतियों का ही कोई अंश समुद्धृत है। यद्यपि भामह के काव्यालङ्कार में उदाहृत एक पद्य को व्यक्तिविवेककार ने भी उदाहृत किया है तथा दण्डी एवं वामन के विवेचनों के साथ 'व्यक्तिविवेक' के कतिपय अंश साम्य रखते हैं पर इन सबके परवर्ती वामन के समसामयिक आलंकारिक आचार्य उद्भट की कृति 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' से समासोक्ति का लक्षण, कर्ता या कृति के नाम के उल्लेख के बिना भी अविकल रूप से उद्धृत जब 'व्यक्तिविवेक' में उपलब्ध है[3] तो भट्टोद्भट के साथ ही उन सब की महिमभट्ट से पूर्ववर्तिता स्वत: सिद्ध हो जाती है। 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार भट्टोद्भट काश्मीर-नरेश जयापीड की राजकीय विद्वत्-सभा के सभापति थे।[4] जयापीड का समय 'राज-

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ६८, ६९।

२. पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोयेटिक्स, पृ० ४७ (तृतीय संस्करण)।

३. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥ भट्टोद्भट, काव्यालंकार-सार-संग्रह, का० २।१०।
—महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, पृ० ३३७।

४. विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥ —राजतरङ्गिणी- ४।४९५।

तरङ्गिणी' के ही अनुसार ७७९ से ८१३ ई० है। इस परम्परा को स्वीकार करने पर उद्भट लगभग ८०० ई० के ठहरते हैं। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में उद्भट का उल्लेख बड़े ही सम्मानपूर्वक अनेकत्र किया है।[1]

आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन कर अनुमान में उसका अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के लिये ही महिमभट्ट का यह प्रयास है। 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनिकार के नाम से आनन्दवर्धन का एवं उनकी कृति 'ध्वन्यालोक' का उल्लेख पदेपदे हुआ है। अतः महिमभट्ट ध्वनिकार आनन्दवर्धन के बाद हुए हैं इसमें कोई विसम्वाद नहीं। 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार आनन्दवर्धन काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा के सभासद तथा मुक्ताकण, शिव स्वामी एवं महाकवि रत्नाकर के समसामयिक कवि एवं समालोचक थे।[2] अतः अवन्तिवर्मा का समय ही आनन्दवर्धन का समय है जो 'राजतरङ्गिणी' के ही अनुसार ८५५ से ८८३ ई० के बीच निश्चित है। आनन्दवर्धन के समय का निश्चय अन्य प्रकार से भी यही होता है। इन्होंने उद्भट को नामतः उल्लिखित किया है,[3] जिनका समय ८०० ई० के लगभग निश्चित हो चुका है। अतः ये उसके बाद के स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। पर राजशेखर ९५० ई० से वे (आनन्दवर्धन) पूर्ववर्ती हैं क्योंकि राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में आनन्दवर्धन का नामतः उल्लेख किया है।[4] राजशेखर के समय के विषय में बहुत विसम्वाद इसलिये नहीं है कि उन्होंने 'यशस्तिलक' एवं 'तिलकमञ्जरी' नामक कृतियों से पद्य उद्धृत किये हैं जो १००० ई० की निश्चित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त सोड्ढल नामक व्यक्ति ने राजशेखर की प्रशंसा अपनी कृति में की है जो प्रमाणान्तरों से १०२५ से १०५० ई० के बीच में हुए थे। इस प्रकार आनन्दवर्धन का समय राजशेखर से किंचित्पूर्व ८५० से ९०० ई० के बीच मानना युक्तियुक्त है।

इनके अतिरिक्त भट्टनायक, कुन्तक एवं अभिनवगुप्त का भी उल्लेख साक्षात् या परोक्ष रूप में 'व्यक्तिविवेक' में हुआ है जो निश्चित रूप से आनन्दवर्धन के बाद के हैं। भट्टनायक का अनुपलब्ध ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' के नाम से प्रसिद्ध है। इसको ही व्यक्तिविवेककार ने 'दर्पण' के नाम से अभिहित किया है।[5] 'हृदयदर्पण' भी ध्वनिविरोधी ही कृति थी यह बात 'व्यक्तिविवेक' के टीकाकार रुय्यक ने कही है।[6] भट्टनायक नाट्यशास्त्र के अन्यतम

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ११६, १३१, काव्यमाला सीरीज बम्बई।

२. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ —राजतरङ्गिणी, ५।३४।

३. ध्वन्यालोक, पृ० १३१, काव्यमाला सीरीज, बम्बई।

४. प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्दः।
—राजशेखर : काव्यमीमांसा, अध्याय ५, पृ० १६ (बड़ौदा तृतीय संस्करण)।

५. समुद्यतादृष्टदर्पणा ममधीः। —व्यक्तिविवेक कारिका १।४।

६. दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।
—रुय्यक, : व्यक्तिविवेक —का० १।४ पर व्याख्यान टीका।

टीकाकार भी थे और अभिनवगुप्त से पूर्व हो चुके थे। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन'[१] एवं 'अभिनवभारती'[२] दोनों टीकाओं में भट्टनायक का नामतः उल्लेख किया है और इन्हें विभावादि के साधारणीकरणात्मक व्यापार के प्रतिपादन का श्रेय दिया है। मम्मट ने भी भरत के रससूत्र की व्याख्या पर इनका मत दिया है।[३] सर्वत्र ये व्यञ्जना-विरोधी एवं आनन्दवर्धन के आलोचक के रूप में ही उद्धृत हुए हैं। इस प्रकार भट्टनायक अभिनवगुप्त से पूर्व किन्तु आनन्दवर्धन के बाद के ठहरते हैं। महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण-कारिका 'यत्रार्थः शब्दो वा' में प्रयुक्त 'व्यङ्क्तः' पद में द्विवचन के प्रयोग की युक्तायुक्तता के निरूपण के प्रसंग में भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त दोनों का उल्लेख किया है।[४] अतः दोनों के अनन्तर ही इनकी स्थिति संभावित है।

इसी प्रकार महिमभट्ट ने कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का खण्डन अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' में किया है।[५] अतः कुन्तक भी इनके पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं। पर इन दोनों के बीच कितने समय का अन्तर है यह बताना कुछ कठिन-सा है। आगे 'महिमभट्ट और अभिनवगुप्त' नामक शीर्षक से अभिनव एवं कुन्तक के पूर्वापर भाव का भी निरूपण किया जायेगा। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि भट्टनायक, कुन्तक, अभिनवगुप्त और महिमभट्ट का स्थिति-काल परस्पर-सापेक्ष तथा इतना घनिष्ठ है कि महिमभट्ट के काल की पूर्व सीमा के लिए हमें पुनः आनन्दवर्धन की तिथि पर ही लौटना पड़ता है। उक्त चारों आचार्यों ने अपनी अपनी कृतियों में आनन्दवर्धन का साक्षात् या परोक्ष रूप से उल्लेख कर उनकी महत्ता प्रदर्शित की है। चूँकि महिमभट्ट के विवेचन का सम्बन्ध आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त से है अतः इन्हीं के काल को महिमभट्ट के काल की पूर्वसीमा निर्धारित करना युक्तियुक्त है। पहले कहा जा चुका है कि आनन्दवर्धन काश्मीर नरेश 'अवन्तिवर्मा' के सभा-कवि थे जिनका समय ८५५ से ८८३ ई० है। महिमभट्ट उनके बाद के हैं। अतः ९०० ई० ही महिमभट्ट के काल की पूर्वसीमा है।

(ख) उत्तरवर्ती सीमा

महिम के उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों की कृतियों में उनका उल्लेख हुआ है। पण्डितराज जगन्नाथ (१६०० ई०),[६] विश्वनाथ कविराज (१३५० ई०)[७] तथा अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक (११५० ई०)[८] ने अपनी कृतियों में महिमभट्ट का उल्लेख

---

१. तेन भट्टनायकेन द्विवचनं यद् दूषितं तद्गजनिमीलिकयैव।
—अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोक—का० १।१३ पर लोचन टीका।

२. भट्टनायकस्त्वाह—रसो नप्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते।
—नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती), प्रथम भाग —पृ० २७६, बड़ौदा, द्वि० सं०।

३. मम्मट : काव्यप्रकाश (झलकीकर (पूना)। चतुर्थ उल्लास, पृ० ९०।

४. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक—पृ० ९०, ९१।

५. व्यक्तिविवेक, कारिका १।६९-७३।

६. रसगङ्गाधर, पृ० ४७, चौखम्बा विद्याभवन, काशी (प्रथम आनन) १९५५ ई०।

७. साहित्यदर्पण, पृ० १८, चौखम्भा, वाराणसी (कृष्णमोहन शास्त्री कृत संस्कृत टीकोपेत; द्वितीय संस्करण।

८. रुय्यक : अलंकारसर्वस्व, पृ० ११ (त्रिवेन्द्रम्)

व्यक्तिविवेककार के नाम से किया है। इन सब में प्राचीनतम राजानक रुय्यक हैं, जो 'व्यक्ति-विवेक' के टीकाकार भी हैं। टीकाकार रुय्यक या उनके शिष्य मंखक थे इसका निर्णय बाद में किया जायगा। रुय्यक के टीकाकार होने की बात यहाँ छोड़ दी जाये, तो भी उनकी स्वतंत्र कृति 'अलंकार-सर्वस्व' तथा उसके सभी टीकाकार—जयरथ (१२०० ई०), श्री विद्याचक्रवर्ती (१२५० ई०) तथा समुद्र बन्ध (१३०० ई०) ने व्यक्ति विवेककार तथा महिमभट्ट दोनों ही नामों से इनका उल्लेख किया है। किन्तु इनके मूलग्रन्थकार रुय्यक के द्वारा ही इनका स्पष्ट उल्लेख होने से महिमभट्ट निश्चित रूप से रुय्यक के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। रुय्यक की तिथि का निर्धारण अपेक्षाकृत सरल है। इन्होंने 'विक्रमाङ्कदेव चरित' से पद्य उद्धृत किये हैं जिसकी रचना १०८५ ई० में मानी जाती है। रुय्यक ने काव्य-प्रकाश पर 'सङ्केत' नामक टीका लिखी है। अतः दोनों के बाद ही रुय्यक हुए हैं। रुय्यक के प्रसिद्ध शिष्य मंखु या मंखक ने 'श्रीकण्ठचरित' में अपने बड़े भाई 'अल्लक' को काश्मीर नरेश जयसिंह का सान्धिविग्रहिक बताया है[1], जिनका समय ११२८-११४९ ई० निश्चित है। बूलर के काश्मीर-प्रतिवेदन के अनुसार जयसिंह के समय में ही मंखक ने श्रीकण्ठचरित की रचना ११३५-११४५ ई० के बीच की। श्रीकण्ठचरित से पाँच श्लोक अलङ्कार 'सर्वस्व की वृत्ति में उद्धृत किये गये हैं। अतः अलङ्कार-सर्वस्व मंखक के श्रीकण्ठचरित के बाद की रचना ठहरती है। किन्तु काव्य-प्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने अपनी 'सङ्केत' टीका में 'अलङ्कार-सर्वस्व' का अनेकत्र उल्लेख किया है।[2] माणिक्य चन्द्र का समय उनके स्वयं के उल्लेख के अनुसार वि० सं० १२१६ (११५९ ई०) है।[3] इसका अर्थ यह है कि 'श्रीकण्ठचरित' की रचना ११४५ ई० से माणिक्य चन्द्र के 'काव्यप्रकाश-सङ्केत' की रचना ११६० ई० के बीच ही हुई 'अलङ्कार-सर्वस्व' की रचना का काल ११५० ई० के लगभग है। चूँकि रुय्यक के पूर्ववर्ती एवं आनन्दवर्धन के परवर्ती मम्मट, क्षेमेन्द्र, भोज, राजशेखर, तथा धनञ्जय में से किसी ने भी किसी रूप में महिमभट्ट का उल्लेख नहीं किया है अतः उनके काल-निर्धारण की उत्तरवर्ती सीमा रुय्यक द्वारा 'अलङ्कार-सर्वस्व' की रचना से कुछ पूर्व लगभग ११०० ई० मानी जा सकती है। इस प्रकार अन्तः एवं बाह्य साक्षियों के आधार पर महिमभट्ट का समय आनन्दवर्धन से रुय्यक तक ९०० से ११०० ई० के बीच सिद्ध होता है।

(ग) महिमभट्ट और मम्मट

महिमभट्ट और मम्मट में से किसी एक के द्वारा दूसरे का उल्लेख न होने से इनके बीच पूर्वापर भाव का निर्धारण हम उस प्रकार नहीं कर सकते जिस प्रकार आनन्द एवं महिम तथा महिम एवं रुय्यक के बीच निर्धारित हो गया है। महिमभट्ट के समान ही मम्मट भी प्रतिपक्षी का उल्लेख नामतः करना पसन्द नहीं करते। पर माणिक्यचन्द्र प्रभृति 'काव्यप्रकाश' के प्रायः

---

१. मंखक, श्रीकण्ठचरित, ३।६६।

२. काव्यप्रकाश संकेत, पृ० ३२१, ३५५ (मैसूर संस्करण)।

३. रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्थितः।
—माणिक्यचन्द्र : संकेत टीका, दशम उल्लास, समाप्ति श्लोक—१२।

सभी प्रमुख टीकाकारों ने पञ्चम उल्लास के अन्त में पूर्वपक्ष के रूप में मम्मट के द्वारा किये गये अनुमान में व्यञ्जना के अन्तर्भाव की सिद्धि के विवेचन को व्यक्तिविवेककार का मत कहा है।[१] परम्परा भी यही है कि महिमभट्ट पूर्ववर्ती और मम्मट परवर्ती हैं। मेरे विचार से भी 'व्यक्तिविवेक' का प्रभाव 'काव्यप्रकाश' पर अवश्य पड़ा है जो उसके पञ्चम उल्लास पर परोक्ष रूप से एवं सप्तम उल्लास पर साक्षात् परिलक्षित होता है।

(१) महिमभट्ट ने अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के तात्पर्यवाद एवं अन्विताभिधानवादियों के इषुवद् दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार के खण्डन में जो युक्तियाँ दी हैं उनकी छाया काव्यप्रकाशकार की युक्तियों एवं तर्कों पर विद्यमान है।[२] दोनों ही इनका खण्डन करते हैं। महिमभट्ट ने जहाँ इसका अन्तर्भाव अनुमेयार्थ में समर्थित किया है वहाँ मम्मट ने इसे व्यञ्जना-व्यापार का विषय कहा है। दोनों की युक्ति एक ही है कि संकेत-ग्रह के आधार पर ही अभिधा किसी अर्थ को प्रकट करती है। तथा 'शब्द-बुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' के अनुसार वाच्यार्थ की प्रतीति कराकर विरत हुए अभिधा-व्यापार की पुनः प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

(२) लक्षणा में ही व्यञ्जना के अन्तर्भाव की संभावना का विवेचन करते हुए काव्यप्रकाशकार ने दृष्टान्त के लिये तीन वाक्य 'रामोऽस्मि सर्वं सहे', 'रामेण प्रियजीवितेनतु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' तथा 'रामोऽस्मि भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' उद्धृत किये हैं।[३] तथा कहा है कि 'लक्षणीयोऽप्यर्थोनानात्वं भजते' वह 'व्यक्तिविवेक' के इस विवेचन की छाया पर किया हुआ लगता है कि "एकः शब्दः सामग्रीवैचित्र्याद् विभिन्नानर्थानवगमयति, यथा 'रामोऽस्मिसर्वं सहे', इति, 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् इति, 'रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्न-सीता विवासनपटोः करुणा कुतस्ते' इति, 'रामे तटान्तवसतौ कुशतल्पशायिन्यद्यापि नास्ति भगवन् भवतो व्यपेक्षा' इत्यादावेक एव राम शब्दः।[४]

(३) 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में ही अनुमान में व्यञ्जना के अन्तर्भाव के पूर्वपक्षात्मक विवेचन में जिस व्यापक-विरुद्धोपलब्धि का उल्लेख हुआ है वह 'व्यक्ति-

---

१. 'अथानुमानाद्व्यङ्ग्यप्रतीतिः' इति न्यायाचार्य-व्यक्तिविवेकग्रन्थकृन्महिमभट्टमतं निराकर्तुमाशंकते नन्वित्यादिना विरुद्धोपलब्धिः' 'इत्यन्तेन।
--काव्यप्रकाश पंचमउल्लास, बालबोधिनीटीका, पृ० २५२ (झलकीकर पूना, षष्ठ संस्करण)।

२. विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुंक्थाः....यदप्यन्ये मन्यन्ते....यथैकएव दीर्घदीर्घतरशब्दस्येषोरिव व्यापारः.....। किंच यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति॥
--व्यक्तिविवेक, पृ० १२१-१३२।
काव्यप्रकाश--"ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरोव्यापारः इति'
यत्परः शब्दः सशब्दार्थः इति....। यन्तु विषंभक्षय मा चास्यगृहे भुकंथाः इत्यत्र....।
--काव्यप्रकाश, पृ० २२५-२२९, (झलकीकर, पूना, षष्ठ संस्करण)।

३. काव्यप्रकाश, पृ० २४६ (झलकीकर, पूना, षष्ठ संस्करण)।

४. व्यक्तिविवेक, पृ० १२८।

विवेक' के तृतीय विमर्श में हुए व्यापक विरुद्धोपलब्धि के विधान का ही उपस्थापन है।[१] यहाँ एक बात ध्यान देने की और है कि आनन्दवर्धन ने हाल की गाथा 'भम-धम्मिअ वीसत्थो' को व्यङ्ग्य अर्थ के निरूपण में उद्धृत अवश्य किया है पर उसे बहुत महत्त्व नहीं दिया। महिमभट्ट ने ही इस गाथा को ध्वनि की अनुमितिपरक व्याख्या के लिये चुना है। मम्मट का भी इसी गाथा में अनुमान की प्रक्रिया का विवेचन कर उसका निराकरण करना महिमभट्ट के पूर्वतः कृत विवेचन से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हो सकता। अतः 'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों का यह कथन कि उक्त विवेचन में व्यक्तिविवेककार के मत का ही उपन्यास किया गया है, सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।

(४) महिमभट्ट के प्रति मम्मट की अधमर्णता की सबसे अधिक पुष्टि 'काव्यप्रकाश' के 'दोष-दर्शन' नामक सप्तम उल्लास से होती है जिस पर 'व्यक्तिविवेक' के 'शब्दानौ-चित्य-विचार' नामक द्वितीय-विमर्श का प्रभाव पूर्णरूप से परिलक्षित होता है। दोष का विवेचन यद्यपि नाट्यशास्त्र, मम्मट, दण्डी, वामन, रुद्रट तथा आनन्दवर्धन आदि सभी आलंकारिकों ने किया है पर महिमभट्ट का दोष विवेचन अत्यन्त मौलिक एवं सर्वथा विलक्षण है। व्यक्तिविवेककार ने केवल पाँच प्रकार के शब्द-दोषों का निरूपण किया है। विधेयाविमर्श, प्रक्रम-भेद, क्रम-भेद, पौनरुक्त्य एवं वाच्यावचन दोषों के ये नाम महिमभट्ट कृत हैं[२] जो पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित दोषों में परिगणित नहीं हैं। मम्मट ने इनमें से विधेयाविमर्श को 'अविमृष्टविधेयांश' के रूप में तथा प्रक्रमभंग को भग्नप्रक्रम, क्रम-भेद को अक्रम तथा पौनरुक्त्य को पुनरुक्त के रूप में निरूपित किया है।[३] इसी उल्लास में मम्मट ने अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक आदि पद-दोषों के, अविमृष्टविधेयांश के पद, पदांश एवं वाक्यगत तथा अनेक प्रकार के अक्रम, भग्नप्रक्रम एवं पुनरुक्त आदि दोषों के सभी उदाहरण प्रत्युदाहरणों के लिये 'व्यक्तिविवेक' में उद्धृत पद्य ज्यों के त्यों उसी क्रम से ले लिये हैं। भग्न-प्रक्रम के प्रकृति, प्रत्यय एवं कारकादि सभी भेदों के उदाहरण 'व्यक्तिविवेक' के ही हैं। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' के एक ही सप्तम उल्लास में बत्तीस पद्य ऐसे हैं जिनको व्यक्तिविवेक-कार ने पहले से ही उदाहृत कर रखा है। इनकी 'काव्यप्रकाश' की संख्या निम्न प्रकार है—१४६-५०, १६०, १६३, १६४, १८३-९०, १९२, १९३, १९५, २०१, २०८, २३२, २४३-२५०, २५२, २९४, ३०२, ३१५ तथा ३४०। यों तो 'ध्वन्यालोक' में

---

१. यद्-यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्युपलब्धिपूर्वकम्। गोदावरी तीरे सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। —काव्यप्रकाश, पृ० २५४ (पूना)।
यदिवा प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरनर्थसंशयाभावनिश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धश्चात्रानर्थसंशयोऽस्मा-द्विधिवाक्याणिणजर्थपर्यालोचनयावसीयते इति ——व्यापक विरुद्धोपलब्ध्या. . .
——व्यक्तिविवेक, पृ० ४०२; चौखम्भा।

२. व्यक्तिविवेक, पृ० १५०।

३. काव्यप्रकाश, पृ० २६६, ३२७, ३७८ (पूना)।

उदाहृत पद्य 'व्यक्तिविवेक' में भी उपलब्ध होते हैं पर ये जानबूझकर उससे लिये गये हैं। घुणाक्षर न्याय से इनका दोनों ग्रन्थों में पाया जाना सर्वथा अस्वाभाविक है।

यहीं नहीं, विधेयाविमर्श दोष के प्रसंग में समास, असमास, तथा नञ् समास में दोष की स्थिति तथा प्रक्रमभंग के निरूपण के प्रसङ्ग में यत् तद् आदि सर्वनामों के प्रयोग विषयक जो सैद्धान्तिक विवेचन हमें 'व्यक्तिविवेक' में विशद रूप से उपलब्ध होता है[1] उसका निर्गलित उसी सरणि पर 'काव्यप्रकाश' के इस सप्तम उल्लास में भी प्राप्त होता है।[2] इसलिये यह निश्चित है कि काव्यप्रकाशकार उपर्युक्त स्थलों में महिमभट्ट के ऋणी हैं। अतः उत्तरवर्ती ही ठहरते हैं। मम्मट एक ओर जहाँ अपने प्राचीनतम टीकाकार रुय्यक (११५०) एवं माणिक्य चन्द्र (११६०) से पूर्ववर्ती हैं वहीं 'शृंङ्गारप्रकाश' एवं 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के कर्ता राजा भोज के अनन्तर ही हुए हैं। क्योंकि इन्होंने अपनी कृति 'काव्यप्रकाश' के दशम उल्लास में उदात्तालङ्कार का उदाहरण एक ऐसा पद्य दिया है जिसके चतुर्थ चरण में भोज नृपति का नाम आया है।[3] भोज का समय निश्चित है। 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार मालवाधीश भोज और कश्मीर नरेश अनन्तराज समसामायिक, समदानी, समवीर एवं समविद्वान् थे।[4] उनका समय (९९६ से १०५१ ई०) तक का निश्चित है। इस प्रकार मम्मट का समय ११५० ई० से पूर्व एवं १०५० के बाद लगभग ११०० ई० निश्चित-प्राय है। महिमभट्ट इसके भी पूर्व के हैं।

(घ) महिमभट्ट एवं अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त और महिमभट्ट दोनों में से किसी ने एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया है। यही स्थिति वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक और अभिनवगुप्त की है। कुछ विद्वानों[5] का अनुमान है कि 'अभिनव-भारती' का लक्षणा का विवेचन वक्रोक्तिजीवित से प्रभावित है। डॉ० शंकरन और डॉ० राघवन इसे नहीं मानते। क्योंकि यदि अभिनवगुप्त को वक्रोक्ति-सिद्धान्त विदित होता तो वह उसका भी खण्डन करने से नहीं चूकते। अतएव डॉ० काणे ने कुन्तक एवं अभिनवगुप्त दोनों के समसामायिक होने की संभावना की है।[6]

महिमभट्ट ने कुन्तक तथा अभिनवगुप्त दोनों का ही उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से 'व्यक्ति-

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० १५६, १६०, १६३-१६९, १९०-१९५ (चौखम्भा)

२. काव्यप्रकाश, पृ० ३१३, ३४९ (पूना)।

३. मुक्ता, केलिविसूत्रहारगलिताः . . . . ।
यद्विद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ॥ —काव्यप्रकाश, उदाहरण १०।५०५।

४. स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षणविश्रुतौ ।
सूरी तस्मिन्क्षणे तुल्यौ द्वावास्तां कविबान्धवौ ॥ —राजतरङ्गिणी, ७।२५९।

५. डॉ० पी० सी० लाहिड़ी : इण्डियन कल्चर, तृतीय भाग, पृ० ५३०-५३४ तथा डॉ० मुखर्जी : बी० सी० ला०, प्रथम खण्ड, पृ० १८३।

६. पी० वी० काणे: हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोयेटिक्स, पृ० २३५-३६ (तृतीय संस्करण)।

विवेक' में किया है तथा इनमें से एक कुन्तक को सहृदयमानी[१] और दूसरे अभिनवगुप्त को विद्वन्मानी[२] कहा है। महिम ने 'वक्रोक्तिजीवित' की कारिका का उल्लेख कर वक्रोक्ति सिद्धान्त का पूर्वपक्ष के रूप में निरूपण अनन्तर खण्डन भी किया है। तथा ध्वनि के समान उसे भी अनुमान में ही अन्तर्भूत माना है।[३] इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक' पर अभिनवगुप्त की टीका 'लोचन' का एक अंश 'व्यक्तिविवेक' में ज्यों का त्यों उद्धृत हुआ है।[४] इन दोनों आचार्यों का उल्लेख तो करना पर नाम न लेना तथा उनके लिये 'सहृदयमानी' और 'विद्वन्मानी' जैसे विशेषणों का प्रयोग करना इस बात का द्योतक है कि महिमभट्ट भी इन दोनों के समसामयिक ही थे। यह बात अवश्य है कि 'व्यक्तिविवेक' की रचना के समय 'वक्रोक्तिजीवित' एवं ध्वन्यालोक पर 'लोचन' टीका प्रकाश में आ गये थे। जो भी हो 'व्यक्तिविवेक' दोनों कृतियों के बाद की रचना है इसमें सन्देह का अवसर नहीं है।

वक्रोक्तिजीवितकार ने 'ध्वनि' या 'व्यङ्ग्य' की स्वतंत्र सत्ता का खण्डन कर उसे वक्रोक्ति में ही अन्तर्भूत माना है। अतः जयरथ ने ठीक ही कहा है कि वक्रोक्ति जीवितकार तथा हृदयदर्पणकार दोनों ही यद्यपि ध्वनिकार के बाद में हुए हैं तथापि प्राचीन मत के अनुयायी हैं।[५] इस प्रकार कुन्तक, आनन्दवर्धन के बाद एवं महिमभट्ट के पूर्व के हैं। अभिनवगुप्त का समय उन्हीं के स्वयं के उल्लेखों के आधार पर निश्चितप्राय है। स्वरचित 'क्रमस्तव' के अन्तिम श्लोक से स्पष्ट है कि उसकी रचना उन्होंने ६६वें लौकिक वर्ष के अग्रहायण में की है जो ९९० ई० होता है।[६] 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' पर 'विमर्शिनी' टीका के अन्त के श्लोक के अनुसार उसकी रचना ४११५ कलि संवत् में हुई जब काश्मीर का लौकिक वर्ष ९० था।[७] यह समय १०१४ ई० है। इसके अनन्तर ही उन्होंने 'अभिनव-भारती' आदि की रचना की है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी' एवं 'भारतमञ्जरी' के उपसंहारात्मक पद्यों से भी इसकी पुष्टि होती है जिनमें उन्होंने अभिनवगुप्त को अपना साहित्यिक गुरु कहा है। इस प्रकार अभिनवगुप्त का काल ९८०-१०२० ई० तक निश्चित होता है। लगभग यही समय कुन्तक का भी है।

---

१. यत्पुनः 'शब्दार्थौ सहितौ—इत्यादिना शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि यद्वैचित्र्यं तन्मात्रलक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्यजीवितमिति सहृदयमानिनः केचिदाचक्षते तदप्यसमीचीनम् ॥
—व्य० वि० पृ० १२४-१२५।

२. अत्र केचिद्विद्वन्मानिनः . , . . 'अर्थः शब्दो वेति विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण' इति यदाहुस्तद् भ्रान्तिमात्रमूलं न तत्त्वमित्यलमवस्तुनिर्बन्धनेन ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ९०-९१।

३. व्यक्तिविवेक, पृ० १२४-१२७।

४. वही, पृ० ९१।

५. अलंकारसर्वस्व, टीका विमर्शिनी, पृ० १५।

६. षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि। मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः ॥
—के० सी० पाण्डेय: अभिनवगुप्त, पृ० ४१२।

७. नवतितमेऽस्मिन्वत्सरेऽन्त्ये युगांशे तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः ॥१५॥
—प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, पृ० ४०७।

(ङ) निष्कर्ष

उक्त विवेचन के आधार पर महिमभट्ट के काल की पूर्वोत्तर सीमा संकुचित होकर अभिनवगुप्त और मम्मट के बीच मोटे तौर पर १००० से ११०० ई० तक ठहरती है। इसमें भी अभिनवगुप्त के काल के ही अधिक निकट इन्हें होना चाहिये। क्योंकि मम्मट ने पूर्वविवेचन के अनुसार 'काव्यप्रकाश' में 'व्यक्तिविवेक' की सामग्री का जो उपयोग किया है वह सम्भव न होता यदि महिम कालतः उनके अधिक निकट के होते। दूसरी ओर अभिनवगुप्त को महिम के द्वारा 'विद्वन्मानी' सम्बोधित करना एक प्रकार से उनकी विद्वत्ता को अस्वीकार करना है 'व्यक्तिविवेक' में खण्डन तो उन्होंने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का ही किया है पर उनके लिये इस प्रकार के तिरस्कारपूर्ण शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। इसके विपरीत उन्हें महान् ही कहा गया है[1] तथा उनकी प्रस्थापना ध्वनि को आदर प्रदान करते हुए उसे एक गूढ़ सिद्धान्त माना है।[2] कुन्तक एवं अभिनवगुप्त के लिये सहृदयमानी तथा विद्वन्मानी विशेषणों का प्रयोग एवं उनकी उक्तियों को निःसार कहना महिमभट्ट एवं उनकी समसामयिकता का ही परिचायक है। अतः मेरी मान्यता है कि कुन्तक, अभिनवगुप्त एवं महिमभट्ट सम्यक्तया नहीं तो अंशतः तो अवश्य ही समसामयिक थे। इस प्रकार महिमभट्ट को अभिनवगुप्त के ही समीप १००० ई० के लगभग का मानना ही युक्तियुक्त एवं सर्वथा संगत है।

श्री नरसिंह आयङ्गर ने अपने एक निबन्ध में महिमभट्ट के काल के सम्बन्ध में जो कहा है कि वह १००० ई० के पूर्व के नहीं माने जा सकते,[3] यहाँ मेरा निवेदन है कि महिम को १००० ई० के बाद का भी कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि जिस रूप में उन्होंने अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है उससे तो यही प्रतीत होता है कि महिमभट्ट सम्भवतः अभिनवगुप्त से अवस्था में अधिक थे और 'व्यक्तिविवेक' की रचना के काल तक अभिनवगुप्त की विद्वत्ता पूर्णरूप से प्रतिष्ठित नहीं हो पायी थी। 'ध्वन्यालोक' पर लोचन उनकी आरम्भ की कृतियों में से होगी जब कि 'व्यक्तिविवेक' महिमभट्ट की वृद्धावस्था की रचना है। इनके पूर्वापरभाव का यही सामञ्जस्य है।

---

१. इहसम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचो विवेचनं नः।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय॥ —व्यक्तिविवेक १।३।

२. ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं वाण्याः पदे पदे सुलभम्। —वही १।५।

३. जर्नल आफ़ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, जनवरी, १९०८, पृ० ६५ एफ़

चतुर्थ-विमर्श

महिमभट्ट की कृतियाँ

राजानक महिमभट्ट के नाम से एकमात्र एक ही ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' उपलब्ध होता है। किन्तु इस ग्रन्थ में एक और ग्रन्थ 'तत्त्वोक्तिकोश' के नाम से उल्लिखित है जिसके भी कर्ता महिमभट्ट ही थे। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के द्वितीय विमर्श के अन्तिम भाग में प्रतिभा के निरूपण के प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने स्वयंकृत अपने उस ग्रन्थ का उल्लेख किया है :—

इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम् ।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इतिनेह प्रतन्यते ॥[1]

'तत्त्वोक्ति-कोश' ग्रन्थ कैसा था इसका अनुमान उसके मात्र उल्लेख से लगा सकना कठिन है। पर इतना तो निश्चित है कि वह ग्रन्थ भी साहित्य विषयक ही था। चूँकि यह ग्रन्थरत्न उपलब्ध नहीं हो सका है अतः उसका विस्तृत विवरण दे सकना संभव नहीं है। 'व्यक्तिविवेक' उनकी एक मात्र उपलब्ध कृति है। उसका ही अध्ययन इस ग्रन्थ में किया गया है।

व्यक्तिविवेक

(क) प्रकाशन

रसवादी आचार्य महिमभट्ट की एक मात्र उपलब्ध कृति 'व्यक्तिविवेक' अलङ्कारशास्त्र का एक महनीय ग्रन्थ है। इसका उल्लेख 'काव्यप्रकाश' की प्रायः सभी टीकाओं, रुय्यक के अलङ्कार-सर्वस्व एवं उसकी टीकाओं, हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन', विद्याधर की 'एकावली', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगङ्गाधर' में विशेषरूप से उपलब्ध होता है।

'व्यक्तिविवेक' का प्रकाशन दो स्थलों से हुआ है। इसे सर्वप्रथम प्रकाशित करने का श्रेय त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज को है जहाँ से अनन्तशयनम् ग्रन्थावली के पञ्चम ग्रन्थाङ्क के रूप में गणपति शास्त्री ने इसे १९०९ ई० में प्रकाशित किया था। इसमें आरम्भ के पृष्ठों में 'व्यक्तिविवेक' मूलग्रन्थ है अनन्तर 'रुय्यक' के नाम से 'व्याख्यान' नाम की टीका दी गई है। आरम्भ में दश पृष्ठों की अंग्रेजी भूमिका है। प्रकाशक के कथनानुसार मूलग्रन्थ जब आधा मुद्रित हो चुका था तभी 'टीका' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। फलतः उसे मूल के नीचे न देकर अन्त में ही दिया जा सका। त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज ने अनेक बहुमूल्य ग्रन्थरत्नों का प्रकाशन कर संस्कृत भाषा एवं साहित्य की महती सेवा की है। आचार्य महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' उन्हीं ग्रन्थरत्नों में से अन्यतम है। इसका दूसरा प्रकाशन काशी संस्कृत सीरीज पुस्तकमाला के १२१ वें

---

१. व्यक्तिविवेक, कारिका २।११९ ।

तथा उसके अन्तर्गत अलङ्कार-विभाग के चतुर्थ पुष्प के रूप में सम्वत् १९९३ अर्थात् १९४७ ई० में काशी से हुआ है। इसके सम्पादक पण्डित मधुसूदन शास्त्री हैं। इस प्रकाशन में मूल पर रुय्यक कृत 'व्याख्यान' एवं स्वयं मधुसूदन शास्त्री कृत 'विवृति' नाम की दो टीकायें हैं। टीकाकार एवं टीकाओं के सम्बन्ध में आगे विशेष रूप से विवेचन किया जायगा।[1] छपाई एवं कागज की दृष्टि से दोनों ही प्रकाशन उत्तम हैं। त्रिवेन्द्रम् का प्रकाशन काशी के प्रकाशन की अपेक्षा अधिक उत्तम है। उसमें पाठ अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध एवं अधिक प्रामाणिक है। साथ ही पाठान्तर भी दिये गये हैं। दोनों ही संस्करणों के अन्त में श्लोकानुक्रमणी एवं शुद्धिपत्र भी दिये गये हैं।

(ख) नामकरण

महिमभट्ट के ग्रन्थ का नाम 'व्यक्तिविवेक' है जिसका उल्लेख ग्रन्थकार ने भी मङ्गल श्लोक में कर दिया है।[2] यह व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना के विवेचन के नाम पर रखा गया प्रतीत होता है। 'व्याख्यान' टीका में इसकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुए कहा है—'व्यक्तिर्व्यञ्जनं तद्विवेकस्य करणं स्वप्रवृतिः,। व्यञ्जना का नाम ही 'व्यक्ति' है उसका विवेक कराना ही ग्रन्थकार की प्रवृत्ति का प्रयोजन है। चूँकि ध्वनि-सिद्धान्त का मूलाधार व्यञ्जना है इसलिये व्यञ्जना के युक्तायुक्त होने के विचार से ध्वनि के यथार्थ स्वरूप का बोध हो सकता है यही व्यक्ति-विवेककार को भी अभीष्ट है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ का समापन करते हुए वे कहते हैं कि व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना ही ध्वनि का प्राणभूत तत्त्व है। उसी का विवेचन मैंने इस ग्रन्थ में किया है। ध्वनि के अन्य तत्त्व–वस्तु अलङ्कार एवं रसादि भेद तथा इनके अन्य प्रभेदों के साथ हमारा विरोध नहीं के बराबर है। अतः उनके विवेचन के विस्तार में न जाकर व्यञ्जना का ही विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है[3] अतः व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना का विवेचन होने से इस ग्रन्थ का नाम इसकी व्युत्पति 'व्यक्तेः व्यञ्जनायाः विवेकः युक्तायुक्तविवेचनम्' के अनुसार 'व्यक्तिविवेक' सर्वथा उपयुक्त ही है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आनन्दवर्धन से महिमभट्ट के विरोध का मुख्य स्थल व्यञ्जनावृत्ति ही है अतः विवेचन कर उसी का निरसन ग्रन्थकार को अभीष्ट है।

ग्रन्थ प्रणयन के उक्त उद्देश्य का, जिसका निरूपण ग्रन्थ के उपसंहारात्मक श्लोकों में हुआ है ग्रन्थकार की ही ग्रन्थ के आरम्भ में की गई प्रतिज्ञा से, विरोध प्रतीत होता है जहाँ वे कहते हैं कि सभी ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव साधित करने के लिये ही 'व्यक्तिविवेक' की रचना कर रहा हूँ :

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१॥

---

१. 'व्यक्तिविवेक' का तीसरा प्रकाशन चौखंभा विद्याभवन, काशी से मूल, व्याख्यान टीका तथा उन सब के हिन्दी अनुवाद के साथ 'हिन्दी व्यक्तिविवेक' के नाम से १९६४ में हुआ है। इसके हिन्दी रूपान्तरकार श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी हैं।

२. व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥ —व्यक्तिविवेक, १।१।

३. प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता ।
यत्त्वन्यत्तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम् ॥ —व्यक्तिविवेक—का० ३।३३।

यहाँ 'सर्वस्यैव' पद से ध्वनि के सभी प्रकारों तथा अङ्गोंपाङ्गों का बोध होता है। व्याख्यानकार 'सर्वस्यैव' पद की टीका करते हुए कहते हैं कि—"सर्वग्रहणेन निरवशेषत्तामाह, अन्यथा काव्यानुमानस्यातिव्याप्तिः स्यात् ॥" सर्व से ध्वनि के सभी प्रकार के भेदोपभेदों का ग्रहण होता है अन्यथा किसी तत्त्व विशेष का ही अनुमान में अन्तर्भाव साधित करने पर काव्यानुमान पक्ष में अव्याप्ति दोष पड़ेगा। व्यञ्जना ध्वनि-सिद्धान्त का एकत्त्व है। केवल उसी का विवेचन करने से समूचे ध्वनि का तो अन्तर्भाव नहीं सिद्ध हुआ। अतः यदि केवल व्यञ्जना का ही विवेचन इसमें हुआ है तो यह विवेचन अव्याप्त है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ का विवेचन अतिव्याप्त भी है क्योंकि ग्रन्थ का द्वितीय विमर्श 'अनौचित्य' अर्थात् काव्यदोषों का निरूपण करता है। उसमें ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव तथा व्यञ्जना-वृत्ति के युक्तायुक्त होने की चर्चा का अवसर भी नहीं है। फिर ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा का महत्त्व क्या रह जाता है कि ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाने के लिये ही 'व्यक्तिविवेक' की रचना की जा रही है तथा ग्रन्थ के नाम 'व्यक्तिविवेक' की सार्थकता कहाँ तक प्रमाणित होती है ?

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है कि 'व्यक्तिविवेक' में व्यञ्जना-मात्र का विवेचन होने से ग्रन्थ अव्याप्ति-दोष-ग्रस्त है, समाधान के रूप में यह कहा जा सकता है कि व्यञ्जना ध्वनि का सर्वस्व ही नहीं उसकी आधारशिला भी है। अतः उसके खण्डित हो जाने पर 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' न्याय से उस पर आधारित ध्वनि के अशेष भेद-प्रभेदों का खण्डन स्वतः हो जाता है। ध्वनि के अर्थान्तिर संक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत, अलक्ष्यक्रम एवं संलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य आदि भेद-प्रभेद व्यञ्जना-मूलक ही हैं। अतः व्यञ्जना-वृत्ति के अनुमान में अन्तर्भूत हो जाने पर ध्वनि के उक्त भेदों की अनुमेयता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव के प्रसङ्ग में व्यञ्जना-मात्र का विवेचन अव्याप्ति दोष ग्रस्त नहीं कहा जा सकता। दूसरा जो अतिव्याप्ति दोष सम्भावित किया गया है वह भी इसलिये नहीं बनता कि दोषों का सलक्षणोदाहरण रूप में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर आचार्य महिमभट्ट यह दिखा देना चाहते हैं कि प्रतीयमान अर्थ की प्रधानतया अभिव्यक्ति होने पर भी दोष विशेष के सद्भाव से कोई रचना काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण नहीं हो सकती । इसके विपरीत जहाँ कोई दोष नहीं है उस रचना में तथाकथित व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो चाहे न हो, वह काव्य का उत्तम निदर्शन है। अतः महिमभट्ट का दोष विवेचन भी प्रकारान्तर से काव्य में ध्वनि के महत्त्व का निराकरण ही है। इन दोनों प्रकार की विप्रतिपत्तियों का एक तीसरा समाधान 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' यह न्याय भी है। चूँकि इस ग्रन्थ में व्यञ्जना का ही मुख्य रूप से विवेचन हुआ है, अतः इसका नाम 'व्यक्तिविवेक' सार्थक ही है।

ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में एक आक्षेप यह भी है कि इसे 'काव्यानुमितिविवेक' जैसा मण्डनात्मक होना चाहिये था न कि व्यक्ति के नाम पर जिसका कि इसमें खण्डन ही किया गया है। क्योंकि विवेक सद्वस्तु का ही होता है। जब व्यञ्जना वास्तव में है ही नहीं तो उसका विवेक कैसा ? किन्तु एक तो विवेक पद का प्रयोग उक्त प्रकार से नियमित नहीं है तथा 'नित्यानित्य वस्तु विवेक' के समान विवेक पद हेय एवं उपादेय दोनों प्रकार के विषयों के साथ प्रयुक्त हो सकता है। दूसरे, विवेक शब्द यहाँ यथार्थ ज्ञान परक न होकर विवेचन-मात्र परक है। इस की पुष्टि 'व्यक्तिविवेक' के प्रथम विमर्श की तीसरी कारिका से भी होती है जहाँ 'व्यक्तिविवेककार'

कार ने अपना उद्देश्य ध्वनिकार की उक्ति (सिद्धान्त) का विवेचन करना बताया है।[1] अथवा विवेक पद का अर्थ 'बोध या ज्ञान' होता है। 'कृत्याकृत्यविवेक', 'सद्सद्विवेक' आदि शब्दों में भी विवेक पद इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ भी व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना का यथार्थतः बोध ही जिसका विषय है वह ग्रन्थ 'व्यक्तेः विवेको यस्मिन्नसौ व्यक्ति-विवेको ग्रन्थः' अभिप्रेत है। अथवा व्यक्ति के बोध को व्यक्ति-विवेक कहते हैं तादात्म्य से तत्प्रतिपादक ग्रन्थ के लिये भी 'व्यक्ति-विवेक' संज्ञा सर्वथा समीचीन एवं परम उपादेय है। वस्तुतः महिमभट्ट जैसे विद्वान् आचार्य की कृति का नामकरण भी गूढ़ ही होना चाहिये। आगे चल कर इस ग्रन्थ का नाम ही इतना लोकप्रिय हो गया कि ग्रन्थकर्ता की व्यक्तिविवेककार के रूप में जितनी प्रसिद्धि है उतनी महिमभट्ट नाम से नहीं।

(ग) स्वरूप एवं विवेच्य विषय

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ की रचना अपने ढंग की विलक्षण है। इसमें ग्रन्थकार विषय का विवेचन पहले गद्य में करता है तथा यथावसर पूर्ववर्ती आचार्यों के उद्धरण एवं काव्यों से उदाहरण देता है; अनन्तर सम्पूर्ण विवेचन कारिकाओं में संगृहीत कर देता है जिन्हें संग्रह श्लोक कहा है। दो-तीन स्थानों पर उन्हें ही 'अन्तरश्लोक' तो एक स्थान पर 'संग्रहार्या' की भी संज्ञा दी है। इनकी कुल संख्या २७० है जिनमें आरम्भ के ६ श्लोक प्रस्तावनात्मक एवं अन्त के चार उपसंहारात्मक हैं। इस प्रकार वृत्ति, उदाहरण और अन्त में कारिकायें, यही ग्रन्थ के विवेचन की प्रणाली है। साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थ इसके विपरीत पहले कारिका या सूत्र, अनन्तर उसकी वृत्ति एवं उदाहरण देने की प्रणाली से लिखे गये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। विचार, विमर्श के बिना विवेक संभव नहीं, संभवतः इसीलिये 'व्यक्ति-विवेक' में ग्रन्थ का विभाजन ग्रन्थकार ने विमर्शों में किया है।

प्रथम विमर्श का नाम 'ध्वनिलक्षणाक्षेप' रखा है। इसमें मुख्य रूप से आनन्दवर्धन कृत ध्वनि के लक्षण पर आक्षेप के प्रसङ्ग में ही अन्य विषयों का विवेचन हुआ है। आरंभ में मंगलाचरण के बाद पाँच श्लोकों में ग्रन्थ के प्रणयन के प्रयोजन आदि का कथन हुआ है। अनन्तर ध्वनि के लक्षण के खण्डन का आरम्भ हो जाता है। फिर शब्द-व्यवहार की अनुमानरूपता प्रदर्शित करने के प्रसङ्ग में शब्द, अर्थ, उनके भेद-प्रभेद एवं परस्पर के सम्बन्ध तथा क्रिया शब्द-त्वपक्ष का विवेचन किया गया है। इसके बाद ही रसादि के विषय में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव की असम्भाव्यता का प्रदर्शन कर वस्तु एवं अलंकार ध्वनियों में भी व्यंग्य-व्यञ्जक-भाव की शंका का परिहार किया गया है। फिर व्यञ्जना का लक्षण तथा उसके तीन भेदों का विवेचन कर उसकी असंभाव्यता दिखाई गई है। आनन्दवर्धन कृत ध्वनि के लक्षण में दस प्रकार के दोषों की उद्भावना करते हुए ध्वनि का शुद्ध लक्षण देकर उसकी अनुमानपरक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अनन्तर भक्ति अर्थात् लक्षणा ही ध्वनि है इस पक्ष का समर्थन कर उसके साथ ही मीमांसकों के तात्पर्यवाद एवं दीर्घ दीर्घान्तर अभिध-व्यापार नामक दोनों पक्षों का खण्डन किया गया है। इसके बाद ही वक्रोक्ति का अन्तर्भाव अनुमान में साधित करते हुए ध्वनि के अविवक्षित-वाच्य आदि भेदों की अनुपपन्नता के प्रदर्शन के साथ प्रथम-विमर्श की परिसमाप्ति

१. ध्वनिकारस्यवचो विवेचनं नः। —व्य० वि० का०, १।३

हो जाती है। इस प्रथम-विमर्श में ही ग्रन्थकार अगले विमर्श में अनौचित्य का विवेचन किये जाने की सूचना भी दे देते हैं।

द्वितीय विमर्श का नाम 'शब्दानौचित्यविचार' है। इसमें मुख्य रूप से काव्य-दोषों का निरूपण पर्याप्त विस्तारपूर्वक हुआ है। अन्त में अलंकार के स्वरूप का सैद्धान्तिक रूप से प्रतिपादन हुआ है। अनौचित्य अर्थात् दोष का सामान्य लक्षण प्रस्तुत कर उसके मुख्य पाँच भेद विधेया-विमर्श, प्रक्रम-भेद, क्रम-भेद, पौनरुक्तय तथा वाच्यावचन का एक-एक करके अत्यन्त विस्तार में विवेचन किया गया है। समूचे विमर्श के विवेच्य विषय का संकलन अलग-अलग स्थलों पर कुल १२७ संग्रह-कारिकाओं में हुआ है। आचार्य ने इस विवेचन को तत्कालीन एवं भावी कवियों के लिये किया गया अनुशासन (शास्त्र) कहा गया है।

इदमद्यतनानां च भाविनां चानुशासनम्।
लेशतः कृतमस्माभिः कविवर्त्मारुरुक्षताम् ॥[1]

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ का अन्तिम तृतीय-विमर्श ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव का निरूपण विविध उदाहरणों में करता है। अतएव इसका नाम 'ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावप्रदर्शनः' रखा गया है। ध्वनिकार आनन्द-वर्धन द्वारा ध्वन्यालोक में उदाहृत ध्वनि के चालीस उदाहरणों में अनुमिति की प्रक्रिया का दिग्दर्शन यहाँ विधिपूर्वक हुआ है। विभावादि के साधारणीकरण से होने वाली रसानुभूति की व्याख्या भी अनुमितिपरक प्रस्तुत कर ग्रन्थ का समापन प्रथम विमर्श में की गई प्रतिज्ञा के अनुरूप ही इस वाक्य से हुआ है कि ध्वनि के सभी भेद-प्रभेदों का अनुमिति में अन्तर्भाव ही श्रेयस्कर एवं युक्तियुक्त है। इस विमर्श के संग्रह-श्लोकों की कुल संख्या ३८ है। अन्तिम चार पद्यों में ग्रन्थकार ने अपने परिवार का परिचय दिया है। साथ ही यह आशा भी व्यक्त की है कि इस कृति के कर्ता के रूप में वह विद्वानों की स्मृति के विषय सदा बने रहेंगे। क्योंकि उन्होंने जो कुछ लिखा है सर्वथा मौलिक एवं उनका अपना है, दूसरों के मतों का संग्रह नहीं। अतः विद्वान् लोग दो प्रकार से उन्हें याद रख सकते हैं। कुछ तो इसलिये कि उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन कर एक ऐसा प्रयास किया है जो उपहास का विषय है। दूसरे लोग जो इसको समझेंगे वह इस दृष्टि से उनको नहीं भूलेंगे कि उन्होंने ध्वनि नामक तत्व की गवेषणा करके नवीन विषयों का जो प्रतिपादन किया है उससे उनकी बुद्धि को परितोष मिला है—

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम्।
हासैककारणगवेषणया नवार्थतत्वावमर्शपरितोषसमीहया वा ॥[2]

(घ) ग्रन्थ-गरिमा

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ की गरिमा के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी गरिमा इसकी मौलिकता में है जिसके ऊपर ग्रन्थकार को भी गर्व है। वह अपनी युक्तियों एवं तर्कों को 'अनुल्लिखित पूर्व' कहते हैं। जिसका उल्लेख इनके पूर्व के किसी भी विद्वान् ने नहीं किया है अर्थात् वे सर्वथा नवीन अतः मौलिक हैं। वास्तव में ध्वनि का यह विवेचन

---

१. व्यक्ति-विवेक का०, २।१२६
२. व्यक्ति-विवेक कारिका, ३।३८

एक प्रकार का शोध-कार्य है जिसे महिमभट्ट ने इस दृष्टि से प्रस्तुत किया है कि विद्वद्वर्ग इस पर विचार करे। इनकी युक्तियाँ अच्छे से अच्छे विद्वान् को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहतीं। यह बात और है कि उनको यथार्थ रूप में समझने के लिये एक विशिष्टस्तर की योग्यता अपेक्षित है। महिमभट्ट ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि हमारा यह प्रयास साहित्यशास्त्र के साधारण विद्यार्थी के लिये नहीं है अपितु उन विद्वानों के लिये है जो मेरी तरह (व्याकरण न्याय एवं मीमांसा आदि शास्त्रों में भी पारंगत) हैं।

युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नः

महिमभट्ट यह भली-भाँति जानते थे कि उनकी कृति, ध्वन्यालोक आदि की तरह अत्यधिक लोकप्रिय नहीं हो सकेगी। उन्हें इस बात का क्षोभ भी नहीं था। क्योंकि जैसा कि उनका ही कहना है—संसार में ऐसा कोई भी विषय, वस्तु या व्यक्ति है ही नहीं जो सर्वमनोहर हो।

नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्

सर्वमनोहर के दोनों अर्थ सम्भव हैं—सब प्रकार से मनोहर या सर्वप्रिय। इस बात का निदर्शन देते हुए उन्होंने लिखा है कि मेरी इस बात का प्रमाण प्रत्यक्ष है। जगत् के जीवन-दायक सूर्य के उदय होने पर सभी प्रसन्न ही नहीं होते। अपितु सूर्यकान्त मणि प्रभृति कुछ ऐसे भी होते हैं जो जलने लगते हैं तथा कुमुदिनी जैसे कुछ अन्य भी हैं जो उसे सहन न कर जब कुछ कर नहीं पाते तो अपनी आँखें ही मूँद लेते हैं।

केचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निमील—
न्त्यन्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥१।२॥

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ को विद्वानों की परीक्षा का विषय बनाते हुए वह उनके न्याय में अपनी आस्था प्रकट करते हैं। उनका विश्वास है कि उच्च-कोटि के विद्वान् शूर्प के समान होते हैं जिसका यह स्वभाव ही होता है कि वह भूसी को ग्रहण नहीं करे।[1]

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ की गरिमा का आधायक दूसरा तत्त्व उनके द्वारा अपनायी गई विषय-विवेचन की समास शैली है। अपनी प्रणाली की उपयुक्तता पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थ-कार कहते हैं कि—विषय का संक्षेप में या विस्तारपूर्वक विवेचन पाठकों की योग्यता को ध्यान में रख कर ही किया जाता है। यदि बोद्धा साधारण कोटि का है तो व्यास शैली का अपनाना आवश्यक हो जाता है। चूंकि इस ग्रन्थ का प्रणयन कुछ विशिष्ट कोटि के विद्वानों को ही दृष्टि में रख कर किया गया है अतः विस्तार में जाना उचित नहीं समझा गया। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ समास-शैली में लिखा गया है जो सर्व-साधारण के लिये बोधगम्य नहीं है। इसी प्रसंग में महिमभट्ट ने विद्वानों की इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है कि जब किसी बात का बहुत विशद रूप से विवेचन किया जाता है तो विद्वान् लोग गुण में भी दोषाविष्कार रूप असूया करने लग जाते हैं।[2]

---

१. किन्तु तदवधीर्यार्यैर्गुणलेशो सततमवहितै भव्यिम्।
परिपवनवदथवा ते न शिक्षितास्तुषग्रहणम् ॥ —व्य० वि० का०, ३। ३६।

२. प्रतिपाद्यबुद्ध्यपेक्षौ प्रायः संक्षेपविस्तरौ कर्तुः।
तेन न बहुभाषित्वं विद्वद्भिरसूयितव्यं नः। —वही—३।३७

(ङ) वैगुण्य

इन सब के अतिरिक्त व्यक्ति-विवेक में कुछ वैगुण्य भी है। ग्रन्थ में विषय का विवेचन जितनी विद्वत्ता के साथ किया गया है उतनी योग्यता या परिश्रम के साथ उसे व्यवस्थित रूप नहीं दिया जा सका है। फलतः सारी सामग्री इतस्ततः अँधेरे कमरे में बिखरी-सी पड़ी है। ग्रन्थकार विषयवस्तु के प्रतिपादन में सहसा विषयान्तर से उलझ जाता है और कई पृष्ठ के अनन्तर अपने पूर्व विवेच्य विषय की पुनः चर्चा सहसा कर बैठता है जिससे पाठक की बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है और उसमें विषय के प्रवाह की एकरूपता बनी नहीं रहती। एक ही साथ अनेक विषयों के बोध का क्रम बनाये रखने की क्षमता किसी असाधारण पाठक में ही संभव है। प्रथम विमर्श में यह दोष विशेष रूप से है। इसका एक कारण ग्रन्थकार द्वारा अपनायी गई समास शैली में विषय का विवेचन करना भी है। यही कारण है कि ग्रन्थ के आरम्भ में विवेच्य-विषयों की एक तालिका प्रस्तुत कर सकना संभव नहीं। ध्वनिकाव्य लक्षण की मीमांसा में ही काव्य के आधायक प्रायः सभी महत्वपूर्ण तत्वों का बिना किसी क्रम एवं व्यवस्था के अस्तव्यस्त रूप में निरूपण हुआ है। मुझे तो ग्रन्थकार की यह कृति शीघ्रता में की गयी प्रतीत होती है। लगता है कि आरंभ में सुव्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत किये बिना ही ग्रन्थ का सहसा आरम्भ कर दिया गया है। यहाँ तक कि ध्वनिविरोधी अन्य आचार्यों की उन कृतियों का भी उपयोग नहीं किया जा सका जो सम्भवतः उन दिनों उपलब्ध थीं पर आज सर्वथा अलभ्य हैं। यद्यपि महिमभट्ट ने इस बात को बड़े गर्व से कहा है कि मेरी बुद्धि ने दर्पण एवं चन्द्रिका के प्रकाश के बिना ही ध्वनि का खण्डन किया है।[१] आज के पांडित्य की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की यह एक बहुत बड़ी कमी है कि तद्विषयक निखिल सामग्री का उपयोग न किया जाय। व्यक्ति-विवेककार के समय तक उनके ही उल्लेख के अनुसार 'भट्टनायक' का 'हृदय-दर्पण' एवं 'चन्द्रिका' नामक कृतियाँ ध्वनि सिद्धान्त के विरोध में की गई थीं। चन्द्रिका संभवतः ध्वन्यालोक की कोई टीका थी जिसमें ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया गया था। 'दर्पण' या 'हृदय-दर्पण' भट्टनायक की अनुपलब्ध कृति है। इसका क्या स्वरूप था कहा नहीं जा सकता। अभिनवगुप्त की टीका 'लोचन' में उपलब्ध 'दर्पण' के उद्धरणों से तो यही प्रतीत होता है कि वह भी ध्वन्यालोक की कोई टीका ही थी। जो भी हो व्यक्ति-विवेक के शीघ्रतापूर्वक लिखे जाने के कारण इसमें विषय के विवेचन में पूर्वापर भाव का विधान यथास्थान नहीं हो पाया है। ग्रन्थकार को जो उक्ति जब सूझी है उसने उसका वहीं उपन्यास कर दिया है। फलतः विषय का विवेचन कुछ उलझा हुआ सा है जो ग्रन्थ की गरिमा को निश्चित रूप से ठेस पहुँचाता है।

इन सबके होते हुए भी ग्रन्थ की उपादेयता का अपलाप नहीं किया जा सकता। महिमभट्ट की दृष्टि में जब दुनिया की कोई वस्तु सर्वमनोहर नहीं हो सकती तो उनकी कृति में भी दो-एक दोषों का होना स्वाभाविक ही है। आधुनिक समीक्षक इस बात में एकमत हैं कि महिमभट्ट के ग्रन्थ व्यक्ति-विवेक का मूल्यांकन जैसा अपेक्षित है अभी तक नहीं हुआ। डॉ० पी० वी० काणे का यह कथन सर्वथा यथार्थ है कि व्यक्ति-विवेक अलंकारशास्त्र में मूर्धन्य एवं उत्तम कोटि की कृति है। पर अभी तक उपेक्षा के अन्धकार में पड़ी हुई है।[२]

---

१. व्यक्ति-विवेक का० १।४, ५।
२. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोयेटिक्स--पृ० २४३ (तृतीय संस्करण)

पंचम-विमर्श

व्यक्ति-विवेक की टीकायें

व्यक्ति-विवेक पर टीकायें नहीं के बराबर हुई हैं। इसका कारण ग्रन्थ का ध्वनि-विरोधी होना समझा जाता है। किन्तु यह बात शत-प्रतिशत यथार्थ नहीं। प्रसिद्ध-परम्परा के विरुद्ध एवं सर्वथा नवीन होने पर भी आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की टीकायें उन्हीं दिनों हुई। उसकी 'चन्द्रिका' टीका जो अब उपलब्ध नहीं है निश्चित रूप से ध्वनि-विरोधी विद्वान् द्वारा की गई थी। 'दर्पण', 'हृदय-दर्पण' या 'सहृदय दर्पण' जिसके कर्तृत्व का श्रेय भट्टनायक को दिया जाता है तथा जो अब अनुपलब्ध है, सम्भव है ध्वन्यालोक की टीका ही रहा हो। अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' टीका तो उपलब्ध ही है। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में ध्वन्यालोक की अनेक टीकाओं के होने के संकेत जिस प्रकार मिलते हैं उसी प्रकार व्यक्ति-विवेक की अनेक टीकाओं के होने के संकेत भी नहीं मिलते। इसका कारण ग्रन्थ का विलक्षण होना ही प्रतीत होता है। व्यक्ति-विवेक की भाषा उसके विषय-विवेचन की शैली एवं विवेच्य विषय की दुरूहता आदि कुछ ऐसी बातें हैं कि व्यक्ति-विवेक की टीका करना साधारण काम नहीं है। ग्रन्थकार की स्थापनाओं से सहमत न होते हुए भी उस पर टीका लिखी जा सकती है। पर उसके यथोचित निर्वाह में सन्देह अवश्य होता है। अतः टीकाकार में टीका करने की अन्य आवश्यक योग्यताओं के साथ-साथ उसका उसी सिद्धान्त का समर्थक होना भी अपेक्षित है। महाभाष्यकार पतंजलि का कहना है कि पदों का विभाग कर देना मात्र व्याख्यान नहीं होता अपितु उदाहरण प्रत्युदाहरण वाक्याध्याहार प्रभृति अनेक ऐसी बातें होती हैं जिन सब को मिला कर ही टीका कहते हैं।[१]

व्यक्ति-विवेक की अब तक कुल दो टीकायें तथा एक हिन्दी अनुवाद हुआ है। इनमें से एक मात्र प्राचीन टीका 'रुय्यक' कृत 'व्यक्ति-विवेक-व्याख्यान' है। दूसरी टीका का नाम 'विवृति' या मधुसूदन-विवृति है जिसके कर्ता मधुसूदन शास्त्री हैं तथा एकमात्र हिन्दी अनुवाद हिन्दी-व्यक्ति-विवेक के नाम से रेवाप्रसाद द्विवेदी ने किया है।

१. व्याख्यान या व्यक्ति-विवेक-व्याख्यान

'व्याख्यान' या 'व्यक्ति-विवेक-व्याख्यान' व्यक्ति-विवेक की एकमात्र प्राचीन टीका है जो रुय्यक के नाम से 'त्रिवेन्द्रम' तथा वाराणसी से प्रकाशित हुई है। यह टीका सम्पूर्ण व्यक्ति-विवेक पर उपलब्ध भी नहीं होती, द्वितीय विमर्श के मध्य में ही समाप्त हो जाती है।

---

१. न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्' वृद्धिः आत् ऐच इति किन्तर्हि उदाहरण प्रत्युदाहरण-वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति। व्याकरणमहाभाष्य पस्पशाह्निक।

त्रिवेन्द्रम' के संस्करण में मूलग्रन्थ के अनन्तर इसे मुद्रित किया गया है क्योंकि जैसा कि सम्पादक गणपति शास्त्री का कहना है मूलग्रन्थ के आधा छप जाने पर टीका की भग्नावशिष्ट पाण्डु-लिपि कहीं से प्राप्त हो गई। फलतः उसे ग्रन्थ के अन्त में ही दिया जा सका, साथ-साथ नीचे नहीं। काशी के चौखंभा के दोनों प्रकाशनों में भी यह उतनी ही छपी है। सम्भवतः इन्होंने त्रिवेन्द्रम के संस्करण से ही इसे लिया है। कोई भिन्न पाण्डुलिपि इन्हें उपलब्ध नहीं हो सकी। चौखंभा के प्रथम संस्करण के सम्पादक ने द्वितीय विमर्श के उस स्थल पर जहाँ टीका समाप्त हो गयी है टिप्पणी दी है कि यहाँ तक ही 'व्याख्यान टीका' मुझे उपलब्ध हो सकी है, इसके बाद का अंश यदि भगवती सरस्वती की कृपा से प्राप्त हुआ तो पाठकों की सेवा में उसे भी उपस्थित करूँगा[1], जो नहीं हो सका। समूचे ग्रन्थ पर की गई इस टीका के सम्बन्ध में कहीं कुछ भी नहीं कहा गया है। मेरा अनुमान है कि यह टीका इतनी ही की गई थी। इससे अधिक या सम्पूर्ण ग्रन्थ पर टीका की ही नहीं गई; क्योंकि प्रथम विमर्श में भी यह टीका मध्य में ही समाप्त हो जाती है तथा कुल बाईस संग्रह कारिकाओं तक ही उपलब्ध होती है। अनन्तर द्वितीय विमर्श के साथ पुनः आरब्ध होकर उसके मध्य लगभग ८९ संग्रह कारिकाओं तक समाप्त हो जाती है। तृतीय विमर्श पर तो यह सर्वथा नहीं हुई है। इतना ही नहीं जिस अंश पर यह टीका मिलती है उसमें भी निरन्तर उपलब्ध नहीं होती अपितु बीच-बीच में अनेक स्थलों को छोड़ कर की गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ अभिमत स्थल ही व्याख्या के लिये चुने गये हैं। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि व्यक्ति-विवेक के जो स्थल बहुत अधिक प्रभावशाली एवं परिपुष्ट हैं उन पर यह टीका या तो उपलब्ध ही नहीं या यदि है भी तो चर्चा मात्र। उदाहरण के लिये प्रथम विमर्श में आनन्दवर्धन कृत ध्वनि के लक्षण में दस दोषों के उद्भावन तथा ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य का सांगोपांग निरूपण के पूर्व ही टीका समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार द्वितीय विमर्श के उत्तरार्ध में बड़े महत्वपूर्ण स्थल जिनमें अलंकार एवं गुणों के सिद्धान्त पक्ष का विवेचन किया है तथा समूचे तृतीय विमर्श पर जिसमें भेद-प्रभेद सहित ध्वनि के उदाहरणों में अनुमान की प्रक्रिया का दर्शन हुआ है, यह टीका उपलब्ध नहीं है। इस अनुपलब्धि का अर्थ टीका का न होना ही प्रतीत होता है। स्थल-स्थल पर मूलग्रन्थ से टीकाकार का विरोध भी यही सिद्ध करता है कि टीकाकार ग्रन्थ के आशय को प्रस्फुटित कर विस्तारपूर्वक विवेचन करने एवं भावों को खोलकर विषय-विवेचन करने में विशेष अभिरुचि सम्भवतः इसलिये नहीं लेता कि वह उनसे सहमत नहीं है। यह टीकाकार का गुण नहीं अपितु दोष ही है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र सम्बन्धित विषयों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन टीकाकार के प्रखर पाण्डित्य को भी प्रकट करता है। प्रकृत ग्रन्थ में यथास्थान इसका निरूपण हुआ है, जो इस बात का प्रमाण है कि टीकाकार में ग्रन्थ को खोल कर रखने एवं उसके विस्तारपूर्वक विवेचन करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान है, फिर भी वह किसी कारणवश वैसा नहीं कर पाता। उसका पूर्वाग्रहों से युक्त होना ही वह कारण प्रतीत होता है जिससे वह ग्रन्थकार के आशय का समर्थन नहीं कर पाता। यही नहीं, वह स्थल-

---

१. अयं व्याख्यानग्रन्थोऽस्माभिर्यावानुपलब्धः तावानेव पाठकानां पुरतः स्थापितः चेत् श्री सरस्वत्या भगवत्या अभ्युपपत्त्या अन्योऽपिलभ्येत्तर्हि पुनः पाठकेभ्यः सेवायामुपहरिष्यामहे। —व्यक्ति-विवेक—पृ० ३५६—चौखंभा, काशी (१९३६)

स्थल पर ग्रन्थकार की उक्तियों के दोषोद्भावन में ही रुचि लेता है। अतएव कहीं पर ग्रन्थकार के किसी स्थल की व्याख्या करना यह कह कर टाल देता है कि यह तो अपने सामने किसी को या समूचे विश्व को कुछ न गिनने वाले (महिमभट्ट) का अपने को सबसे बढ़ कर बताना मात्र है[1], तो कहीं ग्रन्थकार को साहित्य के विचार का दुर्निरूपक' कह कर उसके स्खलन एवं प्रमाद[2] का ही उल्लेख करता है। यह सही है कि कृति की व्याख्या में गुणों के साथ दोषों का विवेचन होना चाहिये। किन्तु कृतिकार के प्रति उक्त प्रकार के भाव का प्रकाशन टीकाकार की उस अनास्था का द्योतक है जो ग्रन्थकार के सिद्धान्तों के प्रति उसकी बुद्धि में पूर्वतः विद्यमान है। फिर ऐसे टीकाकार से मूलग्रन्थ की संगति बैठाने एवं उसके महत्वपूर्ण स्थलों को खोल कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का परिश्रम ही क्यों करते बनेगा। व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ की टीका उस व्यक्ति के वश की बात भी नहीं है जो केवल अलंकारशास्त्र में ही पारंगत है।

व्यक्ति-विवेक पर उक्त 'व्याख्यान' टीका के कर्ता होने का श्रेय प्रसिद्ध आलंकारिक विद्वान्, अलंकार-सर्वस्व प्रभृति अनेक ग्रन्थों तथा 'संकेत' आदि टीकाओं के कर्ता रुय्यक को दिया जाता है जो महिमभट्ट के समान ही राजानक उपाधि से विभूषित एक काश्मीरी ब्राह्मण थे। टीका की प्रथम विमर्श में प्रयुक्त पुष्पिका से यह तथ्य विदित होता है।[3] इसकी पुष्टि रुय्यक के प्रसिद्ध ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व' की टीका 'विमर्शिनी' से भी होती है जिसमें रुय्यक की ओर से यह कहा गया है कि इसका निर्णय मैंने ही व्यक्ति-विवेक-विचार में विस्तारपूर्वक किया है।[4] रुय्यक का समय उनके काव्यप्रकाश के टीकाकार होने से मम्मट (११०० ई०) के बाद एवं काव्यप्रकाश के ही अन्यतम टीकाकार माणिक्यचन्द्र (११५९ ई०) के द्वारा उल्लिखित होने से उनसे पूर्व लगभग (११५० ई०) है जिसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ में महिमभट्ट के समय के विवेचन के अवसर पर किया जा चुका है।

'रुय्यक एवं मंख या मंखुक'

कुछ विद्वानों की धारणा है कि अलंकार-सर्वस्व के सूत्रों की रचना रुय्यक ने की थी, उन पर वृत्ति उनके शिष्य मंख या मंखुक ने लिखी। चूंकि अलंकार-सर्वस्व की वृत्ति में ही व्यक्ति-विवेक पर टीका लिखने की बात का संकेत मिलता है अतः वह टीका (व्याख्यान) मंखुक कृत ही होनी चाहिये, रुय्यक कृत नहीं। किन्तु यह कथन निरर्गल इसलिये है कि एक तो अलंकार-सर्वस्व के सूत्र एवं वृत्ति दोनों ही रुय्यक कृत हैं, इसके अन्यान्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं; तथा व्यक्ति-विवेक के व्याख्यान टीका की पुष्पिका में भी जब टीकाकार का नाम

---

१. तदेतदस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति।
—व्यक्ति-विवेक, पृ० ४१। व्याख्यान टीका।

२. एतच्चास्य साहित्य-विचार दुर्निरूपकस्य प्रमुखे एव स्खलितमिति महान् प्रमादः।
—वही, पृ० ५

३. इतिश्री राजानक-रुय्यक-विरचिते व्यक्ति-विवेक-व्याख्याने प्रथमो विमर्शः समापतः।
—व्यक्ति-विवेक व्याख्यान, (चौखम्भा)

४. व्यक्ति-विवेक-विचारे हि मयैवैतद्वितत्य निर्णीतमिति भावः।
—अलंकार-सर्वस्वटीका विमर्शिनी—पृ० १६ (त्रिवेन्द्रम्)

राजानक रुय्यक मिलता है तब एक तो इस टीका को रुय्यक के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा कृत मानने का कोई प्रश्न नहीं उठता। दूसरे इससे अलंकार-सर्वस्व की वृत्ति के कर्ता भी स्वयं रुय्यक ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि वृत्ति में ही यह संकेत उपलब्ध होता है कि वह व्यक्ति-विवेक के टीकाकार हैं।

राजानक रुय्यक अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनकी कृति अलंकार-सर्वस्व अलंकारों के स्वरूप एवं लक्षण के निरूपण के सम्बन्ध में सर्वस्व समझी जाती है। यद्यपि यह ध्वनिवादी आचार्य हैं जैसा इनके ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व के प्रथम उपोद्घात-प्रकरण से स्पष्ट है तथापि इन्होंने एकमात्र अलंकारों का ही निरूपण अपने इस ग्रन्थ में किया है। ध्वनि या गुणी-भूत-व्यंग्य का नहीं। इसके अतिरिक्त रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि एवं समाहित तथा द्वितीय-उदात्त नामक अलंकारों का भी निरूपण अन्य अलंकारों की ही सरणि पर किया है जो ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। ध्वनि-सम्प्रदाय रसवत् आदि को अलंकार नहीं मानता। व्यक्ति-विवेक की इनकी टीका में स्थल-स्थल पर अनुमिति के खण्डन एवं ध्वनि के पोषण की प्रवृत्ति पायी जाती है।

२. विवृति या मधुसूदनी विवृति

व्यक्ति-विवेक की दूसरी संस्कृत टीका विवृति है जिसको टीकाकार ने अपने नाम के साथ लगाकर मधुसूदनी-विवृति भी कहा है। इस टीका को भाष्यकार के शब्दों में 'चर्चा-पदानि' कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसकी विशेषता यह है कि यह अथ से लेकर इति तक के समूचे मूल-ग्रन्थ पर है और अभिधेय को समझने के लिये पर्याप्त सहायक है। यह अत्यन्त ही सरल भाषा और शैली में लिखी गई है तथा अन्वय-मुखेन वाक्य एवं संग्रह श्लोकों या उदाहरणों की व्याख्या प्रस्तुत करती है। मोटे तौर पर ग्रन्थ को लगाने के लिये यह टीका जहाँ उपादेय है वहीं विशिष्ट स्थलों की विशद व्याख्या प्रस्तुत कर वक्ता के अभिप्राय को खोल कर रखने एवं उसके महत्त्व का सही मूल्यांकन करने की क्षमता से रहित भी है। पाणिनि के सूत्र कात्यायन के वार्तिक, पतंजलि के महाभाष्य, भर्तृहरि के वाक्य-पदीय तथा कुमारिल-भट्ट आदि के संगृहीत उद्धरणों का उल्लेख करना तो दूर की बात है, इसके विपरीत यह टीका कहीं-कहीं भ्रान्ति भी पैदा करने से नहीं चूकती। शान्तिरक्षित के तन्त्रवार्तिक की कारिका 'माणिप्रदीप प्रभयोः' इत्यादि को श्री शंकुक की[1] तथा अभिनवभारती में उल्लिखित 'संवेदनाख्य-व्यंग्यस्वपरसंवित्तिगोचरः' इत्यादि कारिका को 'तादृशः पाठः श्री शंकुकस्य हृदयदर्पणेवर्तते' से श्री शंकुक की कहा है[2]; जब कि साहित्यशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी इस बात को जानता है कि 'हृदय-दर्पण' भट्टनायक की कृति था, श्री शंकुक की नहीं।

इस टीका के कर्ता श्री मधुसूदन शास्त्री हैं जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में साहित्य के प्राध्यापक हैं। व्यक्ति-विवेक की टीका का यह दूसरा प्रयास है जिसको करके शास्त्री जी ने संस्कृत जगत् का बहुत उपकार किया है।

---

१. व्यक्ति-विवेक टीका, पृ० ७४
२. वही, पृ० ६७

३—अनुवाद—हिन्दी-व्यक्ति-विवेक

'हिन्दी-व्यक्ति-विवेक', व्यक्ति-विवेक तथा इस पर एक मात्र उपलब्ध रुय्यक की अधूरी संस्कृत टीका 'व्याख्यान' का अविकल हिन्दी अनुवाद है जो चौखंभा-विद्या-भवन, वाराणसी से १९६३ ई० में प्रकाशित हुआ है। यह एक बड़ा ही उत्तम एवं सराहनीय कार्य है जिसने आज के अनेक विद्वानों की महिमभट्ट के काव्यानुमिति-सिद्धान्त विषयक जिज्ञासा को अवश्य ही शान्ति प्रदान किया होगा। अनुवादक श्री रेवाप्रसाद जी द्विवेदी मेरे छात्र जीवन के मित्रों में से हैं जो आरम्भ से ही बड़े व्युत्पन्न एवं कुशल छात्र रहे हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत एवं भारती महाविद्यालयों के वह छात्र रहे हैं और सम्प्रति मध्यप्रदेश के रायपुर नगर के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में प्राध्यापक हैं। इनका यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय है। 'विमर्श' के नाम से साहित्य शास्त्र की अन्य प्रकार की जानकारियों का विस्तार पूर्वक विवेचन यहाँ सर्वथा अनपेक्षित था जो ग्रन्थ के कलेवर की वृद्धि मात्र करता है। साथ ही अनुवाद कार्य की गरिमा को भी ठेस पहुँचाता है। इसकी अपेक्षा टीका की सहायता से मूल को खोलने का कार्य अधिक श्रेयस्कर हुआ होता। जिन उपादानों को लेकर महिमभट्ट ने व्यक्ति-विवेक की रचना की है उनकी समुचित गवेषणा हुए बिना व्यक्तिविवेक का विवेक यथावत् नहीं हो सकता। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये व्यक्ति-विवेक पर अनेक शोध-कार्य अपेक्षित हैं।

द्वितीय-अध्याय

प्रथम-विमर्श

काव्य-प्रयोजन

(अ) काव्य के सामान्य एवं विशिष्ट प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' किसी भी कार्य में कर्त्ता की प्रवृत्ति का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। मन्दबुद्धिजन भी कार्य में प्रवृत्ति के पूर्व प्रयोजन या फल के प्रति जिज्ञासु अवश्य होते हैं। यही कारण है कि विषय या कार्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण होने पर भी जब तक प्रयोजन न बताया जाय लोग उसे स्वीकार तक नहीं करना चाहते, उसमें प्रवृत्त होने की बात तो दूरापेत है[1]। अतएव किसी भी ग्रंथ के प्रणयन में अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन रूप अनुबन्ध-चतुष्टय का विवेचन आवश्यक माना गया है।[2] काव्य में प्रवृत्ति के प्रयोजन का प्रतिपादन आरम्भ से ही संस्कृत काव्यशास्त्र का मुख्य विवेच्यविषय रहा है। अग्नि-पुराण तथा भरत-नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के अलङ्कार-शास्त्र के सभी ग्रंथों में काव्य के प्रयोजन का सविध एवं साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है। प्रकृत स्थल पर हम काव्यप्रयोजन-विषयक विविध मतों का उपन्यास कर राजानक महिमभट्ट के मत का मूल्याङ्कन करेंगे कि उनके ऊपर किन आचार्यों का कितना प्रभाव है, उनमें कितनी मौलिकता है तथा उत्तरकालीन आचार्यों को उन्होंने कितना प्रभावित किया है।

काव्य केवल एक कला ही नहीं है अपितु ललित कलाओं में इसका मूर्धन्य स्थान है। कला का जो प्रयोजन या उद्देश्य हो सकता है वही सामान्यरूप से काव्य का भी प्रयोजन स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही उसका अपना विशेष प्रयोजन भी हो सकता है जो अन्य कलाओं का न हो। कला का उद्देश्य क्या है ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। कोई कला का एकमात्र उद्देश्य कीर्ति कहेंगे तो अन्य उसे अर्थोपार्जन का साधन मात्र। मनस्तुष्टि, विनोद आदि और भी अनेक ऐसी बातें है जिनकी प्रयोजनीयता का अपलाप नहीं किया जा सकता। यही प्रश्न काव्य के साथ भी है। अग्निपुराण धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग को ही काव्य का साध्य कहता

---

१. सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणोवापि कस्यचित् ।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ॥ —कुमारिलभट्ट–श्लोक-वार्तिक १।१२

२. शास्त्रादौ वक्तव्येषु अधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धेषु'—
ज्ञातार्थं ज्ञात-सम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
ग्रंथादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥ इति । इत्युक्तेर्विषयप्रयोजनादीनामारम्भ-प्रयोजकत्वात्तद्धेतुत्वम् । —वाचस्पति मिश्र ।

है[1] तो कविराज विश्वनाथ आदि आचार्य ऐसे हैं जो काव्य से ही मोक्ष की भी प्राप्ति मानते हैं और चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को ही काव्य का फल कहते हैं।[2]

अलङ्कारशास्त्र के प्राचीनतम आचार्य भरत ने नाट्य को धर्म्य, अर्थ्य, यशस्य और सोपदेश्य कहा है[3]। भामह के अनुसार उत्तम काव्य की रचना धर्म-अर्थ, काम एवं मोक्ष प्रद तो होती ही है साथ ही वह कला में निपुणता का आधान तथा कीर्ति और प्रीति की भी प्राप्ति कराती है[4]। वामन ने काव्य की प्रशंसा करते हुए उसके दृष्ट और अदृष्ट उभय-विध प्रयोजन का प्रतिपादन किया है। काव्य का दृष्ट प्रयोजन है प्रीति अर्थात् आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति।[5] काव्यप्रकाशकार मम्मट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को शृंखलित कर काव्य के ६ प्रयोजनों का विशद विवेचन किया है[6]। यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, अशुभविनाश, आनन्द एवं उपदेश। इनमें से यश और अर्थ केवल कविगत हैं, व्यवहारज्ञान और उपदेश केवल सहृदयगत एवं अशुभविनाश तथा आनन्द उभयगत होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने कीर्ति, परमाह्लाद और गुरु, राजा तथा देवता विशेष का प्रसादन, तीन प्रयोजनों में ही उक्त सबका समाहार किया है[7]। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने भी मम्मट की सरणि पर ही आनन्द, यश और उपदेश को काव्य का प्रयोजन बताया है[8]। यदि सभी आचार्यों के मतों का सङ्कलन कर उनका वर्गीकरण करें तो इन सबको पाँच वर्गों में रखा जा सकता है।

---

१. त्रिवर्ग-साधनम्-नाट्यम्। —अग्निपुराण, ३३७।१

२. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निगद्यते॥ —साहित्यदर्पण—१।२

३. (क) क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्॥ —नाट्यशास्त्र, १।७
(ख) विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥ —नाट्यशास्त्र १।११
(ग) धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं करोम्यहम्॥ —नाट्यशास्त्र १।१२

४. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु-काव्यनिबन्धनम्॥ —काव्यालंकार १।२

५. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्॥५॥
काव्यं सच्चारु दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात्, अदृष्टप्रयोजनम् कीर्तिहेतुत्वात्।
प्रतिष्ठाकाव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः। अकीर्तिवर्तिनीत्वेवं कुकवित्वविडम्बनम्॥
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः। अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥
तस्मात्कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं तु निर्वर्हितुम्। काव्यालङ्कारशास्त्रार्थः प्रसाद्यः कविपुंगवैः॥
वामन—काव्यालङ्कारसूत्र एवं वृत्ति—प्रथम अधिकरण १।५

६. काव्यंयशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ मम्मट—काव्यप्रकाश का० १।२

७. तत्र कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य .....॥
—रसगङ्गाधर (काव्यमाला), पृ० ४।

८. काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्योपदेशाय च। —काव्यानुशासन, पृ० २।

(क) आनन्द—इसमें सद्यःपरनिर्वृति, परमाह्लाद, प्रीति, स्वान्तःसुख आदि सब आ जाते हैं।

(ख) विनोद—विश्राम, मनोरंजन, दुःखत्राण।

(ग) कीर्ति।

(घ) धर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति।

(ङ) उपदेश—कृत्याकृत्य विवेक, विधिनिषेधमय धर्माधर्म की व्युत्पत्ति।

कला के उद्देश्य या प्रयोजन का आज का स्वरूपी डिलाइट, प्लेजर अथवा एस्थे–टिक प्लेजर माना जाता है जिसका आनन्द में भलीभाँति अन्तर्भाव किया जा सकता है। प्राचीन संस्कृत के अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों को कला का वह प्रयोजन जो बीसवीं सदी के विद्वानों की चमत्कारपूर्ण देन समझी जाती है, ज्ञात था और वह लगभग सभी आचार्यों के द्वारा इसी शब्द या प्रीति आदि शब्दान्तरों से अभिहित किया गया है। अब प्रश्न उठता है कि इन प्रयोजनों में प्रधान और गौण भाव भी है या सब समान महत्व के हैं। विद्वानों में इसपर ऐकमत्य नहीं। फिर भी जैसा कि महामहोपाध्याय डा० पी० वी० काणे का मत है—आनन्द ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना गया है शेष गौण[1]। समर्थन में उन्होंने नाट्शास्त्र, अभिनवगुप्त, मम्मट एवं अन्य आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है जो विचारणीय है।

विशुद्ध आनन्द को काव्य का प्रयोजन या परमप्रयोजन कहने वाले आचार्य हैं अभिनवगुप्त। लोचन में कुछ स्थल ऐसे आये हैं जहाँ उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि आनन्द ही इन सबमें प्रधान प्रयोजन है।[2] रस को आनन्द स्वरूप बताकर नाट्य या काव्य की प्रधानता का तारतम्य उसी से प्रतिपादित किया है और इस प्रकार आनन्द का ही काव्य के परमप्रयोजन के रूप में विधान किया है।[3] इसके बाद मम्मट ने 'सद्यः परनिर्वृतये' की व्याख्या करते हुए सद्यः रसास्वादन समुद्भूत, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य स्वरूप आनन्द को ही सकल प्रयोजन का मूलभूत कहा है।[4]

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि आनन्द काव्य का प्रधानप्रयोजन हो सकता है या नहीं। काव्य में आनन्द की प्रचुरता एवं रस-प्रवणता की प्रधानता अवश्य अपेक्षित है किन्तु वही काव्य का परमप्रयोजन हो यह आवश्यक है क्या ? जीवन के संचार के लिए भोजन अनिवार्य तत्व है लेकिन भोजन को ही जीवन का परमप्रयोजन आज भी कोई स्वीकार नहीं करता। तथा यदि आनन्द को ही काव्य का मुख्यप्रयोजन मान लेते हैं तो काव्य की उत्तमता एवं अधमता का आधायक भी आनन्द की मात्रा ही होगी। जो कविता जितना आनन्द प्रदान करेगी वह उतनी ही अधिक उत्कृष्ट कही जायेगी। यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं क्योंकि काव्य की उत्तमता का मूल्यांकन ऐसे ही होता भी है। परन्तु जो काव्य अधिक से अधिक लोगों को आनन्द प्रदान

---

१. दिस हैज बीन रिकग्नाइज्ड बाई संस्कृत क्रिटिक्स फ्राम बेरी एनशिएन्ट टाईम्स।
—हिं० आफ सं० पोये०, पृ० ३३३।

२. तत्राविप्रीतिरेवप्रधानम् – – – प्रधान्येनानन्दएवोक्तः। —लोचन, पृ० १२

३. प्रीत्यात्माचरसस्तदेव नाट्यम्, नाट्यएव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायाः।—वही, पृ० १४९

४. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।
—काव्यप्रकाश, १।२, वृत्ति।

करेंगे वही उत्तम काव्य होंगे और इस प्रकार जनरुचि के अनुसार सिनेमा के वे गीत जो अश्लीलता भरे होते हैं तथा जनसामान्य की जिह्वा पर नाचते रहते हैं उत्तम काव्य के ज्वलन्त उदाहरण कहे जायेंगे। साथही काव्य के संवेदन की सहृदय असहृदय की व्यवस्थाभी खटाईमें पड़ जायेगी। यह कहना न होगा कि सिनेमा देखने में होने वाले जनसामान्य एवं कलामर्मज्ञ की आनन्दानुभूति की मात्रा में कोई अन्तर होता है। अनुभूति के माध्यम में अन्तर अवश्य हो सकता है किन्तु अनुभूति के स्वरूप एवं प्रकार में किसी प्रकार का अन्तर सम्भव नहीं। अतः आनन्द को काव्य का परम या मुख्यप्रयोजन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(इ) महिमभट्ट का मत

महिमभट्ट ने भी काव्यलक्षण निरूपण के अवसर पर काव्य के प्रयोजन का विवेचन किया है। उन्होंने मम्मट आदि के समान काव्य के विविध प्रयोजनों का परिगणन नहीं कराया अपितु काव्य के मुख्य प्रयोजन का प्रतिपादन कर उसके समर्थन में कुछ युक्तियाँ दी हैं जो काव्य के उद्देश्य एवं प्रयोजन की शास्त्रीय रीति से मीमांसा करती हैं। इसीलिए काव्यशास्त्र के विकास के इतिहास में इनका अपना विशेष महत्व है। महिमभट्ट का कहना है कि दृश्यश्रव्यात्मक उभयविध काव्य का वही प्रयोजन है जो वेदादि शास्त्र का है और वह है विधिनिषेधात्मक व्युत्पत्ति या कृत्याकृत्य-विवेक का उपदेश।[1] आचार्य का कहना है कि फल की दृष्टि से काव्य और शास्त्र में कोई भेद नहीं। दोनों में परस्पर भेद का विनियामक उपाय-भेद या साधन-भेद है और इस प्रकार अधिकारि-भेद भी। शास्त्र का अधिकारी व्युत्पन्न एवं बहुश्रुत व्यक्ति होता है जब कि काव्य का मार्ग सुकुमारमति जनसामान्य के लिए है। इनमें श्रव्यकाव्य जहाँ राम-रावणादि प्रख्यात नायक-प्रतिनायक का आश्रयण कर विधिनिषेधास्पद प्रसिद्ध-चरित का वर्णन करते हैं वहाँ नाट्य अवस्थानुकृति-पुरस्सर उसी चरित का दृश्यकाव्य के रूप में प्रदर्शन करता है।[2]

इस प्रकार काव्य सुकुमारमति वाले सुखी उन राजपुत्रादि के लिए हैं जो शास्त्र के श्रवण, पठन, मनन, निदिध्यासन आदि से सर्वथा विमुख होते हैं, अथवा मन्दबुद्धि उन सामान्यजनों के लिए भी है जो स्त्री नृत्य सङ्गीत आदि में प्रसक्त होने से शास्त्र को समझने में असमर्थ हैं। इन दोनों प्रकार के लोगों को शास्त्रीय कृत्याकृत्य-विवेक किस प्रकार हो इसके लिए काव्य का मार्ग है। इसमें 'गुडजिह्विका' न्याय से उन्हें व्युत्पत्ति करायी जाती है। जिस प्रकार कड़वी औषध स्वादिष्ट शहद में मिलाकर देने से एक बालक भी बड़े प्रेम से उसका पान कर जाता है उसी प्रकार अभिमत वस्तु नृत्य सङ्गीतमय रस में संपृक्त शास्त्रीय उपदेश को सर्वसामान्य की बुद्धि, बिना किसी ननु नच के ग्रहण कर लेती है।[3]

---

१. सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद्विधिनिषेधव्युत्पत्तिफलम्।—व्य० वि० प्र० वि० पृ० ९५

२. केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदः न फलभेदः। —वही प्रथम विमर्श, पृ० ९६

३. तत्राद्यं प्रख्यातरामरावणादिनायकप्रतिनायकसमाश्रयेण प्रसिद्धविधिनिषेधास्पदचरित-वर्णनमात्रात्मकम्। अपरं पुनरनुकारक्रमेण साक्षात् तत्प्रदर्शनात्मकम्॥ —वही, पृ० ९६

४. एवं च ये सुकुमारमतयः शास्त्रश्रवणादिविमुखाः सुखिनो राजपुत्रप्रभृतयः पूर्वत्राधिकृताः ये चात्यन्ततोऽपि जडमतयस्तावता व्युत्पादयितुमशक्याः स्त्री नृत्यातोद्यादिप्रसक्ता उभये-

इस प्रकार महिमभट्ट ने विधिनिषेधमय कृत्याकृत्य-विवेक रूप उपदेश को ही काव्य का परमप्रयोजन प्रमाणित किया एवं रसानुभूति या आनन्द को उसकी प्राप्ति का साधन या उपाय बताया। कवि को सावधान सा करते हुए उन्होंने बहुत जोर देकर यह कहा है कि— काव्य की सफलता के लिए उसमें उपदेशात्मक निबन्धन के साथ-साथ रसात्मकता का आधान परम आवश्यक है। अन्यथा लोगों की उसमें प्रवृत्ति ही न होगी उससे कृत्याकृत्य रूप विवेक तो दूर की बात है।[1] यहाँ आचार्य ने काव्य से आनन्द की अनिवार्य रूप से उपलब्धि के विधान के साथ उसकी मर्यादा भी बाँध दी है और इस प्रकार 'आनन्द के लिए कला है' या 'कला के लिए कला है' इस पक्ष का सर्वथा निरसन करते हुए उन्होंने काव्य या कला में आनन्द के ऊपर व्युत्पत्तिसापेक्षता या उपदेशपरता का अंकुश लगाकर उसे मर्यादित कर दिया है। वह काव्य जो केवल आनन्द की मात्रा से ओतप्रोत है, यदि कृत्याकृत्य विवेकमय उपदेश-शून्य हो तो काव्य की ही गणना में नहीं आ सकता, उसका उत्कृष्ट-काव्य होना तो बहुत दूर की बात है। क्योंकि अधिकाधिक लोगों को आनन्दप्रद होते हुए भी उसमें काव्य का चरमतत्व उपदेश निहित नहीं है। इसी परमप्रयोजन के उपनिबन्धन को लेकर ही काव्य के युक्तायुक्त स्वरूप एवं उत्तमाधम भेद का निर्धारण होगा। अतएव प्राक्तन ऐहन्तन उभयविध वासनाविशिष्ट सहृदय हृदय संवेदनशीलता की ही आवश्यकता होगी। तभी काव्यशास्त्र की सारी व्यवस्था बन पायेगी। अन्यथा यदि आनन्द को ही काव्य का सर्वस्व या परमप्रयोजन मानेंगे, जैसा कि अभिनवगुप्त आदि एवं आधुनिक कुछ पाश्चात्य विचारकों का कथन है, तो काव्य की उत्तमता का आधायकतत्व भी वही आनन्द होगा। जिस काव्य में अधिक आनन्द हो या जिसमें अधिक से अधिक लोगों को मजा आए वही सर्वोत्तम काव्य होगा। फिर सिनेमा के वे दृश्य और गीत जो जनसामान्य के दिल और जबान पर सदा नाचा करते हैं काव्य के उत्कृष्ट निदर्शन होंगे और उनकी सहृदय संवेद्यता जहाँ की वहीं धरी रह जायेगी। फिर ऐसी काव्य कला के लिए तो 'काव्यालापांश्च-वर्जयेत्' की उक्ति ठीक ही है।

कला के आनन्दवादी दृष्टिकोण का ही यह प्रभाव है कि आज जिसे देखिए वही दाढ़ी-मुड़ा सिर के बाल बढ़ाकर कलाकार बनने का पाखण्ड करने लगा है और कला के नाम पर समाज में धूर्तता, पाखण्ड और व्यभिचार की प्रवृत्ति का खुलेआम प्रचार हो रहा है। कवि स्वाध्याय या मनन चिन्तन से प्रेरणा लेने की अपेक्षा ताक झांक को ही प्रेरणा का स्रोत मान बैठा है और इसी की साधना में बेचैन है।

महिमभट्ट ने विधिनिषेधमय कृत्याकृत्य विवेक रूप जिस उपदेश को काव्य का परमप्रयोजन कहा है उसका ज्ञान चिरन्तन आचार्यों को सर्वथा नहीं था ऐसी बात नहीं है। वाङ्मय में वाक् का प्रयोजन दूसरे को उसके हिताहित से अवगत कराना ही माना गया है। कला का उद्भव ही इसीलिए हुआ कि हम अपने अनुभवों से दूसरों को लाभान्वित करें। भरत-

---

ऽपि ते अभिमतवस्तुपुरस्कारेण गुडजिह्विकया रसास्वादनसुखं मुखेदत्वा तत्र कटुकौषधपानादाविव प्रवर्तयितव्याः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ९६-९७

१. काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्यरसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम्। अन्यथा प्रवृत्तिरेवैषां न स्यात्, किमुत व्युत्पत्तिः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ९७

नाट्यशास्त्र में स्पष्ट तौर पर यह बताया गया है कि नाट्य जो कलामात्र का प्रतीक है, उत्तम मध्यम अधम सब प्रकार के लोगों को जो अपने-अपने कर्म में लगे हैं, हितोपदेशप्रद होगा।[1] यह रसभाव एवं सब प्रकार के क्रियाकलापों में सब को उपदेश देगा।[2] यह नाट्य, धर्म, अर्थ और आयु का प्रयोजक, हितकारी एवं ज्ञानवर्धक होने के साथ ही लोगों के लिए उपदेशप्रद भी होगा।[3] भामह ने भी अपने काव्यालंकार में स्पष्ट तौर से कहा है कि काव्य के स्वादिष्ट रस से मिश्रितशास्त्र का भी उपभोग उसी प्रकार हो जाता है जैसे लोग शहद को चाटकर कटु-औषध का पान कर जाते हैं।[4] दण्डी ने भी एक स्थान पर कहा है कि शास्त्र में प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त आदि कठोर शैली से सरल विचार भी कर्कश हो जाता है उसके लिए काव्य के सरल मार्ग का अनुसरण ही उपयुक्त है।[5] अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में कहा है कि जिस कार्य को मोक्ष के लिए अन्यत्र किया गया है मैंने काव्य धर्म से उसी का प्रकथन किया है क्योंकि वह तिक्त-औषधि के समान था अतः मधु से युक्त होकर किसी प्रकार वह हृद्य हो जाय यही मेरा प्रयास है।[6] रुद्रट ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि काव्य में सहृदय लोगों को सरलतापूर्वक एवं शीघ्र धर्मार्थकाम-मोक्ष रूप चतुर्वर्ग में प्रवृत्त किया जाता है क्योंकि वे शास्त्रों से भयान्वित हो इसलिए भागते हैं कि वे नीरस होते हैं।[7]

(उ) परवर्ती आचार्यों पर महिमभट्ट का प्रभाव

महिमभट्ट के बाद के आचार्यों ने तो इस तथ्य को स्वीकार-सा कर लिया और सबने उपदेश को काव्य के प्रयोजन में मुख्य स्थान दिया है। महिम के बाद मम्मट ने भी जिन्हें ध्वनिवाद व्यञ्जनावाद के प्रस्थापन का श्रेय है कृत्याकृत्य विवेक रूप उसी उपदेश को कान्तासम्मित उपदेश कहा और सद्यः परनिर्वृतये के अनन्तर 'उपदेशयुजे' को रखकर उसकी प्रधानता का निर्देश भी कर दिया है। समूचे वाङ्मय को उन्होंने भी उपदेश ही माना है। यह उपदेश तीन

---

१. उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति। —नाट्यशास्त्र १।१०९

२. एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति। —वही ।११०

३. धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति। —वही १।११२

४. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्॥ —भामह; काव्यालङ्कार ५।३

५. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किंफलम्। —दण्डी; काव्यादर्श ३।१२७

६. यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्रहिमया तत्काव्यधर्मात्कृतम्।
पातुंतिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥ अश्वघोष; सौन्दरनन्द—१०।६३

७. ननु काव्येन क्रियन्ते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघुमृदु च नीरसेभ्यस्तेहि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥ —रुद्रट; काव्यालङ्कार १।४

प्रकार का है—प्रभुसंमित, सुहृत्संमित और कान्तासंमित।[१] प्रभुसंमित उपदेश वेदादि शास्त्र हैं। इनको प्रभुसंमित इसलिए कहते हैं कि जिस प्रकार राजा का आदेश अक्षरशः परिपालनीय होता है उसी प्रकार शास्त्र का विधान भी है। उदाहरण-स्वरूप राजा ने किसी योद्धा को 'समर-सिंह' कहे जाने का आदेश दिया तो उसे 'संग्राम केसरी' के रूप में शब्द-परिवृत्ति करके पुकारा नहीं जा सकता। ठीक उसी प्रकार 'अग्निमीले पुरोहितम्' इस वैदिक मंत्र की शब्दावली 'वह्निमीले' या 'ईलेऽग्निम्' भी नहीं हो सकती। इस प्रकार इसमें शब्द की ही प्रधानता होती है।[२] सुहृत् संमित उपदेश इतिहास पुराणादि हैं। ये मित्र की सलाह के समान अर्थप्रधान होते हैं। काव्य कान्तासंमित उपदेश हैं। जिस प्रकार प्रिया नायिका की उक्तियाँ भावभरी होती हैं तथा उनमें शब्द और अर्थ की गौणता ही रहती है। उसी प्रकार लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का कर्म रसांगभूत विभावादि संयोजनात्मक व्यापार की प्रवणता के द्वारा ऐसे विलक्षण काव्य का रूप धारण कर लेता है जहाँ शब्दार्थ गौणभाव से रहते हैं और जो कान्ता के समान सरसता का संचार करते हुए सहृदय एवं कवि दोनों को अभिमुख करके यथायोग्य यह उपदेश देता है कि रामादि की तरह ही बरतना चाहिए रावणादि की तरह नहीं।[३] ऐसे ही काव्य के लिए प्रयत्न करना श्रेयस्कर है। मम्मट के अनन्तर के अलंकारशास्त्र के आचार्यों में कविराज विश्वनाथ विशेष रूप से प्रख्यात हैं। इनके ऊपर महिमभट्ट का सबसे अधिक प्रभाव है। व्यञ्जनावादी होते हुए भी इन्होंने अनेकत्र ध्वनिवाद की सरणि का प्रत्याख्यान किया है। विशेष रूप से मम्मट से कई विषयों पर वह अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। कई स्थलों पर तो इन्होंने अपने मत की पुष्टि में व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट को उद्धृत भी किया है। काव्य के प्रयोजन के विषय में यह पूर्ण रूप से महिमभट्ट से प्रभावित हैं। इनके अनुसार काव्य का एकमात्र प्रयोजन जनसामान्य को सरलतापूर्वक धर्मार्थकाममोक्ष रूप चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति कराना ही है।[४] इनका कहना है कि वेदादिशास्त्रों का विषय इतना नीरस और जटिल है कि उनसे चतुर्वर्गफल प्राप्ति के लिए परिपक्व-बुद्धि के लोगों को भी अथक-परिश्रम का कष्ट उठाना पड़ता है। अतः शास्त्रों के द्वारा

---

१. प्रभुसंमितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः, सुहृत्संमितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च, शब्दार्थयोः गुणभावेन काव्यम् कान्तेव उपदेशं च करोति। —काव्यप्रकाश, वृत्ति १।२

२. शब्दप्रधानं नाम शब्द-परिवृत्यसहत्वम् यथा देवदत्तः समरसिंहतया व्यवह्रियताम् इति प्रभोरादेशे सङ्ग्रामकेसरीति शब्दपरिवृत्या न व्यवहारः किन्तु समरसिंहतयैवेति शब्दप्रधानता प्रभोरादेशस्य। एवं वेदस्यापि। नहि 'अग्निमीडे पुरोहितम्' 'वह्निमीडे, ईडेऽग्निम्' इतिवोक्तफलसाधकम् भवति।

—वामनाचार्य झलकीकर, बालबोधिनी—काव्यप्रकाश टीका—१।२

३. शब्दार्थयोः गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणम् यत् काव्यम् लोकोत्तर-वर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोति इति सर्वथा तत्र यतनीयम्। —काव्यप्रकाश, वृत्ति १।२

४. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निगद्यते॥ —सा० दर्पण १।२

परिणत बुद्धि के व्यक्ति को ही अभीष्ट की प्राप्ति संभव है, जनसाधारण या मन्दबुद्धि के व्यक्ति को नहीं। उनके लिए काव्य का सरल एवं सुखद मार्ग है। काव्य परम आनन्द के दायक हैं अतः सुकुमारमति के व्यक्ति की भी उनमें सुखपूर्वक गति संभव है।[1] इसका अभिप्राय यह नहीं कि परिपक्व या तीक्ष्ण बुद्धि के व्यक्ति के लिए काव्य नहीं हैं, अथवा जब वेद-शास्त्रों से ही अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है तो काव्य के प्रति प्रयत्नशील होने की उन्हें आवश्यकता नहीं। अपितु उन्हें भी यह उपदेश्य है क्योंकि जिस रोग की औषध कड़वी कुनैन है वह रोग यदि सफेद चीनी खाने से ही अच्छा होने लगे तो कौन ऐसा रोगी है जो सितशर्करा के सेवन के प्रति ही प्रयत्नशील न हो।[2] काव्य से चतुर्वर्गफलप्राप्ति की बात सुतराँ सिद्ध है। यह सर्वविदित है कि काव्य पितृ-भक्ति आदि सत्कर्मों में प्रवृत्ति एवं परदारापहरणादि असत्कर्मों से निवृत्ति रूप कृत्याकृत्य का विवेक कराते हुए सहृदय पाठक-श्रोता या प्रेक्षक को अप्रत्यक्ष रूप से यह उपदेश देता है कि रामादि के समान ही आचरण करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं।[3] कहा भी है कि सत्काव्य के निबन्धन या सेवन से धर्मार्थकाममोक्ष की प्राप्ति एवं कलाओं में प्रवीणता का आधान होता है, साथ ही वह कीर्तिदायी और प्रीतिपद भी होता है।[4] उदाहरणतः काव्य से धर्म की प्राप्ति पहले तो भगवान् नारायण के चरणारविन्द की स्तुति से होती है, यह सभी जानते हैं। वेद भी कहता है कि एक शब्द को भी ठीक-ठीक समझकर उसका शुद्ध प्रयोग करने वाले व्यक्ति को इस लोक और परलोक उभयत्र यथाभिलषित मनोरथ की सिद्धि होती है। अर्थ की उपलब्धि तो प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। अर्थ से ही काम की प्राप्ति सुतराँ सिद्ध है। काव्यजन्य धर्म के फल के प्रति निष्काम भाव से एवं मोक्षोपयोगी वाक्यों का बोधक होने से काव्य से मोक्ष की प्राप्ति भी निःसन्दिग्ध है।[5]

काव्य को निकृष्ट समझकर किसी ने जो उनके सेवनादि का निषेध किया था[6] उसका समाधान करते हुए विष्णुपुराण काव्य को भगवान् विष्णु की शब्दमयी मूर्ति कहता है जो भगवान्

---

१. चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारमतीनामपि पुनः काव्यादेव।—सा० द०, वृत्ति १।२

२. ननुतर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सुवेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इति न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्कराशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृतिः साधीयसी न स्यात्। —साहित्य-दर्पण, वृत्ति १।२

३. चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत् इति कृत्याकृत्यप्रवृत्ति-निवृत्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव। —साहित्य-दर्पण, वृत्ति १।२

४. उक्तंच-धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ —भामह, काव्यालंकार, १।२

५. किंच—काव्याद् धर्म प्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति,' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव। अर्थ—प्राप्तिश्च प्रत्यक्ष-सिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारेणैव। मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्याधर्मफला-ननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्याधायकत्वाच्च। —साहित्य-दर्पण, वृत्ति १।२

६. "काव्यालापांश्च वर्जयेत्"। —प्रकीर्ण।

का ही अंश है।[१] अग्निपुराण भी कवि और काव्यशक्ति का माहात्म्य वर्णन करते हुए कहता है कि लोक में पहले तो मनुष्य होना ही दुर्लभ है, मनुष्यता में विद्या का समागम तो और अधिक दुर्लभ। कवित्व की अपेक्षा विद्वत्ता फिर भी आसान है, कवि होने पर भी काव्य की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सम्पन्न तो इने-गिने कवि ही होते हैं।[२] ऐसा कविकर्म, काव्य ही जनसामान्य तक को अनायास ही शास्त्रजन्य फल की प्राप्ति कराने में समर्थ होता है। तभी तो कवि के लिए प्रयुक्त मनीषी, परिभूस्वयंभू: पदों की सार्थकता है।

कविराज विश्वनाथ तो महिमभट्ट के मत से इतने प्रभावित हैं कि उन्होंने काव्य प्रयोजन की उपदेशपरता का साहित्यदर्पण में स्थल-स्थल पर प्रतिपादन किया है। काव्यलक्षण विवेचन के प्रसंग में भी काव्य में रस की अनिवार्यता एवं जैसा कि महिमभट्ट मानते हैं[3] रस की उपायपरता का विधान करते हुए कहते हैं कि रसास्वाद-मुखपिण्डदान द्वारा वेदशास्त्र विमुख सुकुमारमति राजपुत्रादि शिष्यों को 'रामादिवत् आचरण करना चाहिए न कि रावणादिवत्' इत्यादि रूप में कृत्य में प्रवृत्ति और अकृत्य से निवृत्ति का उपदेश ही काव्य का प्रयोजन है।[४] यहीं पर उन्होंने अग्निपुराण एवं व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का काव्यात्मा विषयक मत नामतः उद्धृत किया है कि 'वाणी में विदग्धता की प्रधानता होने पर भी रस ही काव्य का प्राण है।'[५] 'काव्य की आत्मा रस ही है इसमें किसी की असम्मति नहीं।'[६] गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण की कथा को विधिनिषेधमय एवं वेदादिशास्त्रों के समान ही 'कलिमलहरनी' कहा है जिससे काव्य के कृत्याकृत्य विवेक रूप उपदेश की प्रधानता के पक्ष का ही समर्थन होता है।

महिम के परवर्ती आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ ही एक ऐसे हैं जिन्होंने उपदेश को उसी रूप में काव्य का प्रयोजन स्वीकार नहीं किया है। इनके अनुसार कीर्ति, परमाह्लाद तथा गुरु, राजा एवं देवता का प्रसाद आदि काव्य के प्रयोजन हैं।[७] प्रयोजन रूप में कीर्ति का उल्लेख भामहादि अनेक पूर्वाचार्य कर चुके हैं। गुरु, राजा और देवता का प्रसाद धर्मार्थकाम की प्राप्ति

---

१. काव्यालापांश्च येकेचिद् गीतकान्याखलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥ ——सा० द० में उद्धृत, वृत्ति १।२

२. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्यातत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥
——अग्निपुराण, ३३७।३

३. काव्यस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावादस्य रसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम्।
——व्यक्तिविवेक, पृ० ९७

४. काव्यस्यप्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदित्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्यपदेश एव इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात्। ——साहित्य-दर्पण, वृत्ति १।२

५. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। ——अग्निपुराण, ३ ७ ।५

६. व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्–काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।
——साहित्य-दर्पण, वृत्ति १।२

७. तत्र–कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य।
——रसगंगाधर, पृ० ३

के द्योतक हैं। परमाह्लाद पद से उस आनन्द का ग्रहण किया है जो लोकोत्तर हो। पण्डितराज आनन्द-सामान्य को काव्य का प्रयोजन नहीं मानते। 'तुम्हें पुत्र हुआ', 'तुम्हें धन दूँगा' आदि वाक्यों के बोध से जो आनन्द होता है वह लौकिक है। काव्य का आनन्द लौकिक नहीं अपितु लोकोत्तर होता है। यदि काव्य से लौकिक-आनन्द ही अभिप्रेत हो तो वह जिस किसी प्रकार से उपलभ्य है, पुनः काव्य की आवश्यकता ही क्यों। अतः लोकोत्तर आनन्द ही काव्यानन्द है। लोकोत्तरता आह्लादगत वह चमत्कार है जिसका साक्षी एकमात्र सहृदय का हृदय ही होता है।[१] साहित्य-दर्पण ने भी सहृदयों की अनुभूति को ही उसमें प्रमाण माना है।[२] रसगंगाधर के टीकाकार प्रसिद्ध वैयाकरण नागेशभट्ट लोकोत्तर शब्द की मीमांसा करते हुए कहते हैं कि--आनन्दगत लोकोत्तरता सातिशय है या निरतिशय ? यदि सातिशय है अर्थात् इससे भी बढ़कर दूसरा आनन्द सम्भव है तो लोकोत्तर कहने से कोई लाभ नहीं। क्योंकि व्यक्ति और स्वार्थ भेद से आनन्द के सभी प्रकार लोकोत्तर सिद्ध हो जायेंगे तथा यहाँ अभिप्रेत लोकोत्तरता का निश्चय नहीं हो सकेगा, और यह लोकोत्तरता यदि निरतिशय है अर्थात् इससे बढ़कर कोई दूसरा आनन्द संभव नहीं तो वह आनन्द ब्रह्मानन्द ही हो सकता है।[३] पण्डितराज का अभिप्राय इसी आनन्द से है। वह काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर न कहकर ब्रह्मानन्द ही कहना चाहते हैं। इसीलिए रस की व्यक्ति को भग्नावरणाचित् कहते हैं। व्यक्ति से यहाँ व्यंजना वृत्ति नहीं अभिप्रेत है अपितु आनन्दस्वरूप वह शुद्ध चैतन्य ही विवक्षित है जिसका अज्ञान रूप आवरण दूर हो गया है। इसका विशेष विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि पण्डितराज काव्य का परम प्रयोजन रस चर्वणा मानते हैं जो परमाह्लादस्वरूप ब्रह्मानन्द की अनुभूति ही है। शास्त्रादि का भी परमप्रयोजन अन्ततोगत्वा परमेश्वर या ब्रह्म साक्षात्कार ही है। दोनों में भेद इतना ही है कि उपनिषद् प्रमाण वेदान्तादि दर्शनशास्त्र उस ब्रह्मानन्द की अनुभूति के प्रयोजक समाधि आदि का विधान करते हैं जो अधिकारी विशेष के लिए ही सम्भव है। काव्य इसके विपरीत विभावादि के संयोजनात्मक व्यापार रूप कवि-कर्म के द्वारा ही उस परमतत्व का साक्षात्कार कराते हैं।[४]

(ऋ) उपसंहार

इस प्रकार काव्य-प्रयोजन के विषय में महिमभट्ट का मत है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन

---

१. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं च आह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः। --रसगंगाधर, पृ० ४-५

२. सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्। --साहित्य-दर्पण, ३।३

३. ननुलोकोत्तरत्वं यथा कथंचित् चदुक्तदोषः, आत्यन्तिकं चेद् ब्रह्मानन्द एव अत आह--लोकोत्तरत्वमिति। -- रसगंगाधर टीका, पृ० ४, काव्यमाला, बम्बई।

४. वस्तुतस्तु–वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणाचिदेवरसः चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभंगः एव प्रागुक्ता। इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधिविलक्षणा विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापार मात्रात्। --रसगंगाधर (काव्यमाला), पृ० २७

कृत्याकृत्य विवेक रूप उपदेश है। काव्य और शास्त्र में प्रयोजन की दृष्टि से कोई भेद नहीं। तत्तद् शास्त्र जहाँ अपने कठोर मार्ग से कुछ विशिष्ट अधिकारियों को ही लाभान्वित कर पाते हैं वहाँ काव्य जनसामान्य को सरलतापूर्वक वही उपदेश देता है। इसका माध्यम-रसानुभूति है। रसानुभूति या आनन्द ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व नहीं है, वह तो उपायमात्र है।

काव्यशास्त्र के प्राचीनतम ग्रंथ भरतनाट्यशास्त्र आदि में काव्य की उपदेशपरता का विधान अवश्य हुआ है। किन्तु इस तत्त्व पर इतना जोर नहीं दिया गया है जितना अपेक्षित था। अनन्तर के आचार्यों ने क्रमशः उसकी अवहेलना आरम्भ की और आनन्द या प्रीति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना जाने लगा। महामाहेश्वर अभिनवगुप्त में, जो प्रत्यभिज्ञादर्शन के शिव तत्त्व में आनन्द का ही प्राधान्य मानते थे, वह अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया जब वह काव्य का एकमात्र प्रयोजन[1] या सकलप्रयोजन का मूलभूत प्रयोजन[2] माना जाने लगा। महिमभट्ट ने वेदादि शास्त्र से काव्य की तुलना करते हुए इस आनन्द को काव्य का प्रयोजन नहीं अपितु प्रयोजन का साधक तत्त्व बताया और शास्त्रों के प्रयोजन को ही काव्य का भी मुख्य प्रयोजन निर्धारित किया। इनका यह विवेचन उनकी बुद्धि की विदग्धता का परिचायक रूप पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र नहीं है अपितु हमारी सांस्कृतिक परम्परा के भी अनुरूप है। काव्य का आनन्दवाद जहाँ समाज को उच्छृंखलता की ओर ले जाता है वहाँ उपदेशवाद उसकी उत्तमता का प्रयोजक है। व्यक्ति और समाज का परमकल्याण ही काव्य का परम प्रयोजन होना चाहिए। यह मत भौतिक एवं आध्यात्मिक उभयप्रवृत्ति के लोगों को मान्य एवं सादर स्वीकार्य है।

१. तत्रापि प्रीतिरेवप्रधानम् . . .प्रधान्येनानन्दएवोक्तः। ——अभिनवगुप्त, लोचन, पृ० १२

२. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम्।
——मम्मट, काव्यप्रकाश, वृत्ति १।२

द्वितीय-विमर्श

काव्यहेतु

कवि के विषय में यह विवाद सर्वसाधारण है कि वह जन्मजात होता है या युग एवं परिस्थितियों की देन। उभयपक्ष के समर्थन में तर्क, युक्तियाँ एवं अनेकानेक दृष्टान्त विद्यमान हैं। किन्तु एक सामान्य व्यक्ति भी इस तथ्य से अनवगत नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति कविता के प्रति उद्युक्त होते हैं उनमें से भी ऐसे बहुत कम ही निकलते हैं जिन्हें सफलता की देवी वरण करती है। आनन्दवर्धन ने ठीक ही कहा है कि जगत् में सर्वदा कवियों की महती परम्परा रही हैं लेकिन विचार कर देखा जाय तो कालिदास प्रभृति दो-तीन या पाँच-छः कवि ही ऐसे निकलेंगे जिन्हें वास्तव में कवि कहा जाना चाहिए।[1] कालिदास के प्रशंसक किसी भावुक व्यक्ति की यह उक्ति यद्यपि अत्युक्ति ही लगती है कि—पहले कभी कवियों की गणना के प्रसंग में सर्वप्रथम होने से कालिदास का नाम कनिष्ठाअंगुली पर रखा गया और उसके बगल की अंगुली का नाम अनामिका इसलिए सार्थक है कि आज भी कालिदास के तुल्य कवि का अभाव ही है।[2] फिर भी जिस सिद्धान्त की आड़ में ऐसा कहा गया है उसमें संदेह का अवसर नहीं। साहित्यशास्त्र इस प्रकार के सभी विषयों का वैज्ञानिक रीति से विवेचन करता है। प्राचीन भारतीय प्रायः सभी आलंकारिकों ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और जिन उपादानों एवं लक्षणों से समन्वित होने पर ही किसी कवि को सफलताश्री के समालिंगन का सौभाग्य प्राप्त होता है, उन्हें शास्त्रीय परम्परा में 'काव्यहेतु' की संज्ञा दी है। सामान्यतः काव्य के तीन हेतु बताए गये हैं प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

(अ) प्रतिभा

प्रतिभा के अनेक लक्षण किये गये हैं। साधारणतः प्रतिभा शब्द कवि की नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ है।[3] अभिनवगुप्त ने अपूर्ववस्तु की रचना में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है।[4] वाग्भट्ट के अनुसार कवि की फड़कती हुई उस बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं जो सर्वतोमुखी हो तथा प्रसन्न पदावली और नवीन अर्थ एवं युक्ति का उद्‌बोध कराने वाली

---

१. अस्मिन् अतिविचित्र कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पंचषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते। —ध्वन्यालोक, वृत्ति १।६

२. पुराकवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासाः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥ —प्रकीर्ण।

३. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। —काव्य कौतुक, पृ० २१२

४. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। —ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २९

हो ।[1] राजशेखर ने प्रतिभा को एक अन्य तरह से समझाया है । उन्होंने एक ही प्रतिभा के गुणानुसार तीन भेद किए हैं––स्मृति, मति और प्रज्ञा । अतिक्रान्त अर्थात् व्यतीत विषय को यथावसर समुपस्थापित कराने वाली बुद्धि को स्मृति, वर्तमान में युक्तायुक्त की निश्चयात्मिका बुद्धि का नाम मति और अनागत अर्थात् भावी विषय या वस्तु को यथावत् समझने वाली बुद्धि को प्रज्ञा कहा है । यह तीनों प्रकार की प्रतिभा कवियों के लिए परम उपादेय है ।[2] काव्यप्रकाश की 'सम्प्रदाय-प्रकाशिनी' टीका में स्मृति, मति तथा बुद्धि को क्रमशः अतीत, अनागत एवं वर्तमान विषयक बताते हुए पदार्थोपस्थापन की त्रैकालिकी शक्ति को प्रज्ञा कहा है और यही प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी होने पर प्रतिभा कहलाती है ।[3] आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि–– रस के अनुरूप शब्दार्थ की योजना के प्रति जागरूक कवि की वह प्रज्ञा ही प्रतिभा है जो क्षणमात्र में ही वस्तु या विषयस्वरूप का ग्रहण करने में परमपटु हो । कवि की वह प्रतिभा भगवान् शिव के तृतीय नेत्र के समान होती है जिससे वह कवि त्रैलोक्यवर्ती अखिल भावों का अनायास ही साक्षात्कार करने लग जाता है ।[4] जैसा कि महिमभट्ट का कहना है––उन्होंने तत्वोक्तिकोश नामक एक और ग्रन्थ की रचना की थी और उसमें प्रतिभा का विवेचन विस्तारपूर्वक किया था ।[5]

(इ) व्युत्पत्ति

व्युत्पत्ति बहुज्ञता को कहते हैं । इसमें प्रायः सभी आचार्य सहमत हैं । लेकिन राजशेखर इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं । उनके अनुसार शास्त्रों एवं काव्यों का गहन अध्ययन एवं लोक-व्यवहार में निष्णात होने से एक प्रकार का काव्यानुगुण उचितानुचित विवेक उत्पन्न होता है।

---

१. प्रसन्नवदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभासर्वतोमुखी ॥ ––वाग्भटालंकार, १।४

२. त्रिधा च सा स्मृतिः मतिः प्रज्ञेति । अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः, वर्तमानस्य मन्त्रीः मतिः, अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञा । सा त्रिप्रकारा पि कवीनामुपकर्त्री । –का० मी०, पृ० १०

३. स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागाभिगोचरा ।
बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता ।
प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ॥
––सम्प्रदाय-प्रकाशिनी, काव्यप्रकाश टीका (त्रिवेन्द्रम्), पृ० १३

४. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभाकवेः ॥११७॥
साहि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमितिगीयते ।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥११८॥ ––व्य० वि०, द्वि० वि०

५. इत्यादिप्रतिभातत्वमस्माभिरूपपादितम् ।
शास्त्रे तत्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपंचितम् ॥११९॥ ––व्य० वि०, द्वि० वि०

उसी को व्युत्पत्ति कहते हैं।[१] रुद्रट ने कहा है कि छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति एवं पदपदार्थ-विज्ञान से जो युक्तायुक्त विवेक उत्पन्न होता है संक्षेप में उसे ही व्युत्पत्ति कहते हैं।[२] मम्मट ने इसी को 'निपुणता' के नाम से अभिहित किया है जो लोकशास्त्र, काव्य आदि के अवेक्षण से होती है।[3] बाद के प्रायः सभी आलंकारियों ने मम्मट की सरणि पर ही व्युत्पत्ति की परिभाषा की है।

(उ) अभ्यास

कविता लिखने में पौनः पुन्येन प्रवृत्ति को ही अभ्यास कहते हैं। यह दो प्रकार से सम्पन्न होता है। एक तो किसी उत्तम कवि के निर्देशन में कविता करना एवं उसके संशोधन से शिक्षा लेना। दूसरा प्रकार यह है कि काव्य के समीक्षक आचार्यों के लक्षण ग्रंथों का पुनः-पुनः अनुशीलन करना। इसी बात को मम्मट ने लिखा है कि जो काव्य की रचना एवं उसका विचार करना जानते हैं उनके उपदेशानुसार रचना के निर्वाह एवं झटिति आस्वादबोधक प्रबन्धावयवविन्यास में पौनः पुन्येन प्रवृत्ति का होना कवि को कवित्व-प्राप्ति के लिए परम आवश्यक है।[४]

(ऋ) विविध आचार्यों के मत

प्रतिभा क्या है? व्युत्पत्ति और अभ्यास किसे कहते हैं? इत्यादि का विवेचन महिमभट्ट ने नहीं किया। क्योंकि इनके स्वरूप एवं लक्षण के विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों से इनका मतभेद नहीं था। यहाँ मौन स्वीकृति का लक्षण है। मतभेद का विषय यह है कि काव्यरचना या कवित्व के लिए इनमें से किसकी अवस्थिति अनिवार्य है। शास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए इस पर प्रकाश डाला है। कुछ लोगों ने तीनों को काव्यहेतु माना है तो दूसरों ने किसी एक या दो को ही। इसके अतिरिक्त इनमें गौण मुख्य भाव का भी विधान हुआ है। आचार्य भामह इनमें प्रथम हैं जिनका कथन है कि काव्य की सृष्टि एकमात्र किसी प्रतिभावान् के ही वश की बात है। यह और बात है कि वह अन्यान्यकाव्य-कोश व्याकरणादि का अध्ययन और काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों की उपासना एवं अन्य कवियों की कृतियों का अवेक्षण भी कर ले।[५] वामन ने भी प्रतिभा को ही कवित्व का बीज बताया है।[६] आनन्दवर्धन ने व्युत्पत्ति और शक्ति की तुलना करते हुए काव्यशक्ति अर्थात् प्रतिभा

---

१. बहुज्ञता व्युत्पत्तिरिति आचार्याः।
उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिरिति यायावरीयः॥ —का० मी०, पृ० १६

२. छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन॥ —रुद्रट, काव्या० १।१८

३. निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। —मम्मट, काव्य प्र०, १।३

४. काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिः॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश, वृत्ति १।३

५. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥ —भामह, काव्यालंकार, १।५, १०

६. कवित्वबीजं प्रतिभानम्। —वामन, काव्यालंकारसूत्र, वृत्ति १।३।१६

को ही श्रेयसी बताया है क्योंकि व्युत्पत्ति की कमी से उत्पन्न दोष का आवरण तो शक्ति से सुतराँ हो जाता है किन्तु शक्तिहीनता से जो दोष उत्पन्न होता है उसकी प्रतीति झटिति हो जाती है।[१] राजशेखर ने विलक्षण शक्ति को ही काव्य का एकमात्र हेतु कहा है और प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों को उस शक्ति का कार्य बताया। उनका विश्वास है उस शक्ति से सम्पन्न की ही काव्यप्रतिभा होती है और वही व्युत्पन्न हो सकता है, सभी नहीं।[२] पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र हेतु माना है।[३] इस प्रतिभा के दो कारण हैं, कहीं तो देवता या महापुरुष की कृपा से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति एवं निरन्तर का अभ्यास। मम्मट के तीनों के समुदित रूप से हेतुत्व के पक्ष से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए उन्होंने महापुरुष की कृपामात्र से बालक में भी काव्यप्रतिभा के उत्पन्न होने की बात कही है तथा गौरवादि के कारण वहाँ जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति अभ्यास की कल्पना का खण्डन किया है और इसकी सिद्धि विशदविवेचनपूर्वक की है।[४]

राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार केवल व्युत्पत्ति या केवल अभ्यास को ही काव्यहेतु मानने वाले विद्वान् भी रहे हैं। इनके अतिरिक्त समाधि को ही काव्य प्रतिभा का परम हेतु मानने वाले भी थे। राजशेखर ने स्वयं समाधि एवं अभ्यास दोनों को ही काव्य-शक्ति का उद्भासक माना है और काव्यकर्म में समाधि को आभ्यन्तर एवं अभ्यास को बाह्य प्रयत्न कहा है।[५] आचार्य दण्डी भी इसी बात को मानते हैं कि जन्मजात अद्भुत प्रतिभा के अभाव में भी व्युत्पत्ति एवं अभ्यासपूर्वक निरन्तर उपासना करने पर भगवती वाणी का परम-अनुग्रह अवश्य ही हो सकता है।[६] आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा को सहजा और उत्पाद्या उभयविध माना है।

---

१. 'प्रतिभाव्युत्पत्योः प्रतिभा श्रेयसी' (इति आनन्दः)—राजशेखर– काव्यमीमांसा, पृ० १०
अव्युत्पत्तिकृतोदोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्ति-कृतो दोषः स झटित्यवभासते॥ ——ध्वन्यालोक, परिकरश्लोक ३।६

२. सा (शक्ति) केवलं काव्यहेतुरिति यायावरीयः। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तश्च व्युत्पद्यते। ——राजशेखर–काव्यमीमांसा, पृ० ११

३. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। ——पं० जगन्नाथ–रसगंगाधर, पृ० ९

४. तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षण-व्युत्पत्ति-काव्यकारणाभ्यासौ। नतु त्रयमेव। बालादेस्तौ बिनापि केवलान्महापुरुषप्रसादादपिप्रति-भोत्पत्तेः। न च तत्र तयोः जन्मान्तरीययोः कल्पनं वाच्यम् गौरवान्मानाभावात्कार्यस्यान्यथा-प्युपपत्तेश्च। —पण्डितराज जगन्नाथ——रसगंगाधर, पृ० ९-१०

५. 'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते' इति श्यामदेवः।
'अभ्यासः' इतिमंगलः. . . .। समाधिराभ्यान्तरः प्रयत्नोवाह्यस्त्वभ्यासः।
तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। सा केवलं काव्यहेतुः इतियायावरीयः।
——राजशेखर—— काव्यमीमांसा, पृ० ११

६. नविद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुवंधि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन न च वागुपासिता ध्रुवं कारोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ ——दण्डी——काव्यादर्श, १।१०४

इसके अतिरिक्त आचार्यों का एक तीसरा वर्ग भी है जो शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों को समवेत रूप से काव्य का कारण मानता है। सर्वप्रथम दण्डी ने ही इस पक्ष का उद्-घाटन करते हुए कहा कि--सहज स्वाभाविक प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल ज्ञान, विशद व्युत्पत्ति एवं निरन्तर का निरतिशय अभ्यास काव्यसम्पदा के कारण है।[१] कारण पद में एकवचन का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि तीनों मिलकर ही काव्य के कारण हैं, अलग-अलग नहीं। अनन्तर रुद्रट ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि काव्य का कारणत्व, शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों में व्याप्त है।[२] मम्मट ने भी इसी दिशा में शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण कहते हुए बताया कि मूल कारिका में 'इतिहेतुः' इस एकवचन का प्रयोग जानबूझकर इसलिए किया गया है कि तीनों समवेत रूप से ही काव्य के हेतु हैं, व्यस्त रूप से अर्थात् अलग-अलग नहीं।[३]

(ल) महिमभट्ट का मत

आचार्य महिमभट्ट ने काव्यहेतु के रूप में शक्ति, व्युत्पत्ति या अभ्यास का विशेष-विवेचन नहीं किया, न ही इनमें से किसी एक को दूसरे का कारण या कार्य कहा है। इनमें प्रधान और गौणभाव का भी इन्होंने विधान नहीं किया अपितु शक्ति और व्युत्पत्ति दोनों को समवेत रूप से काव्य का हेतु माना।[४] साथ ही 'स्खलद्गतेः शब्दस्य निबन्धः' कहकर अभ्यास का भी संकेत कर दिया है। क्योंकि पद का ऐसा निबन्धन जिसकी गति विवक्षितार्थ के प्रत्यायन में स्खलित न हो, शक्ति और व्युत्पत्ति के रहते हुए भी निरन्तर अभ्यास के बिना सम्भव नहीं जब तक कि देवता प्रसाद आदि कोई अलौकिक कारण न हो।

महिमभट्ट के काव्यहेतु-विषयक श्लोक से ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्यहेतु के विवेचन के लिए इसे नहीं लिखा अपितु अनुमेयार्थ के निरूपण के प्रसंग में इसका निर्देशमात्र हो गया है। इसका तात्पर्य यह है कि महिम के पूर्व के आचार्यों से काव्यहेतु-विषयक जो विचार सरणि चली आ रही थी कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों काव्य के हेतु हैं, महिम उनमें से एक तो अभ्यास को उतना महत्त्व नहीं देना चाहते जितना शक्ति और व्युत्पत्ति को, दूसरे आनन्दवर्धन का यह निर्णय कि शक्ति ही काव्य का प्रधान हेतु है इन्हें मान्य नहीं था। काव्यशास्त्र के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उन दिनों यह विवाद विशेष रूप से विद्वानों की चर्चा का विषय बना हुआ था कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति में से कौन श्रेयसी

---

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ --दण्डी-- काव्यादर्श, १।१०३।

२. त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥ --रुद्रट-- काव्यालंकार, १।१४।

३. शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ --मम्मट-- काव्यप्रकाश, १।३।
त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्नतु हेतवः।
--काव्यप्रकाश वृत्ति-- १।३।

४. तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमान-विषयोऽन्यवत्॥ --म० भ०, व्यक्तिविवेक, पृ० १२१।

है। भामह ने जब यह कहा कि कोई प्रतिभावान् ही कविता करने में समर्थ होता है, अन्य नहीं तो लोगों को उनकी यह उक्ति सम्भवतः पसन्द नहीं आयी और इस पर नाना-प्रकार की टिप्पणियाँ हुई तथा दण्डी, रुद्रट प्रभृति आचार्यों ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी प्रतिभा के समान स्तर पर काव्यहेतु होने का विधान किया। अनन्तर आनन्दवर्धन ने पुनः इस भेददृष्टि को उठाकर प्रतिभा को व्युत्पत्ति से श्रेयसी कहा। आचार्य मंगल ने इसके ठीक विपरीत व्युत्पत्ति को ही प्रतिभा से श्रेयसी बताया। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इन विवादों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया है। इस सम्बन्ध में अपने मत का प्रतिपादन करते हुए राजशेखर ने एक नयी व्यवस्था दी कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों शक्तिकृत हैं, और वह शक्ति समाधि और अभ्यास से उत्पन्न होती है। जो उस शक्ति से सम्पन्न हैं वही प्रतिभावान् हैं और उन्हीं की व्युत्पत्ति भी हो सकती है।

महिमभट्ट ने प्रतिभा को शक्ति से व्यतिरिक्त नहीं माना है और न उन्हें यही स्वीकार है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति शक्ति के ही कार्य हैं, अपितु शक्ति ही प्रतिभा है[1] तथा व्युत्पत्ति का भी काव्य के हेतुत्व में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना शक्ति अर्थात् प्रतिभा का। इस प्रकार अभ्यास की अन्यथासिद्धता स्वतः सिद्ध हो जाती है। अतः हम देखते हैं कि महिम-भट्ट का मत भामह, दण्डी, आनन्द, मंगल एवं राजशेखर प्रभृति प्राक्कालीन सभी आचार्यों से पृथक् एवं स्वतंत्र है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रधानेतर भाव का निषेध करते हुए राज-शेखर ने व्यवस्था दी थी कि जैसे लावण्य के बिना रूप और रूप के बिना लावण्य अकिंचित्कर है अपितु दोनों मिलकर ही सौन्दर्य का आधान करते हैं वही भाव प्रतिभा और व्युत्पत्ति में भी है।[2] इसीलिए कवि का लक्षण उन्होंने किया है कि जो प्रतिभाव्युत्पत्तिमान् है वही कवि है।[3] महिमभट्ट का मत इसके बिलकुल अनुरूप है। यह सम्भवतः राजशेखर का महिम पर प्रभाव कहा जा सकता है किन्तु दोनों के समय में बहुत कम एवं स्थान में बहुत अधिक अन्तर होने से यह कहना कठिन है कि महिम पर राजशेखर का प्रत्यक्ष प्रभाव है। मम्मट ने भी काव्यहेतु-निरूपण पर आनन्दवर्धन के मत की स्पष्टतया अवहेलना की है। प्रतिभा के स्थान पर शक्ति और उसके साथ व्युत्पत्ति का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि इन्होंने राजशेखर के सिद्धान्त को नहीं अपनाया। फलतः महिमभट्ट का ही उन पर प्रभाव माना जा सकता है कि काव्यहेतु में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों समवेत रूप से अपेक्षित हैं।

---

१. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमित चेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥ ——म० भ० ——व्यक्तिविवेक, २।११७।

२. 'मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीयः। न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पद्, ऋते रूप-संपदो वा लावण्यलब्धिः महते सौन्दर्याय कल्पते।
——राजशेखर– काव्यमीमांसा, पृ० १६।

३. प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते। ——राजशेखर– काव्यमीमांसा, पृ० १७।

तृतीय-विमर्श

काव्यलक्षण

(अ) काव्य के सामान्य लक्षण

किसी भी विषय या वस्तु का लक्षण उसका असाधारण धर्म होता है ।[1] पदार्थ की वह विशेषता जो उसके सिवाय अन्यत्र कहीं न मिले उसका असाधारण धर्म कहलाती है । धर्म में असाधारणता या असाधारणधर्मता का स्वरूप यह है कि वह विशेषता विषय में अन्यून और अनतिरिक्त दो भावों से रहे । अर्थात् कभी भी या किसी भी अंश में यह सम्भव न हो कि उस विशेषता का उस विषय में अभाव हो या विषयान्तर में भी वह विशेषता विद्यमान हो ।[2] यह असाधारणता, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव दोषों के परिहारस्वरूप होती है ।

काव्य एक ऐसा विषय है जिसके स्वरूप और उद्देश्य के बारे में कवियों और आलोचकों की धारणायें नाना प्रकार की रही हैं । अतः उसका एक ऐसा निकृष्ट लक्षण दे सकना जो सर्वमान्य हो, सम्भव नहीं। देश, काल एवं पात्र के अनुसार काव्य के स्वरूप, प्रकार एवं आदर्श की भिन्नता के साथ ही उसके लक्षण भी अनेक हुए हैं । आज भी, क्या पूर्व क्या पश्चिम सर्वत्र काव्य की परिभाषा के विषय में जितने आलोचक उतनी रायें हैं । संस्कृत अलंकारशास्त्र के विकास की तो यह परम्परा ही रही है कि प्रत्येक आचार्य ने न केवल काव्य अपितु उसके आधायक गुणालंकारादि प्रत्येक तत्त्व के लक्षणादि का स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है तथा सबने अपना-अपना विशेष लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किया है । यहाँ तक कि एक ही सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों में भी काव्यादि के लक्षण पर ऐकमत्य नहीं । अपितु इसके विपरीत अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खण्डन करना गौरव की बात समझी गई है । प्रकृतस्थल में हम सबके लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन कर महिमभट्ट के काव्यलक्षण की मीमांसा करते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे ।

संस्कृत अलंकारशास्त्र के आचार्यों के काव्यलक्षणों का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें वर्णित असाधारण धर्म कहीं शब्दार्थमय, कहीं शब्दमात्र तो कहीं रस है। काव्यलक्षण-निरूपण या तो शब्दार्थ के आधार पर हुआ है या रस के आधार पर। क्योंकि शब्दार्थ काव्य के शरीर माने गये हैं और रस आत्मा । इस प्रकार कहीं शरीर को लेकर तथा कहीं आत्मा को लेकर काव्यलक्षण का विवेचन हुआ है । शब्दार्थ में भी कुछ आचार्य केवल शब्द को ही काव्य के लक्षण में प्रधानता देते हैं, दूसरे शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व का मानते हैं ।

---

१. असाधारणधर्मो लक्षणम् । —तर्कसंग्रह दीपिका, सूत्र १ ।

२. धर्मेऽसाधारणत्वं, असाधारणधर्मत्वं वा अन्यूनातिरिक्तवृत्तिस्वरूपम् । —टिप्पणी, वही ।

(इ) शब्दार्थोभय काव्यलक्षण

शब्दार्थ युगल को काव्य का लक्षण कहने वाले आचार्यों में चिरन्तन भामह हैं जिनका कहना है कि सहित शब्दार्थ ही काव्य है।[1] प्रसिद्ध साहित्य शब्द की प्रकृति यही सहित पद है। लक्षण में प्रयुक्त सहित पद का अर्थ है सहभावापन्न अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ सहभाव अर्थात् तुल्यकोटिक महत्त्व के हों वह काव्य है। इतिहासादि से काव्य के भेद का विनियामक भी यही तत्त्व है। इतिहासादि शास्त्रों में अर्थ की प्रधानता होती है और शब्द गौण होता है। अर्थ-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए शब्द का आश्रयमात्र लिया जाता है। अर्थ साध्य और शब्द साधन होता है। वहाँ अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। काव्य में ऐसी बात नहीं होती। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों समान महत्व के होते हैं क्योंकि दोनों ही दोषगुणालंकारादि काव्यतत्वों के समानरूप से आधायक हैं। अतः इनम मुख्य गौण भाव न होकर सदा सहभाव ही होता है। शाब्दी व्यञ्जना, आर्थीव्यञ्जना, शब्दशक्त्युत्थध्वनि, अर्थशक्त्युत्थध्वनि, शब्ददोष, अर्थदोष, शब्दगुण, अर्थगुण और शब्दालंकार अर्थालंकारादि सर्वत्र शब्दार्थोभय-मय व्यवस्था है। यही शब्दार्थ का सहभाव है और इसी आधार पर काव्य शास्त्रों से भिन्न हैं। इसीलिए रुद्रट ने तो बिना किसी विशेषण के ही कह दिया कि शब्दार्थ युगल ही काव्य है।[2] क्योंकि जिस सहभावापन्न अर्थ की प्रतीति के लिये सहित पद का शब्दार्थ के विशेषण रूप में प्रयोग करने की आवश्यकता समझी गई है उसकी अभिव्यक्ति 'शब्दार्थ' में प्रयुक्त द्विवचन से ही सुतरां हो जाती है। द्विवचन का प्रयोग यहाँ 'शब्दश्च अर्थश्चेति' विग्रह के अनुसार इतरेतर द्वन्द्व-समास का बोधक है। द्वन्द्व समास जहाँ होता है वहाँ उसमें प्रयुक्त दोनों पदों के अर्थ की प्रधानता होती है—उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः। इस प्रकार यहाँ द्विवचन के प्रयोग से ही शब्द और अर्थ की सहभावापन्नता स्वतः बन जाती है, क्योंकि इसी में अर्थ के साथ शब्द की प्रधानता निहित है। 'सहितौ' विशेषण के द्वारा भी आचार्य को यही बताना अभीष्ट है कि वेदादि अन्य शास्त्रों में, जहाँ शब्दमात्र की तथा इतिहास पुराणादि में अर्थमात्र की प्रधानता होती है वहाँ काव्य में शब्द एवं अर्थ दोनों की ही प्रधानता अभीष्ट है। यही साहित्य है। अतएव रुद्रट ने काव्यलक्षण वाक्य में 'ननु'[2] शब्द का प्रयोग किया है—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्', जो भामह के द्वारा किये गये काव्यलक्षण में सहितौ पद के प्रयोग के प्रति अरुचि का द्योतक है। इसका अभिप्राय यह है कि जब 'शब्दार्थ' में प्रयुक्त द्विवचन मात्र से ही हम शब्द और अर्थ की सहभावापन्नता की अभिव्यक्ति कर सकते हैं तो लक्षणवाक्य में 'सहितौ' पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता है। क्योंकि कोई भी लक्षणावाक्य सूत्रवत् होता है जिसमें अपेक्षा से अधिक पदों का प्रयोग दोषावह माना जाता है। आनन्दवर्धन ने उसे ही ध्वनिकाव्य कहा है जहाँ शब्द अपने अर्थ को या अर्थ स्वयं को गौण कर एक ऐसे अर्थ को अभिव्यंजित करे जो वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी हो।[3] इस प्रकार इन्होंने भी

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। —भामह —काव्यालंकार, १।१६।

२. ननु शब्दार्थौ काव्यम्। —रुद्रट —काव्यालंकार, २।१।

३. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ —आनन्दवर्धन— ध्वन्यालोक, १।१३।

काव्य में व्यञ्जक शब्दार्थ की प्रधानता का ही प्रतिपादन किया है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने भामह की ही सरणि पर कहा है कि सहभावापन्न शब्दार्थ युगल ही जब कवि के वक्रोक्तिमय व्यापारयुक्त बन्धन में व्यवस्थित हो जाता है तो काव्य कहलाता है। और इस प्रकार वह समझने वालों के लिए आह्लाद का विषय होता है।[१] राजशेखर ने भी काव्य-मीमांसा में कहा है कि शब्द और अर्थ के ठीक-ठीक सहभाव से सम्पन्न विद्या साहित्य विद्या है।[२] अलंकारशास्त्र के दिग्गज-- आचार्य मम्मट का काव्यलक्षण भी शब्दार्थयुगलपरक ही है। उन्होंने दोषरहित गुणसहित तथा यथासम्भव अलंकारयुत शब्दार्थयुगल को काव्य कहा है।[३] अलंकार की सत्ता को वैकल्पिक करके उसके महत्त्व को कुछ कम अवश्य कर दिया है। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट की सरणि पर ही गुणालंकारयुत दोषरहित शब्दार्थ को ही काव्य कहा है।[४] ऐसे ही वाग्भट्ट[५], विद्यानाथ[६] आदि बाद के अनेक आचार्यों ने शब्दार्थयुगल को ही काव्य का प्रवृत्ति निमित्त मानकर उसे काव्यलक्षण में अधिकाधिक महत्त्व दिया है। राजानक रुय्यक कृत अलंकार-सर्वस्व के एक टीकाकार समुद्रबन्ध ने विशिष्ट शब्दार्थ को ही काव्य कहा है।[७] शब्दार्थ की विशिष्टता का आधायक, धर्म, व्यापार एवं व्यंग्य इन पक्षों को ही माना है। धर्मपक्ष में विशिष्टता का आधान गुण या अलंकार दो प्रकार से होता है। व्यापारपक्ष में भणिति वैचित्र्य और भोग-व्यापार इन दो विशेषताओं का उल्लेख किया है। व्यङ्ग्यपक्ष में विशिष्टता का आधायक एकमात्र व्यञ्जना वृत्ति या व्यंग्यजनितचमत्कार ही है। इन पक्षों में से गुणात्मकधर्मविशिष्ट शब्दार्थ को काव्य मानने वाले आचार्य वामन हैं। काव्य में अलंकारादि धर्म विशिष्ट शब्दार्थ की महत्ता के प्रतिपादक भामह, दण्डी, उद्भटादि अलंकारवादी आचार्य हैं। भणिति वैचित्र्य व्यापार की विशेषता कुन्तक को स्वीकार्य है तो भोग (भोजकत्व) व्यापार की विशेषता से रस को ही काव्य का सर्वस्व कहने वाले भट्टनायक हैं। अन्त में व्यंग्य की विशेषता का प्रतिपादन आनन्दवर्धन आदि ने किया है। इस प्रकार

---

१. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी। बन्धेव्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।
--कुन्तक--वक्रोक्तिजीवित, पृ० २१७।

२. शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।
--राजशेखर-- काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ५।

३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। --काव्यप्रकाश उल्लास, १।४।

४. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। --हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० १६।

५. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्। --वाग्भटालङ्कार--

६. गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। ...काव्यं काव्यविदो विदुः।
--विद्यानाथ--प्रतापरुद्र यशो भूषण।

७. इह विशिष्टौ शब्दार्थौ तावत्काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन,व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः; आद्येप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेपि भणिति-वैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पंचसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थ भट्टनायकेन, पंचम आनन्दवर्धनेन।
--अलंकार सर्वस्व टीका, पृ० ४।

शब्दार्थयुगल की विशेषता के आधार पर अलंकारशास्त्र में पाँच पक्षों का प्रतिपादन हुआ। ये ही अलंकारशास्त्र के पाँच मुख्य सम्प्रदाय हैं।

(उ) शब्दप्रधान काव्यलक्षण

काव्यलक्षण का दूसरा प्रकार वह है जिसमें शब्द की प्रधानता प्रतिध्वनित होती है। सबसे पहले 'अग्निपुराण' में कवि-विक्षित अभिप्राय से युक्त उस पदावली को काव्य कहा गया है जो दोषरहित एवं गुणालंकारसहित हो।[१] दण्डी का काव्यलक्षण 'अग्निपुराण' से अधिक साम्य रखता है कि––विवक्षित अर्थ से युक्त पदावली ही काव्य है।[२] इनके बहुत दिनों बाद चन्द्रालोककार जयदेव ने उस वाक् को काव्य कहा जो दोषरहित एवं रीतिगुणालंकारादि अनेक सत् लक्षणों से युत हो।[3] इन्होंने काव्यप्रकाशकार मम्मट के काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'अनलंकृती' शब्द पर झुँझलाते हुए कटाक्ष किया है कि जो विद्वान् अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य के रूप में स्वीकार करता है, वह कृती यह क्यों नहीं मानता कि अग्नि अनुष्ण अर्थात् शीतल होती है।[४] शब्द को ही काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है कि "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।"[५] इन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण की समालोचना करते हुए शब्दार्थयुगल की काव्यता का खण्डन किया है। इनका कथन है कि शब्दार्थयुगल काव्य नहीं हो सकते क्योंकि काव्य पद का वाच्य शब्द एवं अर्थ दोनों होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं। अपितु काव्य पद का प्रवृत्तिनिमित्त शब्दमात्र ही है। 'काव्य जोरों से पढ़ा जा रहा है', 'काव्य से अर्थ समझा जाता है', 'काव्य सुना पर अर्थ न जाना' इत्यादि सार्वजनीन व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि काव्य पद का प्रवृत्तिनिमित्त विशेष प्रकार का शब्द ही है, अर्थ या शब्दार्थयुगल नहीं। क्योंकि शब्दार्थयुगल से उक्त व्यवहार नहीं बन सकते।[६] केवल शब्द की काव्यता के विषय में वह इतने दृढ़ हैं कि लक्षणा के द्वारा भी शब्दार्थोभय को काव्य का लक्षण मानने को प्रस्तुत नहीं। उनका कहना है कि––यह कथन कि 'काव्यंपठ्यते' आदि उक्त व्यावहारिक वाक्यों में काव्य पद का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है अर्थात् शब्दार्थयुगल वाचक काव्य पद का प्रयोग केवल शब्द में भी हो सकता है––ऐसा मानना तब तक युक्तिसंगत

---

१. ....इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्। ––अग्निपुराण, अध्याय ३३६।६७।

२. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। ––दण्डी, काव्यादर्श, परिच्छेद १।१०।

३. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ ––जयदेव––चन्द्रालोक-मयूखः, १।७।

४. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥ ––चन्द्रालोक-मयूखः, १।८।

५. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। ––रसगंगाधर, पृ० ४।

६. यत्तु प्रांचः "अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः तत्र विचार्यते- शब्दार्थ-युगलं न काव्यशब्दवाच्यम्। मानाभावात्, काव्यमुच्चैः पठ्यते काव्यादर्थोवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः" इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारतः, प्रत्युत शब्द विशेषस्यैव काव्य-पदार्थत्व-प्रतिपत्तेश्च। ––रसगंगाधर, पृ० ६।

नहीं जब तक कि किसी प्रवल प्रमाण से पहले यह सिद्ध न हो जाय, कि काव्य पद का वाच्यार्थ शब्दार्थयुगल है। परन्तु ऐसा प्रमाण ही तो नहीं दृष्टिगोचर होता।[1] आगे काव्यलक्षण विवेचन का उपसंहार करते हुए वह कहते हैं कि इस तरह शब्द विशेष में ही काव्यता सिद्ध होने पर तदनुसार शब्दमात्रपरक काव्यलक्षण ही ठीक है, न कि स्वकल्पित शब्दार्थयुगलपरक। अतः वेदपुराणादि का भी इसी प्रकार लक्षण करना चाहिए अन्यथा वहाँ पर भी यही दुरवस्था होगी।[2]

काव्यलक्षण में शब्द की प्रधानता मानने वालों में पण्डितराज अन्तिम आचार्य हैं। इनके अतिरिक्त शेष कुछ आचार्य वे हैं जिन्होंने शब्दार्थ की अपेक्षा रस को ही काव्य का परम आधायक तत्व कहा है, अतएव काव्यलक्षण में उसका उल्लेख आवश्यक बताया है।

(ऋ) रसान्वित लक्षण एवं महिमभट्ट

काव्य के रसपरक लक्षणकारों में महिमभट्ट, भोज, शौद्धोदनि, चण्डीदास और कविराज विश्वनाथ मुख्य हैं। महिमभट्ट का कथन है कि कवि का विभावादि संयोजनात्मक वह व्यापार ही काव्य है जिसमें रस की अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से होती है।[3] इस लक्षण की विशद व्याख्या अपेक्षित है।

संक्षेप में कवि-व्यापार ही काव्य है। कवि पद के सान्निध्य से व्यापार शब्द उसके काव्यात्मक व्यापारविशेष का ही बोध कराता है, वचनादानविहरणादि व्यापारसामान्य का नहीं। काव्यात्मक व्यापार की सम्भाव्यता शब्दार्थ को लेकर ही है। अतः 'कविव्यापारः' पद से काव्य में शब्दार्थ की सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।[4] इस प्रकार कवि के शब्दार्थ विषयक व्यापार को ही काव्य कहेंगे। 'कविव्यापारः' कहने से धर्मदर्शनपुराणेतिहासादिगत शब्दार्थ-विषयक व्यापार से जहाँ अर्थमात्र की प्रधानता होती है, कवि का शब्दार्थविषयक व्यापार काव्य सर्वथा भिन्न हो जाता है। क्योंकि यहाँ शब्दार्थ की समानता होती है। अतः 'शब्दार्थो-काव्यम्' की अपेक्षा 'कविकर्म या कविव्यापारः काव्यम्' कहना काव्यलक्षण की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। अतएव काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार झलकीकर वामन ने काव्य का लक्षण महिम की ही सरणि पर 'कविकर्म काव्यम्' किया। कवि की परिभाषा करते हुए उन्होंने 'लोकोत्तरवर्णनानिपुणः कविः' कहा। महिम को कवि का शब्दार्थ सम्बन्धी प्रत्येक व्यापार भी काव्य पद से अभिप्रेत नहीं है, किन्तु वही व्यापार जिसमें रस की अभिव्यक्ति में व्यभिचार न हो। इसीलिए व्यापारः पद का विशेषण 'रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी' कहा। व्यभिचार पद का

---

१. व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति, स्यादप्येवं यदिकाव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढ़तरं किमपि प्रमाणं स्यात्। तदेव तु न पश्यामः।
—रसगंगाधर, पृ० ६।

२. तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य, एषैव च वेदपुराणलक्षणेष्वपि गतिः। अन्यथा तत्रापीयं दुरवस्थास्यात्।
—रसगंगाधर, पृ० ७।

३. कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यम्।
—व्य० वि०, पृ० ९५।

अर्थ है 'क्वचित् प्रतीतिः, क्वचित् प्रतीतिः'––कहीं पर रसोपेत रचना हो और कोई रचना रसापेत हो। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में रस की स्थिति अनिवार्य होनी चाहिए। छन्दोबद्ध होने से ही कोई रचना काव्य पद प्रतिपाद्य नहीं हो सकती। इसीलिए कहा 'रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी कविव्यापारः काव्यम्'। रस को विभावादि 'जीवितावधि' कहा गया है। अर्थात् विभावादि जब तक हैं रस रहता है। उनके अभाव में रस की भी प्रतीति नहीं होती। अतः विभावादि का उचित रूप से संयोजन आवश्यक है। इस प्रकार विभावादि का इस उचित मात्रा में संग्रथन कि जिनसे रस की निष्पत्ति अवश्य हो ऐसा ही कविव्यापार अभिष्ट है। अतएव कहा 'विभावादि संयोजनात्मा' और 'रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी' दोनों पद 'कविव्यापारः' के विशेषण हैं। रस की अव्यभिचरित रूप से अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब कि रचना सर्वप्रकार से वोषरहित हो क्योंकि दोषों को रस का अपकर्षक माना गया है। अनौचित्य से भिन्न रसभंग का कोई और कारण नहीं होता।[1] अनौचित्य दोष का ही ऊपर पर्याय है। महिम को भी यही अभिमत है कि काव्य की आत्मा रस ही है।[2] रस की अनिवार्य सत्ता से काव्य में गुणों की विद्यमानता सुतरां सिद्ध हो जाती है। अतः शब्दतः गुण को विशेषण के रूप में देने के गौरव से भी लक्षण बच गया। अतः 'कवि व्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा, रसाभिव्यक्त्य व्यभिचारी काव्यम्' यह काव्य का निष्कृष्ट लक्षण है।

इस पर यह शंका उठती है कि जहाँ भी रस की अभिव्यक्ति होगी वहाँ विभावादि अनिवार्य रूप से स्वतः रहेंगे ही, क्योंकि बिना उनके रस की सत्ता कथमपि सम्भव नहीं। फिर लक्षण में 'विभावादिसंयोजनात्मा' पद व्यर्थ होने से त्याज्य है। किन्तु यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि ऐसा स्वीकार कर लेने पर काव्यलक्षण का स्वरूप यह शेष रह जाता है कि 'कवि का रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी व्यापार ही काव्य है', जो वदतोव्याघात है। कवि के व्यापार का साक्षात् संबंध रस से न होकर विभावादि के वर्णन मात्र से होता है। कवि केवल विभावादि का संयोजन या वर्णन मात्र कर सकता है। रसाभिव्यक्ति तो उसमें अंतर्निहित होती है। रस किये नहीं जाते अपितु स्वतः अभिव्यक्त होते हैं। रस के कार्य होने के पक्ष का खण्डन प्रायः सभी आचार्यों ने किया है। महिम तो रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में श्रीशंकुक के अनुयायी हैं जिन्होंने रस को अनुमेय कहा है। रसानुभूति के प्रयोजक नटप्रकाशित या कविवर्णित नायकनायिकागत विभावादि ही हैं। अतः कवि का व्यापार रसाभिव्यक्तिपरक सम्भव न होकर विभावादि के सृजनपरक ही ठीक बैठता है। अथ च विभावादि संयोजन के अभाव में रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी पद का कवि-व्यापार शब्द के साथ अन्वय भी ठीक नहीं बनेगा। क्योंकि कविव्यापार विभावादि संयोजनात्मक ही हो सकता है। रसानुभूति तो उसका परिणाममात्र है जो सहृदय पाठक को विभावादि के परामर्श से स्वतः हुआ करती है। अतः कविव्यापार और रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी पदों में विशेष्यविशेषण भाव से अन्वय बन जाय इसके लिए 'विभावादिसंयोजनात्मा' विशेषण नितान्त अपेक्षित एवं सर्वथा सार्थक प्रयुक्त हुआ है।

'शब्दार्थसंयोजनात्मा' की अपेक्षा 'विभावादिसंयोजनात्मा' पद के सन्निवेश का भी

---

१. **अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्। ––आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पृ० २५९।**

२. **काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरुपेण कस्यचिद्विमतिः। ––व्यक्तिविवेक, का० १।२६।**

विशेष अभिप्राय है। एक तो वह अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व का है। विभावादि संज्ञा से कारणादि की अलौकिकता एवं एकमात्र काव्यानुगुणता का स्वतः ग्रहण हो जाता है। दूसरे संयोजनात्मक पद में सम्पूर्वक युज् क्रिया से ल्युट् का अर्थ औचित्यात्मक योजन है, जो विभावादि में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार काव्यलक्षण में 'विभावादि संयोजनात्मा' पद सर्वथा युक्ति-युक्त एवं साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है। अतएव एक स्थल पर महिमभट्ट ने किसी के काव्य-लक्षण का प्रसंगवश उल्लेख किया है जिसमें विभावादि के वर्णन को ही काव्य कहा है।[1] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुणालंकार संस्कृत शब्दार्थमात्र काव्य नहीं है क्योंकि रसात्मता के अभाव में मुख्यवृत्ति से उसे काव्य ही नहीं कहा जाना चाहिए। रसात्मा काव्य में वस्तुमात्रादि के द्वारा विशेषता का आधान कथमपि नहीं हो सकता क्योंकि वह विभावादि के संग्रथन रूप से ही रसाभिव्यक्ति का प्रयोजक होता है।[2]

इस पर यह कहा जा सकता है कि काव्य में रस की अव्यभिचरित उपस्थिति का कथन तो 'विभावादि संयोजनात्मा' इस उक्ति से ही हो जाता है, पुनः रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी विशेषण की क्या आवश्यकता है? क्योंकि रसवादी सभी आचार्य विभावादि के संयोग से रस की स्वतः निष्पत्ति मानते हैं। रसों को विभावादि जीवितावधि कहा गया है। अन्वय-व्यतिरेक से विभावादि को ही रसानभूति का साधक माना गया है। क्योंकि विभावादि के रहने पर तो रस रहता है, उनके अभाव में नहीं रहता। काव्यलक्षण में विभावादि संयोज-नात्मा पद से विभावादि की स्थिति अनिवार्य रखी गयी है, फिर रसाभिव्यक्ति का अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाता है, उसके लिए रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी पद व्यर्थ है।

लेकिन यह कथन सम्मत नहीं क्योंकि इसमें भी अन्तर्विरोध है। रस विभावादि-जीवितावधि होते हैं। यह तो ठीक है और बिना विभावादि के रस की यत्किंचित् सत्ता भी सर्वथा असम्भव है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि विभावादि हों तो रस अनिवार्य रूप से निष्पन्न हो ही। अपितु विभावादि के विद्यमान होने पर भी दोषविशेष या प्रतिबन्धक विशेष से रस की प्रतीति में बाधा हो सकती है। रसदोष के प्रसंग में ऐसी अनेक अवस्थाएं परि-गणित हैं जहाँ विभावादि के साक्षात् विद्यमान होने पर भी रस की निष्पत्ति नहीं होती। रस का स्वशब्द से या शृंगारादि पद से अथवा स्थायिभाव एवं संचारिभावों का उनके नाम से ही कथन करने से, विभावादि के विद्यमान रहने पर भी कथमपि रस की प्रतीति नहीं होती।[3] आनन्दवर्धन ने स्पष्ट ही कहा है कि सारी सामग्री के रहते हुए भी औचित्य के अभाव में रस परिपाक नहीं हो पाता।[4] रसविहीन रचना को काव्य कहना आचार्य को कथमपि अभीष्ट नहीं। अतः 'विभावादि संयोजनात्मा' पद के रहते हुए भी 'रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी' शब्द

---

१. अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते। —व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० ९६।

२. अतएव च न गुणालङ्कारसंस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत्काव्यं . . .तेषां विभावादि-रूपतया रसाभिव्यक्तिहेतुत्वोपगमात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ९८, ९९।

३. रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि। —साहित्यदर्पण, ७।१२-१५।

४. अनौचित्यादृतेनान्यद्रसंभगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसोस्योपनिषत्परा॥ —ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० २५९।

का कवि-व्यापार पद के विशेषण के रूप में काव्यलक्षण में निर्वचन नितान्त आवश्यक, परम-उपादेय एवं अत्यन्त सार्थक है। आचार्य रुय्यक ने व्यक्तिविवेक के व्याख्यान में इस बात का संकेत किया है कि यहाँ कवि-व्यापार सामान्य रूप से अभीष्ट नहीं है अपितु विभावादि घटनानुरूप ही, अतएव नियमेन रसापेक्षी भी।[1] महिमभट्ट ने इसीलिए स्पष्ट कर दिया है कि रस के अभाव में काव्य काव्य ही नहीं है, फिर चाहे वह ध्वनि पद से ही क्यों न अभिहित किया गया हो। अनन्तर ध्वन्यालोक से यह उद्धरण दिया है जिसमें उसी अर्थ को ही काव्य की आत्मा कहा गया है।[2] उसके अभाव में काव्य जब काव्य ही नहीं है तो उससे कृत्याकृत्य व्युत्पत्तिरूप फल की कामना करने की अपेक्षा उसका आरम्भ न करना ही श्रेयस्कर है।[3]

रसपरक काव्यलक्षण को सामान्यतया अव्याप्त अर्थात् अव्याप्तिदोषग्रस्त बताया जाता है। काव्य में रस की अव्यभिचरित उपस्थिति मानने से परिणाम यह होगा कि वाल्मीकि, व्यास आदि उत्कृष्ट कवियों की कृतियों के वह अंश जो निःसन्देह रसोद्बोधक नहीं हैं, तथा काव्य के वह प्रभेद जहाँ वस्तु एवं अलंकार मात्र से चमत्कार का आधान होता है, काव्य की कोटि में आने से वञ्चित रह जायेंगे, और इस प्रकार काव्य का विषय अत्यन्त स्वल्प हो जायेगा। यदि यह कहें कि परम्परया उन रचनाओं में भी रस का लवलेश मानकर उनमें काव्यता बन जाती है तो—'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येषधूमः ॥' इत्यादि स्थलों में भी येन केन प्रकारेण यत्किञ्चित् मात्रा में रसात्मकता मानकर काव्यता अतिव्याप्त होने लगेगी और कूप से बचने के लिए घोर गर्त में गिरना होगा।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ के काव्य-लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की रसपरकता का खण्डन करते हुए उसे अनिर्णीत कहा है। क्योंकि रसवद् वाक्य को ही काव्य मानने पर वस्तु एवं अलंकार प्रधान काव्य रसाभाव के कारण काव्यत्व से वञ्चित हो जायेंगे। जो इसलिए इष्ट नहीं है कि ऐसा मानने पर महाकविसम्प्रदाय का ही उच्छेद हो जायेगा। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास प्रभृति सभी महाकवियों ने अपने काव्यों में जलप्रवाह, निपतन, उत्पतन, भ्रमण एवं कपि बालादि चरितों का स्थल-स्थल पर वर्णन किया है। वह सब अकाव्य हो जायेगा। यदि, यथाकथंचित परम्परा से उनमें भी रस-स्पर्श मानकर काव्य व्यवहार चल सकता है यह कहेंगे, तो ऐसा रसस्पर्श 'गौश्चलति, मृगो धावति' इत्यादि वाक्यों में भी सम्भव होने से इनमें काव्यत्व की अतिप्रसक्ति होने लगेगी। इसलिए रसान्वित काव्यलक्षण कथमपि सम्भव नहीं।[4]

---

१. कविव्यापारश्च न सामान्येन किन्तु विभावादिघटनास्वभावः अतएव नियमेन रसापेक्षी।
—व्यक्तिविवेक-व्याख्यान, प्रथम-विमर्श, पृ० ९५।

२. काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात् तस्य रसात्मकत्वोपगमाद्—यत् स एवाह—काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादि कवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥—व्य० वि०, प्र० वि०,पृ० ९२-९३।

३. तदभावे (रसाभावे) चास्य काव्यतैव न स्यात् किमुत् विशेष इति अनारम्भणीयमेवैतत् प्रेक्षावतां स्यात् वैफल्यात्। —व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० ९५।

४. यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न। वस्तुवलङ्कारप्रधानानां काव्यानां काव्यत्वानापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्य भङ्गप्रसङ्गात। जलप्रवाह-वेग-

किंतु ऐसी बात है नहीं। रसान्वित काव्यलक्षण पर अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष साहित्यदर्पणकार के ऊपर ही क्यों मढ़ा जाता है? मम्मट के ऊपर भी क्यों नहीं? क्योंकि उन्होंने भी शब्दार्थों का विशेषण सगुणौ पद दिया है। गुण काव्यात्मा रस के धर्म हैं और परम्परया उनकी शब्दार्थ में विद्यमानता भी ठीक है। किन्तु गुण तो वहीं रहेंगे जहाँ रस होगा। अतः साक्षात् नहीं तो परोक्षरूप से ही सही, मम्मट ने भी इस बात को माना है कि रस काव्य का वह तत्त्व है जो उसके रग-रग में व्याप्त है। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ का काव्यलक्षण कि रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द ही काव्य है, क्या रसपरक नहीं है? पण्डितराज ने बहुत विचार करके ही रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य का लक्षण कहा है।[1] अर्थ में रमणीयता क्या हो सकती है? यह प्रश्न उनके समक्ष समुपस्थित हुआ। क्योंकि यदि अर्थ का अच्छा लगना ही उसकी रमणीयता मान लें तो यह रमणीयता अव्यवस्थित हो जायगी। रुचिभेद से एक ही अर्थ किसी को अच्छा और किसी को बुरा लग सकता है। अतः पण्डितराज को व्यवस्थित रमणीयता का विवर्चन करना पड़ा कि जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति हो वही अर्थ रमणीय है।[2] अब प्रश्न उठता है कि लोकोत्तर आनन्द किसको कहेंगे? आनन्दगत लोकोत्तरत्व यदि सातिशय है अर्थात् जिससे बढ़कर दूसरा भी आनन्द हो सकता है तो लोकोत्तर कहने से कोई लाभ नहीं। क्योंकि व्यक्तिभेद एवं रुचिभेद से प्रायः सभी आनन्द लोकोत्तर सिद्ध हो जायेंगे और अव्यवस्था बनी रहेगी। अथवा यदि आनन्दगत लोकोत्तरत्व निरतिशय है जिससे बढ़कर दूसरा आनन्द ही नहीं तो वह ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता। अतः लोकोत्तरत्व का निर्वचन करते हुए कहा है कि लोकोत्तरत्व आनन्दगत एक जाति विशेष है जिसका दूसरा नाम चमत्कारत्व है।[3] इसकी सत्ता में सहृदयों का अनुभव ही एकमात्र प्रमाण है। अर्थात् जिस-जिस आनन्द में सहृदयों को लोकोत्तर-लोकोत्तर ऐसा अनुभव हो वही लोकोत्तर आह्लाद है। इसमें प्रमाण-स्वरूप उसकी सृष्टि करने वाले कारण का भी निर्देश किया है कि लोकोत्तर आनन्द मे पुनः-पुनः अनुसन्धान रूप अर्थात् धारावाहिक भावना विशेष शाब्दबोधात्मक अनुभव ही इसका कारण है। यह आनन्द लोकोत्तर इसलिए है कि 'तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ', 'मैं तुम्हें धन दूंगा' इत्यादि वाक्यों से होने वाली भावना से यह सर्वथा भिन्न होता है।[4] यह लोकोत्तराह्लाद रसानुभूति से भिन्न नहीं है अपितु रसानुभूति ही है। कविराज विश्वनाथ प्रभृति सभी ने रसानुभूति

निपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालादिविलसितानि च। न च तत्रापि यथाकथंचितपरम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेतिवाच्यम्। इदृश-रसस्पर्शस्य 'गौश्चलति मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्।

—रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० २३, चौखंभा, काशी।

१. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। —रसगगंगाधर, पृ० ४।

२. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। —वही, पृ० ४।

३. लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्य्यायो अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। —वही, पृ० ५।

४. कारणं च तदवच्छिन्ने भावना विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा। 'पुत्रस्ते जातः, धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्व प्रसक्तिः। —वही, प्रथम आनन, पृ० ५।

के स्वरूप को ऐसा ही बताया है कि उसकी अनुभूति में सहृदयों का अनुभव ही एकमात्र प्रमाण है ।[1]

इस प्रकार पण्डितराज के काव्यलक्षण का अर्थ उनकी ही पदव्याख्या के अनुसार यह हुआ कि रमणीयार्थ प्रतिपादक अर्थात् रसोद्बोध में समर्थ शब्द ही काव्य है । फिर इनके मत में भी महाकवि प्रणीत कपि बाल चरित में लोकोत्तराह्लाद रूप रस के उद्बोध की क्षमता कैसे है ? यह प्रश्न बना ही रहता है । इसलिए जहाँ पर दोनों पक्ष में दोष समान हो और उनका परिहार भी समान हो वहाँ किसी एक को ही दोषी ठहराना उचित नहीं ।[2] अतः काव्य में रस की नियत उपस्थिति का विरोध करना वाग्विडम्बना मात्र है । इसका समाधान मम्मट की सरणि पर यही है कि वस्तु और अलंकार, ध्वनियों के स्थल में या विशुद्ध चित्रकाव्य में भी यत्किंचित् मात्रा में गुण रहते हैं; फलतः वहाँ रसादि की भी उसी मात्रा में उपस्थिति अवश्य रहती है । उनकी स्पष्ट प्रतीति इसलिए नहीं होती कि वे अत्यन्त अस्फुट होते हैं ।

वास्तव में काव्य का कोई भी निष्कृष्ट लक्षण एकमात्र रसपरक ही हो सकता है, अन्य शब्दार्थपरक नहीं । क्योंकि लक्षण असाधारणधर्म के प्रवचन को कहते हैं । काव्य का यदि कोई धर्म असाधारण है तो वह केवल रस ही है, शब्दार्थ नहीं । शब्दार्थ की सत्ता तो काव्येतर इतिहासादि में भी सामान्य है अतः वह काव्य के ही असाधारणधर्म कैसे हो सकते हैं । जैसे गन्धवत्व पृथ्वी का लक्षण इसीलिए है कि गन्ध पृथ्वी का असाधारणधर्म है जो जल, तेज, वायु एवं आकाशादि में कथमपि नहीं रहता । इसी प्रकार रस ही एकमात्र काव्य का ऐसा धर्म है जो काव्य के अतिरिक्त विश्व के किसी भी वस्तु एवं विषय में नहीं रहता । अतः महिमभट्ट कृत काव्य का लक्षण इसीलिए दुष्ट नहीं कि वह रसपरक है अपितु इसीलिए निर्दुष्ट है कि वह काव्य के असाधारणधर्म रस से अन्वित है ।

(ल) महिम के लक्षण का परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव

काव्यलक्षण में रस के समावेश की परम्परा सर्वथा नवीन है जिसका समारम्भ सर्वप्रथम महिमभट्ट ने ही किया । अनन्तर प्रायः सभी आचार्यों ने इसके महत्व को समझा । इनके बाद सबसे पहले भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में काव्य का लक्षण रसपरक करते हुए कहा—कवि दोषरहित गुणसहित एवं अलंकार से अलंकृत रचना को रसान्वित करके ही यश और आनन्द दोनों का भागी होता है ।[3] अलंकारशास्त्रकार शौद्धोदनि ने महिम के बाद सबसे पहले अपना काव्यलक्षण एकमात्र रसनिष्ठ किया कि—रसादिमद्वाक्य ही काव्य है । क्योंकि उसी के सुनने से सुख विशेष अर्थात् आनन्द होता है ।[4] काव्यप्रकाश के प्रख्यात टीकाकार चण्डीदास

---

१. सचेतसामनुभवः प्रमाणस्तत्र केवलम् ॥ —साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, ३।३ ।

२. यत्रोभयोः समोदोषः परिहारो पि वा समः
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥
—तर्कभाषा—प्रामाण्यवाद निरूपण (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई), पृ० १७ ।

३. निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विंदति ॥ —भोज, सरस्वती कण्ठाभरण ।

४. काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत् । —शौद्धोदनि—अलंकार, शेखर, पृ० २ ।

ने अपनी 'दीपिका' नामक टीका में शब्दों के उस प्रबन्ध को काव्य कहा है जिनका सर्वस्व रसास्वादन ही है। रसास्वादन को उन्होंने काव्य का प्राण कहा है जो उसके रग-रग में व्याप्त रहता है।[1] और अन्त में साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ पर तो महिम का पूर्णप्रभाव परिलक्षित होता है जिन्होंने न केवल काव्य का लक्षण ही रसात्मक किया है[2] अपितु उसके समर्थन में अनेक अकाट्य युक्तियाँ भी दी हैं और अन्यों की विप्रतिपत्तियों का निराकरण किया है।

काव्यप्रकाशकार कृत काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'सगुणौ' शब्द की अनुपपन्नता एवं उसके स्थान पर 'सरसौ' शब्द की ही उपादेयता का विधान करते हुए साहित्यदर्पणकार कहते हैं कि—'शब्दार्थौ' इसका सगुणौ यह विशेषण भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि गुण केवल रस में ही रहते हैं, शब्द और अर्थ में नहीं। यह बात अष्टम उल्लास में गुणों का वर्णन करते हुए काव्यप्रकाशकार ने स्वयं कही है कि—जैसे आत्मा के गुण शूरता आदि हैं इसी प्रकार माधुर्यादिगुण काव्य के आत्मभूत रस के ही धर्म हैं और अचल हैं।[3] इससे यह स्पष्ट है कि गुण रसों में ही होते हैं, शब्द या अर्थ में नहीं। यदि यह कहें कि शब्द और अर्थ रस के व्यञ्जक होते हैं अतः उपचारतः अर्थात् परम्परा सम्बन्ध से इनमें गुणों के रहने की बात ठीक ही है और इस प्रकार स्वाश्रयरसाभिव्यञ्जकत्व सम्बन्ध से शब्द अर्थ भी सगुण हो सकते हैं; तो ठीक नहीं क्योंकि हम पूछते हैं कि 'आप जिन शब्दों और अर्थों को काव्य समझते हैं उनमें रस रहता है कि नहीं ? यदि नहीं तो गुण भी नहीं रह सकते। क्योंकि गुण तो रस के अन्वय व्यतिरेक का अनुगमन करते हैं। यदि रस है तो वह भी रहेंगे। रस के अभाव में उनका भी अवश्य अभाव रहेगा।' और यदि आप कहें कि रस उनमें भी रहता है तो 'रसवन्तौ' या 'सरसौ' विशेषण ही युक्तियुक्त है। यदि यह कहें कि गुण शब्द का जहाँ प्रयोग हुआ है वहाँ भी तो अन्वय-व्यतिरेक न्याय से रस स्वतः रहेंगे ही पुनः सगुणौ पद के रहने में क्या दोष है। इस पर वह कहते हैं कि जिस प्रकार यह प्राणिमान् देश है इस वाक्य के स्थान पर शौर्यवान् देश है ऐसा वाक्य कोई नहीं कहता। यद्यपि शौर्य बिना प्राणी के नहीं रह सकता तथापि बिना प्रयोजन किसी सीधी बात को घुमाकर कहना कोई भी पसन्द नहीं करता। अतः यहाँ सरसौ कहना ही ठीक है।[4] अनन्तर ध्वनिकार की

---

१. **आस्वादजीवातुः पदसम्बन्धः काव्यम्। —चण्डीदास, दीपिका, काव्यप्रकाश टीका, १।४।**

२. **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। दोषास्तस्यापकर्षकाः।**
उत्कर्षहेवतः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः॥ —साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, ३।

३. **ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।**
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥ —काव्यप्रकाश, ८।६६।

४. **किंच शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयों गुणाः। इति तेनैवोक्तत्वात्। रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्य इति चेत्तथाप्युक्तम्। तथाहि तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयोः रसोऽस्ति नवा ? नास्ति चेत् गुणवत्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत् कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणवत्वान्यथानुपपत्यैतद्दृश्यत इति चेत्तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्। न सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तोदेशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तोदेशा इति केनापि उच्यते।**
—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, वृत्ति १।३।

काव्यात्मक उक्ति का विश्लेषण करते हुए दर्पणकार कहते हैं कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। इस कथन का अभिप्राय क्या वस्तु-अलंकार और रसादि इन सब ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानना है या केवल रसध्वनि को ही ? इसमें प्रथम पक्ष का ग्रहण इसलिए ठीक नहीं होगा कि पहले आदि में—जहाँ वस्तुमात्र ध्वनित होता है अलक्ष्य में लक्षण के जानने से काव्यलक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा। यदि दूसरा पक्ष मानें तो हमें स्वीकार है।[1] रस को ही हम काव्यात्मा मानते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि केवल रसध्वनि ही काव्यात्मा है तो 'श्वश्रूरत्र निमज्जति' इत्यादि स्थलों में जहाँ वस्तुमात्र व्यङ्ग्य है, काव्यत्व का व्यवहार कैसे सम्भव होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि—यहाँ भी रसाभास के कारण ही हम काव्यत्व मानते हैं। उक्त पद्य में आगन्तुक परपुरुष में नायिका का अनुचित अनुराग प्रतीत होता है अतः शृंगाराभास है। अन्यथा वस्तुमात्र के व्यङ्ग्य होने पर ही यदि काव्यत्व मान लेंगे तो 'देवदत्त गाँव जाता है' इत्यादि वाक्य भी काव्य हो जायेंगे। क्योंकि इस वाक्य से भी देवदत्त के भृत्य का अनुगमन व्यङ्ग्य है। यदि कहें कि यह भी काव्य ही सही तो यह ठीक नहीं। क्योंकि सरस वाक्य ही काव्य माना जाता है, अन्य नहीं। रसास्वादमुखपिण्डदान द्वारा वेदशास्त्रविमुख सुकुमारमति राजपुत्रादि को 'रामादि की तरह आचरण करना चाहिए, रावणादि की तरह नहीं' ऐसा कृत्याकृत्यविवेक द्वारा कृत्य में प्रवृत्ति और अकृत्य से निवृत्ति का उपदेश ही काव्य का प्रयोजन है। यही चिरन्तन आचार्यों का भी कथन है।[2] वह यहाँ नहीं बनता।

अग्निपुराण में भी कहा है कि वाणी के चातुर्य की प्रधानता होने पर भी काव्य में जीवनभूत रस ही है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने भी कहा है कि काव्य का आत्मभूत एवं अंगी रस ही है, इसमें तो किसी को विवाद ही नहीं। ध्वनिकार ने भी एक जगह कहा है कि कथावस्तु का ठीक-ठीक निर्वाह हो जाने से ही कोई ग्रंथ काव्य नहीं हो सकता। कवि जो कुछ लिख

---

१. यत्तु काव्यास्यात्मा ध्वनिः इति ध्वनिकारेणोक्तं तत्किंवस्त्वलङ्कारसादिलक्षणस्त्रिरूपो-ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादिरूपमात्रः। नाद्य, प्रहेलिकादावति व्याप्तेः। द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः। —साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, वृत्ति १।२।

२. ननु यदि रसातदिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा तदा—
"अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअंपलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए महेंण मज्जहिसि॥"
इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न। अत्रापि रसाभासवत्तयैव ब्रूमः। अन्यथा "देवदत्तो ग्रामं याति" इति वाक्ये तद् भृत्यस्य तदनुसरणरूप-व्यंग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत् न। रसवत एव काव्यत्वांगीकारात्।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां रामादिवत् प्रवर्त्तितव्यम्, न रावणादिवदित्यादि-कृत्याकृत्यप्रवृत्ति-निवृत्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात्।

—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, वृत्ति १।३।

दे वह सब काव्य नहीं हुआ करता और न उससे काव्य का प्रयोजन ही सिद्ध होता है। कथाओं का ज्ञान काव्य का प्रयोजन नहीं वह तो इतिहासपुराणादि से ही हो जाता है।[1]

इस सबके अनन्तर भी एक प्रश्न बना ही रहा कि फिर रघुवंश आदि प्रबन्धों में अनेक ऐसे पद्य हैं जो अवश्य ही नीरस हैं, फिर उनमें काव्यता कैसे बनेगी ? दर्पणकार कहते हैं कि जिस प्रकार सरस पद्य के कुछ नीरस पद उसी पद्य के रस से रसवान् समझे जाते हैं उसी प्रकार प्रबन्धान्तर्गत नीरस पद्यों में भी रसवत्ता मानकर काव्यता का विघात नहीं होता। गुणाभिव्यञ्जक वर्ण या अलंकारमात्र की सत्ता एवं दोषाभाव होने पर नीरस पदों में भी जो काव्यत्व व्यवहार देखा जाता है उसे सरस काव्य के बन्ध की समता का गौण प्रयोग ही समझना चाहिए।[2]

महिमभट्ट ने स्वयं अपने काव्यलक्षण की विशद व्याख्या की है और अन्य आचार्यों के विशेषरूप से ध्वनिकार के काव्यलक्षण से उसकी तुलना भी की है। वह कहते हैं कि रस ही वह आत्मा है जो साररूप में स्थित काव्य के जीवन का आधायक होता है। उसके बिना काव्य में काव्यत्व का सर्वथा अभाव ही रहेगा। रस से भाव एवं तदाभास आदि का भी ग्रहण होता है। क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति है—'रसस्ते इति रसः' जिसका आस्वाद हो वही रस है। इसीलिए काव्य में सफलता के इच्छुक कवि को चाहिए कि कृत्याकृत्यविवेक के उपनिबन्धन के साथ ही काव्य में रसात्मकता का भी अनिवार्य रूप से आधान करे।[3] अतः काव्यलक्षण में रसपद का सन्निवेश परम आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के निकृष्ट लक्षण के अवधारण में महिमभट्ट ने एक ऐसी परम्परा को जन्म दिया जो सर्वथा नयी थी पर अन्य परम्पराओं की अपेक्षा अधिक तर्क एवं युक्तिसङ्गत। 'काव्य का लक्षण रसपरक ही होना चाहिए'—उनके इस कथन से साहित्य-शास्त्र का प्रत्येक विद्वान् प्रभावित हुआ है चाहे उससे पूर्णरूप से सहमत भले न हो। काव्यलक्षण की ऐसी व्यापक समीक्षा एवं शास्त्रीय रीति से विचार महिम के बाद फिर पण्डितराज जगन्नाथ ही में उपलब्ध हुआ है, अन्यत्र नहीं। वह भी परवर्ती होने से महिम के ऋणी सर्वथा नहीं हैं, ऐसी बात नहीं।

---

१. तथा चाग्निपुराणेप्युक्तम्—वाग्वैदग्ध्य प्रधाने पि रस एवात्र जीवितम्।
व्यक्ति-विवेककारेणाप्युक्तम्—काव्यस्यात्मनि संगिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्‌विमतिः।
इति ध्वनिकारेणाप्युक्तम्—नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहिगुणात्मपदलाभः। इतिहासादेरेवतत् सिद्धेः। —साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, वृत्ति १।३।

२. ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत् न। रसवत्पद्यान्तर्गत नीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनेव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्य-व्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद् गौण एव। —साहित्यदर्पण, वृत्ति १।२-३।

३. काव्यस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्य रसात्मकत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा प्रवृत्तिरेव न स्यात् किमुत व्युत्पत्तिः। तस्य रसात्मकत्वाभावे मुख्य-वृत्या काव्य-व्यपदेश एव न स्यात्। —व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० ९७,९८।

तृतीय-अध्याय

प्रथम-विमर्श

शब्दार्थ-विवेचन

काव्यलक्षण-निरूपण के प्रसङ्ग में महिमभट्ट ने विभावादिसंयोजनात्मक व्यापार की बात कही है। विभावादि का संयोजन शब्दार्थ के माध्यम से ही सम्भव है। अतः शब्द और अर्थ, साक्षात्‌रूप से काव्यशास्त्र की विवेचना के विषय न होते हुए भी काव्य के लिए कम महत्त्व के नहीं हैं। विभावादि के संयोजनात्मक व्यापार के विवेचन के पूर्व शब्द, अर्थ और उनके परस्पर के सम्बन्ध पर विचार किया जाना इसलिए भी परम आवश्यक है कि शब्दार्थ की ठीक-ठीक जानकारी हो जाने पर ही उनका रसानुगुण समुचित संयोजन सम्भव है। अतः विस्तृत रूप से शब्दार्थ-स्वरूप का विवेचन साहित्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध एवं शब्द की अर्थप्रत्यायिका शक्ति आदि का न्यूनाधिक रूप से निरूपण किया है। ध्वनिकार ने भी कहा है कि––प्रतीयमान अर्थ एवं उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ शब्द की पहचान प्रत्येक महाकवि को प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए।[1] अग्निपुराण के अनुसार भी शास्त्र, इतिहास और काव्य वाङमय की ये मुख्य तीन विधायें हैं। तीनों ही शब्द––ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य––में ओतप्रोत हैं। वेदादि शास्त्रों में शब्द की प्रधानता होती ही है। इतिहास को भी शब्दनिष्ठ ही कहा गया है। काव्य में भंगीभणिति रूप अभिधा की प्रधानता होने से उसे शास्त्र और इतिहास से सर्वथा भिन्न माना गया है।[2] इस प्रकार शब्द भी काव्यशास्त्र की विवेचना का विषय हो जाता है। अतएव महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में सांगोपांग रूप से शब्द का विवेचन किया है।

(क) शब्द का स्वरूप और उसके भेद-प्रभेद

भावार्थक शब्द धातु से घञ् या शप् आक्रोशे धातु से दन् प्रत्यय होकर शब्द पद व्युत्पन्न होता है। दूसरों को समझाने के लिए हम जिन साधनों का उपयोग करते हैं शब्द उनमें अन्यतम होने के साथ-साथ सर्वोत्तम भी है। इसलिए महिमा ने कहा है कि––शब्द का प्रयोग प्रायः

---

१. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौशब्दार्थौ महाकवेः॥ ––ध्वन्यालोक, १।८।

२. ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङमयं मतम्।
शास्त्रेतिहास-काव्यानां त्रयं यत्र समाप्यते॥
शास्त्रे शब्द-प्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते॥ ––अग्निपुराण, अ० ३३६।१,२।

दूसरों के लिए ही होता है। क्योंकि इसके बिना दूसरों के साथ व्यवहार करना सम्भव नहीं।[1] एक दूसरी बात कि शब्दों का वैयक्तिक रूप से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं होता, अपितु वाक्य से ही एकमात्र अखण्ड रूप में अर्थ की प्रतीति होती है। जिस प्रकार हम शब्द में से प्रकृति-प्रत्यय की व्युत्पत्ति कर लेते हैं, उसी प्रकार वाक्य से अलग करने पर ही शब्द की सत्ता है। इसीलिए किसी ने पद के सुबन्त एवं तिड़न्त दो भेद, किसी ने नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात चार भेद, तो किसी ने इनमें ही कर्मप्रवचनीय को जोड़कर पाँच भेद किये हैं। शब्द के भेदोपभेद की ये मान्यतायें वैयाकरणों के विविध सम्प्रदायों की हैं। महिमभट्ट ने इस प्रसङ्ग में जो कारिका उद्धृत की है वह भर्तृहरि के वाक्यपदीय की है।[2]

महिमभट्ट के अनुसार सबसे पहले शब्द के मुख्य दो भेद होते हैं—पद एवं वाक्य। पद के भी नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात एवं कर्मप्रवचनीय संज्ञक पाँच भेद होते हैं।[3]

१. नाम—वे पद हैं जिनमें सत्व अर्थात् सिद्ध वस्तु की प्रधानता होती है। जैसे घट-पटादि शब्द।

२. आख्यात—क्रियाप्रधानपद आख्यात कहे जाते हैं। सभी शब्द क्रियावाचक हैं, इस युक्ति से नाम पदों में भी यद्यपि क्रिया-शब्दत्व है किन्तु वहाँ क्रिया की प्रधानता नहीं होती। क्रिया की प्रधानता जहाँ होती है वही आख्यात कहे जाते हैं, अन्य नहीं। अतएव कहा है—'भाव-प्रधानमाख्यातम्'।

३. उपसर्ग—उपसर्गों को असत्वभूतार्थ कहा है—असत्वभूत का अर्थ है जिनका अपना सत्वस्वभाव सिद्ध न हो। जैसे—प्रादि उपसर्गों का अपना कोई विशेष अर्थ नहीं होता। किन्तु क्रिया के साथ लगने पर वे क्रिया के अर्थ का नियमन करने लगते हैं।

४. निपात—चादि या स्वरादि अव्ययों की निपात संज्ञा होती है। इनके द्वारा क्रिया एवं सत्ववाचक पदों में परस्पर भेद का बोध किया जाता है। जैसे—'पठति पचति च' में च पठ् और पच् क्रियाओं के भेद का, तथा 'देवदत्तो यज्ञदत्तश्च' में च देवदत्त और यज्ञदत्त सत्वों में परस्पर भेद का विनिगमक है।

५. कर्मप्रवचनीय—कर्मप्रवचनीय के प्रयोग का नियमन निपात के समान ही होता है। किन्तु ये लक्षण आदि के बोधक होते हैं। उदाहरणस्वरूप—'जपमनुप्रावर्षत्' में प्रयुक्त

---

१. शब्द-प्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते।
न हि तेन बिना शक्यो व्यवहारयितुं परः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ३७।

२. द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधापि वा।
अपोधृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥ —वाक्यपदीय; तृतीय काण्ड पदसमुद्देश १।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ३८।

३. द्विविधो हि शब्दः पदवाक्यभेदातुं। तत्रपदमनेकप्रकारकं नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्म-प्रवचनीयभेदात्। सत्वप्रधानानिनामानि। भावप्रधानमाख्यातम्। असत्वभूतार्था उपसर्गादयः, क्रियारूपातिशयप्रतिनिबन्धनमुपसर्गाः प्रादयः। भावसत्वयोः सत्वभेदप्रत्यायननिमित्तमव-धृतरूपार्थविशेषाः स्वरादयो निपाताः। क्रियाविशेषोपजनित-सम्बन्ध-विच्छेदहेतवः कर्म-प्रवचनीयाः॥ —व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० ३६-३७।

अनु पद जप के कारण वर्षा होने के लक्षण का बोधक है जो कर्मप्रवचनीय है। आचार्य महिम-भट्ट का कहना है कि वास्तव में तो वाक्य में पदों का भेद होता ही नहीं। अपितु जिस प्रकार एक ही पद में प्रकृति एवं प्रत्यय का विच्छेद कर व्युत्पत्ति की जाती है, उसी प्रकार अखण्डवाक्य में पदों का भेद कृत्रिमरूप से करके हम उनके अलग-अलग स्वरूप की प्रतीतिमात्र कर लेते हैं।[१]

पद के पाँच प्रकार के भेदों में 'नाम' प्रथम है। नामपद सिद्धवस्तु के वाचक होते हैं। इनके भी अनेक प्रकार होते हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और द्रव्यवाचक। घट, पट आदि जातिवाचक पद हैं, शुक्ल, नील आदि गुणवाचक; पाचक, पाठक आदि क्रियावाचक और दण्डी, विषाणी आदि द्रव्यवाचक। इनमें परस्पर भेद इनके प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर है। जहाँ घटत्व, पटत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्यधर्मवाच्य होते हैं, वे शब्द जातिवाचक हैं। इसी प्रकार शुक्ल और नील गुणवाचक शब्द हैं जो गुणों का बोध कराते हैं। जब पाचक या पाठक शब्द का उच्चारण किया जाता है तो पच् और पठ् क्रियायें ही उनका प्रवृत्तिनिमित्त होती हैं। इसी प्रकार दण्ड या विषाण नामक द्रव्य को धारण करने वाला व्यक्ति दण्डी या विषाणी कहा जाता है।[२] कुछ लोगों के अनुसार जात्यादि सबकी प्रवृत्ति का एकमात्र निमित्त क्रिया ही है। अतः जात्यादि सभी नामपद क्रियाशब्द हैं।[३]

(ख) पदों का क्रियाशब्दत्व पक्ष

किन्हीं आचार्यों के अनुसार जात्यादि सभी पदों की प्रवृत्ति का एकमात्र निमित्त क्रिया ही है। उनका कथन है कि—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक एवं द्रव्यवाचक सभी पदों के व्यवहार के मूल में एकमात्र क्रिया ही रहती है। हम देखते हैं कि स्वार्थ में प्रवर्तमान घटादि सभी शब्द अपनी प्रवृत्ति के निमित्त के लिए अन्वय व्यतिरेक से घटन आदि तत्तद् क्रियाओं का ही समाश्रयण करते हैं, घटत्वादि जाति का नहीं। वहाँ घटनादि क्रिया का सम्पादन चाहे घटत्व सामान्य के योग से हो अथवा अन्य किसी भी प्रकार से। घटत्व सामान्य के योग से घटनादि क्रियाओं की सम्पद्यमानता में क्रिया के परिवर्तित हो जाने पर भी पद के प्रवृत्तिनिमित्त में किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता। घटत्व जाति के रहते हुए भी जब तक घटन व्यापार नहीं होता, उसे हम घट नहीं कह सकते। ऐसा होने पर पट भी घटव्यपदेश का विषय हो जायेगा। क्योंकि

---

१. अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ३८।

२. तत्रपदमनेकप्रकारकं नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीयभेदात्। तत्र सत्वप्रधानानि नामानि। तान्यपि बहुप्रकाराणि सम्भवन्ति। जातिगुणक्रियाद्रव्याणांतत्प्रवृत्ति-निमित्तानां बहुत्वात्। तद्यथा—घटः पट इति जाति शब्दः। शुकलो नील इति गुणशब्दः। पाचकः पाठक इति क्रियाशब्दः। दण्डी विषाणीति द्रव्यशब्दः।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २२।

३. केचित् पुनरेषां क्रियैका प्रवृत्तिनिमित्तमिति क्रियाशब्दत्वमेव सर्वेषां नामपदानामुपगच्छन्ति ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० २२।

घट एवं पट उभयत्र घटनक्रिया के कर्तृत्व का अभाव समान रूप से है।[1] इसी प्रकार शुक्लत्व को प्राप्त हुए बिना ही कोई पदार्थ शुक्ल नहीं कहा जा सकता, और न ऐसा कोई व्यक्ति पाचक ही कहा जा सकता है जो पकाने की क्रिया न करता हो। इसलिए घट शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व को घटन क्रिया के कर्त्तृत्व का लक्षण समझना चाहिए। केवल घटत्व जाति का वाचक मात्र नहीं। उसी को यहाँ घटन कहा है।[2]

यहाँ कह सकते हैं कि चेष्टार्थक घट् धातु से 'घटते इति' इस अर्थ में अच् आदि प्रत्यय होकर घटादि शब्द व्युत्पन्न होते हैं। अतः घटादि सभी शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त घटनक्रिया ही हमें भी अभीष्ट है। फिर पक्षान्तर का उपन्यास कि प्रकारान्तर से सभी शब्द क्रियापरक हैं, व्यर्थ है। यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि इस प्रकार सभी शब्दों के क्रियाशब्दत्वपक्ष का समर्थन तो हो जाता है किन्तु वह शब्द का व्युत्पत्ति-निमित्त ही बन पाता है, प्रवृत्ति-निमित्त नहीं। प्रकृति-प्रत्यय विभाग कर प्रत्येक शब्द की रचना एवं व्युत्पत्ति को लेकर जब हम अर्थ करते हैं तो वहाँ क्रिया की प्रधानता स्वतः हीती है। और इस प्रकार वहाँ क्रिया, शब्द की व्युत्पत्ति का ही निमित्त होती है, प्रवृत्ति का नहीं। व्युत्पत्तिनिमित्त से प्रवृत्तिनिमित्त सर्वथा भिन्न होता है। उदाहरणस्वरूप—किन्हीं के मत से—'गच्छतीति गौः' की व्युत्पत्ति से गो शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त गमन-क्रिया है। लेकिन उसकी प्रवृत्ति का निमित्त तो गोत्व ही है, गमन-क्रिया नहीं। अतएव चलती, फिरती और बैठी हुई सभी प्रकार की गायों के लिए गो शब्द का प्रयोग होता है और ठीक ही होता है।[3]

इस प्रकार गो शब्द की तरह घट में भी 'चेष्टादिरूपक्रिया घटादि पदों की व्युत्पत्ति का निमित्त है,' यह सिद्ध हो जाता है। घटनादि या चेष्टादि क्रिया की अपेक्षा से ही 'विपच्य घटो भवति' इत्यादि प्रयोग में विपाकादि क्रिया की पूर्वकालीनता को क्त्वा प्रत्यय का विषय

---

१. घटादिशब्दाः स्वार्थे प्रवर्तमाना घटनादिक्रियामेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिमित्तभावेनावलम्बमाना दृश्यन्ते। न घटत्वादि सामान्यम्। सा चैषा घटनादिक्रियांघटत्वसामान्य योगादन्यथावास्तु। नैतावता तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तत्वव्याघातः। न च सत्यपि घटत्व-सामान्ये स्वयमघटन् घटात्मतामनापद्यमान एवासौ घटव्यपदेशविषयो भवितुमर्हति। एवंहि पटोऽपि घटव्यपदेशविषयः स्यात्। घटनक्रिया-कर्तृत्वाभावाविशेषात्।
—व्यक्तिविवेक, पृ० २३।

२. न हि शुक्लत्वमनापद्यमान एवार्थः शुक्ल इति व्यपदेष्टुं शक्यते, अपचन्नेव पाचक इति। तस्माद् घटनक्रिया-कर्त्तृत्वलक्षणमेव घटत्वं घटशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तमवसेयम्। न घटत्व-मात्रम्। तदेव चेह घटनमित्युक्तम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० २४।

३. ननु चेष्टाद्यर्थात् घटत्यादेर्धातोरजादौ घटत इत्याद्यर्थे घटनादि क्रियैव सर्वेषां घटादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तभावेनस्माभिरपीष्यत एवेति व्यर्थः पक्षान्तरोपन्यासः। सत्यमिष्यत एव भवद्भिः किन्तु सा शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, न प्रवृत्तिनिमित्तम्। अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्त-मन्यच्चप्रवृत्तिनिमित्तम्। यथैकेषां मते गमनादिक्रिया गवादिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम् एकार्थसमवायात् गोत्वादि प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति। अतएव गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० २५।

अर्थात् स्थल समझना चाहिए । जैसे 'अधिश्रित्यपाचको भवति' इत्यादि उदाहरणों में क्त्वा प्रत्यय का विषय अधिश्रयणादि की पूर्वकालीनता पाकादि की अपेक्षा से ही होती है, भवन-क्रियापेक्ष नहीं । कहने का तात्पर्य यह है कि 'समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले' सूत्र से जिन दो धातुओं का कर्ता समान अर्थात् एक हो उनमें पूर्वकाल में विद्यमान धातु के साथ ही क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग होता है । जैसे––'सम्बन्धिनां भुक्तवा व्रजनं भवति' इत्यादि स्थलों में भुज् और व्रज् धातुओं का कर्ता एक ही है । वह पहले भोजन करता है; अनन्तर गमन । अतः व्रज् की अपेक्षा भुज् में पूर्वकालीनता है। उसी प्रकार 'अधिश्रित्य पाचको भवति' इस दृष्टान्त में भी पहले चूल्हे पर रखता है, पश्चात् पकाता है, ऐसा पूर्वापरभाव है । इस प्रकार अधिश्रयण में पूर्वकालत्व होने से वही क्त्वा प्रत्यय का विषय होता है, भू नहीं, 'विपच्य घटो भवति' इत्यादि स्थलों में भी इसी प्रकार क्त्वा का विषय पच् ही होता है, भू नहीं ।

यदि यह कहें कि यहाँ भू' क्रिया अपेक्षित क्यों नहीं है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि––यहाँ उस भू क्रिया का प्रयोग ही नहीं होता । वाक्य में 'भू' क्रिया के प्रयोग के बिना भी अथवा आक्षेपमात्र से भी व्यवहार सम्भव है । अप्रयुक्त होने पर भी पदार्थों के बीच में सत्ता के अव्यभिचारवश उसकी प्रतीति होती है । किन्तु इतने से ही पूर्वकालिकता 'भू' क्रिया की अपेक्षा करती है, ऐसा मानना ठीक नहीं । क्योंकि एक तो वह पचादिक्रिया की अपेक्षा बहिरंग है, दूसरे ऐसा मानने से अर्थ में असंगति दोष होने लगता है ।[1]

इस प्रकार क्रिया में प्रयुक्त क्त्वा का पौर्वकाल्य अर्थ प्रयुज्यमान क्रिया को लेकर ही होता है, प्रतीयमान क्रिया को लेकर नहीं । अन्यथा प्रतीयमान को लेकर भी यदि पूर्वकालिकता का विधान होने लगे तो––

श्रुत्वापि नाम बधिरो दृष्ट्वाप्यन्धो जडो विदित्वापि ।
यो देशकालकार्यव्यपेक्षया पण्डितः स पुमान् ॥

जो व्यक्ति देश, काल एवं कार्य के अनुसार सुन करके भी बहरा और देखकर भी अन्धा बना रहता है, तथा सब कुछ जानते हुए भी अनजान-सा व्यवहार करता है, वही पण्डित है और वही मनुष्य । इस पद्य में श्रुत्वा, दृष्टता और विदित्वा में क्त्वा के प्रयोग पूर्वकाल में श्रवणादि का अभाव होने से सर्वथा अनुपपन्न होंगे । पूर्वकालिकता के विषय में पूर्वोक्त प्रयुज्यमान क्रियापेक्ष नियम को स्वीकार करने पर प्रकृत 'श्रुत्वा' आदि स्थलों में श्रवण आदि क्रियाओं की पूर्वकालिकता का विधान श्रवणादि शक्ति के

---

१. एवमिहापि चेष्टादिक्रिया घटादिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमिति सिद्धं भवति । तदपेक्षमेव च विपच्य घटो भवतीत्यादौ विपाकादि क्रियायाः पौर्वकाल्यं क्तवाप्रत्ययस्य विषयो वेदितव्यः, यथाधिश्रित्यपाचकोभवतीत्यादौ पाकाद्यपेक्षमधिश्रयणादेर्नभवन,क्रियापेक्षम् । सा हि नावश्यं प्रयज्यते । प्रतीयते तु पदार्थानां सत्ताव्यभिचारात् । न तु तावता तदपेक्षं तदिति मन्तव्यं, तस्याः बहिरंगत्वाद्, अर्थस्यासङ्गतिप्रसङ्गाच्च ॥ ––व्यक्तिविवेक, पृ० २५ ।

अभावस्वरूप कल्पित बाधन (निराकरण) आदि क्रिया को लेकर ही हुआ है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं।[1]

अनन्तर आचार्य महिमभट्ट ने अनेक उदाहरण देकर संज्ञा पदों के क्रियापरक होने के पक्ष का समर्थन किया है। प्रकृतस्थल में अनुपादेय होने से हम विस्तृत विवेचन में न जाकर उसका सारांश जो उन्होंने स्वयं संग्रह-श्लोकों के नाम से दिया है, यहाँ उद्धृत करते हैं––

घटतीति घटो ज्ञेयो नाघटन् घटतामियात्।
अघटत्वाविशेषेण पटोऽपि स्याद्घटोऽन्यथा ॥८॥

घट उसी वस्तु को समझना चाहिए जिसमें घटन की क्रिया सम्पन्न हो अर्थात् जो होने की क्रिया से युक्त हो। वह वस्तु जो होने की क्रिया (घटनक्रिया) से युक्त नहीं है, घटत्व को प्राप्त नहीं हो सकती। अर्थात् वह पदार्थ घटत्व जाति का आस्पद कदापि नहीं हो सकता जिसमें घटन क्रिया सम्पन्न न होती हो। अन्यथा घटन क्रिया के योग के बिना ही यदि किसी वस्तु या पदार्थ को घट की संज्ञा दे दी जाय और उसमें घटत्व भी मान लिया जाय तो पट (वस्त्र) के भी घट कहे जाने में किसी को कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए ॥८॥

घटनश्च तदात्मत्वापत्तिरुपा क्रिया मता।
मूलं च तस्याश्चित्रार्थाभासा विष्कृतिरीषितुः ॥९॥

घटन (होना) उस क्रिया को कहते हैं जो वस्तुओं को आत्मत्व (जीवन) प्रदान करती है। इसका हेतु परमेश्वर की वह रचना है जो नाना प्रकार की विचित्र वस्तुओं को नूतन आविष्कार के रूप में प्रतिभासित करती रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि घटन (होना) सृष्टि का स्वभाव है। प्रतिभासित अर्थात् आविष्कृत होने के पूर्व प्रत्येक वस्तु या पदार्थ को घटन (होने) की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है। अतः किसी वस्तु को स्वरूप की प्राप्ति उसके होने में है। अनन्तर ही उसमें जाति गुण एवं संज्ञा का समावेश सम्भव है ॥९॥

यः कश्चिदर्थः शब्दानां व्युत्पत्तौ स्यान्निबन्धनम्।
प्रवृत्तौ तु क्रियैवैका सत्तासादनलक्षणा ॥१०॥

अतः शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त जाति·गुण संज्ञा या क्रिया में से कोई भी पदार्थ भले हो उसकी प्रवृत्ति का निमित्त एकमात्र क्रिया ही हो सकती है क्योंकि उसी से ही वस्तु को उसकी सत्ता प्राप्त होती है एवं वस्तु या पदार्थ की सत्ता प्राप्ति रूप क्रिया ही तत्तद् अर्थों में शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होती है ॥१०॥

तस्यामेव क्विबाद्याश्च विधेयाः कर्तृमात्रतः।
न तूपमानादाचारे तयोरर्थात् प्रतीतितः ॥११॥

इसलिये क्विप् आदि कृत् प्रत्ययों को जो साधारणतः कर्ता में होते हैं क्रिया में ही हुआ समझना चाहिए। अर्थात् कर्तृवाचक क्विप् आदि प्रत्यय क्रिया में ही किये जाने चाहिए। यहाँ तक

१. प्रयुज्यमानक्रियापेक्षमेव च प्रायेण पौर्वकाल्यं क्त्वो विषयो न प्रतीयमानापेक्षम्। इतरथा श्रुत्वापि नाम...इत्यादि प्रयोग-जातमनुपपन्नमेव स्यात्, श्रवणादीनां तत्पूर्वकालत्वाभावात्। अत्र तु श्रुत्यादिशक्तिविरहलक्षणबाधिर्यादिक्रियापेक्षमेव श्रवणादीनां पौर्वकाल्यमिति न काचिदनुपपत्तिः। ––व्यक्तिविवेक, पृ० ३६।

कि उपमान से आचार अर्थ में जो क्विप् आदि प्रत्यय होते हैं उन्हें भी क्रिया में ही हुआ समझना चाहिए। उपमान एवं आचार अर्थों की प्रतीति तो उससे अर्थात् हो जाती है ॥११॥

यथा ह्यश्वति बालेय इत्यतोऽर्थः प्रतीयते ।
अश्वत्वमासादयति खर इत्यर्थतः पुनः ॥१२॥
अश्वतुल्यसमाचारः खर इत्यवसीयते ॥

जैसे 'बालेयः अश्वति'—गधा घोड़े की तरह आचरण करता है—इस वाक्य से इस अर्थ की प्रतीति होती है कि गधा अश्वत्व को प्राप्त हो रहा है। अनन्तर इस अर्थ से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गधे का आचार (क्रिया-कलाप) घोड़े-जैसा है ॥१२॥

न तत्त्वासादनं युक्तं तदतुल्यक्रियस्य हि ॥१३॥
सत्तायां व्यापृतिश्चैषा चित्रत्वपरिनिष्ठतेः ।
संगच्छते जडस्यापि घटादेर्घटनादिवत् ॥१४॥

यदि क्रिया वस्तु के अनुरूप नहीं है तो उस पदार्थ को तत्त्व अर्थात् पदार्थत्व (जाति) की प्राप्ति बन नहीं पाती। अर्थात् किसी पदार्थ को पदार्थत्व की प्राप्ति सिद्धान्ततः अनुपयुक्त है यदि उसमें उसके स्वरूप की प्राप्ति के अनुरूप क्रिया न होती हो। सत्ता की प्राप्ति रूप इस व्यापार का आधार (मूलकारण) चित्रत्व अर्थात् वस्तुगत वैचित्र्य है जो घट आदि में होने वाली घटन क्रिया के समान जड़ वस्तुओं के सम्बन्ध में ठीक बैठ जाती है। कहने का आशय यह है कि पदार्थ की सत्ता में व्यापार (क्रिया) का होना उसका अपना वस्तुगत स्वभाव है ॥१४॥

नाम्नः सत्वप्रधानस्य धातुकरोऽत एवहि ।
शब्दवक्त्रैकदेशादेर्धात्वर्थत्वमवोचत् ॥१५॥

अतः धातुकार (पाणिनि) ने घटपटादि नाम पदों को धात्वर्थपरक ही कहा है, यद्यपि उनमें सिद्ध वस्तुधर्म (सत्व) की ही प्रधानता होती है। क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द एवं मुख का एक भाग होता है ॥१५॥

एवं च विपच्य घटो भवतीति क्त्वोऽस्य पूर्वकालत्वम् ।
घटनापेक्षं ज्ञेयं भवनापेक्षन्तु नासमन्वयतः ॥१६॥

इस प्रकार 'विपच्य घटो भवति'—घड़ा पक कर तैयार होता है—इस वाक्य के 'विपच्य पद' में प्रयुक्त 'क्त्वा' में, जो पूर्वकाल का बोधक है, घटन क्रिया की अपेक्षा ही पूर्वकालिकता है, न कि भवन-क्रिया की अपेक्षा। क्योंकि भवन-क्रिया की अपेक्षा पचन-क्रिया की पूर्वकालिकता इसलिये नहीं बन पाती कि पचन भी एक प्रकार का भवन ही (होता) है। पचन भवन में व्याप्त है। अतः पचन को उससे पृथक् कर समझने में सङ्गति कैसे बैठ सकती है ॥१६॥

बहिरङ्गत्वाच्च यथा भवत्यधिश्रित्य पाचकोऽयमिति ।
अत्र हि पाकापेक्षाधिश्रयतेः पूर्वकालतावगतिः ॥१७॥

इसके अतिरिक्त वह बहिरंग भी है। जिस प्रकार 'अधिश्रित्य पचति' 'चूल्हे पर रखकर पकाता है', इस वाक्य में पचन-क्रिया की अपेक्षा अधिश्रयण क्रिया की पूर्वकालिकता की प्रतीति स्वतः होती है वैसी पूर्वत्र नहीं होती ॥१७॥

तस्मान्नामपदेभ्यो यः कश्चिदर्थः प्रतीयते ।
न स सत्तामनासाद्य शब्दवाच्यत्वमर्हति ॥१८॥

इसलिये संज्ञा पदों से भी जिस विशेष अर्थ की प्रतीति होती है उसमें उनकी सत्ता को प्राप्त हुए बिना वाच्य होने की सामर्थ्य नहीं होती। अर्थात् संज्ञापदों में भी उनके अर्थवस्तु के अस्तित्व (होने) की क्रिया से जो सम्बन्धित है वही उसका वाच्य कहलाता है। यदि अर्थ-वस्तु की सत्ता से उस अर्थ का सम्बन्ध न हो तो उसके लिये प्रयुक्त शब्द का वाच्य वह कदापि नहीं हो सकता ॥१८॥

इत्थं चास्तिभवत्यादि क्रिया सामान्यमुच्यते ।
नान्तरङ्गतयावश्यं वक्तारस्तत् प्रयुञ्जते ॥१९॥

इस प्रकार अस्ति, भवति (होता है) आदि क्रियायें सामान्य रूप से सभी पदार्थों में होने वाली क्रिया के बोधक हैं। अतएव इन्हें सामान्य-क्रिया कहा जाता है। वाक्य में इनका प्रयोग करना वक्ता के लिये इसलिये आवश्यक नहीं है कि ये अन्तरंग हैं और इन्हें यों ही समझ लिया जाता है ॥१९॥

क्रियाविशेषो यस्त्वन्यः पाकादिर्व्यभिचारिभाक् ।
बहिरङ्गतया तस्य प्रयोगोऽवश्यमिष्यते ॥२०॥

इनके अतिरिक्त पाकादि जो अन्य क्रियायें हैं उन्हें विशेष क्रिया कहा जाता है क्योंकि वे कहीं होने तथा कहीं न होने से व्यभिचरित रूप से प्रयुक्त होती हैं। बहिरंग होने से वाक्य में उनका प्रयोग अनिवार्यतः अपेक्षित है ॥२०॥

(ग) वाक्य का लक्षण एवं स्वरूप

वाङमय में वाक्य का अपना विशेष महत्व है। कोई शब्द जब तक किसी वाक्य का अंग नहीं बन जाता, अपना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतएव क्या व्याकरण, क्या दर्शन और क्या साहित्य, वाङमय की प्रत्येक विधा में वाक्य के लक्षण, स्वरूप और उससे अर्थ के अभि-व्यक्त होने की प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। महिमभट्ट समूचे वाङमय को 'शब्द' कहते हैं। उसके दो भेदों में से एक वाक्य है, दूसरा पद।[२] पद के नामाख्यातादि भेदों का विवेचन हो चुका है। वाक्य केवल एक प्रकार का होता है। क्योंकि उसका आधार क्रिया है। क्रिया की प्रधानता पर ही वाक्य बनता है। चूंकि क्रिया वाक्य में एक ही होती है, अतः वाक्य केवल एक ही प्रकार का होता है।[३] वाक्य में क्रिया की प्रधानता का विधायक न्याय बड़ा ही लोकप्रिय है—'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपकल्पते'[४] भूत कारक होता है और भव्य क्रिया। किसी वृद्ध के वचन को ही वाक्य के लक्षण के रूप में उपन्यस्त कर

---

१. व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श।

२. द्विविधो हि शब्दः पदवाक्यभेदात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० २२।

३. वाक्यमेकप्रकारं, क्रियाप्राधान्यात् तस्याश्चैकत्वात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ३८।

४. किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों में से कुछ भूत अर्थात् बीती हुई घटनाओं के बोधक होते हैं तो कुछ उन घटनाओं या व्यापार के जिन्हें होना है। इनमें भूतकाल में निर्दिष्ट शब्दों के प्रयोग का उद्देश्य होने वाली घटनाओं (भव्य) के बोधक शब्दों के लिये होता है।

महिमभट्ट ने वाक्य के स्वरूप के विषय में बताया है--कि वाक्य वह है जिसको भंग करने पर उसके अवयव पद परस्पर तो साकांक्ष हों पर किसी ऐसे पद की आकांक्षा न करते हों जो उस वाक्य में प्रयुक्त न हो। साथ ही उनमें क्रिया की प्रधानता हो, वह क्रियाकारक विशेषण से युक्त गुणवान् हो और सभी पदों को मिलाकर उससे एक प्रधान अर्थ की प्रतीति होती हो।[1]

वाक्य के लक्षण और स्वरूप के विषय में महिमभट्ट वैयाकरणों के अनुयायी प्रतीत होते हैं जो वाक्य में क्रिया की प्रधानता के पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। वाक्य का लक्षण करते हुए महाभाष्यकार ने कहा है--'एक-तिङ् वाक्यम्'। अर्थात् पदों का वह समूह जिसमें कम से कम एक क्रिया अवश्य हो और वही प्रधान हो, वाक्य कहलाता है। सामान्यतया पदसमूह को वाक्य तथा आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि को वाक्यार्थज्ञान का हेतु कहा गया है।[2] साहित्यकारों ने भी वाक्य के लक्षण किये हैं। वाक्यार्थ के स्वरूप का निरूपण करते हुए मम्मट ने काव्यप्रकाश में अभिहितान्वय और अन्विताभिधानवादियों के मत का प्रतिपादन किया है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधिवश पदों के समन्वय को वाक्य और पदार्थ के समन्वय को वाक्यार्थ कहते हैं। अन्विताभिधानवादी समन्वित पदों को ही वाक्य मानते हैं।[3] वाक्य का स्पष्ट लक्षण महिमभट्ट के बाद दर्पणकार विश्वनाथ ने किया है।[4] योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदोच्चय ही वाक्य है। इसमें प्रयुक्त आकांक्षादि पद पारिभाषिक हैं अतः व्याख्येय हैं। यत्र-तत्र इनके लक्षण विविध प्रकार से हुए हैं।[5]

सामान्य रूप से कारक या क्रियापद को सुनकर बोद्धा में शब्दान्तर विषयक जिज्ञासा का नाम आकांक्षा है। पदों के परस्पर सम्बन्ध में बाधाभाव को योग्यता और पदों के अविलम्ब उच्चारण को सन्निधि या आसत्ति कहते हैं।

---

१. साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम्।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते ॥ --व्यक्तिविवेक, पृ० ३८। (वाक्यपदीयकारिका)

२. शक्तं पदम्। पदसमूहो वाक्यम्। आकांक्षायोग्यतासन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः ॥
अन्नं भट्ट--तर्कसंग्रह, ४।१।

३. 'आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति' इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्। वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ॥ --काव्यप्रकाश, २।६।

४. वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ॥ --साहित्यदर्पण, २।१।

५. आकांक्षा- (क) चक्रवर्ती--प्रतीतिपर्यवसानमाकांक्षा।
(ख) बहवः --आकांक्षा प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा।
(ग) उद्योतकार--आनुपूर्वीविशेषकारणत्वज्ञानरूपा आकांक्षा।
(घ) साहित्यदर्पण--आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः।
(ङ) तर्कसंग्रह--पदस्य पदान्तर-व्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा।
योग्यता- (क) बाधविरहो योग्यता। --चक्रवर्ती।

महिमभट्ट ने वाक्य के लक्षणस्वरूप जिस कारिका को उद्धृत किया है[1] वह वाक्यपदीय की है। उसमें आकांक्षा योग्यता और आसत्ति या सन्निधि, वाक्य के तीनों आवश्यक तत्त्व आ गये हैं। कारिका में प्रयुक्त साकांक्षावयव पद से आकांक्षा का तो शब्दतः ही उपादान हुआ है। क्योंकि जैसा कि, आकांक्षा के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों में ही परस्पर आकांक्षा अभीष्ट है अन्यथा कोई भी पद कभी निराकांक्ष नहीं हो सकता। प्रकृत कारिका में प्रयुक्त साकांक्ष पद से भी यही अभिप्रेत है कि वाक्य के अवयवरूप जो पद हैं वे परस्पर साकांक्ष होने चाहिए। 'परानाकांक्षशब्दकम्' पद से योग्यता अभिप्रेत है। प्रकृत वाक्यांश का अर्थ है कि पद अपने अर्थ को व्यक्त करने के लिये वाक्य में प्रयुक्त पदों से भिन्न किसी पद के प्रति साकांक्ष न हो। क्योंकि यदि कोई पद अपन अर्थ की प्रतीति के लिये वाक्य से बाहर के किसी पद की आकांक्षा करता है तो अर्थ की प्रतीति में बाधा होगी। उस बाधा का न होना ही योग्यता है। उदाहरणस्वरूप—वह्निना सिञ्चति' (आग से सींचता है) वाक्य में 'सिञ्चति' पद अपने अर्थ की प्रतीति के लिये वाक्य से बाहर के जलेन, जलदेन, घटेन आदि पदों की आकांक्षा करता है क्योंकि सींचने की क्रिया के लिये अपेक्षित उपकरणों में वह्नि का होना कदापि संभव नहीं। अतः अर्थ का बाध होने से यहाँ योग्यता का अभाव है। 'देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति' इस वाक्य में प्रयुक्त पदों में परस्पर तो साकांक्षता है। किन्तु बाहर के किसी पद की आकांक्षा किसी को नहीं है। अतः योग्यता भी है। कारिका में प्रयुक्त 'एकार्थम्' पद स्पष्टतया सन्निधि का बोधक है। प्रहर-प्रहर पर उच्चरित 'देवदत्त गाम् आनय' पदों में एकार्थता का अभाव होने से उसमें एकवाक्यता नहीं आती। इस प्रकार महिमभट्ट के वाक्य के लक्षण में वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं जो परवर्ती आचार्यों के लक्षणों में हैं। इसके अतिरिक्त 'गुणवत्' और 'क्रिया-प्रधानम्' वाक्य के दो और विशेषण दिये हैं जो अन्यों से उनके लक्षण की महत्ता को और बढ़ा देते हैं। साथ ही उससे वाक्य में क्रिया की प्रधानता के सिद्धान्त की भी पुष्टि होती है।

शब्द के पद एवं वाक्य दो ही भेद मानने का महिमभट्ट का प्रयोजन यह है कि वह पदार्थ

(ख) योग्यता पदानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः। —बहवः।
(ग) एकपदार्थ अपरपदार्थ प्रकृतसंसर्गत्वम् योग्यता। —उद्योतकार।
(घ) पदानां परस्पर सम्बन्धे बाधाभावः योग्यता। —सा० द०, पृ० २।१।
(ङ) अर्थाबाधो योग्यता। —तर्कसङ्ग्रह।

सन्निधि- (क) सन्निधिरासत्तिः। —चक्रवर्ती।
(ख) आकांक्षिता नां पदार्थानामेक बुद्धयुपरूढ़त्वम्। —बहवः।
(ग) आसत्तिः बुद्धयविच्छेदः। —साहित्यदर्पण वृत्ति २।१।
(घ) अव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्यमुपस्थितिश्च सन्निधिः।
(ङ) पदानामविलंबेनोच्चारणं सन्निधिः। —तर्कसङ्ग्रह।

१. साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्ष-शब्दकम्।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥
—व्यक्तिविवेक, पृ० ३८, वाक्यपदीय का० २।४।

एवं वाक्यार्थ दो प्रकार के ही अर्थ मानना चाहते हैं। वाक्यार्थ में साध्यसाधनभाव की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने उसमें क्रिया की प्रधानता के पक्ष का आश्रयण किया है। क्रिया साध्य होती है। वाक्य में उसकी प्रधानता होती है। शेष पद साधनरूप से प्रधानक्रिया की ही सिद्धि करते हैं। इस प्रकार वाक्य में साध्यसाधनभाव बन जाता है। साध्यसाधनभाव के सिद्ध हो जाने पर शब्दार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति में अनुमान की प्रक्रिया स्वतः बैठ जाती है। क्योंकि साध्यसाधनभाव ही वहाँ अविनाभाव सम्बन्धरूप व्याप्ति का कार्य पूरा करता है। इस प्रकार महिमभट्ट का शब्दार्थ-विवेचन अन्ततोगत्वा काव्य में अनुमेयार्थ की सिद्धि के साधक के रूप में हुआ है जो इस तथ्य को सदा ध्यान में रखकर किया गया है कि—लक्षणा, व्यञ्जना आदि शक्तियों के खण्डन, तात्पर्य, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों के निराकरण एवं काव्यानुमिति पक्ष की प्रस्थापना में कोई बाधा न पड़े।

(घ) अर्थ एवं उसके भेद-प्रभेद

अर्थ धातु ने घञ् प्रत्यय होकर अर्थपद व्युत्पन्न होता है, जो अभिधेय, अभिप्राय, प्रयोजन और द्रव्य का वाचक होता है।[1] अर्थ की परिभाषा करते हुए तत्त्वचिन्तामणि में कहा है—'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः।' शब्द जिस परक होता है उस भाव को अर्थ कहते हैं। व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों में अर्थ के अनेकानेक भेद किये गये हैं। साहित्यशास्त्र में भी अर्थ के स्वरूप और भेद का विवेचन हुआ है। सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने काव्यात्मारूप में व्यवस्थित सहृदयश्लाघ्य अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेदों की चर्चा की है।[2] वाच्य का अर्थ वह है जो प्रकृतिप्रत्यय की व्युत्पत्ति एवं कोश से निकलता है। प्रतीयमान इससे भिन्न होता है जो केवल महाकवियों की वाणी का ही विषय होता है। जिस प्रकार नायिकाओं में प्रसिद्ध अवयव-संस्थान से भिन्न लावण्य नाम की वस्तु होती है, उसी प्रकार प्रतीयमान, वाच्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है।[3] उसकी सत्ता की सिद्धि के विषय में मम्मट ने जो युक्ति दी है वह कुछ इस प्रकार है : अनेकार्थक शब्द के वाक्य में प्रयोग होने पर उसका एक अर्थ तो अभिधा के द्वारा नियन्त्रित होता है। लेकिन वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्य से प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जिस दूसरे अर्थ की व्यवस्थित प्रतीति होती है, वह व्यङ्ग्य अर्थात् प्रतीयमान अर्थ है।[4] प्रतीयमान के वस्तु, अलंकार और रस तीन भेद होते हैं।

महिमभट्ट ने भी अर्थ के दो ही भेद किये हैं—वाच्य और अनुमेय। जो अर्थ शब्द-व्यापार अभिधा का विषय है वह वाच्य है। इसको ही मुख्यार्थ भी कहते हैं। क्योंकि

---

१. अभिधेयाभिप्रायप्रयोजनद्रव्यकेष्वर्थः ॥ —हलायुध-कोश, ५।८६७।

२. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ —ध्वन्यालोक, का० १।२।

३. तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ॥१।३।
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥ —ध्वन्यालोक, का० १।४।

४. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्। —काव्यप्रकाश, २।१९।

कहा भी है कि--जहाँ पर शब्द के उच्चारणमात्र से स्वतः अर्थ की प्रतीति होने लगती है वही मुख्य अर्थ है। मुख्यार्थ के सामर्थ्य का बाध करके यत्नोपपादित जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह गौण अर्थ है। महिमभट्ट के अनुसार आनुमानिक ही अनुमेयार्थ है।[१]

वाच्यार्थ की परिभाषा करते हुए महिमभट्ट कहते हैं कि--शब्द के साथ अन्वय व्यतिरेक से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह उस पद का वाच्य अर्थ है। जैसे गो शब्द का अर्थ गाय है। अन्यथा अन्वयव्यतिरेक के अभाव में अर्थविषयक बुद्धि अव्यवस्थित हो जायगी और उसकी कोई मर्यादा नहीं रहेगी तथा किसी भी अर्थ को हम वाच्य नहीं कह सकेंगे।[२] हेतुभूत वाच्य या अनुमेय अर्थ से जिस अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे ही अनुमेयार्थ कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है --वस्तु, अलंकार और रसादि। इनमें वस्तु और अलंकार रूप अर्थ वाच्य भी हो सकते हैं। अर्थात् वाच्य अर्थ के वस्तु और अलंकार दो ही भेद होते हैं, अनुमेय के तीन। रसादि रूप अर्थ केवल अनुमेय ही होता है। वाच्य और अनुमेय में भेद एक दूसरे प्रकार से भी है कि पदों का अलग-अलग अर्थ वाच्य ही होता है, अनुमेय नहीं। क्योंकि अनुमेयार्थ वहीं होता है जहाँ साध्यसाधनभाव हो। पद के भागरहित होने से उसमें साध्यसाधनभाव सम्भव नहीं होता।[३] साध्यसाधनभाव हेतुहेतुमद्भाव ही है। वह वहीं सम्भव होता है जहाँ उद्देश्य विधेयांश रूप भाग की सम्भावना हो। यह भाग वाक्य में ही सम्भव है। अतः साध्यसाधनभाव केवल वाक्य में ही रहता है, पद में नहीं। इसीलिये अनुमेयार्थ वाक्यार्थ ही हो सकता है, पदार्थ नहीं। वाक्यार्थ में पदार्थों के उद्देश्य विधेय रूप से अंशांश की परिकल्पना की जा सकती है। वहाँ अंश परस्पर विध्यनुवादभाव से अवस्थित रहते हैं। उन अंशों में कहीं पर विधेयांश के अप्रसिद्ध होने से उसके उपादान की अपेक्षा होती है तो कहीं अत्यन्त प्रसिद्ध होने से उसके शब्दतः कथन की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार विधेयांश के उपादान सापेक्षनिरपेक्षभाव से वाक्यार्थ दो प्रकार का होता है।[४] उनके भी अनेक भेद-

---

१. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्रशब्दव्यापारविषयो वाच्यः स एव मुख्य उच्यते। यदाहुः
श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥ --व्यक्तिविवेक, पृ० ३९।

२. तथाहि यस्य शब्दस्य भावाभावानुसारिणी।
यदर्थबुद्धिस्तस्यासौ वाच्योऽर्थ इति कथ्यते ॥७६॥
गोशब्दस्येव गौरर्थः सान्यथात्वव्यवस्थिता।
वाच्यत्व व्यवहारश्च न स्यादर्थस्य कस्यचित् ॥७७॥ --व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श।

३. तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूताद् यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। सच त्रिविधः। वस्तुमात्रमलङ्कारा: रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यवापि सम्भवतः। अन्यस्तु अनुमेय एवेति। तत्र पदस्यार्थो वाच्यएव नानुमेयः, तस्य निरंशत्वात् साध्यसाधनभावाभावतः।
--व्यक्तिविवेक, पृ० ३९-४०।

४. वाक्यार्थस्तु वाच्यस्यार्थस्यांशपरिकल्पनायामंशानां विध्यनुवादभावेन अवस्थिते विध्यंशस्य सिद्धासिद्धतया उपादान-निरपेक्षसापेक्षत्वेन द्विविधो बोद्धव्यः।
--व्यक्तिविवेक, पृ० ४०।

प्रभेद होते हैं जिनके आधार पर साध्यसाधनभाव बनते हैं । साध्यसाधनभाव का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा । सम्प्रति हम वाच्यार्थ और वाक्यार्थ के स्वरूप एवं उनके परस्पर के भेद का विवेचन करेंगे ।

(ड़) वाच्यार्थ और वाक्यार्थ

वाच्यार्थ और वाक्यार्थ एक होता है या परस्पर भिन्न, यह प्रश्न स्वभावतः उठता है; जिसके अनेक समाधान दिये गये हैं । सामान्यतः वाच्यार्थ और वाक्यार्थ को एक माना गया है । वाच्यार्थ को एक पद का अर्थ और वाक्यार्थ को पदसमूह का अर्थ कहकर उनमें परस्पर भेद भी समझा जाता है, जो बहुत मोटी-सी बात है । जब वाच्यार्थ और वाक्यार्थ को परस्पर अभिन्न कहा जाता है तो पद की वाक्य से पृथक् कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जाती । प्रथम पक्ष के विद्वान् पदों के समूह को वाक्य कहते हैं तो दूसरे पक्ष के अनुसार पद की सत्ता वाक्यों से अपृथक् वैसी ही होती है जैसी प्रकृतिप्रत्यय या अक्षरों का पद से पार्थक्य नहीं होता । यह विवाद बहुत पुराना है । भाषाशास्त्र की यह एक बहुत ही विवादास्पद एवं गूढ़ समस्या है, जिसका समाधान करने में आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी समर्थ नहीं हो सके हैं । अतः दोनों की मान्यता समानान्तर रेखाओं की तरह निरन्तर चली आ रही है । फिर भी सामान्य रूप से यह मान लिया गया है कि भाषा का आरम्भ वाक्य से ही होता है । अतः केवल शब्दकोश कण्ठस्थ कर लेने से ही कोई किसी भाषा के बोलने, पढ़ने एवं लिखने में सक्षम नहीं हो सकता । इसका मूलकारण यह है कि भाषा विचारों को वहन करती है और विचार स्पष्ट ध्वनि के माध्यम से वाक्यों से ही व्यक्त किये जा सकते हैं, शब्दमात्र से नहीं । अतः शब्द कण्ठाग्र करने एवं विचारग्रहण करने की अलग-अलग प्रक्रियायें हैं । भाषा सीख लेने के बाद वाक्य में पदों को अलग-अलग कर क्रियाकारक आदि पदों को पृथक् रूप से वैसे ही समझा जाता है जैसे वैयाकरण प्रकृति प्रत्ययविभागकर प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति कर देता है ।[1] जब वाक्य की ही सत्ता स्वतन्त्र है शब्द का ज्ञान तो बाद में स्वतः होता है, तो इस प्रकार वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ है । यह अन्विताभिधानवादी भाट्ट मीमांसकों का मत है ।[2] इसके विपरीत अभिहितान्वयवादी प्राभाकर मीमांसक हैं जिनके मतानुसार वाक्य में प्रत्येक पद स्वतंत्र है और उसका अर्थ ही वाच्यार्थ है । वाक्यार्थ तो तात्पर्यार्थ है जो वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है और किसी भी पद का अर्थ नहीं होता ।[3]

महिमभट्ट ने शब्द के जो दो भेद पद और वाक्य किये हैं उन्हीं के अनुसार अर्थ के भी दो भेद होते हैं—पदार्थ और वाक्यार्थ । इनमें पदार्थ केवल वाच्य होता है और वाक्यार्थ—वाच्य एवं अनुमेय दो प्रकार का होता है । महिमभट्ट वाक्य की अखण्डता के

---

१. द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ३८ ।

२. वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ॥ —काव्यप्रकाश, वृत्ति २।६ ।

३. आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थोविशेष-वपुरपदार्थोऽपिवाक्यार्थः समुल्लसति इत्यभिहितान्वयवादिनां भतम् ।
—काव्यप्रकाश, वृत्ति २।६ ।

पक्ष के समर्थक हैं। अतः इनका मत प्राभाकर मीमांसकों के अन्विताभिधानवाद से इस अंश में साम्य रखता है कि दोनों वाक्य को अखण्ड एवं वाक्यार्थ को ही वाच्य मानते हैं। इनमें परस्पर भेद भी है क्योंकि महिमभट्ट वाक्यार्थ के दो भेद मानते हैं--वाच्य और अनुमेय। भाट्टमीमांसक ऐसा कुछ नहीं मानते। उनके यहाँ वाक्यार्थ एक ही होता है और वही वाच्य होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने योग्यता, आकांक्षा एवं आसत्तियुक्त पदसमूह को वाक्य की संज्ञा तो दी है।[१] किन्तु अर्थभेदों में वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य तीन का ही प्रतिपादन किया है।[२] और वाक्यार्थ की स्वतंत्र सत्ता के विषय में मौन साध लिया है। मम्मट ने किन्हीं आचार्यों के नाम से तात्पयोर्थ की सत्ता भी प्रमाणित की है जो वाक्यार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[३]

यहाँ हम यह स्पष्ट तौर पर बता देना चाहते हैं कि यद्यपि महिमभट्ट का शब्दार्थ विवेचन अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित है पर परवर्ती आचार्यों ने इसका सर्वथा बहिष्कार ही किया है। शब्द के पद एवं वाक्य नामक दो भेदों के विपरीत वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जक नामक शब्द भेदों तथा वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य नामक यथासंख्य उनके अर्थों का ही प्रतिपादन मिलता है। इसका कारण यह है कि परवर्ती आचार्यों ने अनुमान के काव्यशास्त्र में अनुप्रवेश का सर्वथा विरोध किया। काव्य की अनुमेयार्थता किसी को भी मान्य नहीं हो सकी। विद्वानों ने अनुमिति को एकमात्र बुद्धि का विषय मान कर सहृदयश्लाघ्य काव्य को उससे असम्पृक्त रखना ही श्रेयष्कर समझा। महिमभट्ट ने चूंकि लक्षणा एवं व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान में ही साधित किया है अतः उनकी दृष्टि में लक्षक या लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्द एवं लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भी अनुमान के ही विषय ठहरते हैं। जबकि मम्मट प्रभृति प्रायः सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने लक्षणा एवं व्यञ्जना के स्वतंत्र रूप से शक्ति होने का समर्थन करते हुए लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है। महिमभट्ट के विवेचन का महत्त्व इतने में ही है कि जिस शब्दार्थ की आनन्द प्रभृति ने 'बहुधा व्याकृतः पूर्वैः' कह कर उपेक्षा की थी उसके विस्तारपूर्वक विवेचन की एक नयी परम्परा का समारम्भ काव्यशास्त्र के इतिहास में पुनः हुआ। अनन्तर सभी आचार्यों ने अपनी कृतियों में शब्दार्थ-विवेचन को पर्याप्त महत्व दिया।

---

१. वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तपदोच्चयः। —साहित्यदर्पण, २।१।
२. अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च, व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः। —साहित्यदर्पण, २।१।
३. वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्॥ —काव्यप्रकाश, २।६।

द्वितीय-विमर्श

शब्दार्थ-सम्बन्ध

(क) संकेतग्रह अथवा शाब्दबोध प्रकार

शब्द, अर्थ एवं उनके परस्पर के सम्बन्ध का विवेचन मुख्य रूप से शब्दशास्त्र व्याकरण का विषय है । लेकिन दर्शन और साहित्यशास्त्र में भी आनुषंगिक रूप से इनका विवेचन हुआ है । दर्शनशास्त्र के विवेच्य विषयों में से पदार्थ एक विशिष्ट विषय है । पदार्थ का पद से क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में शब्दप्रमाण के स्वरूपनिरूपण के अवसर पर प्रायः प्रत्येक दर्शनकार ने शब्द, उसके भेद एवं अर्थ से उसके सम्बन्ध का निरूपण किया है । शब्द नित्य है या अनित्य ? शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक है या स्वाभाविक ? ये प्रश्न विशुद्ध रूप से व्याकरण दर्शन के क्षेत्र हैं । साहित्य की सीमा में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अभिप्राय शब्द के अर्थ प्रत्यायन की प्रक्रिया से है । इस सम्बन्ध में श्री विश्वनाथ पंचानन ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के शब्द खण्ड के आरंभ में ही शब्द से अर्थ की प्रतीति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—शाब्दबोध रूपी फल के प्रति पदज्ञान-करण अर्थात् असाधारण कारण होता है, पदार्थज्ञान द्वार अर्थात् अवान्तर-व्यापार तथा शक्ति-ज्ञान सहकारी कारण ।[1] पदजन्यपदार्थस्मरण को व्यापार एवं पद से पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं ।[2] शक्ति का ग्रहण—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण एवं सिद्ध पद के सान्निध्य में से ही किसी न किसी से होता है ।[3] ऐसा प्राचीन लोगों का मत है । साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने इन्हें इसी रूप में स्वीकार कर लिया है और इसी शक्तिग्रह को संकेतग्रह के नाम से अभिहित किया है । यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यह संकेतग्रह किसमें होता है । तत्तद्दर्शनों के विविध सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये गये हैं । साहित्यशास्त्र के इतिहास में आरम्भ के आचार्य इस प्रकार के प्रश्न से अधिक संबंधित नहीं

---

१. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ।
—विश्वनाथ पञ्चानन; न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, कारिका–४।८१ । निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

२. पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः । शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः ।
—वही, वृत्ति–पृ० ३५६ ।

३. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
—वही, पृ० ३५९ ।

थे। यद्यपि भामह और भट्टोद्भट ने 'अभिधा' एवं 'गुणवृत्ति' नामक शब्द के दो व्यापारों का उल्लेख किया है,[1] तथापि वहाँ शब्दार्थसम्बन्ध विषय पर विशेष विवेचन का अवसर नहीं उपस्थित हुआ। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में व्यञ्जना व्यापार की प्रतिष्ठा के लिए शब्द की अभिधा एवं लक्षणा नामक शक्तियों का उपन्यास अवश्य किया है, किन्तु संकेतग्रह की प्रक्रिया पर प्रकाश बिलकुल नहीं डाला।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे पहले महिमभट्ट ने शब्दार्थ-सम्बन्ध की शास्त्रीय रीति से मीमांसा की। क्योंकि आनन्दवर्धन की व्यञ्जना शक्ति एवं व्यङ्ग्य अर्थ की अनुपादेयता तथा अशास्त्रीयता का प्रदर्शन इसके बिना असम्भव था। उन्होंने लक्षणा और व्यञ्जना के शब्द-शक्तित्व का खण्डन कर सभी प्रकार के शाब्दव्यवहार के गर्भ में साध्यसाधनभाव की प्रक्रिया दिखलाते हुए उसे अनुमान रूप ही सिद्ध किया।[2] इन्हीं से साहित्यशास्त्र में शब्दार्थ एवं उनके सम्बन्ध के विस्तृत विवेचन की परम्परा का श्रीगणेश हुआ तथा अपने पक्ष की पुष्टि में अनेकानेक युक्तियों का उपन्यास किया गया। महिमभट्ट के उत्तरकालीन आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ कविराज ने प्रमुखरूप से शब्दार्थसम्बन्ध या संकेतग्रह की प्रक्रिया का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है। मम्मट ने संकेतग्रहविषयक दार्शनिकों के मतमतान्तरों का उपन्यास बड़ी उत्तमता के साथ काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में किया है। वाचक पद का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है कि—जो साक्षात् संकेतित अर्थ का अभिधान करे वही वाचक शब्द है।[3] संकेतग्रह किसमें होता है या साक्षात् संकेतित अर्थ क्या है? यह प्रश्न इनके समक्ष भी था। इस प्रश्न के समाधान का सबसे सरल एवं व्यावहारिक उत्तर यह दिया गया कि शब्द को सुनकर हमारी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का जो आस्पद होता है उसे ही साक्षात् संकेतित समझना चाहिए और वह है व्यक्ति। क्योंकि दुग्धादिप्रयोजन रूप अर्थ के लिए गवानयानादिरूप क्रिया की कारिता अर्थात् निर्वाहक होने से गोव्यक्ति ही प्रवृत्ति निवृत्ति योग्य है; तथापि अनन्त गोव्यक्तियों की एक साथ असम्भव उपस्थिति रूप आनन्त्य तथा जिस गोव्यक्ति में संकेतग्रह स्वीकृत होगा उससे अतिरिक्त गोव्यक्तियों का गो पद से भान न होने रूप व्यभिचार दोषों के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं बनता। साथ ही जब सभी शब्द व्यक्ति का ही बोध करायेंगे तो गौ, शुक्ल, चल और डित्थ में परस्पर जाति, गुण, क्रिया, संज्ञा का भेद नहीं हो पायेगा। अतः वैयाकरणों ने व्यक्ति की जातिगुण क्रिया एवं यदृच्छा नामक उपाधियों में ही पद का संकेतग्रह माना है। मीमांसकों ने इन सब उपाधियों को जाति में ही अन्तर्हित कर जाति को ही संकेतित कहा है तथा लक्षणा के द्वारा जाति से व्यक्ति का ग्रहण माना है।[4] नैयायिकों ने जाति में संकेतग्रह असम्भव बताकर जातिविशिष्ट व्यक्तियों

---

१. शब्दश्छन्दोभिधानार्थाः। —भामह—काव्यालङ्कार, १।९।
शब्दानाम् अभिधानम् अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च। —भट्टोद्भट।
२. सर्व एव हि शाब्दव्यवहारः साध्यसाधनगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः।
—व्यक्तिविवेक, पृ० २१।
३. साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः॥ —काव्यप्रकाश, २।७।
४. गौरनुबन्ध्य इत्यत्र. . . .इति जात्या व्यक्तिः
आक्षिप्यते (लक्ष्यते) नतु शब्देनोच्यते। —काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास।

में ही संकेतग्रह माना है। बौद्धों ने जाति नाम की किसी नित्य वस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण न पाकर अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व को ही संकेतग्रह का विषय कहा है।[१] मम्मट ने वैयाकरणों के उपाधिवाले तथा मीमांसकों के जातिवाले पक्ष से अपनी सहमति व्यक्त की है।[२]

(ख) महिमभट्ट और संकेतग्रह—शाब्दव्यवहार की अनुमानरूपता

महिमभट्ट का कथन है कि शाब्दव्यवहार प्रायः दूसरों की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए होता है। क्योंकि अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति तो शाब्दव्यवहार के बिना भी सम्भव है। शब्द के अभाव में दूसरे के साथ व्यवहार सम्भव नहीं।[३] चूंकि निखिल शाब्दव्यवहार दूसरों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का कारण है अतः उसमें साध्यसाधनभाव अन्तर्निहित अवश्य है, यह मानना पड़ेगा। शब्द ही साधन है और अर्थ उसका साध्य है। ऐसा मान लेने पर यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि शाब्दव्यवहार अनुमानस्वरूप या अनुमानात्मक होता है। वहाँ साध्य अनुमाप्य और साधन अनुमापक होता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति तो ज्ञानाज्ञानमूलक है। अनुमान के बिना प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्पादन कहीं सम्भव नहीं। अतएव कहा है कि युक्ति अर्थात् अनुमान के बोध के बिना कोई भी विद्वान् वचनमात्र से किसी भी विषय के ज्ञान का भागी नहीं हो सकता।[४] कहने का आशय यह है कि शाब्दव्यवहार से हमें जो अर्थ विशेष की प्रतीति होती है उसके पीछे अनुमान की प्रक्रिया काम करती रहती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति ही सम्प्रत्यय और असम्प्रत्यय के रूप में अनुमान की सिद्धि में युक्तिरूपनिमित्त हैं। जिनका विवेचन अनुमान के बिना कथमपि सम्भव नहीं, अन्यथा शंकालु अवस्था में प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं होती। शाब्दव्यवहार में अनुमान की सत्ता न मानने पर शब्द से प्रवृत्ति निवृत्ति का होना कथमपि सम्भव नहीं। अतः शाब्दव्यवहार से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की सम्पद्यमानता के लिए उसमें साध्यसाधनभाव गर्भित अनुमान की प्रक्रिया का आश्रयण अपरिहार्य है। यह साध्यसाधनभाव अखण्ड होने से पद मात्र में सम्भव नहीं अपितु वाक्य में ही रहता है। इसीलिए अर्थप्रतीति के लिए पद-समूहात्मक वाक्य का ही

---

१. यद्यपि अर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथापि आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यते इति गौः शुक्लश्चलोडित्थ इत्यादीनां विषय-विभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः। गौः शुक्लश्चलोडित्थ इत्यादौचतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इति महाभाष्यकारः। . . .गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामपि आश्रयभेदात् भेद इव लक्ष्यते. . .इति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तम् इत्यन्ये। तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः। —काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, सू० १० पर वृत्ति।

२. संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। —काव्यप्रकाश, का० २।८।

(ख) महिमभट्ट और सङ्केतग्रह—शाब्दव्यवहार की अनमानरूपता

३. शब्दप्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते।
नहि तेन बिना शक्यो व्यवहारयितुं परः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १०७।

४. सर्व एव हि शाब्दव्यवहारः साध्यसाधनगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः, तस्य च परप्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनत्वात्, तयोश्च सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययात्मनोः अन्यथा कर्तुमशक्यत्वतः। नहि युक्तिमनवगच्छन् कश्चिद् विपश्चिद् वचनमात्रात् सम्प्रत्ययभाग्भवति।
—व्यक्तिविवेक, पृ० २१-२२।

आश्रयण किया जाता है। साध्यसाधन भाव पद में न रहकर वाक्य में ही इसलिए होता है कि अखण्ड रूप से वाक्य ही अर्थ की प्रतीति कराता है।[1]

शाब्दव्यवहार की अनुमान-रूपता का प्रतिपादन करने में महिमभट्ट का विशेष अभिप्राय है। उन्हें यह दिखाना है कि अर्थ के दो ही भेद होते हैं—वाच्य एवं अनुमेय। काव्य में अनुमेयार्थ की ही प्रधानता होती है यही इनका मत है। जहाँ वाच्य शक्ति से अनुमेयार्थ की स्फुटतया प्रतीत हो वही काव्य है।[2]

शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है? इस पर विचारकों के विविध मत हैं। कोई अर्थ को शब्द का कार्य मानता है तो कोई अर्थ को व्यङ्ग्य या अभिव्यक्त तथा शब्द को अभिव्यञ्जक कहता है। कतिपय अन्य विद्वान् शब्द को अर्थ का प्रकाशक या ज्ञापक कहते हैं। अर्थ पूर्वतः विद्यमान रहता है और शब्द दीपक के समान उसे प्रकाशित करता है। इसी सन्दर्भ में महिमभट्ट का कहना है कि शब्द से अर्थ की अनुमिति होती है।[3] शब्द हेतु है और अर्थ साध्य। जब कोई कुछ कहता है तो हम उसके अर्थ का अनुमान करके ही किसी कार्य में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होते हैं। इसीलिए शब्दावली और व्यक्ति के एक होने पर भी अनुमान की प्रक्रिया में कहीं चूक हो जाने से भिन्न अर्थ की प्रतीति होते प्रायः देखी जाती है। अतः आचार्य महिमभट्ट का कथन है कि युक्ति अर्थात् अनुमान के प्रयोग के बिना व्यक्ति की किसी कार्य में न प्रवृत्ति होती है, न उससे निवृत्ति ही। अतः शाब्दव्यवहार साध्यसाधन-भाव गर्भित होता है यह मानना ही युक्तियुक्त है।[4]

---

१. इह यः कश्चित् शाब्दो व्यवहारः स सर्वः परप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थः स्वप्रवृत्तिनिवृत्त्योः शाब्दव्यवहारमन्तरेण बचनमात्रादेव सिद्धत्वात्। प्रवृत्तिनिवृत्ती च सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययौ युक्तिरूपानुमाननिमित्तौ तेन बिना निर्निबन्धने, अन्यथा सशंकत्वे प्रवृत्तिनिवृत्योः अप्रवृत्तिनिवृत्तिकल्पत्वात्। सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययौ च युक्तिरूपानुमाननिमितौ तेन बिना निर्निबन्धनत्वात् शाब्दव्यवहारे बचनमात्रात् तयोरनुपपत्तेः। अनुमानं च साध्यसाधनभावांगीकारेणव्यवस्थितम्। तच्च परप्रवृत्तिनिवृत्तिफलम्। शाब्दव्यवहारमाश्रयता तत्र साध्यसाधनभावः अवश्यम् अंगीकार्यः। स च अखण्डत्वात् पदमात्रे न सम्भवति इति पदसमूहात्मकं वाक्यम् अवलम्बते। —रुय्यक—व्यक्तिविवेक व्याख्यान, पृ० २१-२२।

२. तस्मात् स्फुटतया यत्र प्रधान्येनान्यथापि वा।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत्काव्यमुच्यते॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ३२।

३. वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यंग्य चव्यञ्जकतार्थयोः।
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात्॥३३॥
पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात्।
वृक्षत्वाम्रत्वयोर्यद्वद् यद्वच्चानलधूमयोः॥३४॥
अनुमानत्वमेवात्र युक्तं तल्लक्षणान्वयात्।
असतश्चेन्द्र चापादेः का व्यक्तिः कृतिरेव सा॥३५॥
कार्यत्वं ह्यसतोऽपीष्टं हेतुत्वं तु विरुध्यते।
सर्वसामर्थ्यविगमाद् गगनेन्दीवरादिव॥३६॥ —व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श।

४. न च युक्ति निराशंसात्ततः कश्चित् प्रवर्तते।
निवर्तते वेत्यरयेष्टा साध्यसाधनगर्भता॥ —व्यक्तिविवेक, कारिका १।३८।

शाब्दव्यवहार में अनुमान की प्रक्रिया की मान्यता दर्शनशास्त्र के लिए नयी नहीं है। प्राभाकर तथा भाट्टमत मीमांसकों का अन्विताभिधान एवं अहिभितान्वयवाद का विवाद शास्त्रान्तरों में भी प्रसिद्ध है। भाट्टमत मीमांसक कुछ अंश में वेदान्तियों से प्रभावित हैं। शब्दार्थ के संबंध में उनका अभिहितान्वयवाद है। उनके अनुसार आकांक्षा, योग्यता और संनिधि-वश, पद अभिधावृत्ति से अपने-अपने संकेतितार्थ का प्रतिपादन करते हैं। अनन्तर तात्पर्यावृत्ति से उन अभिधाप्रतिपादित अर्थों का परस्पर अन्वय हो कर जो अर्थ निकलता है वह वाक्यार्थ होता है जिसे तात्पर्यार्थ कहते हैं और जो पदों के अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है।[1] अभिधावृत्ति से ही तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति इसलिए नहीं हो सकती कि इस सम्बन्ध में एक न्याय है जिसकी मान्यता सर्वत्र है कि शब्द बुद्धि एवं कर्म का एक बार कहीं भी विराम होने पर पुनः व्यापार का अभाव हो जाता है।[2]

अभिधाशक्ति आकांक्षादिवश पदों के अर्थ का प्रतिपादन कर विरत हो जाती है और इसलिए जब उसके व्यापार का अभाव हो जाता है तो पुनः कार्य करने के लिए व्यापारान्तर की योजना होती है। उसे ही तात्पर्यवृत्ति कहते हैं। इस शक्ति से पदार्थों का परस्पर अन्वय होकर उनका तात्पर्यार्थ ही काव्यार्थ के रूप में निकल आता है। इसी अभिधा से अर्थ भेद का परिगणन कराते हुए मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहा है कि किन्हीं आचार्यों के मत में तात्पर्यार्थ भी होता है।[3]

अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसक ठीक इसके विपरीत वाच्य को ही वाक्यार्थ कहते हैं।[2] उनका कहना है कि शब्द पहले परस्पर अन्वित होते हैं। अनन्तर अभिधाशक्ति से परस्पर की आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधिवश, अन्वयानुरूप ही अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए अभिधा से प्रतिपादित वाच्यार्थ ही वाक्य का भी अर्थ है, उससे भिन्न नहीं। उनका कथन है कि पद अकेले अर्थात् दूसरे किसी शब्द के सान्निध्य के अभाव में निरपेक्ष रूप से अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता। वास्तव में वाक्य में प्रयुक्त शब्द ही अपना कुछ अर्थ रखता है जो उसी वाक्य में प्रयुक्त शब्दान्तरों के अर्थ से सम्बद्ध होता है। स्वतंत्ररूप से पद का अपना कोई अर्थ ही नहीं होता। बालक की व्युत्पत्ति का उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया है कि जिस प्रकार एक बालक देखता है कि उत्तम वृद्ध मध्यम वृद्ध को गाय लाने, उसे बाँधने और पुनः अश्व ले आने के आदेश क्रमशः देता है। बालक अनायास में ही अनुमान की प्रक्रिया से यह समझ लेता है कि गाम् आनय, और नय पदों का क्या अर्थ है। बालक की इस तरह की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कारिकायें प्रस्तुत की हैं जो इस बात का विधान करती हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति तीन प्रमाणों के सहारे ही शब्द के अर्थ का अवधारण होता है। बालक प्रत्यक्ष रूप से उत्तम वृद्ध का शब्द सुनता है तथा उत्तम-मध्यम वृद्ध तथा गो आदि अभिधेयों को

१. आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थोविशेषवपुर पदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति इत्यभिहितान्वयवादिनांमतम्। —काव्यप्रकाश, २।७।

२. शब्दबुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापारभावः ॥ —प्रकीर्ण।

३. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्। —काव्यप्रकाश का० २।६।

४. वाच्य एव वाक्यार्थ इति अन्विताभिधान वादिनः। —काव्यप्रकाश, वृत्ति २।६।

साक्षात् आँखों से देखता है। यह कार्य इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। अनन्तर श्रोता की आंगिक चेष्टाओं पर आधृत अनुमान से वह यह जानने का प्रयत्न करता है कि श्रोता ने वक्ता के शब्दों का क्या अर्थ समझा है। अर्थात् चेष्टारूप अनुमितिजनक ज्ञान विषयक हेतु से बालक यह समझ लेता है कि प्रयोक्ता ने आदेष्टा के किस शब्द का क्या अर्थ समझा है। अन्त में अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से वाचकत्व एवं वाच्यत्वरूप संकेतापरनामक शब्द की द्विविधशक्ति को पहचानता है। इस प्रकार उक्त रीति से प्रत्यक्षानुमान एवं अर्थापत्ति रूप प्रमाणत्रय के योग से ही किस शब्द का किस अर्थ में संकेत है यह समझना चाहिए।[1]

भाट्ट मीमांसकों की उक्त दोनों कारिकायों की व्याख्या आचार्य मम्मट ने भी काव्य-प्रकाश में की है। 'देवदत्त गामानय' इत्यादि उत्तम-वृद्ध के वाक्य-प्रयोग से जब मध्यम-वृद्ध सास्नादिमान् किसी प्राणी को ले आता है तो उसकी चेष्टाओं से यह अनुमान करके कि इसने उक्त वाक्य का यही अर्थ समझा है, व्युत्पित्सु बालक अर्थापत्ति से वाक्य तथा वाक्यार्थ में वाचक-वाच्य-भाव लक्षण सम्बन्ध का स्वतः निर्धारण कर लेता है। तत्पश्चात् 'चैत्र गाम् आनय', 'देवदत्त गांनय', 'अश्वम् आनय' इत्यादि अनेक वाक्यों के प्रयोग होने पर ही वाक्य में प्रयुक्त गवादि पदों के अलग-अलग अर्थ का निश्चय करता है। इस प्रकार वाक्य में प्रयोग से ही शब्दार्थ का ज्ञान, वाक्य में प्रयुक्त होने के अभाव में शब्दार्थ के ज्ञान का अभाव, इस अन्वय व्यतिरेक से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि वाक्य ही प्रवृत्तिनिवृत्तिकारी है अतः वही प्रयोग के योग्य है। संकेतग्रह उन्हीं पदों में होता है जो वाक्य में स्थित पद के अर्थों से परस्पर अन्वित हों।[2]

यहाँ हम केवल इतना ही बताना चाहते हैं कि शाब्दव्यवहार में अनुमान की प्रक्रिया अवश्य लगती है ऐसा अन्विताभिधानवादी भी मानते हैं। महिमभट्ट ने भी यही कहा है। अन्तर इतना ही है कि अन्विताभिधानवादी अर्थापत्ति प्रमाण का भी यहाँ प्रयोग करते हैं। प्रत्यक्ष तो जहाँ अनुमान होता है सर्वत्र रहता है। अर्थापत्ति को नैयायिक अनुमान से पृथक् नहीं मानते अपितु प्रत्यक्ष और अनुमान को मिलाकर ही अर्थापत्ति होती है। इस प्रकार महिमभट्ट का पक्ष दार्शनिकों से भी सम्मत है।

---

१. शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥१॥
अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्यावबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ २ ॥
—काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास, पृ० २१९।

२. 'देवदत्त गामानय' इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगात् देशात् देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यम-वृद्धे नयति सति' अनेनास्माद् वाक्यादेवं विधोऽर्थः प्रतिपन्न' इति तच्चेष्टया अनुमाय तयोः अखण्डवाक्यवाक्यार्थयोः अर्थापत्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते। परतः 'चैत्र गामानय, देवदत्त अश्वमानय, देवदत्त गाम् नय इत्यादि वाक्य प्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तंतमर्थमवधारयति इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्य-मेव प्रयोगयोग्यम् इति वाक्यस्थितानामेव पदाना-मन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव संकेतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्।
—काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० २२१-२२।

(ग) साध्यसाधनभाव

शाब्दव्यवहार की अनुमानरूपता के साधक जिस तत्व की व्यक्तिविवेककार ने अनेक स्थलों पर चर्चा की है, वह है साध्यसाधनभाव। शब्द और अर्थ के बीच के सम्बन्ध को ही साध्य-साधनभाव कहते हैं। बिना किसी साधन के साध्य की निष्पत्ति नहीं होती। साध्यसाधनभाव को कार्यकारणभाव मूलक कहा है। इसकी सिद्धि अबिनाभाव सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति के निश्चय के अनन्तर ही होती है। व्याप्तिग्रह का निश्चय मनमानी नहीं अपितु लोक, वेद तथा अध्यात्म इन तीन प्रमाणों के आधार पर ही होता है, जो परोक्ष रूप से साध्यसाधनभाव के मूल में निहित होते हैं।[1] कोई भी वाक्यार्थ कहीं लोकसम्मत, कहीं वेदादिशास्त्रसम्मत तो कहीं आध्यात्मिकार्थविषयक होता है।

अध्यात्म से प्रत्यक्ष प्रमाण का ग्रहण होता है। आध्यात्मिकार्थविषयक प्रमाण ही अध्यात्म है। सकलशास्त्र में वेदों का अर्थ प्रसिद्ध है। अथवा यह कहना ही श्रेयस्कर है कि यहाँ वेद शब्द सकलशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लोक में प्रसिद्ध अर्थविषयक प्रमाण को लोक कहा है। इस प्रकार प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष एवं आगम दोनों प्रमाणों को लोक, वेद अध्यात्म त्रिविध रूप में ग्रहण कर लिया है। आगम में ही लोक वेद दोनों आ जाते हैं। वेद वे आगम प्रमाण हैं जिनका निबन्धन तो नहीं हुआ है किन्तु लोकपरम्परा से वे बातें प्रमाण रूप में चली आ रही हैं। व्याख्यानकार रुय्यक ने इसका यही अर्थ किया है और बताया है कि इनमें अनुमान की गणना इसलिए नहीं की है कि उपकारक न होकर वह तो स्वयं उपकार्य है। अर्थात् जिसके मूल में ये त्रिविध प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं वह साध्यसाधनभाव रूप अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[2]

कुछ उदाहरण देकर शाब्दव्यवहार में साध्यसाधनभावगर्भित अनुमानरूपता की सत्ता को प्रमाणित करना परम आवश्यक है। लोकप्रमाणमूलक साध्यसाधनभाव का उदाहरण दिया है—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुंक्ते, पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखे तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रया प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥ —कु० सं०, १।४३।

कुमारसम्भव के इस पद्य में जो यह बताया है कि लक्ष्मी के लिए चन्द्रमा और कमल दोनों की शोभा का एक साथ उपभोग करना सम्भव नहीं था। किन्तु उस चञ्चला ने जब से उमा के मुख का आश्रयण किया है वह उभयाश्रित शोभा का युगपत् भाजन हो गई है, और उसने उभयगत शोभा के आश्रयण का आनन्द लिया है। यहाँ पर उमा के मुख की शोभा चन्द्र और कमल दोनों

---

१. साध्यसाधनभावश्चानयोः अविनाभावावसायकृतो वगन्तव्यः। स च प्रमाण मूलः। तच्च त्रिविधम्। यदाहुः —लोकोवेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ४२।

२. प्रमाणं च त्रिधा लोकवेदाध्यात्मरूपत्वेन। तत्राध्यात्मं प्रत्यक्षम्। निबन्ध प्रसिद्धरूपं वेदः। अनिबन्धप्रसिद्धस्वभावंलोकः। भंग्या प्रत्यक्षागमरूपं प्रमाणद्वयं स्वीकृतम्। आगमस्य निबन्धानिबन्धप्रसिद्धरूपत्वेन द्वैविध्यम्। अनुमानमत्र नगणितंतस्योपकार्यत्वेन प्रस्तुतत्वात्।
—रुय्यक—व्यक्तिविवेक, व्याख्यान, पृ० ४२।

से बढ़कर है यह व्यतिरेक ही कवि को विवक्षित है, जिसकी प्रतीति कमल के रात्रिसंकोच एवं चन्द्रमा के दिवस में उदय न होने की बात पर ही निर्भर है, जो लोक-प्रसिद्ध है। अतः यहाँ लोक-प्रमाणमूलक साध्यसाधनभाव से व्यतिरेकालंकार ही अनुमेय है।

वेदप्रमाण से तन्मूलक इतिहासपुराण एवं धर्मादि सभी शास्त्रों का ग्रहण हो जाता है। उदाहरणस्वरूप--

अयाचितारं न हि देवमद्रिः सुतां प्रतिग्राहयितुं शशाक।
अभ्यर्थनाभंगभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे। --कुमारसंभव, १।५२।

हिमालय भगवान् शिव को अपनी कन्या पार्वती देने की ऋषियों की बात को तब तक स्वीकार करना नहीं चाहता जब तक शंकर स्वयं आकर याचना न करें तथा भूतभावन भोलेनाथ भी जाकर याचना इसलिए नहीं करते कि कहीं उनकी अभ्यर्थना ठुकरा न दी जाय। अतः मध्यस्थ के द्वारा ही बातचीत ठीक समझी गई। यहाँ पर कारणभूत भगवान् शिवगत सम्प्रदानता का निबन्धन याचना के अभाव में भूधरेन्द्रगत कार्य कन्यादान के सामर्थ्य के अभाव का उपनिबन्धन शास्त्रमूलक है। दोनों में कार्यकारणभाव शास्त्रैकप्रमाण समधिगम्य है कि बिना याचना के चाहे सर्वस्व भले दे दे किन्तु कन्याण नहीं देना चाहिए। कहा भी है--

अयाचितानि देयानि सर्वद्रव्याणि भारत।
अन्नं विद्या तथा कन्या अनर्थिभ्यो न दीयते॥

भरतकुल में उत्पन्न हे युधिष्ठिर लोगों को चाहिये कि वे सभी वस्तुओं को बिना माँगे दे दें पर अन्न, विद्या तथा कन्या उसे नहीं देनी चाहिये उसे माँगता नहीं। आध्यात्मिकार्थविषयक साध्यसाधनमूलक प्रमाण का उदाहरण दिया है।

पशुपतिरपि तान्यहनि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः॥ --कु० सं०, ६।९५।

पार्वती से मिलने के लिये उत्कण्ठित भगवान् शिव के लिये भी उन दिनों को बिताना बड़ा कठिन हो गया। वस्तुतः ये भाव ही ऐसे हैं कि जब समर्थ शिव को भी अपने प्रभाव से विचलित कर देते हैं तो फिर ऐसा दूसरा कौन है जिसे ये अपने वश में न कर लें। यहाँ पर भगवान् पशुपतिगत कठिनता से दिवसातिवाहन रूप अद्रिसुतासमागम की उत्कण्ठा का कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है। एतन्मूलक ही इन दोनों का साध्यसाधनभाव है। शिव दिन को बड़े कष्टपूर्वक बिताते थे क्योंकि वह पार्वती के समागम के लिए समुत्कण्ठित रहते थे। दिवसातिवाहन एवं समागमोत्कण्ठा दोनों का हेतु-हेतुमद्भाव सम्बन्ध है।

साध्यसाधनभाव के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं--शाब्द और आर्थ।[1] जहाँ पर 'यथा' आदि हेतुप्रकाशक शब्दों का प्रयोग होता है वह शाब्द है। इसके अभाव में वह आर्थ होता है।[2] दोनों

---

१. स हि द्विविधः शाब्दश्चार्थश्चेति। --व्यक्तिविवेक, पृ० ४५।

२. स हि साध्यसाधनभावः यथेत्यादिहेतुत्वप्रकाशकशब्दप्रयोगे शाब्दः तद्भावे च आर्थः। --विवृति व्यक्तिविवेक, पृ० ४५।

ही प्रकार के साध्यसाधनभाव के पुनः पदार्थ और वाक्यार्थ दो भेद होते हैं। पदार्थ के भी जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से, धर्मधर्मी भेद से एवं सामानाधिकरण्य वैयाधिकरण्यभेद से अनेक भेद प्रभेद होते हैं। वाक्यार्थ के भी क्रियार्थक होने के कारणों की विचित्रता के आधार पर तथा उनके परस्पर के सांकर्य से अनेक भेद-प्रभेद होते हैं।[1] व्यक्तिविवेक में इन सबके उदाहरण प्रत्युदाहरण देकर साध्यसाधनभाव का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रकृत स्थल में उपयुक्त न होने से उसका सविस्तर वर्णन नहीं किया जा रहा है।

---

१. सोऽपि च साध्यसाधनयोः प्रत्येकं पदार्थवाक्यार्थरूपत्वात्, पदार्थस्य च जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यभेदेन भेदात् धर्मधर्मितया च, धर्मस्यापि समानाधिकरण्यवैयधिकरण्यभेदात्, वाक्यार्थस्य च क्रियात्मनः कारक-वैचित्र्येण वैचित्र्याद् यथायोग्यमन्योन्यसांकर्याद् बहुविधः।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ४५-४६।

तृतीय-विमर्श

शब्द-शक्ति

(क) शब्द की तीन वृत्तियाँ—शक्ति, भक्ति एवं व्यक्ति

दर्शनग्रंथों में जिसे वृत्ति कहा है साहित्यशास्त्र में उसी को शक्ति पद से अभिहित किया गया है। 'वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्तते अनया इति वृत्तिः' इस अर्थ में बाहुलकात् करण में क्तिन् प्रत्यय होकर वृत्ति पद निष्पन्न होता है। वृत्तिदीपिकाकार मौनि श्री कृष्णभट्ट ने वृत्ति की परिभाषा करते हुए कहा है कि—शब्द और अर्थ के उस सम्बन्ध को वृद्धि कहते हैं जो शाब्दबोध के हेतु-भूत शब्दार्थ की उपस्थिति के अनुकूल हो।[1] वृत्तियाँ तीन मानी गयी हैं—शक्ति, भक्ति एवं व्यक्ति। शक्ति पद की व्युत्पत्ति है—शक्यते साक्षात् अभिधीयते अनया इति शक्तिः। धातुओं के अनेकार्थक होने से यहाँ पर शक् धातु का अर्थ साक्षात् अभिधान है। 'शक्ति' अभिधा को ही कहते हैं। 'भज्यते शक्यार्थः खण्ड्यते अनया इति भक्तिः' इस व्युत्पत्ति से 'भक्ति' लक्षणा का अपरपर्य्याय है। 'व्यक्ति' का अर्थ व्यञ्जना वृत्ति है जिसकी व्युत्पत्ति—'व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनया इति व्यक्तिः' है। आशाधर भट्ट ने शक्ति को गङ्गा, भक्ति को यमुना एवं व्यक्ति को गूढ़निर्झरा सरस्वती कहा है।[2] न्यायमुक्तावली में वृत्ति को शक्तिलक्षणान्यतर सम्बन्ध के रूप में लक्षित किया है तथा पद से पदार्थ के सम्बन्ध को ही शक्ति कहा है।[3] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने वृत्ति के स्थान पर शक्ति पद का प्रयोग अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना शब्द की तीनों वृत्तियों के लिए किया है;[4] जो महिमभट्ट का अनुकरणमात्र है। महिमभट्ट ने इन सबके लिए शक्ति पद का प्रयोग साहित्यशास्त्र में सबसे पहले किया। काव्यादि में शब्दजन्य अर्थ का ज्ञान त्रिविध माना गया है—चारु, चारुतर एवं चारुतम। अभिधाजन्य अर्थ चारु होता है। यथा—'पाकं कुरुष्व पाकार्थम्' वाक्य में प्रयुक्त द्वितीय पाक शब्द का अर्थ शिशु होता है। वाक्य के अन्वयबोधपूर्वक द्वितीय पाक शब्द के शिशु अर्थ का बोध किसी व्युत्पन्न को ही सम्भव है। अतः यह चारु है 'चणकांश्चर्वति गालिं च ददाति' इत्यादि से अर्थज्ञान ग्राम्यवाक्य जन्य होने से चारु नहीं है अतः कवि समादृत भी नहीं। लक्षणाजन्य अर्थज्ञान चारुतर माना गया है।

---

१. शाब्दबोधहेतुशब्दार्थोपस्थित्यनुकूलशब्दतदर्थसम्बन्धो वृत्तिः।
—श्रीकृष्ण भट्ट, वृत्तिदीपिका, पृ० १।

२. शक्तिभक्तिव्यक्तिगंगायमुनागूढ़निर्झराः ॥ —आशाधर भट्ट, त्रिवेणिका, पृ० १।

३. शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः ॥ —न्यायमुक्तावलीकारिका ८१ पर वृत्ति।

४. वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्योलक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य-शक्तयः ॥ —साहित्यदर्पण, २।३।

'गंगायां घोष:' में गंगा पद से शीतत्व पावनत्व विशिष्ट, गङ्गाप्रवाह से अतिशय निकट तट रूप चारुतर अर्थ की प्रतीति होती है। व्यञ्जनाजन्य अर्थज्ञान को चारुतम कहा गया है। किसी की उक्ति––'गतोऽस्तमर्क:' से वाच्यार्थ प्रतीतिपूर्वक वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से तत्तद् जिन अर्थों की प्रतीति होती है उन्हें चारुतम इसलिए माना जाता है कि वह एकमात्र विदग्ध-जनबोध्य होते हैं, सर्वसामान्यगम्य नहीं।

इन तीनों वृत्तियों के विषयभूत अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। अभिधा प्रतिपादित अर्थ को शक्य, वाच्य, अभिधेय तथा मुख्यार्थ इन चार नामों से अभिहित किया गया है। लक्षणा-प्रतिपादित अर्थ की लक्ष्य, लाक्षणिक, भाक्त एवं औपचारिक चार संज्ञायें हैं तो व्यञ्जना से अभिव्यक्त अर्थ के व्यङ्ग्य, गम्य, प्रतीत्य, ध्वनित एवं प्रतीयमान पाँच व्यपदेश हुए हैं। अर्थत्रय के अनुसार शब्द के भी तीन ही प्रकार होते हैं। प्रथम को वाचक, शक्त या अभिधायक; द्वितीय को लक्षक, लाक्षणिक या औपचारिक तथा तृतीय प्रकार को व्यञ्जक, द्योतक, प्रत्यायक आदि नाम से व्यवहृत किया गया है। शब्द की प्रथम वृत्ति को शक्ति, अभिधा या मुख्या कहा गया है। द्वितीय के भक्ति, लक्षणा एवं उपचार तीन नाम हैं तो तृतीय वृत्ति की व्यञ्जना, द्योतना तथा व्यक्ति प्रभृति संज्ञायें हैं। इनकी परिभाषा करते हुए आशाधर भट्ट ने कहा है कि––अभिधा वह वृत्ति है जिसका कारण संकेतग्रह होता है।[1] संकेत व्यक्ति के अर्थ अर्थविषयक अज्ञान को दूर कर उसमें ज्ञातृता नामक धर्म को उत्पन्न करता है। उस ज्ञातृता के प्रति जिस प्रकार शब्द कारण है उसी प्रकार तद्गत क्रिया भी। वही क्रिया ही शक्ति या अभिधा है। योग, रुढ़ि एवं योगरुढ़ि इसके तीन भेद होते हैं।

शक्य सम्बन्ध सहकारिणी वृत्ति को लक्षणा कहते हैं।[2] वह शब्द का ही व्यापार होने से शब्दनिष्ठ होती है तथा मुख्यार्थ का बाध होने पर तत्सम्बन्धी अर्थ को पदज्ञान का विषय बनाती है। लक्षणा के भी जहत्, अजहत् एवं जहदजहत् तीन भेद होते हैं। शक्य एवं लक्ष्य से व्यतरिक्त अर्थ की बोधिका वृत्ति का नाम व्यञ्जना है।[3] वह मुख्यार्थ बाधादि के बिना तथा शक्य एवं यथासम्भव लक्ष्य अर्थ के बोध के अनन्तर ही प्रवृत्त होती है। अभिधामूला-विवक्षितान्यपर–वाच्य एवं लक्षणामूला-अविवक्षितवाच्य, व्यञ्जना के दो मुख्य भेद होते हैं। कहीं-कहीं व्यञ्जना-मूला व्यञ्जना का भी विधान हुआ है। शब्द की तीन शक्तियों के स्वरूप लक्षण एवं उदाहरण का उपर्युक्त विवेचन ध्वनिसिद्धान्त की सरणि पर हुआ है।

(ख) महिमभट्ट द्वारा अभिधा के अतिरिक्त शब्दव्यापार की सत्ता का खण्डन

महिमभट्ट ने शब्द की एकमात्र अभिधाशक्ति को ही स्वीकार किया है। उनका कहना है कि शब्द में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह एक बार में ही अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति कराए। अत: स्वार्थप्रकाशनस्वरूप अभिधाव्यापार के अतिरिक्त लक्ष्य, व्यंग्य आदि अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए जो लक्षणा व्यञ्जना आदि व्यापारान्तर की कल्पना की जाती है और उन्हें शब्दव्यापार या शब्दशक्ति कहा जाता है वह युक्तियुक्त नहीं। हमें अभिधा से भिन्न जिस व्यापार की प्रतीति

---

१. सङ्केतग्रहकारणा शक्तिः ॥ ––आशाधर भट्ट, त्रिवेणिका, पृ० ४।

२. शक्यसम्बन्धसहकारिणीवृत्तिर्लक्षणा। ––वही, पृ० १२।

३. शक्यलक्ष्यातिरिक्तार्थबोधिका वृत्तिर्व्यञ्जना ॥ ––आशाधर भट्ट, त्रिवेणिका, पृ० २४।

होती है वह शब्द का न होकर वस्तुतः अर्थ का ही व्यापार है। शब्द का तो एकमात्र अभिधा-व्यापार ही सम्भव है। क्योंकि शब्द में अनेक-विध अर्थ की प्रत्यायिका शक्तियों के समाश्रयण में कोई प्रमाण नहीं।[1] शब्द में अनेक शक्तियों की मान्यता के खण्डन में युक्ति देते हुए व्यक्ति-विवेककार कहते हैं कि––जहाँ पर अनेक शक्तियाँ एकाश्रय होती हैं वहाँ तीन बातें मुख्यरूप से परिलक्षित होती हैं––

१. वे शक्तियाँ अन्योन्यनिरपेक्ष होती हैं।

२. उनमें पूर्वापरभाव जैसा कोई नियम नहीं होता।

३. वे कभी-कभी युगपत् ही अपना कार्य करने लगती हैं।

उदाहरणस्वरूप दाहकत्व तथा प्रकाशकत्व अग्नि की दो शक्तियाँ हैं। दाहिका शक्ति न तो प्रकाशिका को प्रवृत्त होने से रोकती है, न ही प्रकाशिका दाहिका को। इसी प्रकार वहाँ ऐसा कोई नियम नहीं है कि पहले दाहिका शक्ति प्रवृत्त हो, तदनन्तर ही प्रकाशिका अथवा प्रकाशिका के अनन्तर ही दाहिका। अपितु प्रायः दोनों की प्रवृत्ति युगपत् भी पायी जाती हैं। शब्दाश्रित अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक शक्तियों में उक्त प्रकार से––अन्योन्यानपेक्षप्रवृत्ति, पूर्वापरभाव की विरहिता एवं युगपत् कार्यकारित्व न देखा जाता है और न कहीं ऐसा अनुभव ही होता है। किसी भी आचार्य ने उनका ऐसा होना स्वीकार नहीं किया है। अपितु वस्तुस्थिति इसके विपरीत ही है। अभिधाशक्ति के प्रकरणादि से नियन्त्रित होने पर ही दूसरी शक्तियों की प्रवृत्ति मानी गयी है। इनकी प्रवृत्ति परस्पर सापेक्ष होती है। तात्पर्या तथा लक्षणा अभिधा की अपेक्षा करती हैं तो व्यञ्जना अभिधा एवं लक्षणा उभयमूला होती हैं। यही नहीं, इनमें पूर्वापर का नियम भी माना गया है। युगपत् कार्यकारित्व तो इनमें किसी भी प्रकार नहीं बन पाता। क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' न्याय से किसी भी वृत्ति के एक बार अपना कार्य पूरा कर विरत हो जाने पर ही दूसरी की प्रवृत्ति उस स्थल पर हो सकती है, ऐसा साक्षात् अनुभव किया जाता है। उक्त विप्रतिपत्तियों के कारण इन शक्तियों को भिन्नाश्रय ही मानना चाहिए, शब्दमात्र एकाश्रय नहीं। अतः ये शक्तियाँ शब्दनिष्ठ हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए।[2]

इस प्रकार जब शक्तियों के तथाकथित आश्रय एकमात्र शब्द की अपेक्षा अर्थ आदि विभिन्न आश्रय सिद्ध हो जाते हैं तो अभिधा से भिन्न जो शक्ति है उसे शब्द-शक्ति न कहकर अर्थ-शक्ति ही मानना चाहिए। अर्थशक्ति का अनुमान में अन्तर्भाव तो सुतरां सिद्ध है। अतएव व्यक्ति-विवेककार कहते हैं कि ––शक्ति का भिन्न आश्रय अर्थ ही हो सकता है, शब्द नहीं। फलतः वे विविध व्यापार अर्थ के ही हैं, शब्द के कदापि नहीं।

---

१. यत्पुनरनेकशक्तिसमाश्रयत्वात् व्यापारान्तरपरिकल्पनं तदर्थस्यैव उपपद्यते न शब्दस्य, तस्यानेकशक्ति-समाश्रयत्वासिद्धेः ॥ ––व्यक्तिविवेक, पृ० १०८, १०९।

२. तथाहि एकाश्रयाः शक्तयोऽन्योन्यानपेक्षप्रवृत्तयोऽपाकृतपौर्वापर्यनियमाः युगपदेव स्वकार्यन्कारिण्यो दृष्टाः यथा दाहकत्वप्रकाशकत्वादयो अग्नेः। न च शब्दाश्रयाः शक्तयः तथा दृश्यन्ते अभ्युपगम्यन्ते वा, नियोगतो अभिधा शक्तिपूर्वकत्वेन इतरशक्ति-प्रवृत्ति दर्शनात्। तस्माद् भिन्नाश्रया एव ताः न शब्दैकसमाश्रयाः इत्यवसेयम् ––व्यक्तिविवेक, पृ० १०९।

(ग) अर्थ ही अर्थान्तर का विनिगमक

शक्तियों के भिन्नाश्रयत्व क सिद्धान्त को सिद्ध कर उनके अनुमान में अन्तर्भाव की सिद्धि में युक्ति देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शक्ति का जो शब्द से भिन्न आश्रय सिद्ध हुआ है वह अर्थ ही हो सकता है। अर्थगत व्यापार का अनुमान में अन्तर्भाव किसे स्वीकार्य नहीं। अर्थात् अर्थ के शक्तियों का आश्रय होने पर उसके व्यापार का अनुमान में अन्तर्भाव सुतरां हो सकता है। उदाहरण के लिये, 'गौर्वाहीकः' (वाहीक देशवासी व्यक्ति बैल होता है) इत्यादि स्थलों में गोआदि अर्थ की वाहीकादि अर्थ के साथ तादात्म्य या सामानाधिकरण्येन अन्वय इसलिये बाधित है कि गोत्व और वाहीकत्व उनके धर्म भिन्न हैं और वाहीक में गोगत धर्म के स्वीकार न होने पर असङ्गति होती है। अतः जो हम जाड्यमांद्यादि कुछ अर्थों में ही वाहीक की गो से अभिन्नता का बोध करते हैं, वह प्रकारान्तर से अनुमान नहीं तो और क्या है ? गोगत जाड्यमांद्यादि धर्म हेतु के रूप में उपन्यस्त होकर व्याप्ति का कार्य करते हैं और इन्हीं के आधार पर गो की वाहीक से आंशिक समानता एवं गोगत जाड्यमांद्यादिविशिष्ट वाहीक अर्थ की अनुमिति होती है।[1]

यदि यह कहें कि यहाँ पर गो और वाहीक में अभेदबुद्धि कदापि अभीष्ट नहीं, अपितु लक्षणा के द्वारा दोनों में सादृश्यातिशय का बोध ही वाक्यार्थ के रूप में अभीष्ट है, जो लक्षणा ज्ञान का प्रयोजन या फल है। और अनुमितिवादी की यह बात समझ में इसलिए नहीं आती कि अनुमान तो एकमात्र उन दोनों के अभेद द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा ठीक नहीं क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो उन्मत्त नहीं हो गया है कहीं पर किसी प्रकार की समानधर्मता को बिना परखे ही अकस्मात् किसी वस्तु में वस्त्वन्तर के तादात्म्य का आरोप नहीं करता। यहाँ वक्ता के अभिप्राय का परिशीलक बोद्धा वाहीक के गो के साथ अभेदान्वय का कारण जाड्यादि धर्मकृत सादृश्य को ही समझता है, गोत्व को नहीं।[2]

अतः 'गौर्वाहीकः' इस वाक्य से गो शब्द के अभिधा प्रतिपादित अर्थ की ही प्रतीति सबको होती है। अनन्तर वाहीक के साथ उसके अन्वय का बाध होने पर गो शब्द से गोत्व अर्थ की प्रतीति का भी बाध होता है। और उसमें यह भाव कि वह गोत्व अर्थ की प्रतीति कराता है, अन्त तक बना नहीं रहता। इस प्रकार के उपक्रम का निमित्त 'वाहीक' और 'गो' के धर्म (गुण) समान हैं—यह प्रतिपादित करना है न कि वाहीक गो अभिन्न है यह। अर्थात् उनमें साधर्म्यमात्र की प्रतीति कराना अभिष्ट है, तादात्म्य की प्रतीति नहीं। इसका प्रयोजन है—संक्षेप में वाहीक में गोगत जाड्यादि धर्म का झटिति प्रतिपादन। क्योंकि अर्थान्तर में शब्द का यह प्रयोग अतिशय प्रतिपादन का एक ढंग या प्रकार है।[3] कहा भी है कि जाति के बिना भी जाति प्रवृत्तिनिमित्तक शब्द का तुल्य सम्बन्धी धर्म से जहाँ प्रयोग

---

१. यश्चासौ आश्रयो भिन्नः सोऽर्थ एवेति तद् व्यापारस्य अनुमानान्तर्भावोऽभ्युपगन्तव्य एव। तथाहि—'गौर्वाहीकः' इत्यादौ तावद् गवादयो अर्थाः बाधितवाहीकाद्यर्थान्तरैकात्म्याः ताद्रूप्यविधानान्यथानुपपत्या केनचिदंशेन तत्र तत्वमनुमापयन्ति न सर्वात्मना।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ११०।

२. व्यक्तिविवेक, पृ० ११०।

३. वही, पृ० ११०।

होता है उसे अन्य आचार्य गौण ही कहते हैं।[1] प्रकृत स्थल 'गौर्वाहीकः' में वाहीक के गो जाति का न होने पर भी उसके विशेषण के रूप में गो शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह उसके सम्बन्धी (विशेषण) 'गो' में पाये जाने वाले जाड्य मान्द्य आदि गुणों (धर्मों) के आधार पर गो के साथ उसके सादृश्य को व्यक्त करने के लिये ही हुआ है—अर्थात् वाहीक में भी वे ही जाड्य मान्द्य पाये जाते हैं जो किसी बैल में जन्मजात विद्यमान होते हैं। इसी को साधर्म्य भी कहते हैं। क्योंकि समान धर्म (गुण) के आधार पर दो सर्वथा भिन्न वस्तुओं को अभिन्न कहने की प्रथा सर्वत्र उपलब्ध होती है। पर 'गो' शब्द वाहीक अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे करा सकता है क्योंकि उसमें उसका संकेतग्रह नहीं है। इसीलिए गो शब्द से वाहीक अर्थ की या जाड्यामांद्यादि विशिष्ट वाहीक अर्थ की प्रतीति मुख्यवृत्ति से न होकर गौणी-वृत्ति से होती है।

आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि 'गौरिव वाहीकः' न कहकर गौर्वाहीकः की उक्ति में जो सामानाधिकरण्य से तादात्म्य का आरोप किया गया है उसका अभिप्राय गो और वाहीक के बीच साम्य या सादृश्य की प्रतीति कराना नहीं हो सकता क्योंकि उसके लिये तो गौरिव वाहीकः के रूप में उपमा का प्रयोग ही पर्याप्त था। गौर्वाहीकः में तो रूपक के प्रयोग द्वारा वाहीक पर गोत्व का आरोप किया जाता है। किसी वस्तु पर दूसरी वस्तु के आरोप करने का एक विशेष प्रयोजन होता है। यहाँ पर भी वाहीक पर गोत्व के आरोप का कोई विशेष प्रयोजन अवश्य होना चाहिए और वह है गो और वाहीक के गुण सादृश्य की अनुमिति। इस प्रकार तत्वारोप (वाहीक में गोत्व का आरोप) ही गो एवं वाहीक के बीच साधर्म्य का साधक हेतु है अन्यथा तत्वरोप की कोई सार्थकता नहीं। उसकी अनुपपन्नता ही साधर्म्य की साधिका है। अतः अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से निश्चित वाहीक में गो के साधर्म्य की प्रतीति अनुमान-जन्य ही हैं, लक्षणा आदि तथाकथित शब्द-व्यापारजन्य नहीं। आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि अनुमान का इससे अधिक ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकता है। क्योंकि वाहीक में गो के साधर्म्य की प्रतीति का कारक यह जो वाहीक पर गोत्व का आरोप है उसकी सार्थकता साधर्म्य को अनुमान का विषय बनाने में ही है। इस प्रकार यह स्थल शब्द-व्यापार का न होकर अनुमान का ही ठहरता है।[2]

इसी अभिप्राय से निम्नलिखित संग्रहकारिका में कहा है—

गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते ।
को ह्यतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्वं व्यपदिशेद्बुधः ॥१॥

अर्थात् वाहीक पर गोत्व के आरोप के कारण ही उसकी गो के साथ सहधर्मिता का

---

१. जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते ।
सम्बन्धिसदृशाद्धर्मात् तं गौणमपरे विदुः ॥
—व्यक्तिविवेक, कारिका १।४५ ।

२. तस्माद्योऽयं वाहीकादौ गवादिसाधर्म्यावगमः स तत्वारोपान्यथानुपपत्ति–परिकल्पितो अनुमानस्यैव विषयः न शब्द-व्यापारस्येति स्थितम् । —व्यक्तिविवेक, पृ० ११२ ।

३. व्यक्तिविवेक, कारिका १।४७ ।

अनुमान किया जाता है क्योंकि अतिदेश प्रकार विशेषज्ञ ऐसा कौन विद्वान् है जो किसी वस्तु से किसी ऐसी वस्तु का व्यवहार करेगा जो उससे सर्वथा भिन्न हो तथा जो न तो सर्वथा वही हो तथा न उसके समान ही ।

लक्षणा के मानने वाले विद्वानों के समक्ष भी 'गौर्वाहीकः' में प्रयुक्त गो शब्द के लक्ष्यार्थ के विषय में अनेक विसम्वाद हैं । यहाँ समस्या यह है कि गोपद की लक्षणा किसमें की जाय । यदि सीधे वाहीक में लक्षणा करते हैं तो मुख्यार्थ 'गो' और लक्ष्यार्थ 'वाहीक' के बीच कौन-सा सम्बन्ध होगा ? क्योंकि बिना किसी सम्बन्ध के गो की वाहीक में लक्षणा नहीं की जा सकती । मुख्यार्थ का बाध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित ही किसी अर्थ में लक्षणा की जाती है । इसके समाधान का एक प्रकार यह हो सकता है कि गो पद की गोगत-जाड्यमान्द्यादि गुणों में गुणगुणी (समवाय) सम्बन्ध से लक्षणा कर दी जाय और उसी सम्बन्ध से जाड्यमान्द्यादि गुण विशिष्ट वाहीक है, यह लक्ष्यार्थ समझ लिया जाय ।[१] इस प्रकार गोपद से लक्षित जाड्यमान्द्यादि गुण ही गोपद के वाहीक अर्थ में प्रयुक्त होने के निमित्त बन जाते हैं अर्थात् गो शब्द से लक्षणा के द्वारा पहले जाड्यादि गुणों की उपस्थिति होती है, अनन्तर अभिधा से ही वाहीक अर्थ का बोध होता है ।

किन्तु यहाँ कुछ अरुचियाँ हैं । पहली तो यह कि गोपद का वाहीक में संकेत न होने से अभिधा के लिये यहाँ कोई अवकाश नहीं । दूसरी अरुचि यह है कि जाड्यादि गुण स्वतंत्र लक्ष्य हैं अतः वे गोपद के वाहीक अर्थ में प्रवृत्ति के निमित्त होने में समर्थ नहीं हो सकते । तीसरी यह कि गो में रहने वाले जाड्यादि गुणों का आश्रय वाहीक कैसे हो सकता है ! अतः इसका दूसरा समाधान यह दिया गया कि गो पद की लक्षणा गोगत जाड्यमान्द्यादि से अभिन्न वाहीक गत जाड्यमान्द्यादि गुणों में करके गुणी वाहीक का उनके साथ समवाय सम्बन्ध के द्वारा बोध हो जाता है ।[२] पर यहाँ पर भी अरुचि यह है कि इस प्रकार गुणों में गोगत एवं वाहीकगत भेद-बुद्धि स्थापित हो जाती है । फिर गो एवं वाहीक के एक धर्मी का बोधक न होने से 'गौर्वाहीकः' में उनका सामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा । अतः तृतीय समाधान यह प्रस्तुत किया गया है कि जाड्यमान्द्यादिविशिष्ट गो पद की जाड्यमान्द्यादिविशिष्ट वाहीक अर्थ में लक्षणा करेंगे । दोनों के बीच साधारण गुणाश्रयत्व ही सम्बन्ध होगा और इस प्रकार लक्षणा बन जायगी ।[3] अर्थात् गो का वाच्य जाड्यमान्द्यादिविशिष्ट गो एवं लक्ष्य अर्थ जाड्य-मान्द्यादिविशिष्ट वाहीक होगा । समान गुण के दोनों आश्रय हैं, अतः यही उनका परस्पर का सम्बन्ध है ।

इसी प्रकार 'कृशाङ्ग्याःसन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्' (कमलिनी के पत्तों की शैया ही उस कृशाङ्गी के सन्ताप की अधिकता को बता रही है) इत्यादि उदाहरणों में 'वदति' पद

---

१. अत्रहि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभि-धाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित् । —काव्यप्रकाश, पृ० ४९, पूना ।

२. स्वार्थसहचारिणो गुणाभेदने परार्थगता गुणा एवं लक्ष्यन्ते न परार्थोऽभिधीयते इत्यन्ये । —काव्यप्रकाश, पृ० ४९, पूना ।

३. साधारण गुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यपरे । —वही, पृ० ४९ ।

के विरुद्ध प्रयोग के आधार पर 'प्रकटयति' अर्थ अनुमान से ही निकलता है। क्योंकि अबिनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिनिश्चयपूर्वक हेतु से साध्य की प्रतीति, एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीतिरूप अनुमान ही है।[1] उक्त उदाहरण में 'वदति' का अर्थ वाक्य में ठीक नहीं बैठता क्योंकि शैया के निर्जीव होने से उसमें वदनात्मक सचेतन का धर्म कदापि सम्भव नहीं। अतः कथन का बाध होने से उससे प्रकाशन अर्थ ही निकलता है। इसीलिये यहाँ लक्षणा मानी गयी है कि शयन के अचेतन होने से यहाँ तत्कर्तृवचनरूपी अन्वय की अनुपपत्ति होती है, और इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने पर सादृश्य सम्बन्ध से वदन पद का प्रकाशन या प्रकटीकरण अर्थ में लक्षणा होती है, जिसका प्रयोजन नायिका के सन्ताप की स्फुटीकरण प्रतिपत्ति है।[2] महिमभट्ट का कहना है कि––वदति आदि से उसके मुख्य अर्थ 'कथयति' से भिन्न प्रकाशयति अर्थ की जो प्रतीति होती है वह इन दोनों वदन् और प्रकाशन अर्थों में कार्यकारणभावकृत ही है। वदन अर्थात् कथन से ही किसी वस्तु का प्रकाशन होता है अतः प्रकाशन वदन का कार्य होता है ऐसी ही प्रसिद्धि है। यही कार्यकारणभाव दोनों के बीच अबिनाभावसम्बन्धरूप व्याप्ति का निश्चायक होता है। यदि यह कहें कि जब जड़शैया में वदन की क्रिया सम्भव है तो वदति का प्रकाशयति अभिधेय अर्थ ही क्यों नहीं है। इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि संकेतग्रह के अभाव में वदन का प्रकाशन अर्थ अभिधेय नहीं माना जा सकता। इस पर यह कहा जा सकता है कि घट और कलश के समान 'वदति' क्रिया भी प्रकाशयति का अपरपर्य्याय हो सकती है और संकेतग्रह के अभाव में भी वदति का प्रकाशयति अर्थ बिना किसी बाधा के निकलने लगता है। यह कथन भी इसलिये ठीक नहीं कि प्रकाशन, स्वरूप एवं प्रकार उभयतः वदन से सर्वथा भिन्न होता है। फिर भी यदि दोनों को एक-दूसरे का अपरपर्याय मानने लगें तो नील, पीत आदि गुणों के एककारण होने से ये भी एक-दूसरे के पर्याय हो जायेंगे और इन दोनों में परस्पर भेद की प्रतीति नहीं होगी। यदि यह कहें कि जैसे अन्योक्तियों में अचेतनों का भी वार्तालाप होता है उसी प्रकार यहाँ पर भी वाक्य में व्यवस्था हो जायेगी और वदति का 'स्वार्थमेव प्रतिपादयति' अर्थ होने से कहीं भी अर्थ का बाध नहीं होगा। तो इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह युक्ति यहाँ इसलिये ठीक नहीं है कि अन्योक्तियों में अचेतन में चेतन का अध्यारोप होने से अर्थ की प्रतीति में बाधा नहीं होती। यहाँ पर अचेतन शयन में बिना किसी चेतन के अध्यारोप के कथन क्रिया का होना सर्वथा विरुद्ध है, अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध है, यह मानना ही युक्तिसंगत है?[3]

---

१. एवं 'कृशाङ्गयाः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्' इत्यादाववगन्तव्यम्। अविनाभाववसायपूर्विकाहि अन्यतोऽन्यस्य प्रतीतिः अनुमानमित्यनुमानलक्षणमुक्तम्॥
——व्यक्तिविवेक, पृ० १११।

२. अत्र शयनस्य अचेतनस्य मुख्यार्थवचनकर्तृत्वान्यथानुपपत्या मख्यार्थबाधेन ज्ञापनं सादृश्याल्लक्ष्यते। स्फुटीकरण प्रतिपत्तिश्च प्रयोजनमुक्तम्॥ ——काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास।

३. तथाहि वदतीत्यादौ वदनादेः अर्थान्तरस्य प्रकाशादेः प्रतीतिः तयोश्च अबिनाभावः, कार्यकारणभावकृतः प्रकाशनस्यवदनकार्यत्व प्रसिद्धेः। न च वदतेः प्रकाशो वाच्यः इति शक्यं वक्तुं तस्य तत्र असमितत्वात् प्रकाशस्य च अतत्वात्। न चायं स्वार्थमेव प्रतिपादयति तस्य च बाधोपपत्तेः॥ ——व्यक्तिविवेक, पृ० १११-१२।

यदि यह कहें कि वदन् क्रिया का प्रयोग सादृश्यार्थक प्रकाशन नाम के क्रियान्तर में होने से गौणतया अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से वदति का प्रकाशयति अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाता है, तो वह अनुमान ही है क्योंकि अर्थापत्ति भी व्याप्तिज्ञानाधीन ही होती है। व्याप्ति-ज्ञानपूर्विका अर्थ प्रतीति होने से अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव इष्ट है। इस प्रकार अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से वदन् से प्रकाशन अर्थ की प्रतीति अनुमिति ही है।[1] अतः शब्द में लक्षणाशक्ति की कल्पना व्यर्थ है। अन्य दर्शनों में भी लक्षणा की मान्यता अविचारिताभिधान ही है। क्योंकि युगपत् कार्यकारित्वादि शक्ति का उपर्युक्त लक्षण लक्षणा में कहीं नहीं सिद्ध होता।

'गङ्गायाँ घोष:' इत्यादि अन्य स्थलों में भी यही सरणि अपनायी जानी चाहिए। यहाँ गङ्गा पद का मुख्य अर्थ गङ्गाप्रवाह है जो घोष का आश्रय नहीं हो सकता। अतः मुख्यार्थ बाध रूप अन्वयानुपपत्ति होने से सामीप्य या संयोग सम्बन्ध से गङ्गा पद का गङ्गातट में लक्षणा करते हैं और उसका प्रयोजन शीतत्व पावनत्वातिशय की प्रतीति मानते हैं। लक्षणा के सहारे वाक्य का अर्थ ठीक-ठीक बैठ जाता है, साथ ही वक्ता के प्रयोग का प्रयोजन भी हल हो जाता है। किन्तु महिमभट्ट ने इसे भी पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार अनुमान का ही विषय सिद्ध किया है। उनका कहना है कि—'गङ्गाय घोषः' इत्यादि स्थलों में गङ्गादि अर्थ से अर्थान्तर तटादि का अनुमान होता है। क्योंकि घोषादि का अधिकरणभाव गङ्गापद के अर्थ में स्वयं बाधित है। अतः उपादान सामर्थ्य से सामीप्यादि सम्बन्धमात्र में गंगात्व का आरोप घोषाधिकरण योग्य एक दूसरी वस्तु तट में करते हैं। कहने का आशय यह है कि जब गङ्गा पद का प्रवाहरूप अर्थ घोष का आधार हो ही नहीं सकता तो गङ्गायां घोषः' ऐसा प्रयोग ही क्यों किया गया? अतः इस प्रकार के शब्द का प्रयोग इस बात का निमित्त है कि श्रोता उक्त वाक्य में गङ्गा पद का अर्थ वह समझ ले जिसमें घोष के साथ आधाराधेय भाव बन जाय। गंगा प्रवाह से सम्बन्धित सभी अर्थों में तट ही एकमात्र ऐसा है जो समीपतर है तथा जिसमें घोष के साथ आधाराधेयभाव बन जाता है। अतः सामीप्य सम्बन्ध से गंगा प्रवाहरूप अर्थ से तट अर्थ का अनुमान होता है।[2] घोषाधारत्व तो नौका आदि में भी बन सकता था किन्तु उनके साथ गङ्गा प्रवाह का अबिनाभाव सम्बन्ध के अभाव में तद्रूपव्याप्ति के न बनने से उनका ग्रहण नहीं होता। लक्षणा की सत्ता स्वीकार करने पर गङ्गा पद की उसी संयोग सम्बन्ध से नौका में लक्षणा कर देने से भी अन्वयानुपपत्ति का परिहार हो जाता है। जहाँ तक प्रयोजन की प्रतीति का प्रश्न है नौका में तट की अपेक्षा शीत्वपावनत्वादि की उपलब्धि अधिक मात्रा में ही होती है।

---

१. अथोपचारत उपादानान्यथानुपपत्या वदनक्रियायाः सदृशे प्रकाशनाख्ये क्रियान्तरे वर्तते अयं वदतिरित्युच्यते। तर्ह्यन्यथानुपपत्या वदनादेः प्रकाशादिः प्रतीयमानो अनुमेय एव भवितुमर्हति, अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमात् इत्युक्तम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ११२।

२. 'गङ्गायां घोषः' इत्यादावपि गङ्गादयो अर्थाः स्वात्मन्युपपत्तिबाधितघोषाद्यधिकरणभावाः तदुपादानसामर्थ्यात् सम्बन्धमात्रपरिकल्पिततत्वारोपं तदधिकरणभावोपगमयोग्यमर्था-न्तरमेव तटादिरूपंअनुमापयन्ति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ११३।

आरोप के निमित्त के विषय में आचार्य का कहना है कि—सादृश्य ही एकमात्र तत्वारोप का निमित्त नहीं होता अपितु सम्बंधादि अनेक निमित्त हो सकते हैं। अतः गङ्गा सम्बन्धमात्र से आरोपित गङ्गात्व से युक्त तटादि ही घोषादि के अधिकरण के रूप में विहित हुए हैं। इस प्रकार पूर्ववत् अन्यथानुपपत्तिरूप अनुमान से गङ्गादि अर्थों से तटादि अर्थ अनुमेय ही हो सकते हैं।[1]

(घ) गुणवृत्ति लक्षणा की अनुमान में गतार्थता

"गङ्गाया घोषः' इत्यादि सभी स्थलों में प्रयुक्त गङ्गादि पद की शक्ति के स्वार्थाभिधान मात्र व्यापार में समाप्त हो जाने से वह (गंगादि पद) तटादि की बात ही सहन नहीं कर सकते, उनसे सम्बद्ध होकर अर्थबोध कराने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। फिर सवाल यह उठता है कि इस प्रकार की विचित्र उक्ति का प्रयोजन ही क्या है कि अन्य शब्द से अन्य अर्थ का बोध किया जाय। इसका उत्तर देते हुए महिमभट्ट कहते हैं कि आरोप्य विषय तटादि वस्तु में आरोप्यमाण गङ्गादि वस्तुगत पुण्यत्वशीतलत्वादि धर्म का बोध कराना ही प्रकृत 'गङ्गायां घोषः' की उक्ति का प्रयोजन है। पूर्ववत् 'गौर्वाहीक' की तरह सादृश्यबोध नहीं। उससे यही इसकी विशेषता है। उभयत्र अनुमेयार्थ का हेतु तत्वारोप अर्थात् एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप ही है। वह हेतु अभिधेय के साथ सादृश्य, सामीप्य, कार्यकारण-भावादि सम्बन्धों से उपनिबद्ध होकर अनेकविध होता है।[1] कहा भी है—

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः ॥
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥

इस कारिका में लक्षणा के जो पाँच सम्बन्ध माने गये हैं वही अनुमेयार्थ के साधक हेतु हैं।

यहाँ एक और प्रश्न उठता है कि—केवल हेतु साध्यभाव के अवधारण से तो अनुमेयार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं। अपितु व्याप्तिग्रह के बिना उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है? व्याप्तिग्रह के लिये प्रमाण की अपेक्षा होती है। लक्षणा के उक्त स्थलों में अनुमान की प्रक्रिया मानकर लक्ष्यार्थ को अनुमेय कहने में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि—तत्वारोप का साम्यादि के साथ जो अबिनाभाव सम्बन्ध है, वही व्याप्ति है। उसका निश्चय लोक से ही सो जाता है। अतः उसकी सिद्धि के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती। शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में साध्यसाधनभाव का विवेचन करते हुए उसके मूल में लोक, वेद एवं अध्यातम नामक त्रिविध प्रमाणों की सत्ता का निरूपण पहले

---

१. न हि तत्सादृश्यमेवैकं तत्वारोपनिबन्धनमिष्यते, किं तर्हि, तत्संबन्धादिरपि, इति तत्सम्बन्धमात्रसमारोपिततद्भावः तटादिरेव घोषाद्यधिकरणभावोपादानान्यथानुपपत्या गंगादीनामर्थानामनुमेय एव भवितुमर्हति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ११३।

२. शब्दः पुनः स्वार्थाभिधानमात्र-व्यापारपर्यवसितसामर्थ्यो नार्थान्तरस्य तटादेः वार्तामपि वेदितुमुत्सहते, किं पुनः संस्पर्शमित्युक्तम्। प्रयोजनं पुनरस्य एवं विधस्य उक्तिवैचित्र्यपरिग्रहस्य तटादावारोपविषये वस्तुनि आरोप्यमाणगंगादिगतपुण्यत्वशीतलत्वादिधर्मप्रतिपत्तिः न सादृश्यमिति पूर्वस्मादस्य विशेषः। उभयत्रापि च तत्वारोपएव हेतुः। स हि तत्साम्यतत्सम्बन्धादिनिबन्धनत्वाद् बहुविध इष्टः ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ११४।

ही किया जा चुका है । तन्मूलक ही व्याप्तिग्रह होता है । अतः लोक में जो रूढ़ियाँ या परम्पराएँ प्रचलित हैं वही वे साधारण धर्म हैं जिनके आधार पर व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है । देखा जाता है कि लोग किसी वस्तु का उसके सदृश या तत्सम्बन्धित दूसरी वस्तु के नाम से व्यवहार करते हैं। उदाहरणस्वरूप--दीर्घग्रीव एवं विकटकाय किसी व्यक्ति को देखकर उसे ऊँट या हाथी कहकर प्रायः सम्बोधित किया जाता है । तथा किसी के मचान पर चिल्लाने से 'मंचाः क्रोशन्ति' ऐसे प्रयोग लोक में बहुधा होते हैं ।[1]

इस प्रकार जो अर्थ संकेतग्रह का विषय नहीं है उसकी प्रतीति मुख्यतया न होकर गौणतः या उपचारतः होती है । इस गुणवृत्ति का, जिसे अन्य आचार्यों ने उपचार वृत्ति या लक्षणा की संज्ञा दी है, महिमभट्ट ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है । उपर्युक्त विवेचन का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा है कि इस उपचार वृत्ति के स्थलों में शब्द में अति-व्याप्ति दोष न हो इसके लिये किसी न किसी निमित्त का माध्यम अवश्य होना चाहिए । अर्थान्तर की प्रतीति में किसी निमित्त का माध्यम स्वीकार न करने पर शब्द अपने संकेतित अर्थ से भिन्न किसी अर्थ की प्रतीति बिना किसी सम्बन्ध या निमित्त से कैसे करा सकता है? अतः यह सिद्ध हो गया कि शब्द जब कभी किसी असंकेतित अर्थ का प्रत्यायक होता है तो उसका कुछ न कुछ निमित्त अवश्य होता है । जो निमित्त होता है उसी को व्यक्तिविवेककार ने लिंग की संज्ञा दी है । यह ठीक भी है; क्योंकि अर्थान्तर के प्रत्यायन में शब्दव्यापार का सर्वथा अभाव इसलिये होता है कि अर्थान्तर में शब्द के साथ संकेतग्रह जैसा कोई सम्बन्ध नहीं होता । इसी निमित्तरूप लिंग से अर्थान्तर-साध्य की प्रतीति को अनुमान नहीं तो और क्या कहेंगे ? अतः गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणा से अर्थान्तर लक्ष्यार्थ की प्रतीति शाब्दी कथमपि नहीं होती । उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि अर्थान्तर की प्रतीति वाचकाश्रय नहीं होती ।

मुकुल भट्ट ने भी लक्षणा को अर्थ का ही व्यापार माना है । उनका कथन है कि अभिधा के दो व्यापार होते हैं--मुख्य और लाक्षणिक । मुख्य शब्द का व्यापार होता है और लाक्षणिक अर्थ का । अतएव शब्दव्यापार से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह मुख्य तथा अर्थ व्यापार से प्रतीत होने वाले अर्थ को लक्ष्य या गौण भी कहते हैं । लक्ष्य की प्रतीति शब्द-व्यापार से ज्ञायमान अर्थ के पर्यालोचन से होती है ।[2]

---

१. तस्य च तैरबिनाभावनियमो लोकत एवावसित इति न तत्र प्रमाणान्तरापेक्षाप्रयासः । लोको हि तत्सदृशमर्थं तत्सम्बद्धं च तत्वेन व्यवहरन् दृश्यते, तद्यथा--दीर्घग्रीवं विकटकायं च कंचित् पश्यन् करभ इति व्यपदिशति, यत्र सम्बद्धांश्च कांश्चित् क्रोशतो मंचाः क्रोशंतीति ॥

--व्यक्तिविवेक, पृ० ११५ ।

२. शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमच्यते ॥१॥
शब्दव्यापाराद्यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वम् ।...यस्य तु शब्द--
व्यापारावगम्यार्थपर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम् ।

मुकुल भट्ट; अभिधावृत्तिमातृका; कारिका १ एवं उस पर वृत्ति ।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर कि लक्षणा नामक वृत्ति शब्दवृत्ति नहीं अपितु अर्थ का ही व्यापार है उसका अनुमान में अन्तर्भाव इसलिये साधित हो जायेगा कि अनुमान एक व्यापक विषय है जिसमें गुणवृत्ति जैसे उन तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है जो अल्प-विषय होते हैं। अतः जब लक्षणा नामक शब्द-व्यापार का खण्डन हो गया जिसकी सता मीमांसादि दर्शनों में भी स्वीकृत की गई है तो व्यंजना नामक शब्द-व्यापार की सिद्धि तो इसलिये भी और दूरोपेत है कि व्याकरण एवं दर्शन के किसी भी सिद्धान्त में उसकी मान्यता नहीं है। इसी उपर्युक्त विवेचन को ग्रन्थकार ने निम्नलिखित कारिकाओं में संगृहीत कर दिया है—

यः सतत्त्वसमारोपस्तत्सम्बन्धनिबन्धनः।
मुख्यार्थबाधे सोऽप्यार्थं सम्बन्धमनुमापयेत् ॥४६॥

किसी वस्तु पर दूसरी वस्तु का जो आरोप है उसका आधार उन दोनों वस्तुओं का परस्पर का सम्बन्ध ही होता है। मुख्यार्थ का बाध होने पर उसी तत्वारोप के द्वारा उस सम्बन्ध की अनुमिति होती है जो सम्बन्ध अर्थ से सम्बन्धित होता है।

तत्साम्यतत्सम्बन्धौ हि तत्त्वारोपैककारणम्।
गुणवृत्तेर्द्विरूपायास्तत्प्रतीतिरतोऽनुमा ॥४७॥

किसी वस्तु पर दूसरी के आरोप का एकमात्र कारण दोनों वस्तुओं का साम्य या उनका परस्पर का सम्बन्ध होता है। क्योंकि गुणवृत्ति के ये दो प्रकार होते हैं अतः उससे होने वाली प्रतीति को अनुमिति ही कहना चाहिए।

मुख्यवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते।
विहितोऽर्थान्तरे ह्यर्थः स्वसाम्यमनुमापयेत् ॥४८॥

इसका एक कारण यह भी है कि शब्द के लिये यह सम्भव नहीं कि वह अपने मुख्य व्यापार अभिधा का सर्वथा परित्याग कर दे। फिर एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति का विधान उस अर्थ के द्वारा अर्थान्तर से अपने सादृश्य की अनुमिति करा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

तुल्यादिषु हि लोकोऽर्थेष्वर्थं तद्दर्शनस्मृतम्।
आरोपयेन्न शब्दस्तु स्वार्थमात्रानुयायिनम् ॥४९॥

किसी वस्तु को देखकर लोगों को उसके समान ही किसी अन्य वस्तु की स्मृति स्वतः हो आती है; फिर लोग उस दृष्ट वस्तु में तत्सदृश वस्त्वन्तर का आरोप करने लगते हैं, अर्थात् आरोप एक वस्तु में अन्य वस्तु का होता है; किसी अर्थ में अर्थान्तर का होता है, न कि शब्द का अर्थ में। शब्द तो अपने प्रतिपाद्य अर्थ का अनुगमन मात्र करता है क्योंकि वह केवल अपने संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकता है, अन्य का नहीं।

इत्थमर्थान्तरे शब्दवृत्तेरनुपपत्तितः।
फले लिङ्गैकगम्ये स्यात् कुतः शब्दः स्खलद्गतिः ॥५०॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से अर्थान्तर के बोध के विषय में शब्द-शक्ति असमर्थ है अर्थात् शब्द-शक्ति के द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति नहीं कराई जा सकती। पर लिंगलिंगी भाव (हेतुसाध्यभाव) से वही शब्द अपने वाच्य अर्थ के माध्यम से उस प्रयोजन की प्रतीति करा सकता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिये तत्वारोप का आश्रय लिया गया होता है। कहने

का आशय यह है कि जिस प्रयोजन फल को ध्यान में रखकर लक्षणा का आश्रयण किया जाता है उसकी प्रतीति कराने में शब्द की गति स्खलित नहीं होती। क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति तो शब्द के तत्वारोपात्मक उस विशेष प्रकार के प्रयोग के कारण ही होती है।

व्यापारेऽर्थे ध्वनेः साक्षान्मुख्या वृत्तिरुदाहृता ।
अर्थारोपानुगस्त्वेष गौणी तद्व्यवधानतः ॥५१॥

ध्वनि अर्थात् शब्द का अर्थ की अभिव्यक्ति में जो साक्षाद् व्यापार है उसे ही मुख्य-वृत्ति कहा गया है। एक अर्थ में दूसरे के आरोप के बाद के व्यापार को गौणी वृत्ति के नाम से कहा जाता है क्योंकि उसके और शब्द के बीच में अर्थ का व्यवधान बढ़ जाता है।

आशुभावादनालक्ष्यं किन्त्वर्थारोपमन्तरा ।
लोको गौश्चैत्र इत्यादौ शब्दारोपमवस्यति ॥५२॥

किन्तु एक अर्थ पर दूसरे अर्थ के आरोप की प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म है कि लक्षित नहीं होती, अतएव लोग 'गौश्चैत्र' (चैत्र बैल है) इत्यादि स्थलों में शब्द का ही आरोप समझने लगते हैं ॥५२॥

प्रधानेतरभावेनावस्थानादर्थशब्दयोः ।
समशीर्षिकयारोपो न तयोरुपपद्यते ॥५३॥

अर्थ में शब्द का आरोप हो भी नहीं सकता। क्योंकि अर्थ प्रधान और शब्द सर्वदा गौण होता है। आरोप तो सदा समभाव में होता है, मुख्य गौणभाव में कदापि नहीं ॥५३॥

आरोपविषये यत्र विशेषः सम्प्रतीयते ।
अर्थादारोपितात् तत्र गुणवृत्तिरुदाहृता ॥५४॥

गुण-वृत्ति का स्थल वही माना गया है जहाँ आरोपित अर्थ से आरोप-विषय अधिक गुणशाली हो या उसमें वैशिष्ट्य की प्रतीति होती हो ॥५४॥

गुणवृत्तौ गिरां यावत् सामग्रीष्टा निबन्धनम् ।
सैव लिङ्गतयास्माभिरिष्यतेऽर्थान्तरं प्रति ॥५५॥

गुणवृत्ति लक्षणा में जिसे वाणी या शब्द का व्यापार कहा जाता है, मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध एवं रुढ़ि-प्रयोजनान्यतर रूप जिस सामग्री का होना अनिवार्य माना जाता है, हम उसी सामग्री को अर्थान्तर की प्रतीति के प्रति लिंग (साधक हेतु) मानते हैं ॥५५॥

न हि तत्समयाभावाद् वाच्यं शब्दस्य कल्प्यते ।
प्रतीयमानतायां च व्यक्तमस्यानुमेयता ॥५६॥

उस अर्थान्तर को शब्द का वाच्य इसलिये नहीं कह सकते कि वह संकेतित नहीं होता। यदि उसे प्रतीयमान कहते हैं तो वह स्पष्टतया अनुमेय ही है क्योंकि जिस प्रतीयमान को व्यंग्य की संज्ञा दी जाती है उसकी अनुमेयता सिद्ध हो चुकी है ॥ ५६॥

तस्मात्स्वार्थातिरेकेण गतिर्नार्थान्तरे गिराम् ।
वाचकत्वाश्रयेणातो गुणवृत्तेरसम्भवः ॥५७॥

इसलिये शब्दों में अपने संकेतित अर्थ की अभिव्यक्ति कराने के अतिरिक्त और कोई शक्ति होती ही नहीं। अतः तथाकथित गुण-वृत्ति लक्षणा का आश्रयवाचक शब्द कथमपि नहीं हो सकता ॥५७॥

(ङ) आर्थी व्यंजना की असम्भाव्यता एवं अनुमानरूपता

शब्दशक्ति-विवेचन के अवसर पर यह सिद्ध हो चुका है कि शब्द में अभिधा के अतिरिक्त व्यापारान्तर का सर्वथा अभाव होता है। लक्षणा एवं शाब्दी-व्यञ्जना के उदाहरण देकर इस बात की पुष्टि भी कर दी गई है कि अर्थान्तर की प्रतीति में शब्द कथमपि कारण नहीं होता। अपितु अर्थ ही वह तत्त्व है जो प्रकरणादिवश अर्थान्तर की प्रतीति कराने में समर्थ होता है। इस पर यह कहा जा सकता है कि शाब्दी व्यञ्जना की अनुपपत्ति होने से उसकी मान्यता का खण्डन मान्य हो सकता है। किन्तु वाच्य के अर्थान्तर के व्यञ्जक होने से आर्थी-व्यञ्जना को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः व्यञ्जना नाम की वृत्ति के बिना काम नहीं चल सकता। इसका उत्तर व्यक्तिविवेककार देते हैं कि—प्रकाशमान् सत् या असत् अर्थ का, ऐसे प्रकाशक के द्वारा जो सम्बन्ध-स्मरणादि की अपेक्षा नहीं रखता, सहभाव से प्रकाशन ही अभिव्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना है।[१] प्रकाशक दीपादि वस्तु पर पदार्थ के संबंध की गवेषणा नहीं करते। उनका तो केवल प्रकाशनमात्र व्यापार है। जिस समय प्रकाशक का ज्ञान हो उसी समय प्रकाश्य-वस्तु का बोध होना ही व्यक्ति का स्वरूप है। सत् अर्थ तीन प्रकार का होता है। एक तो कार्य रूप से कारण में विद्यमान, जैसे मृत्तिका में घट, बीज में वृक्षादि एवं दुग्ध में दधि। दूसरा पूर्वोत्पन्न किन्तु अन्धकारादि प्रतिबन्धक वश अप्रकाशित, जैसे दीपक से घट। तीसरा संस्कारात्मक, जैसे धूमवह्नि साहचर्य नियम से धूम को देखकर वह्नि के अनुमान का कार्य। इन तीनों की अभिव्यक्ति भी तीन प्रकार से होती है।[२]

मृत्तिका अथवा बीज आदि कारण में अर्थ, शक्ति के रूप में अन्तर्निहित रहता है। उसका इन्द्रियगोचरात्मक आविर्भाव ही प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति है। यथा क्षीरादि कारणावस्था में तिरोभूत दध्यादि अर्थ की उस रूप में अभिव्यक्ति होती है तो उसका साक्षात्कार सभी कर सकते हैं। कुछ लोग इस अभिव्यक्ति को कार्यजनक रूप शक्ति का ही आविर्भाव कहते हैं। क्योंकि वह कार्य को शक्ति के रूप में कारण में विद्यमान नहीं मानते। जिस प्रकार मृत्तिका में विद्यमान घट का आविर्भाव ही उसकी उत्पत्ति है, उसी प्रकार कारण रूप में विद्यमान तत्त्वों का आविर्भाव ही उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के नाम से विवक्षित है।[3] व्यंग्य की इस प्रकार से अभिव्यक्ति तो कदापि नहीं मानी जा सकती, न ध्वनिकार को ही यह इष्ट है।

अभिव्यक्ति का दूसरा प्रकार यह है कि कार्य का आविर्भाव या उसकी उत्पत्ति तो पहले हो चुकी हो किन्तु किसी प्रतिबन्धकवश वह प्रकाशित न हो पाता हो, उसका किसी प्रकाशक के द्वारा प्रकाशन होता है। ऐसे स्थलों में प्रकाशक सर्वदा गौण रहता है। क्योंकि कार्य की

---

१. नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्मुख्यवृत्त्या व्यंग्यव्यञ्जकभावः सम्भवति, व्यक्तिलक्षणानुपपत्तेः। तथा हि सतोऽसत एव वार्थस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणानपेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरभिव्यक्तिरिति तल्लक्षणमाचक्षते। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७६।

२. तत्र सतोऽभिव्यक्तिः त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

३. तत्रकारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः। तथावस्थानानुपगमे तु सैवोत्पत्तिरित्युच्यते कैश्चित्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

उत्पत्ति तो किसी अन्य कारण से पूर्वतः ही हुई रहती है। प्रकाशक केवल उसके प्रतिबन्ध को दूर भर कर देता है। दूसरी बात यह है कि वस्तु या कार्य का यह प्रकाशन, प्रकाशक के ज्ञान के साथ-साथ उसी प्रकार होता है। जिस प्रकार दीपक घट को उत्पन्न नहीं करता अपितु मृत्तिकादि से उत्पन्न घट की प्रतीति में प्रतिबन्धक अन्धकार को दूर भर कर देता है, साथ ही घट का प्रकाशन भी दीपक के आविर्भाव या प्रकाशन के साथ-ही-साथ होता रहता है, पूर्वोत्तर भाव से नहीं। अतएव वह व्यञ्जक या प्रकाशक है। पूर्वोत्तर भाव से प्रकाशन करने पर कारक और प्रकाशक में अन्तर नहीं किया जा सकता।[१] कहा भी है कि अर्थ के पूर्वतः विद्यमान होने पर ही व्यञ्जक अपने ज्ञान के साथ व्यंग्य के ज्ञान का हेतु है। वह व्यञ्जक इसीलिए है कि अपने बोध के समकाल ही इतर अर्थ का बोध कराता है। अन्यथा पूर्वापर-भाव से अर्थान्तर का बोधक होने पर कारक से व्यञ्जक की भिन्नता ही क्या होगी?[२] ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी कहा है कि व्यञ्जक, दीपक के समान अपने स्वरूप का प्रकाशन करता हुआ ही घटादि पदार्थों का अवभासक होने से व्यञ्जक कहलाता है।[3]

सत् की अभिव्यक्ति का एक तीसरा भी प्रकार है। किन्हीं स्थलों के एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ के साथ अव्यभिचरित रूप से संबंध का बोध हो जाने पर उनमें से एक पदार्थ के साक्षात्कार या उसके कथन से अनुभूतपूर्व दूसरे अर्थ की संस्कारप्रबोधात्मक प्रतीति ही अभिव्यक्ति है; जैसे धूम से अग्नि की अथवा आलेख्य, पुस्तक, प्रतिबिम्बानुकरण एवं शब्द से गवादि अर्थों की प्रतीति होती है।[४] कहने का आशय यह है कि पर्वतादि पर अविच्छिन्नमूला धूमरेखा को देखकर यदि किसी व्यक्ति को महानसादि में बहुशः साक्षात्कृत धूम एवं अग्नि के अभिव्यचरित साहचर्य नियम का स्मरण हो जाय और धूम से उस वह्नि की सत्ता की प्रतीति होने लगे जो इन्द्रियगोचर नहीं है, तो यह भी एक प्रकार की अभिव्यक्ति ही है।

असत् अर्थ की प्रतीति तो एकमात्र सूर्य के प्रकाश से इन्द्रधनुष की प्रतीति के समान एक ही प्रकार की होती है।[५] क्योंकि असत् में प्रकारान्तर संभव नहीं।

व्यक्तिविवेककार, अभिव्यक्ति के इन प्रकारों की मीमांसा करते हुए कहते हैं कि—वाच्य से व्यंग्य अर्थ की अभिव्यक्ति का उपर्युक्त लक्षण ठीक-ठीक घटित नहीं होता। व्यंग्यार्थ की प्रतीति इनमें से न तो प्रथम प्रकार के समान सम्भव है और न द्वितीय प्रकार की अभिव्यक्ति

---

१. तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा दीपादिना घटादेः। —व्यक्तिविवेक पृ०, ७७।

२. तदुक्तम्—स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात्॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

३. ध्वनिकारेणाप्युक्तम्—स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परार्थावभासनो व्यञ्जक इत्युच्यते यथा प्रदीपो घटादेः। इति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

४. तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमादग्नेः, यथा चालेख्यपुस्तकप्रतिबिम्बानुकरणादिभ्यः, शब्दाच्च गवादेः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

५. असतस्त्वेकप्रकारैव, तस्य प्रकारान्तरासम्भवाद्, यथार्कालोकादिनेन्द्रचापादेः इति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७८।

के समान ही। क्योंकि उनका लक्षण एवं स्वरूप जो ऊपर बताया गया है, वह व्यंग्यार्थ के साथ रंचमात्र भी नहीं घटता। उदाहरणस्वरूप प्रथम पक्ष में इसे दध्यादि के समान इन्द्रियगोचर होना चाहिए। व्यङ्ग्यार्थ की इन्द्रियगोचरता ध्वनिकार को भी इष्ट नहीं है। अतः अभिव्यक्ति के प्रथम प्रकार को व्यक्ति मानने से वह भी सहमत नहीं होंगे। द्वितीय प्रकार ध्वनिकार को अवश्य मान्य है। किन्तु उसे वैसा ही स्वीकार करने पर दीपक से घटादि-अर्थ की समकाल-प्रतीति के समान वाच्य से व्यंग्य की भी एक कालावच्छेदेन प्रतीति होनी चाहिए, जो होती नहीं। ध्वनिकार ने अनेक स्थलों पर स्पष्टतया कहा है कि वाच्य और व्यङ्ग्य में भेद का एक मुख्य कारण यह भी है कि व्यङ्ग्य की प्रतीति वाच्यार्थपूर्विका होती है, युगपत् नहीं। जिस प्रकार पदार्थ-ज्ञान, वाक्यार्थ-ज्ञान का कारण है और उसके अनन्तर ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार उस प्रतीयमान वस्तु की प्रतीति वाच्यार्थबोध के अनन्तर ही होती है।[1] व्यक्ति-विवेककार का कथन है कि व्यक्ति के उपर्युक्त दोनों भेदों में किसी भी प्रकार वाच्यार्थ के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की युगपत् प्रतीति सम्भव नहीं। इस प्रकार जो लक्षण लक्ष्य-वस्तु के स्वरूप का स्पर्श तक न करे वह उसके साथ घट सकेगा, यह कदापि नहीं माना जा सकता। किसी भी वस्तु या विषय का लक्षण ऐसा नहीं होना चाहिए जो लक्ष्य-वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ही संस्पर्श न करे।[2]

उपर्युक्त प्रकार से व्यक्ति के आद्य दोनों प्रकारों के न घटने पर, तृतीय संस्कारात्मक प्रकार ही शेष बचता है जिसके अनुसार धूम से वह्नि की प्रतीति होती है। इसे ही व्यक्ति का लक्षण कहा जा सकता है और वह अनुमान ही है। कहने का आशय यह है कि सत् के तीसरे प्रकार की जो अभिव्यक्ति है उसका विवेचन करने पर वह अनुमान का ही लक्षण घटित होती है व्यञ्जना का नहीं। कहा भी है कि त्रिरूप लिंग से लिंगी अनुमेय का जो ज्ञान है वह अनुमान ही है। यहाँ पर भी वाच्यार्थरूप हेतु से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अनुमान के अतिरिक्त और किसी भी प्रक्रिया से संभव नहीं। उपमान आदि से जो अर्थान्तर की प्रतीति होती है वह भी अनुमानमूलक ही है। क्योंकि उपमानादिका भी अन्ततः अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[3] कहा भी है कि अन्य वस्तु को देखकर उससे भिन्न वस्तु की उपमानादि से कल्पना उचित नहीं। नान्तरीयकता

---

१. यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥ —ध्वन्यालोक, का० १।१०।
यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपत्तिः।
—ध्वन्यालोक-वृत्ति १।१०।

२. न चैतल्लक्षणं वाच्ये सङ्गच्छते। तथा हि—सतोऽभिव्यक्तिराद्ययोरर्थयोर्लक्षणं न तत्प्रतीयमानेष्वेकमपि संस्प्रष्टुं क्षमते तस्य दध्यादेरिवेन्द्रियविषयभावापत्तिप्रसङ्गाद् घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनेदन्ताप्रतीतेरसम्भवात्। न च स्वरूपासंस्पर्शि लक्षणं भवति।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ७८।

३. तृतीयस्यास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव संगच्छते, न व्यक्तेः। यदुक्तं—'त्रिरूपाल्लिंगाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानमिति।' तच्चानुमानमेव। न ह्यर्थादर्थान्तरप्रतीतिरनुमानमन्तरेण अर्थान्तरमुपपद्यते। उपमानादीनां च तत्रैवान्तर्भावात्। —व्यक्ति विवेक, पृ० ७८।

अर्थात् अवश्यंभाविता की दशा में ही अन्य से अन्य की कल्पना युक्त होती है। साक्षात्कृत वस्तु-विशेष उसी प्रकार की दूसरी वस्तु के सन्निधान का साक्षात् बोध नहीं कराता अपितु सादृश्यादि किसी न किसी सम्बन्ध के माध्यम से ही वह दूसरी वस्तु का बोध कराने में समर्थ होता है। नियम भी है कि एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी का स्मारक होता है। आकर ग्रंथ का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि सामान्य सम्बन्धी के द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति ही अनुमान का लक्षण है। अतः शब्द एवं अनुमान दो प्रमाण ही वास्तव में प्रमाण हैं।[1] वाच्यार्थ से अर्थान्तर की प्रतीति अबिना-भाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति के स्मरण के बिना संभव नहीं। अन्यथा बिना किसी निश्चित सम्बन्ध के ही अर्थान्तर की प्रतीति मानने पर, एक ही अर्थ से सभी प्रकार के अर्थान्तरों की प्रतीति होने से दोष होगा। वाच्य से अर्थ की सहभावेन प्रतीति भी सम्भव नहीं। अपितु धूम से अग्नि की प्रतीति के समान ही वाच्य एवं व्यङ्ग्य की प्रतीति में भी क्रमभाव का ज्ञान अवश्य होता है। व्यक्ति के उपर्युक्त लक्षण में इसका अभाव होने से उसमें असंभव दोष की प्रसक्ति होती है।[2]

यदि यह कहें कि वाच्य एवं व्यङ्ग्य के सहभाव से प्रकाशित होने का विधान रसादि व्यङ्ग्य को लेकर ही है तो व्यक्ति के उपर्युक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष आपतित होगा। क्योंकि तब वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि के स्थल व्यञ्जना का विषय होने से वंचित रह जायेंगे। क्योंकि उनका प्रकाशक के साथ सहभावेन प्रकाशन कदापि संभव नहीं।[3] रसादि में भी विभावादि के साथ सहभावेन प्रकाशवत्ता संभव नहीं। क्योंकि विभावादि रसादि के कृत्रिम कारण हैं। काव्यरसानुभूति में रत्यादि भी वास्तव में विद्यमान नहीं होते। कृत्रिम विभावादि से प्रतिबिम्ब-कल्प रत्यादि का जब कवियों की वाणी द्वारा प्रकाशन होता है तो वह स्थायिभाव कहे जाते हैं और बोद्धा के अनुभव का विषय होने पर एक विशेष प्रकार के चमत्कार का आधान करते हैं। रत्यादि स्थायिभाव ही इस प्रकार सहृदय-हृदय के आस्वाद का विषय होने पर रस कहे जाते हैं। प्रतिबिम्बकल्प रत्यादिकार्य कृत्रिम विभावादि के साथ सहभावेन प्रकाशित नहीं हो सकते। क्योंकि ऐसा मानने पर उनमें निहित कार्य-कारण भाव ही समाप्त हो जायेगा। पहले कारण होता है तब कार्य, ऐसा नियम है। सहभावेन प्रकाशन से उनके पूर्वापर के नियम के भंग होने से कार्य-कारण भाव भी भंग हो जायेगा। इसलिए जहाँ पर व्यङ्ग्य से सहभावेन प्रकाशित होने का 'व्यक्ति' (व्यञ्जना) का निर्दिष्ट लक्षण मुख्यतया संभव है अर्थात् जिस स्थल में व्यङ्ग्य

---

१. यदाहुः—'न चान्यदर्शनेऽन्यकल्पना युक्ता अतिप्रसंगात्। तस्य नान्तरीयकतायां स्यात्। न हि यथाविधसिद्धः तथाविधसन्निधानं सूचयति। सामान्येन च संबन्धिनार्थप्रतिपत्तिर-नुमानमिति द्वे एव प्रमाणे' इति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७९।

२. न च वाच्यादर्थादर्थान्तरप्रतीतिरबिनाभावसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैव सम्भवति, सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्। नापि सहभावेन, धूमाग्निप्रतीत्योरिव तत्प्रतीत्योरपि क्रमभावस्यैव संवेदनाद् इत्यसंभवो लक्षणदोषः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७९।

३. अथ रसाद्यपेक्षया तयोः सहभावेन प्रकाशोऽभिमत इत्युच्यते, अव्याप्तिस्तर्हि लक्षणदोषः। वस्तुमात्रालंकारप्रकाशस्य प्रकाशकासहभावेनाव्याप्तेः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७९।

की वाच्य के साथ सहभाव से प्रतीति होती है, वह काव्य ही नहीं हो सकता, फिर उसका काव्य-विशेष ध्वनि होना तो दूर की बात है।[1]

प्रकाशक अर्थ दो प्रकार का होता है—उपाधिरूप एवं स्वतंत्र। उपाधिरूप प्रकाशक के तीन भेद होते हैं—ज्ञानरूप, शब्दरूप एवं प्रदीपादिरूप। ज्ञानरूप स्वप्रकाश होता है, शेष स्व एवं पर भाव से प्रकाशक हैं। दूसरे प्रकार के प्रकाशक अर्थ धूमादि हैं जो स्वतंत्र होते हैं। इनमें वाच्यादि व्यञ्जक को उपाधिरूप प्रकाशक नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष एवं अभिधेय अर्थ ही काव्य कहे जायेंगे, और व्यङ्ग्य अर्थ काव्य होने से ही वंचित रह जायेगा, उसका उत्तम कार्य होना तो दूर की बात है। स्वतंत्र रूप से प्रकाशनात्मक दूसरे प्रकार को तो लिंग ही कहना ठीक होगा, व्यञ्जक नहीं। क्योंकि वहाँ व्यक्ति के उस लक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है[2] तथा जो ध्वनिकार को भी अभीष्ट है।

आगे स्वयं ध्वनिकार की उक्ति में अन्तर्विरोध का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—वस्तुमात्र, अलंकार एवं रसादि व्यङ्ग्य रूप त्रिविध ध्वनि का प्रकाशक स्वरूप व्यञ्जक के द्वारा सहभावेन प्रकाशन ध्वनिकार को भी अभिमत नहीं है। उन्होंने कहा भी है कि विभावानुभाव व्यभिचारिभाव ही रस हैं ऐसा जो किसी का कथन है वह भ्रान्तिमूलक है। विभावादि की प्रतीति से अविनाभाविनी रस की प्रतीति होती है, यह सत्य है। किन्तु दोनों की प्रतीति में कार्यकारणभाव अवस्थित रहता है। अतः उनमें क्रम अवश्यंभावी है। शीघ्रतावश वह क्रम प्रकाशित या लक्षित नहीं होता। इसीलिए रसादि व्यङ्ग्य असंलक्ष्यक्रम कहे गये हैं।[3]

इस पर पूर्व पक्ष का उद्भावन करते हुए आचार्य महिमभट्ट कहते हैं कि लक्ष्यों में असमन्वयरूप दोष के भय से यदि व्यक्ति के लक्षण में सहभाव का अभाव मानते हैं और अनुमान

---

१. न च रसादिष्वपि विभावादिप्रकाशनसहभावेन प्रकाशनमुपपद्यते। यतस्तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमानाः सहृदय-हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। न च कारणादिभिः कार्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः सहैव प्रकाशितुमुत्सहन्ते, कार्यकारण-भावावसायस्यैवावसादप्रसङ्गाद्। यत्र तु तल्लक्षणं मुख्यतया सम्भवति तत् काव्यमेव न भवतीति कुत एव तद्विशेषध्वनिरूपता स्यात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ८०।

२. द्विविधो हि प्रकाशकोऽर्थ उपाधिरूपः स्वतंत्रश्चेति तत्र ज्ञानशब्दप्रदीपादिरुपाधिरूपः, तदुक्तं —'त्रयः प्रकाशाः स्वपरप्रकाशा' इति। अन्यः स्वतंत्रो धूमादिः। तत्राद्यस्तावद् भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्य एव प्रत्यक्षाभिधेययोरेवार्थयोः काव्यतापत्तिप्रसंगात्। अन्यस्य तु लिङ्गत्वमेवोपपद्यते न व्यञ्जकत्वं व्यक्तेरनुपपत्तेः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ८०।

३. न च त्रिविधस्यापि व्यंग्याभिमतस्यार्थस्य प्रकाशकसहभावेन प्रकाशस्तस्यापि ध्वनिकारस्याभिमतः। यदयमाह—न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। तत एव च तत्प्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमः अवश्यंभावी। स तु लाघवान्न प्रकाशत इति अलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यंग्या रसादय इति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ८०।

में उसका अन्तर्भाव करते हैं तो लक्ष्य का अतिक्रमण कर अलक्ष्य में भी व्यक्ति के लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति दोष आपतित होता है। अनुमान में भी उपसर्जनीकृतात्म रूप धूमादि से प्रकाश्य अग्नि का प्रकाशन होता ही है। लक्षण में असत् ग्रहण करने से भी अव्याप्ति का निराकरण नहीं हो सकता। क्योंकि प्रदीप से सद्‌रूप घट की अभिव्यक्ति होती है, असद् की नहीं। अतः पुनः अतिव्याप्ति-दोष पड़ता है। और यदि लक्षण में असद् ग्रहण नहीं करते तो सूर्यालोक एवं इन्द्र-धनुष आदि में अव्याप्ति होती है। क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रधनुष आदि असत् ही होते हैं उसी प्रकार व्यक्ति भी असत् ही है।[1] उक्त अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों के परिहार के लिए यदि सत्-असत् दोनों में से किसी का भी लक्षण में उपादान न करें तो उस लक्षण का अनुमान में ही पर्यवसान हो जाता है, व्यक्ति में नहीं। यही हमें इष्ट भी है। वाच्य एवं प्रतीयमान सत् होते हैं और उनके प्रकाशन में क्रम अवश्य ही रहता है। इसीलिए व्यक्ति के निर्दिष्ट लक्षण में असंभव दोष जहाँ का वहीं है।[2]

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि लक्षणा की तरह ही व्यञ्जना भी शब्द की शक्ति होने में समर्थ नहीं। लक्षणा में तत्वारोप (वाच्य पर लक्ष्य का आरोप) निमित्त होता है। वही लिङ्ग हैं और उससे लिङ्गीभूत साधर्म्य आदि जिन अर्थों की प्रतीति होती है वे अनुमेय ही होते हैं। एक पदार्थ से अन्य पदार्थ का ज्ञान लिङ्ग से लिङ्गी अर्थात् हेतु से साध्य का ज्ञान ही है जिसकी प्रतीति में अनुमान की प्रक्रिया ही काम करती है।

व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना का भी परिष्कार करने पर जो लक्षण बनता है वह अनुमान से सर्वथा अभिन्न है। किसी भी अर्थ की अभिव्यक्ति कार्य-कारण, प्रकाश्य-प्रकाशक एवं ज्ञाप्य-ज्ञापक, इन तीन भावों से ही सम्भव है। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति की तरह कार्यकारणभाव से व्यंग्य अर्थ का प्रकाशन न होता है और न सम्भव ही है। घटप्रदीप न्याय से प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध से भी व्यञ्जना नहीं बन पाती। क्योंकि प्रकाश्य और प्रकाशक की स्थिति एवं प्रतीति एक ही काल में होती है, वहाँ पूर्वापरभाव अनपेक्षित होता है। अतः शेष तृतीय प्रकार ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव से ही व्यंग्य अर्थ की प्रतीति सम्भव मानी जा सकती है जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति कराने वाली अनुमान की प्रक्रिया से सर्वथा अभिन्न है। अतः अनुमान ही व्यंजना है। इस प्रकार व्यक्ति (व्यञ्जना) के लक्षण का परिष्कार एवं उसकी गहन मीमांसा करने पर उसका अन्तर्भाव अनुमान में ही साधित हो जाता है, फिर व्यञ्जना को अभिव्यक्ति का एक स्वतंत्र प्रकार मानने से क्या लाभ; जब कि अनुमान की प्रक्रिया शास्त्र में पूर्वतः विद्यमान एवं सर्व-मान्य है!

---

१. अथैतद्दोषभयात् सहभावानपेक्षमेतल्लक्षणमुच्यते। तथाप्यनुमाने अतिव्याप्तिः। तत्राप्युपसर्जनीकृतात्मना धूमादिना प्रकाश्यस्य प्रकाशो अस्त्येव। अथ असद् ग्रहणेन सा निरस्तेत्युच्यते तर्हि घटप्रदीपयोस्तस्याव्याप्तिः घटस्य सत्वात्। अथासद् ग्रहणं न करिष्यते इति तर्हि अर्कालोकेन्द्रचापादौ अव्याप्तिः। इन्द्रचापादेरसत्वात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ८१।

२. अथोभयोरपि ग्रहणं न करिष्यत इति तर्ह्यनुमानस्यैव तल्लक्षणं पर्यवस्यति, न व्यक्तेः। तच्चेष्टमेव नः, वाच्यप्रतीयमानयोः सतोरेव च क्रमेणैव प्रकाशोपगमात्। तस्मात् तदवस्थ एवासम्भवो लक्षणदोषः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ८१।

इस समूचे विवेचन को आचार्य महिमभट्ट ने ग्रन्थ-प्रणयन की अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार निम्नलिखित चार संग्रह-कारिकाओं में उपनिबद्ध कर दिया है ।

वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यंङ्गचव्यञ्जकतार्थयोः
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात् ॥१।३३॥

वाच्य एवं प्रत्येय (व्यंग्य) अर्थों में व्यङ्गचव्यञ्जकभाव नहीं बन सकता अर्थात् वाच्य प्रतीयमान अर्थ का व्यञ्जक नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रकाशक प्रदीप एवं उससे प्रकाशित घट दोनों जिस प्रकार एक साथ भी प्रकाशित होते रहते हैं उसी प्रकार वाच्य एवं प्रतीयमान युगपत् प्रतीति के विषय नहीं हो सकते ॥१।३३॥

पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात् ।
वृक्षत्वाम्रत्वयोर्यद्वद् यद्वच्चानलधूमयोः ॥१।३४
अनुमानत्वमेवात्र युक्तं तल्लक्षणान्वयात् ।

अतः पक्षधर्मता (हेतु धर्म की पक्ष आश्रय में उपलब्धि) के सम्बन्ध से व्याप्ति की सिद्धि की अपेक्षा समाप्त हो जाती है और वृक्षत्व एवं आम्रत्व के समान अथवा अग्नि एवं धूम के समान यहाँ भी अनुमेयता ही स्वीकार करना युक्तियुक्त है। इसी में व्यक्ति (व्यञ्जना) के लक्षण का ठीक-ठीक अन्वय बन पाता है।

असतश्चेन्द्रचापादेः का व्यक्तिः कृतिरेव सा ॥१।३५॥
कार्यत्वं ह्यसतोऽप्यीष्टं हेतुत्वं न विरुध्यते ।
सर्वसामर्थ्यविगमाद् गगनेन्दीवरादिवत् ॥१।३६॥

इन्द्रधनुष आदि के समान सत् से असत् की प्रतीति को व्यक्ति (व्यञ्जना) नहीं कहा जा सकता अपितु उसके विपरीत उसे उत्पत्ति ही माना जाता है।

असत् वस्तु ही कार्य होने की क्षमता रखता है किन्तु वहाँ हेतुता नहीं बन सकती। क्योंकि उसमें हेतु होने की शक्ति कथमपि नहीं है, जैसे आकाश-कुसुम। यह कुसुम असत् होते हुए भी कार्य तो है ही। कमी उसमें इतनी ही है कि वह कारण-भाव से व्यवस्थित नहीं हो सकता।

चतुर्थ-अध्याय

प्रथम-विमर्श

तात्पर्यार्थ एवं अनुमेयार्थ

वैयाकरण और मीमांसक शब्दार्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार किसी भी शब्द के उच्चारण के अनन्तर जितने अर्थों की प्रतीति होती है वह सब शब्दव्यापार का विषय है। नैयायिक इसके विपरीत शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सामयिक मानते हैं[1]। अतः संकेत ही उनके मत से एकमात्र शब्दव्यापार है। इस शब्द से इस अर्थ का बोध करना चाहिए, इत्याकारक-ज्ञान या इच्छा ही संकेत है। अतः संकेत ही शक्ति है और वह एकमात्र अभिधा ही है। अर्थान्तर की प्रतीति चूँकि संकेत से नहीं होती, अतः वह शब्द-व्यापार का विषय न होकर अनुमान का विषय है।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन आदि आलंकारिकों ने व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ के होने का भी विधान किया है और इस प्रकार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ नामक शब्द के तीन प्रकार के अर्थों की सत्ता प्रमाणित की है तथा सबको शब्द-व्यापार का विषय माना है। महिमभट्ट ने अपने पूर्ववर्ती सभी प्रकार के आचार्यों की शब्दव्यापारविषयक मान्यताओं पर विचार किया है और एकमात्र अभिधा को ही शब्दव्यापार स्वीकार किया है। इसका विवेचन पूर्व-परिच्छेद में हो चुका है। इस अध्याय में हम महिमभट्ट कृत मीमांसकों के तात्पर्यार्थ, आलंकारिकों के व्यंग्यार्थ एवं वक्रोक्ति के सिद्धान्त का खण्डन एवं उन सबके अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया का निरूपण करेंगे।

(क) विषभक्षण वाक्य की अनुमानरूपता का विधान

अब तात्पर्यवादी उन मीमांसकों के सिद्धान्त का विवेचन करते हैं जो इस बात को कभी स्वीकार नहीं करते कि अभिधा के अतिरिक्त शब्दाश्रित अन्य कोई व्यापार ही नहीं होता और संकेतितार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति शब्दाश्रित नहीं अपितु अर्थाश्रित ही होती है। उनका कहना है कि अनुमितिवादी का यह मत कि अर्थान्तर का प्रत्यायक अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार सम्भव ही नहीं, युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि जिस तात्पर्य को ध्यान में रखकर शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही शब्दार्थ है। कहा भी है—यत्परः शब्दः स शब्दार्थः। अर्थात् वक्ता जिस अभिप्राय को मन में रखकर शब्द का प्रयोग करता है वह अभिप्राय उस शब्द का वाच्य अर्थ ही है। शब्द में अर्थान्तर के बोध कराने की शक्ति ही नहीं होती, यह बात भी पूर्ववत् युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। क्योंकि "विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः" (विष खा लो पर उसके घर खाने मत जाओ) उक्ति का यह अर्थ कि 'इसके घर भोजन करना विष

१. सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययः, न तु स्वभाविकः।—न्यायसूत्र २।१।५६ पर वात्स्यायनभाष्य।

खाने से भी अधिक बुरा है' वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अतिरिक्त कहाँ से निकलता है। संकेतग्रह के अभाव में उक्त अर्थ की प्रतीति अभिधाव्यापारजन्य नहीं मानी जा सकती। फलतः वह अर्थ भी वाच्य नहीं कहा जा सकता। यहाँ वाच्यार्थ तो विधि रूप अर्थात् 'विष खाओ' है। अतः इस प्रकार असंकेतित अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए अभिधा के अतिरिक्त किसी न किसी शब्द-व्यापार का मानना परम आवश्यक एवं सर्वथा युक्तिसंगत है।

इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए महिमभट्ट ने कहा है कि 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' (विष खा लो पर उसके घर खाने मत जाओ) इत्यादि स्थलों में अर्थान्तर की प्रतीति वाक्य के अर्थ प्रकरणादि के आधार पर ही होती है, साक्षात् शब्द से नहीं। यह वाक्य एक मित्र की उक्ति है। वह व्यक्ति जो उन्मत्त नहीं है, मित्रादि के प्रति हित की कामना से कहीं पर भोजन के निषेध का विधान करता हुआ अकस्मात् विष खाने की आज्ञा या सलाह नहीं देता। अतः वक्ता एवं प्रकरणादि का स्वरूप बोद्धा के ध्यान में है। फिर विषभक्षण की अनुज्ञा से ही वह अनुमान कर सकता है कि उसके घर कथमपि भोजन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार विषभक्षण की आज्ञारूप वाक्यार्थ का उपन्यास अप्रासंगिक है जो पूर्वोक्त न्याय से प्रस्तुत से भिन्न या विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन में परायण है। अतः उसको ही भोजन के निषेध में हेतु समझना चाहिए। इस तरह वह भी अनुमान का ही विषय है, शब्द से निकला हुआ अर्थ नहीं।[1]

आशय यह है कि एक मित्र जब यह कहता है कि विष खाओ बल्कि इसके घर मत खाओ तो वाक्य का अर्थ प्रसंग-विरुद्ध है यह सबको स्पष्ट है। क्योंकि मित्र को ऐसा नहीं कहना चाहिए। लेकिन वह कहता है यह भी सत्य है। यह वाक्यार्थ ही हमें इस बात के लिये बाध्य करता है कि इस वाक्य का कोई अन्य आशय है। अतः वह वाक्यार्थ ही अर्थान्तर की प्रतीति का निमित्त है। यह निश्चय होते ही कि इस अनुचित वाक्यार्थ के कारण ही हमें दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि यहाँ अनुमान की प्रक्रिया ही काम कर रही है। अतः इसे शब्दव्यापार भूलकर भी नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार अर्थान्तर की यह प्रतीति आर्थी है, तात्पर्यशक्तिकृत नहीं। इसी भाव को निम्नलिखित संग्रहार्याओं में व्यक्त किया है :

विषभक्षणादपि परामेतद् गृहभोजनस्य दारुणताम् ।
वाच्यादतोऽनुमिमते प्रकरण-वक्तृ-स्वरूपज्ञाः ।।१।६७।।

प्रकरण एवं वक्ता के स्वरूप को जानने वाले विषभक्षणात्मक वाक्य के वाच्यार्थ से ही अनुमान कर लेते हैं कि वक्ता का अभिप्राय है—इसके घर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है।

---

१. 'विषं भक्षय मा चास्यगृहे भुङ्क्थाः' इत्यादावपि यदेतद्विषभक्षणानुज्ञानं तदर्थप्रकरणादिसहायमेतद्गृहे भोजनस्य ततोऽपि दारुणतरपरिणामत्वमनुमापयति। न ह्यनुन्मत्तः सुहृदादौ हितकामः सन्नस्य क्वचिद् भोजननिषेधं विदधानः अकस्माद्विषभक्षणमनुजानातीत्यवगतवक्तृप्रकरणादिस्वरूपः प्रतिपत्ता विषभक्षणानुज्ञानादेव तद्गृहभोजनस्यात्यन्तमकरणीयत्वमनुमातुमर्हति। विषभक्षणानुज्ञानादेर्वाक्यार्थस्याप्रस्तुतस्यैवोपन्यासो हि पूर्वोक्तेन नयेन प्रस्तुतातिरिक्तार्थान्तरप्रतिपादनपरत्वात् तत्र हेतुतयावगन्तव्य इति न शब्दस्य तत्र व्यापारः परिकल्पनीयः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १२१–१२२।

विषभक्षणमनुमनुते न हि कश्चिदकाण्ड एव सुहृदि सुधीः ।
तेनात्रार्थान्तरगतिरार्थी तात्पर्यशक्तिजा न पुनः ॥१।६८॥

विषभक्षणात्मक वाक्य से अन्य अर्थ की अनुमिति इसलिए भी कर लेते हैं कि कोई भला मित्र बिना किसी उचित प्रसंग के विषभक्षण की सलाह नहीं दे सकता । इसलिए इस विषभक्षणात्मक वाक्य के एक अर्थ (वाच्य) से अर्थान्तर की प्रतीति आर्थी ही है तात्पर्य-शक्ति से प्रतिपादित शाब्दी नहीं । यहाँ भी अर्थ ही दूसरे अर्थ की प्रतीति का हेतु है न कि मीमांसाकों की तात्पर्य-शक्ति जिसका कार्य शब्दार्थों के परस्पर अन्वय द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराना मात्र है ।

(ख) दीर्घदीर्घतर इषुव्यापार का उदाहरण

तात्पर्यवादी कुमारिलभट्ट के ही शिष्य प्रभाकर प्रभृति मीमांसकों के एक दूसरे वर्ग की मान्यता है कि——शब्दोच्चारण के अनन्तर जितने प्रकार के अर्थों की प्रतीति होती है उन सबका निमित्त एकमात्र शब्द ही है । क्योंकि शब्द ही उनके अव्यवहित पूर्व में नियत रहता है । नियत रूप से कार्य के पूर्व होना ही कारण का लक्षण है । 'यावत्तैलं तावद् व्याख्यानम्' न्याय से जहाँ तक कार्य है सब कारण मूलक है चाहे वह दीर्घ, दीर्घतर या दीर्घतम क्यों न हो। चूँकि वाच्य एवं अर्थान्तर सबकी प्रतीति शब्दमूलक है अतः शब्द एकमात्र अभिधा से ही सभी प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है । व्यञ्जना, अनुमिति एवं भोजकत्व आदि व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नहीं। अथ च आरब्ध का अन्तगमन ही बुद्धि का लक्षण है। वाच्यार्थ के बोध के लिए प्रवृत्त ज्ञानरूपा अभिधा उन सभी अर्थों का बोध करा सकती है, जिन्हें तात्पर्य, प्रतीयमान, व्यंग्य या अनुमेय आदि पदों से कहा गया है । अतः जिस प्रकार बलवान् व्यक्ति के द्वारा प्रहित एक ही बाण रिपु के वर्मछेदन, मर्मभेदन और अन्त में प्राणहरण में भी समर्थ होता है उसी प्रकार सुकविप्रयुक्त शब्द एकमात्र अभिधाशक्ति से ही स्वार्थाभिधान के साथ-साथ सभी प्रकार के अर्थान्तरों का भी बोध कराने में सर्वथा समर्थ है ।[1] वह केवल एक वाच्य अर्थ की प्रतीति कराकर ही विरत नहीं हो जाता अपितु तब तक सशक्त बना रहता है जब तक कि विवक्षितार्थ अर्थात् वक्ता के अभिप्राय की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति न हो जाय । अतः शब्द के व्यापार-भेद की कल्पना उचित नहीं । 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (शब्द जिस परक होता है वही उसका अर्थ है) की उक्ति का प्रयोग इसी अभिप्राय से हुआ है कि इस व्यापार को शब्द का ही मानना न्यायसंगत है- अर्थ का नहीं ।[2] अतः वक्ता का वह गूढ़ातिगूढ़ अभिप्राय भी, जिसको मन में रख कर वह शब्द का प्रयोग करता है, वाच्य ही है ।

---

१. यदप्यन्ये मन्यन्ते——वाच्यावगमोपक्रमः प्रतीयमानार्थान्तरावसायपर्यन्तोऽप्यसेक एव दीर्घ-दीर्घःशब्दस्येषोरिव व्यापारः, न पुनरर्थान्तरस्य कश्चित् संवेद्यते । यथा ह्येक एवेषुर्बलवता धनुष्मता मुक्तः शत्रोरुरश्छदमुरश्च भित्वा जीवितमपहरति, न च तस्य वृत्तिभेदः, तथा शब्दोऽपि सत्कविना सकृत् प्रयुक्त एव क्रमेण स्वार्थाभिधानमर्थान्तरप्रतीतिं चैकयैव प्रवृत्या वितनोति । न च तस्य व्यापारभेदः कश्चित् । ——व्यक्तिविवेक, पृ० १२२-२३ ।

२. किंच यत्परःशब्दः स शब्दार्थ इति शब्दस्यैवासौव्यापारो न्याय्यो नार्थस्येति ।
——व्यक्तिविवेक, पृ० १२३ ।

आचार्य महिमभट्ट ने भाट्ट मीमांसकों के तात्पर्यार्थ के साधक उक्त तर्कों को युक्तिसंगत नहीं बताया। उनका कथन है कि––शब्द साक्षात् रूप से अर्थान्तर की प्रतीति नहीं करा सकता क्योंकि साक्षात् तो वह अपने अर्थ का भी अभिधान नहीं कर पाता। संकेत की सहायता से ही वह स्वार्थाभिधान में समर्थ हो पाता है, अन्यथा नहीं। अतः वह शब्द जब अपने वाच्यार्थ की प्रतीति का ही साक्षात् हेतु नहीं होता तो अर्थान्तर की अभिव्यक्ति के प्रति उसमें साक्षात् हेतुता कैसे आ सकती है, जहाँ संकेतग्रह आदि सहायक तत्त्व भी नहीं होते, और 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' न्याय से स्वार्थाभिधान में ही उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है? अतः शब्द साक्षात् अर्थात् बिना व्यवधान के अर्थान्तर की प्रतीति का हेतु कथमपि नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि साक्षात् नहीं तो परम्परया तो शब्द अर्थान्तर के प्रति हेतु हो सकता है। अर्थात् शब्द अर्थ का हेतु होता है और अर्थ अर्थान्तर के प्रति हेतु होता है। अतः परम्परया शब्द भी अर्थान्तर के प्रति हेतु कहा जा सकता है। किन्तु सिद्धान्त-विरुद्ध होने से यह कथन भी ठीक नहीं। परम्परा से हेतु होने वाले पदार्थों के साथ वस्तुओं में हेतु-फलभाव का व्यवहार नहीं होता। मधुमास में कुसुम-विकास के प्रति सिंचन का साधन होने से घट में हेतुता है और घट का साक्षात् निमित्त-कारण कुलाल होता है, अतः परम्परया कुलाल को भी कुसुम-विकास के प्रति हेतु मानना पड़ेगा। परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। जो साक्षात् हेतु है उसी के साथ कारणता का व्यवहार उपयुक्त होता है। अन्यथा पुत्र के क्रियाकलापों के प्रति परम्परया हेतु होने से पिता में कारणता आ जायेगी और पिता-पुत्र दोनों के परस्पर के व्यवहार में सांकर्य होने लगेगा।[1]

किंच बाण के दीर्घदीर्घतर व्यापार के दृष्टान्त का यह उपन्यास यहाँ सर्वथा अननुरूप एवं अत्यन्त ही विषम है। जिस प्रकार बाण स्वभाव से ही छेद्य भेद्य आदि अर्थ के विषय में एक ही प्रेरणा से अनेक कार्य सम्पन्न करता है, शब्द की क्रिया उसी प्रकार नहीं होती। अपितु संकेतग्रह की सहायता से ही शब्द स्वार्थाभिधानरूप अपने व्यापार को सम्पन्न करता है, स्वभावतः अर्थात् निरपेक्षरूप से नहीं। अतः शब्द का जहाँ संकेत होगा वहीं उसकी प्रवृत्ति या व्यापार भी। चूँकि अभिधेयार्थ के विषय में ही उसका संकेत होता है इसलिए उसी के साथ शब्द का व्यापार बन सकता है, अन्य के साथ नहीं। संकेतग्रह के बिना, अर्थान्तर के साथ भी शब्द के व्यापार की बात स्वीकार करने पर, किसी भी शब्द से अभिधेयार्थ की तरह ही अर्थान्तर की भी प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए जहाँ पर संकेत की अपेक्षा होती है वहीं पर शब्द का व्यापार होता है, तथा अर्थान्तर की प्रतीति में अर्थ को ही कारण समझना युक्तियुक्त एवं तर्क संगत है।[2]

---

१. तदयुक्तम्। साक्षाच्छब्दस्यार्थप्रतीतिहेतुत्वासिद्धेः। पारम्पर्येण तु तस्य हेतुत्वोपगमे वस्तूनां हेतुफलभावव्यवहारनियमो न व्यवतिष्ठते। ततश्च कुलालोऽपि सेकसलिलोपकरणभूतकुम्भं कुर्वन् माधुमास इव कुसुमविकासहेतुरिति मुख्यतया ख्यायेत। इत्यर्थस्यैव व्यापारोऽभ्युपगन्तुं युक्तो न शब्दस्य। न हि यः पुत्रस्य व्यापारः स पितुरेवेति मुख्यतया शक्यते वक्तुम्, तयोरन्योन्यव्यापारसांकर्यदोषप्रसंगात्। ––व्यक्तिविवेक, पृ० १२३।

२. किंचायं विषमः शरदृष्टान्तोपन्यासः। नहि यथा सायकः स्वाभावत एव छेद्यभेद्याद्यर्थविषयमेकयैव वृत्या तत्तत्कार्यं करोति, तथा शब्दः। स हि संकेतसापेक्षः स्वव्यापारमारभते न

(ग) तात्पर्यार्थार्थ की वाच्यता का खण्डन

तात्पर्यार्थ को लेकर भाट्टमतोपजीवी मीमांसकों की शब्दार्थ-विषयक कुछ मान्यताएँ हैं। इनके मत से तात्पर्या नाम की एक शब्दशक्ति होती है जो अभिधा से भिन्न होती है और वाच्यार्थ से भिन्न तात्पर्यार्थ नामक अर्थ को व्यक्त करती है जिसका दूसरा नाम वाक्यार्थ है। तात्पर्याशक्ति के साथ ही ये लोग अर्थापत्ति प्रमाण भी मानते हैं तथा अर्थान्तर की प्रतीति में तात्पर्यावृत्ति के साथ ही अर्थापत्ति का भी योग होता है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। महिमभट्ट नैयायिकों की तरह अर्थापत्ति को व्यतिरेक अनुमान में ही अन्तर्भूत मानते हैं। अतः अनुमेयार्थ की सिद्धि के लिए इन प्रतिपक्षियों के मतों का उपन्यास ग्रंथकार को परम आवश्यक प्रतीत हुआ। यह विवाद महिम और कुमारिल का नहीं अपितु व्याकरण, न्याय और मीमांसा का है, जो बहुत काल से चला आ रहा था। महिमभट्ट ने दर्शन के अन्य तत्त्वों के समान ही शब्दार्थ-सम्बन्ध एवं शब्दशक्ति विवेचन पर मीमांसकों के तात्पर्यवाद का खण्डन कर वहाँ न्याय की अनुमिति की प्रक्रिया का मण्डन किया है, जिसमें लाघव भी है। अलंकारशास्त्र के इतिहास में महिम-भट्ट को ही यह श्रेय है कि उन्होंने सर्वप्रथम शब्दार्थ एवं शब्दशक्ति का विवेचन व्याकरण एवं दर्शन के स्तर पर किया, तथा उनकी मान्यताओं का उद्धरण देकर उनकी प्रवृत्ति की गहन मीमांसा की। अनन्तर मम्मट, विश्वनाथ कविराज एवं पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति उत्तरकालीन प्रायः सभी आलंकारिकों ने इन्हीं प्रश्नों को उठाकर इनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया तथा मीमांसकों के पक्ष का खण्डन कर ध्वनि या व्यञ्जना की प्रस्थापना में वही सब युक्तियाँ दीं, जिनका उपन्यास महिमभट्ट 'व्यक्तिविवेक' में पहले ही कर चुके थे।

काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में मम्मट ने शब्द के वाचकत्व का निरूपण करते हुए वही बात कही है जो यहाँ पर महिमभट्ट ने अर्थान्तर की प्रतीति में शब्द-व्यापार का खण्डन करते हुए कहीं है कि—शब्द, संकेत की सहायता से ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है।[1] तथा पंचम उल्लास में व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता को सिद्ध करने के लिए तात्पर्यवादियों के 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः', 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरव्यापारः' एवं 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' आदि युक्तियों का 'व्यक्तिविवेक' में प्रतिपादित सरणि पर ही उपन्यास पर व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यार्थ से भिन्न बताते हुए उसकी प्रतीति में अभिधा व्यापार की असमर्थता दिखायी है।[2] साहित्य-

---

स्वभावत एवेति यत्रैवास्य संकेतस्तत्रैव व्याप्रियते। ततश्चाभिधेयार्थविषय एवास्य व्यापारो युक्तो नार्थान्तरविषयः, तत्र संकेताभावात्। तदभावेऽपि तत्र तत्परिकल्पने सर्वः कुतश्चिद-भिधेयार्थवदर्थान्तरमपि प्रतीयात्। तस्माद्यत्र संकेतापेक्षा तत्रैवास्य व्यापार इत्यवगन्तुं युक्तं, नार्थान्तरे, तत्र वक्ष्यमाणनयेनार्थस्यैव तदुपपत्तिसमर्थनादिति।

—वही, पृ० १२३-१२४।

१. इह अगृहीतसंकेतस्य शब्दस्य अर्थ-प्रतीतेः अभावात् संकेत-सहाय एव शब्दः अर्थ-विशेषं प्रतिपादयति। —काव्यप्रकाश, वृत्ति २।७।

२. 'येत्वभिदधति सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरव्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः सशब्दार्थः' इति च...। यत्तु विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः इत्यत्र। यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो

दर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने भी अभिधा का लक्षण करते हुए उसे संकेतितार्थ की ही बोधिका कहा तथा व्यञ्जना की परिभाषा यह की है कि अभिधा आदि व्यापार के विरत होने पर जिससे अर्थान्तर की प्रतीति हो, वही व्यञ्जना है। इसमें शब्द के साथ-ही-साथ अर्थ आदि की भी शक्ति निहित होती है।[1] क्योंकि शब्द, बुद्धि और कर्म इनमें विराम के अनन्तर पुनः व्यापार नहीं होता। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी वृत्तिवार्तिक में अप्पयदीक्षितकृत अभिधा के लक्षण का खण्डन करते हुए महिमभट्ट के इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है कि शब्दजन्य अर्थबोध में जो कारण हो, ऐसी अभिधा से भिन्न कोई शक्ति प्रमाणसिद्ध नहीं।[2]

मीमांसकों की 'इषुवत् दीर्घदीर्घतर व्यापार', 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' तथा 'विष-भक्षणवाक्य' ये तीन युक्तियाँ हैं जिनके आधार पर वे तात्पर्यार्थ रूप वाक्यार्थ से व्यतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की सत्ता नहीं मानते। इनमें से 'इषुवत् दीर्घदीर्घतर व्यापार' प्रभाकर के अनुयायी अन्विता भिधानवादियों का पक्ष है तो 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' के प्रतिपादक अभिहितान्वय-वादी भाट्ट मीमांसक कहे जाते हैं। इनके अनुसार शब्दार्थ ही वाच्यार्थ होता है, उसकी प्रतीति अभिधा से होती है। वाक्यार्थ वाच्य या शब्दार्थ से भिन्न होता है। उसकी अभिव्यक्ति पदार्थों के परस्पर के अन्वय से होती है। इसीलिए उसे तात्पर्य भी कहते हैं और तात्पर्यशक्ति को अभिधा से भिन्न मानते हैं।

आचार्य महिमभट्ट मीमांसकों के इन दोनों पक्षों के विरोधी हैं क्योंकि वह वाच्यार्थ के अतिरिक्त अनुमेयार्थ को भी मानते हैं और उसकी प्रतीति को शाब्दी न कहकर आर्थी कहते हैं। चूँकि अनुमेयार्थ की प्रतीति के हेतु वाच्यार्थ की अनुपपत्ति होती है अतः वाच्य ही हेतु बन कर अर्थान्तर की अनुमिति कराता है, जो अनुमान का विषय होने से अनुमेय ही हो सकता है। तात्पर्यार्थ इसलिए नहीं कि तात्पर्य नामक शब्दशक्ति की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। यदि तात्पर्यार्थ को अनुमेय और तात्पर्य-शक्ति को अनुमान कहें तो महिमभट्ट को कोई आपत्ति नहीं। उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि महिमभट्ट शब्द की एकमात्र शक्ति अभिधा को ही मानते हुए भी अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के इषुवत् दीर्घदीर्घतर व्यापार के पक्ष से इसलिए सहमत नहीं हैं कि अनुमेय अर्थ की सत्ता उन्हें अभीष्ट है जिसे अभिधेय में किसी भी प्रकार समाहित नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर तात्पर्यवादियों के पक्ष से भी इसलिए असहमत हैं कि वे लोग तात्पर्य नामक शक्ति को शब्द का ही एक व्यापार मानते हैं। महिमभट्ट के अनुसार अभिधा ही शब्द का एकमात्र सम्भव व्यापार है।[3] अर्थान्तर की प्रतीति जहाँ भी होती है वह शाब्दी न होकर आर्थी होती है जिसकी व्याख्या के लिए अनुमान की प्रक्रिया पहले से ही विद्यमान है।

लभ्यते तावति शब्दस्य अभिधैव व्यापारः ततः कथं मित्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपिसिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्। काव्यप्रकाश, पृ० २२५-३०।

१. विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥ —साहित्यदर्पण, २।१२१३।

२. न च अभिधातः शक्तिरतिरिक्ता शब्दजन्यप्रतिपत्तिप्रयोजिका काचिदस्तीत्यत्र प्रमाणमस्ति।
—रसगंगाधर, पृ० १७६, (काव्यमाला, बम्बई)।

३. शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता। —व्यक्ति विवेक, का० १।२७।

उपर्युक्त व्याख्यान के निष्कर्ष का एक ही संग्रह-श्लोक में निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि शब्द की एकमात्र शक्ति अभिधा ही इष्ट है । लक्षणा, व्यञ्जना एवं तात्पर्या नाम की शक्तियाँ शब्द में सम्भव नहीं । अभिधेय से भिन्न अर्थ की जहाँ भी प्रतीति होती है वह सब अर्थ का व्यापार है और इसलिए अनुमान का विषय है—

अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने ।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः ।।——व्य० वि०, का० १।७१।

द्वितीय-विमर्श

ध्वनि-सिद्धान्त-विमर्श

(अ) ध्वनि-संज्ञा की अनुपपन्नता

महिमभट्ट की प्रतिज्ञा है कि वह ध्वनि-सिद्धान्त का अनुमान में ही अन्तर्भाव सिद्ध करेंगे। इसीलिए उन्होंने व्यक्तिविवेक ग्रंथ की रचना की है। अतः उन्होंने ध्वनि के प्रत्येक पहलू पर विचारविमर्श किया है और उसकी सत्ता की सम्भाव्यता का अपलाप करने के लिए उनमें दोष खोज निकाले हैं। ध्वनि-सिद्धान्त की गहन मीमांसा एवं उसके अनुमान में अन्तर्भाव की सिद्धि के प्रसंग में सबसे पहले ग्रंथकार ने काव्य की ध्वनि-संज्ञा पर आपत्ति उठायी है और उसे अनुपयुक्त ठहराया है।

काव्यविशेष के लिए ध्वनि के व्यपदेश का श्रीगणेश आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया है। वहीं पर ध्वनि-संज्ञा के विधान का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा है कि––काव्य में ध्वनि पद का प्रयोग सर्वथा नवीन है और वैयाकरणों से लिया गया है। व्याकरण शास्त्र में ध्वनिपद पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त के अनुसार शब्द दो प्रकार के होते हैं––नित्य एवं अनित्य। लोक में सतत प्रयुज्यमान घटपटादि शब्द अनित्य हैं, स्फोट नित्य। व्याकरणदर्शन के अनुसार कोई भी वर्ण उच्चरित होने पर प्रथम क्षण उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण तक बना रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। सतत प्रयुज्यमान घटपटादि सभी शब्द ऐसे ही हैं। अतः क्षणभंगुर एवं विनाशशील होने से ये अनित्य कहलाते हैं। ये अनित्य घटपटादि शब्द आतमरूप में अवस्थित नित्य-शब्दों के प्रतीक होते हैं। प्रतिक्षण विनाशशील इन अनित्य शब्दों से अर्थ की प्रतीति इसीलिए होती है कि वे जिन नित्य शब्दों के प्रतीक होते हैं वही अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं। क्योंकि अर्थ के साथ उनका ही साक्षात् सम्बन्ध होता है, अनित्य घटपटादि शब्दों का नहीं। इसका रहस्य यह है कि लोक में प्रयुज्यमान घटपटादि शब्दों का अर्थ से सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि इसके लिए स्थायित्व की अपेक्षा होती है, जो इनमें किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। इन्हीं में से नित्य शब्दों को स्फोट एवं अनित्य शब्दों को ध्वनि की संज्ञा दी गयी है।

'स्फोट' नामकरण का निमित्त इसकी व्युत्पत्ति भी है। 'स्फुटयति अर्थ व्यनक्ति' इस अर्थ में स्फुट क्रिया से करण में घञ् प्रत्यय होकर स्फोट शब्द व्युत्पन्न होता है। वाक्य में यही प्रधान होता है क्योंकि अर्थ की अभिव्यक्ति इसी के द्वारा होती है। इस स्फोट की प्रतीति साक्षात् नहीं होती, न हो ही सकती है। अपितु यह व्यंग्य होता है। घटपटादि अनित्य पद ही इसकी सत्ता के व्यञ्जक होते हैं। चूँकि लोक में प्रयुज्यमान अनित्य घटपटादि शब्द ही स्फोट की सत्ता

को ध्वनित करते हैं इसीलिए इनको ध्वनि की संज्ञा दी गयी है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन का कथन है कि--विद्वान् वैयाकरणों ने श्रूयमाण वर्णों को स्फोट के व्यञ्जक होने से ध्वनि कहकर व्यवहार किया है। इसी प्रकार उनके अनुयायी काव्यतत्त्ववेत्ताओं ने भी उन शब्दों और अर्थों से संवलित काव्य को ध्वनि की संज्ञा दी है जो प्रतीयमान अर्थ की प्रधानतया अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार व्यञ्जकत्व साम्य से ही काव्य-विशेष की ध्वनि-संज्ञा हुई है।[1] व्याकरण से काव्य का भेद इतना ही है कि व्याकरण में घटपटादि प्रत्येक पद ध्वनि होते हैं जबकि काव्य में केवल प्रतीयमान के अभिव्यञ्जक ही ध्वनि कहलाते हैं। ध्वनिकाव्य की एक विशेषता और है कि यहाँ प्रतीयमान का व्यञ्जक होने से अर्थ भी ध्वनि कहा जाता है, जबकि व्याकरण में केवल शब्द ही ध्वनिव्यपदेश्य होते हैं।

इस पर व्यक्तिविवेककार का कहना है कि 'व्याकरण में श्रूयमाण पदों की ध्वनि-संज्ञा, व्यञ्जकत्व के आधार पर हुई है' यह कथन ही मान्य नहीं। क्योंकि घटपटादि शब्दों के अनित्य होने से उनमें स्थायित्व नहीं है, पूर्वोक्त क्रम से जिस प्रकार वे अर्थ की अभिव्यक्ति में असमर्थ हैं उसी प्रकार 'स्फोट' की भी अभिव्यक्ति उनसे कदापि नहीं हो सकती। अतः 'स्फोट के व्यञ्जक होने के शब्द में ध्वनि की संज्ञा का विधान हुआ है', यह बात सर्वथा असंगत है। प्रत्युत वहाँ पर भी हेतुहेतुमद्भाव से अनुमान की ही प्रक्रिया काम करती है। फलतः व्याकरण की ध्वनि संज्ञा के व्यंजकत्व के साम्य पर काव्यविशेष के लिए ध्वनि की संज्ञा व्यर्थ, निराधार एवं कपोल-कल्पित है। इसके अतिरिक्त यदि ध्वनि को स्फोट का व्यञ्जक मान भी लें तो वहाँ पर जिस प्रकार व्यंग्यव्यञ्जक भाव है, काव्य में उसका अभाव होने से, उसके लिए ध्वनि का अभिधान किस प्रकार होसकता है ? अतः जब ध्वनिपद से व्यपदेश्य श्रूयमाण शब्द एवं उसमें अन्तःसन्निविष्ट स्फोटाभिमत अर्थ में पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार व्यंग्यव्यञ्जक भाव ही सम्भव नहीं, तो व्यञ्जकत्वसाम्य से शब्दार्थ में ध्वनि का व्यपदेश सर्वथा अनुपपन्न है। अपितु मीमांसा करने पर वहाँ पर भी कार्यकारणमूलक गम्यगमकभाव ही उपलब्ध होता है।[2]

वैयाकरणों की ध्वनि का आनन्दवर्धन के प्रयोग से भेद अन्य प्रकार से भी है।

१--व्याकरण में शब्द-मात्र को ध्वनि कहा गया है क्योंकि प्रत्येक शब्द उच्चरित या श्रूयमाण होकर स्फोट को ध्वनित करने में समर्थ है जबकि आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार कुछ वे ही शब्द जिनसे अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है ध्वनि कहे जाने के भागी हैं। वह भी तब जब

---

१. प्रथमे हि विद्वांसो वैकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैव तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः वाच्यवाचकसंमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः॥

आनन्दवर्धन--ध्वन्यालोक (का० सं० सी०), पृ० १३५ (वाराणसी)।

२. अतएव श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनिव्यपदेश्यानाम् अन्तःसन्निवेशिनश्च स्फोटाभिमतः अर्थस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो न सम्भवतीति व्यञ्जकत्वसाम्याद् यः शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेशः सोऽपि अनुपपन्नः। तत्रापि कार्यकारणमूलस्य गम्यगमकभावस्योपगमात्।

--व्यक्तिविवेक, पृ० ५७।

उनके वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हों। व्यंग्य के प्रत्यायक होने मात्र से उन्हें ध्वनि नहीं कहा जा सकता। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि व्यंजकत्व शब्द में है और उसे व्यंजक मान भी लिया जाता है। पर उसे ध्वनि की संज्ञा नहीं दी जाती, यदि उसके द्वारा व्यक्त अर्थ उसके वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारशाली नहीं होता। फिर 'व्यंजकत्व के साम्य से ये ध्वनि कहलाते हैं अर्थात् व्याकरण एवं साहित्य उभयत्र ध्वनि की संज्ञा का प्रयोजक व्यंजकत्व मात्र है'[1] आचार्य-आनन्दवर्धन का यह कथन कहाँ तक उपयुक्त है?

२—व्याकरण में केवल शब्द ही ध्वनि के आस्पद होते हैं जबकि ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार वे अर्थ भी ध्वनि कहे जाते हैं जिनसे अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति प्रधानतया होती है। यहाँ पर भी केवल व्यंजक होने से ही कोई अर्थ चाहे वह वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य कोई भी हो, ध्वनि नहीं कहा जा सकता यदि उसके द्वारा अभिव्यक्त अर्थ उससे चारुतर न हो।

३—ध्वनि के वस्तु, अलंकार एवं रसादि भेदों पर दृष्टिपात करने से तथ्य उक्त सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत ही प्रतीत होता है कि व्यञ्जकत्व में ही ध्वनित्व है। अपितु वह व्यंग्यत्व में ही सिद्ध होता है। वस्तु, अलंकार एवं रस जब व्यंग्य होते हैं और वाच्य से चारुतर होते हैं तो इनकी ध्वनिसंज्ञा होती है[2]। अर्थात् जो व्यंग्य है वही ध्वनि हो गया है, उसी की महत्ता अधिक है न कि व्यञ्जक की। अतएव उसी व्यंग्य का ही ध्वनि के नाम से विशद विवेचन आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट प्रभृति ध्वनिवादी आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। व्युत्पत्ति भी दी जाती है—ध्वन्यते प्राधान्येन अभिव्यज्यते इति रसादिलक्षणो अर्थः ध्वनिः।[3] यही नहीं, 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' ध्वनिकार की इस उक्ति में भी ध्वनि का अर्थ व्यंग्य ही है, उसे ही वह अलंकार्य भी कहते हैं न कि व्यंजक को। क्योंकि व्यञ्जक में काव्य की आत्मा होने की क्षमता कहाँ है? अभिनवगुप्त ने अपनी टीका 'लोचन' में और स्पष्ट करते हुए कहा है—'वाक्यार्थपरामर्शको ध्वनि-लक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मा।'[4] मम्मट ने भी 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये' में व्यंग्य की ही प्रधानता में काव्य को ध्वनि कहा है, न कि व्यञ्जक की। फिर व्यञ्जकत्व के साम्य से इसे ध्वनि की संज्ञा मिली है—यह कथन कहाँ तक यथार्थ है?

आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनिसंज्ञा की अनुपपन्नता का अत्यन्त मौलिक रूप से विवेचन किया है। स्फोटाभिमत अर्थ के प्रति श्रूयमाण पदों या वर्णों की व्यञ्जकता का अभिधान ध्वनिकार ने ही किया था। किसी भी वैयाकरण ने उसका प्रतिपादन इसी रूप में नहीं किया है। महिमभट्ट के उत्तरवर्ती ध्वनिमार्गी आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन की ध्वनिकाव्य-संज्ञा विषयक उक्ति

---

१. व्यञ्जकत्वसाम्यात् ध्वनिरित्युक्तः ॥

—ध्वन्यालोक, वृत्ति १।१३।

२. व्यङ्गस्य प्रतिभा मात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥

—ध्वन्यालोक का० १।११ पर परिकरश्लोक।

३. ध्वन्यालोक-कारिका १।१ पर लोचन-टीका।

४. वही—कारिका १।१ पर लोचन टीका।

का ही पिष्टपेषण प्रायः उन्हीं शब्दों से किया है।[1] उन्होंने महिमभट्ट द्वारा उपस्थापित युक्ति एवं तर्कों के प्रति गजनिमीलन ही कर लिया है। विश्वनाथ कविराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने भी सम्भवतः इस ओर ध्यान नहीं दिया। आचार्यों का यह मौन व्यक्तिविवेककार के पक्ष की प्रौढ़ता का ही सूचक है।

(आ) ध्वनि-लक्षण-विमर्श

महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक ग्रंथ के आरम्भ में ही ध्वनिकार-कृत ध्वनि के लक्षण की विस्तृत मीमांसा की है और उसमें भाषा तथा भावसम्बन्धी दस ऐसे दोषों की उद्भावना की है जो दुष्परिहार्य हैं। ध्वनिलक्षणनिरूपण के प्रसंग में इन दोषों का यथावत् प्रदर्शन इसलिए भी आवश्यक है कि इनसे काव्यविषयक मान्यताओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण किया है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥[2]

'सर्वनामानः पूर्वपरामर्शिणो भवन्ति' इस न्याय से कारिका के पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त 'तम्' पद से 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' कारिकास्थ प्रतीयमान एवं उत्तरार्ध के 'स' शब्द से इसी कारिका में प्रयुक्त 'काव्य-विशेषः' का परामर्श होता है। इस प्रकार लक्षण-कारिका का अर्थ यह निष्पन्न होता है कि—जहाँ पर शब्द अपने अर्थ एवं अर्थ स्वयं अपने को गौण करते हुए किसी प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करे, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है। इसमें प्रदर्शित दोष अधोलिखित कारिकाओं में उपनिबद्ध हैं—

अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषणस्तदः पुंस्त्वम्।
द्विवचनवाशब्दो च, व्यक्तिर्ध्वनिनाम काव्यवैशिष्ट्यम्॥२३॥
वचनंच कथनकर्त्तुः, कथिता ध्वनिलक्ष्मणीति दश दोषाः।
ये त्वन्ये तद्भेदप्रभेदलक्षणगता न ते गणिताः॥२४॥

अर्थ की विशिष्टता, शब्द का (प्रयोग एवं उसका) विशेषण होना, तत्पद का पुंल्लिग सः के रूप में प्रयोग, व्यङ्क्तः में द्विवचन, वा शब्द का पृथक् प्रयोग, व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना, ध्वनि-संज्ञा, काव्य की विशेषता, कर्त्ता सूरिभिः में बहुवचन का प्रयोग। ये दस दोष आनन्दवर्धन कृत ध्वनि-लक्षण में पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य दोष भी सम्भव हैं जिनका विवेचन 'व्यक्ति विवेकग्रन्थ' में हुआ है पर यहाँ उनकी गणना नहीं की गई है।

---

१. इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः॥१।४॥ इदमिति काव्यम्। बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।
—काव्यप्रकाश, वृत्ति १।४।

२. ध्वन्यालोक, प्रथम-उद्योत, कारिका १३।

इन दस दोषों का स्पष्ट रूप निम्नप्रकार से बनता है--

१. अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्वरूप विशेषण का विफल प्रयोग ।
२. शब्द पद के उपादान की अनुपादेयता (अनर्थकता) ।
३. अर्थ पद का अनिश्चित अभिप्राय ।
४. 'तमर्थं' में तत्पद का पुल्लिग में अभिधान ।
५. विकल्पार्थक वा शब्द का असम्भव प्रयोग ।
६. व्यंक्तः में द्विवचन की अनुपपत्ति ।
७. व्यक्ति (व्यञ्जना) की सिद्धि में दोष ।
८. काव्यविशेष पद का पाठ ।
९. ध्वनिपद का प्रयोग ।
१०. सूरिभिः में बहुवचन का निर्देश ।

१.--अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्वरूप विशेषण का विफल प्रयोग--आनन्दवर्धनकृत ध्वनि-लक्षण में प्रथम दोष अर्थ के उपसर्जनी कृतात्मत्व विशेषण में है। यहाँ ध्वनिकार का आशय यह है कि जहाँ वाच्य व्यंग्य की अपेक्षा अपने को गौण कर ले वहीं ध्वनि काव्य होता है। यहाँ अर्थ विशेष्य है और 'उपसर्जनीकृतस्वार्थ' पद उसका विशेषण। महिमभट्ट का कहना है कि इन दोनों में विशेष्यविशेषणभाव ही नहीं बनता क्योंकि यहाँ विशेषण का प्रयोग सार्थक नहीं हुआ है। विशेषण की सार्थकता वहीं होती है जहाँ उसमें सम्भव एवं व्यभिचार दोनों सत्ताएँ विद्यमान हों। कहा भी है--

सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवद् ।

सम्भवसत्ता विशेषण की विशेष्य में पायी जाने वाली सम्भावना को कहते हैं तथा व्यभिचारसत्ता विशेषण की विशेष्य में किसी अवस्था में अनुपलब्धि या असम्भावना को कहा जाता है। उदाहरणतः 'नील कमल' पद में विशेषण के रूप में प्रयुक्त नील गुण नील कमल में पाया जाता है, साथ ही रक्त एवं श्वेत कमलों में उसका अभाव होता है। अतः यह विशेषण सार्थक प्रयुक्त हुआ है। विशेषण वही प्रयुक्त होना चाहिए जो विशेष्य वस्तु में कहीं प्राप्त हो तो कहीं अप्राप्त। जब हम 'उष्ण अग्नि' कहते हैं तब 'उष्ण' विशेषण का प्रयोग ठीक नहीं करते। क्योंकि अग्नि सदा उष्ण ही होता है, अतः यहाँ विशेषण में सम्भवसत्ता तो है पर व्यभिचार सत्ता नहीं है क्योंकि ऐसा स्थल उपलब्ध नहीं होता जहाँ अग्नि उष्ण न हो। इसी प्रकार शीत अग्नि में प्रयुक्त अग्नि के शीत विशेषण में एकमात्र व्यभिचार सत्ता ही है, सम्भवसत्ता नहीं। इसलिए 'उष्ण अग्नि' के समान केवल सम्भव सत्ता में अथवा शीत अग्नि की तरह केवल व्यभिचार-सत्ता में प्रयुक्त विशेषण कदापि सार्थक नहीं होते। अपितु 'नीलोत्पलम्' आदि उन स्थलों में ही विशेषण की सार्थकता होती है जहाँ सम्भव एवं व्यभिचार उभयसत्ता विद्यमान रहती है। अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण में सम्भवसत्ता तो है किन्तु व्यभिचारसत्ता का इसलिए सर्वथा अभाव है कि जहाँ पर भी कोई अर्थ अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है उन सब स्थलों में व्यञ्जक अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ की अपेक्षा गौण ही रहता है अर्थात् उसमें उपसर्जनीकृतात्मत्व ही रहेगा। कोई भी ऐसा स्थल नहीं जहाँ वाच्य प्रतीयमान की अपेक्षा उपसर्जनीभूत अर्थात् गौण

न हो। यदि कहीं भी प्रतीयमान में वाच्य की अपेक्षा गौणता सम्भव होती तो अर्थ का उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण उपयुक्त होता। इस कथन की पुष्टि में युक्ति देते हुए कहा है कि जिस प्रकार हेतु रूप से गृह्यमाण धूमादि से अभिव्यक्त होने वाला सन्दिग्धसाध्य रूप भी अग्नि धूमादि की अपेक्षा गौण नहीं माना जाता, उसी प्रकार अभिव्यक्त प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा वाच्य सदा गौण ही रहता है। क्योंकि साधन होने से धूमादि की तरह वह भी गुण है तथा उसका स्वरूप ही दूसरों की सिद्धि करना है, अतः ज्ञापक होने से वह सदा गौण ही रहेगा।[1] फलतः उसके विशेषण में व्यभिचारसत्ता के अभाव के कारण सार्थकता नहीं होगी। समासोक्ति आदि अलंकारों एवं गुणीभूत-व्यंग्य के भेद-स्थलों में जो व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य की प्रधानता कही गयी है वह प्राकरणिक रूप से ही संगत है। इन स्थलों में वाच्यार्थ प्राकरणिक होता है जिसकी प्रधानता प्राकरणिकहेतुक ही होती है, प्रतीयमान या अर्थान्तर की अपेक्षा नहीं। उदाहरणस्वरूप—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

निशा जब अनुराग के वशीभूत हो गई और उसके नेत्र की तारिकाएँ चंचल हो उठीं तो उसकी अवशता का लाभ उठाते हुए शशि ने चूमने के लिए उसका मुख अपनी ओर खींच लिया। बस क्या था, निशा ऐसी प्रेमविभोर हो गई कि उसका कृष्णवर्ण का उत्तरीय उसके सामने (वक्षस्थल) से जाने कब नीचे खिसक गया उसे मालुम ही न हुआ।

इस पद्य में प्रतीयमान से अनुगत वाच्यार्थ की ही मुख्य रूप से प्रतीति होती है। क्योंकि निशाशशिव्यवहार रूप वाच्य तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक उस पर नायक-नायिका के व्यवहार का समारोप न कर दिया जाय; अन्यथा उन अचेतनों में रागाविष्टता, ग्रहण तथा लक्षित करने आदि की संगति नहीं बनेगी। इस प्रकार नायकनायिकाव्यवहाररूप व्यंग्य समारोपित-निशाशशिव्यवहार ही उक्त पद्य का मुख्य अर्थ हो जाता है जिससे व्यंग्य अर्थ के गौण और वाच्य के प्रधान होने का प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता। वह तो तब सम्भव था जब वाच्य एवं व्यंग्य दोनों अर्थों की अभिव्यक्ति सर्वथा निरपेक्ष एवं स्वतंत्र रूप से होती रहती। यहाँ तो वाच्यार्थ व्यंग्य से अनुगत है, निरपेक्ष या स्वतंत्र नहीं। इस प्रकार टीकाकार रुय्यक ने प्रतीयमान के तीन प्रकारों का विवेचन करते हुए समासोक्ति आदि अलंकारों में जिस तृतीय प्रकार के व्यंग्य को वाच्य की अपेक्षा गौण कहकर अर्थ में उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण में व्यभिचार की सत्ता का समर्थन करते हुए विशेषण को सार्थक कहा है उसका भी उत्तर महिमभट्ट ने पहले से ही दे रखा है जो युक्तियुक्त भी है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि समासोक्ति अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारों में वाच्य में चारुत्व का प्रकर्ष सर्वसामान्य को भी अनुभवसिद्ध है। वाच्य और व्यंग्य में प्राधान्य की विवक्षा का निबन्धन चारुत्व के उत्कर्ष पर ही होता है। इस प्रकार समासोक्ति आदि अलंकारों

---

१. अर्थस्य तावदुपर्जनीकृतात्मत्वमनुपादेयमेव। तस्यार्थान्तरप्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद्व्यभिचाराभावात्। न ह्यग्न्यादिसिद्धौ धूमादिरुपादीयमानो गुणतामतिवर्तते। तस्य तन्मात्रलक्षणत्वात्।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ९-१०।

के स्थल में प्रतीयमान की अपेक्षा वाच्य की प्रधानता सुतरां सिद्ध है। अतः अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण के व्यभिचरित होने से उसका उपादान सार्थक ही है। इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। स्वयं ध्वनिकार ने भी न केवल समासोक्ति आदि अलंकार अपितु गुणीभूतव्यंग्य के स्थल में भी वाच्य में काव्यात्मक चारुत्व के उत्कर्ष का हेतु प्रतीयमानार्थ के संस्पर्श को ही माना है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि काव्य का ऐसा कोई प्रकार हो ही नहीं सकता जिसमें प्रतीयमानार्थ के योग के बिना ही सहृदयाह्लादकारिता सम्भव हो।[1] जब चारुत्वोत्कर्ष का आधायक एकमात्र प्रतीयमान ही हो सकता है तो जहाँ पर वाच्य में उत्कृष्ट चारुत्व की प्रतीति होती है वहाँ भी प्रधानता प्रतीयमान की ही रहेगी, वाच्य की नहीं। क्योंकि जिसके द्वारा चारुता का आधान होता है प्रधानता उसी की मानी जाती है।[2] फलतः लक्षण में उक्त अर्थपद का उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण निरर्थक ही है। उक्त विवेचन का सारांश निम्नलिखित संग्रहकारिका में दिया है—

उक्तं गुणीकृतात्मत्वं यदर्थस्य विशेषणम्।
गमकत्वान्न तत् तस्य युक्तमव्यभिचारतः ॥७॥

२. **'शब्द' पद का अनावश्यक पाठ**—ध्वनिकार कृत काव्यलक्षण में दूसरा दोष 'शब्द' पद के अनावश्यक उपादान में है। चूँकि शब्द में स्वार्थाभिधान के अतिरिक्त व्यापारान्तर सम्भव ही नहीं, अतः उसके द्वारा अपने अर्थ को गौण कर अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करने की बात वदतोव्याघात नहीं तो और क्या है। दीपक के प्रकाशकत्व-व्यापार के समान ही अज्ञात के ज्ञापन के अतिरिक्त शब्द में जब अर्थान्तर की अभिव्यक्ति की क्षमता ही नहीं है तो उसमें अर्थोपसर्जनीकरणरूप (अपने अर्थ को गौण करने के) व्यापार का होना तो बहुत दूर की बात है। कहने का आशय यह है कि अज्ञात का ज्ञापकत्व (ज्ञान कराना) ही शब्द का स्वरूप है, जिस प्रकार दीपक का स्वरूप प्रकाशकत्व। अज्ञात के ज्ञापनार्थ ही शब्द का उपादान होता है। अतः जिस प्रकार दीपक में प्रकाशन के अतिरिक्त व्यापारान्तर सम्भव नहीं, उसी प्रकार शब्द में भी अज्ञात-ज्ञापन के अतिरिक्त अर्थोपसर्जनीकरण (अर्थ को गौण करने का) नामक व्यापारान्तर कदापि सम्भव नहीं। यदि कहीं सम्भव है भी तो केवल अनुकरण स्थल में ही। वहीं पर अनुकार्यवश, सार्थक एवं निरर्थक दो प्रकार का अर्थ सम्भव होता है। सार्थक मुख्य एवं निरर्थक अर्थ गौण होता है। प्रतीयमानार्थ की प्रतीति इस प्रकार की नहीं होती, अतः वहाँ उपसर्जनीकरण की प्रक्रिया चरि-

---

१. यदाह ध्वनिकारः सर्वथा नास्त्येव हृदयहारिणः काव्यस्य सप्रकारः यत्र प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेण न सौभाग्यम्। तदिदं काव्यरहस्यं परममिति सूरिभिः विभावनीयम्। हिन्दी ध्व० आ० पृ० ४०२ (दिल्ली)। मुख्यामहाकविगिरामलंकृतिभृतामपि। प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्। इति (ध्वनिकारिका ३।३८)।
पुनः स एव यथा—प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते। यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥—व्यक्तिविवेक, पृ० १४१। ध्वनिकारिका, ३।३५।
२. चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। —हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ० ५९ (दिल्ली)।

तार्थ नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह कथन भी ठीक नहीं प्रतीत होता कि जो शब्द जिस अर्थ को मुख्यतया अभिव्यक्त करे उसे वही गौण कर दे। इसके विपरीत सर्वत्र अर्थ की अपेक्षा शब्द में ही उपसर्जनीयता या गौणता होती है। गौण एवं मुख्य में गौण ही प्रतिनिधि होता है, मुख्य नहीं। इसीलिए शब्द अर्थ का प्रतिनिधि होता है। जलानयनार्थ प्रयुक्त घटादि गौण होने से ही जलादि के प्रतिनिधि का कार्य करते हैं, उदकादि नहीं। इसी प्रकार उपसर्जनीयता के शब्द में ही होने से उसमें उपसर्जनीकरण व्यापार सम्भव नहीं। अतः ध्वनिकार के काव्य-लक्षण में शब्दपद के ग्रहण से उसमें असम्भव दोष आपतित होता है।[1]

फिर भी यदि लक्षण में 'शब्द' पद का प्रयोग करना ही अभीष्ट है तो यहाँ अभिधा का भी प्रयोग होना चाहिए था; अन्यथा दीपकादि अलंकारों में जहाँ उपमादि अन्य अलंकारों की प्रतीति होती है, वहाँ ध्वनित्व नहीं होगा। क्योंकि इन सब स्थलों में शब्द या अर्थ की अपेक्षा अलंकार ही उपसर्जनीभूत (गौण) होकर अन्य अलंकार के अभिव्यञ्जक होते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि यह दूषण तो तभी सम्भव होता जब अलंकार भी व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन में वाच्यार्थ की सहायता की अपेक्षा करते। तभी उनमें उपसर्जनीकृतस्वार्थ विशेषण ठीक बनता। किन्तु वास्तव में बात ऐसी ही है, दीपकादि अलंकारों के भंगीभणिति रूप होने से उनमें अभिधान या अर्थप्रतिपादनत्व स्वीकृत है। अतः उक्त लक्षण में अभिधा का भी उपादान होना चाहिए।[2] इस पर यदि यह कहें कि अर्थप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से ही वहाँ अभिधा की सत्ता सिद्ध है, साथ ही अर्थ एवं शब्द के उपसर्जनीकृत स्वार्थ-कथन सामर्थ्य से ही उसमें अभिधा के उपसर्जनीभाव की भी प्रतीति स्वतः हो जाती है, अतः अभिधा का शब्दतः उपादान न होना कोई दोष नहीं अपितु गुण ही है। इसका उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा है तो केवल अर्थ का ही उपादान होना चाहिए था, शब्द का नहीं। अभिधा के समान ही शब्द के उपसर्जनीभाव की प्रतीति अर्थ के उपसर्जनीभाव कथन से ही हो जायेगी। यह सब विचार करके ही लक्षण में शब्द के उपादान को निरर्थक कहा है।[3] शब्द की अर्थप्रत्यायिका शक्ति के

---

१. शब्दः पुनरनुपादेय एव। तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेः। न च तस्यानुकरणव्यतिरेकिणोपसर्जनीकृतार्थत्वं सम्भवति। यो हि यदर्थमुपादीयते, नासौ तमेवोपसर्जनीकरोतीति युक्तं वक्तुं यथोदकाद्युपादानार्थमुपात्ता घटादिस्तदेवोदकादि। अन्यथा प्रधानेतरव्यवस्था निर्निबन्धनैव स्यात्। अत एव घटादिरेव प्रतिनिधीयते नोदकादीत्यसम्भवो लक्षणदोषः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १५-१७।

२. किंच यथाभिधेयोऽर्थस्तद्विशेषणं चोपात्तं तद्वदभिधाप्युपादानमर्हत्येव। अन्यथा यत्र दीपकालंकारादलंकारान्तरस्योपमादेः प्रतीतिस्तत्र ध्वनित्वमिष्टं न स्यात् तल्लक्षणेनाव्याप्तेः। अलंकाराणां चाभिधात्मत्वमुपगतं तेषां भंगीभणितिभेदरूपत्वात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० १८-१९।

३. अथार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यैव सद्भावावगमः, अर्थशब्दयोरुपसर्जनीकृतस्वार्थत्वाभिधानसामर्थ्याच्च तदुपसर्जनीभावावगतिः, तस्याः प्राधान्येन तयोरुपसर्जनीभावादिति व्यर्थस्तदुपादानप्रसंग इति। एवं तर्ह्यर्थस्यैवोपसर्जनीभावोऽभिधेयो न शब्दस्य, तस्याभिधाया इव तदुपर्जनीभावाभिधानसामर्थ्यादेव तदवगतिसिद्धेरिति लक्षणवाक्ये व्यर्थं शब्दग्रहणम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० २०-२१।

स्वार्थाभिधान व्यापार में ही समाप्त हो जाने से उसमें व्यञ्जनादि व्यापारान्तर का जब सद्भाव ही सिद्ध नहीं होता, तो शब्द का अर्थान्तर को अभिव्यक्त करना एवं उसके प्रति अपने अर्थ का उपसर्जनीकरण सम्भव नहीं हो सकते, इसका प्रतिपादन पहले ही हो चुका है।[1]

३. अर्थपद का अनिश्चित अभिप्राय—ध्वनिकाव्य के लक्षण में तृतीय दोष यत्रार्थः में अर्थ पद के अनिश्चयार्थक प्रयोग में है। ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार अर्थ के तीन प्रकार होते हैं—वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य। इन तीनों में से यहाँ किसका ग्रहण हो यह एक समस्या है। यदि यह कहें कि अर्थ से सामान्यतः वाच्य का ही ग्रहण होता है अतः ध्वनि-लक्षण में भी अर्थ से ध्वनिकार को केवल वाच्य का ग्रहण ही अभीष्ट है, लक्ष्य एवं व्यंग्य का नहीं तो—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

'कुमारसम्भव' के इस श्लोक में जहाँ प्रतीयमान से ही अर्थान्तर का बोध होता है ध्वनिकाव्यता इसलिए नहीं होगी कि यहाँ व्यंग्य की अभिव्यक्ति वाच्य से नहीं होती। इस प्रकार ध्वनि-लक्षण अव्याप्तिदोषग्रस्त हो जायेगा। अथवा यदि अर्थ पद से वाच्य तथा व्यंग्य दोनों का ग्रहण होता है ऐसा मानेंगे, तो प्रहेलिकादि में भी अर्थान्तर के व्यंग्य होने से ध्वनिकाव्यता अतिप्रसक्त (अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त) हो जायेगी, जो ध्वनिवादी आचार्य को भी अभीष्ट नहीं।[2]

४. तम् पद में पुल्लिग का अभिधान—लक्षण में प्रयुक्त 'तमर्थम्' में तत्पद का पुल्लिग निर्देश भी ठीक नहीं है। क्योंकि तत् सर्वनाम पद है जो सर्वदा पूर्वप्रकान्त के परामर्शक होते हैं। उनमें लिंग वचन आदि का प्रयोग पूर्वप्रोक्त संज्ञापद के अनुरूप ही होता है। लक्षण में प्रयुक्त तत्पद से पूर्व की कारिका में उक्त जिस 'प्रतीयमान' शब्द का परामर्श होता है वह नपुंसकलिंग का है पुल्लिग का नहीं।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

तथा—'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु' इत्यादि में या तो पाठविपर्यास करके पुल्लिग का पाठ होना चाहिए अथवा प्रकृत लक्षणकारिका में भी प्रतीयमान के परामर्शक तत्पद का नपुंसकलिंग में ही प्रयोग होना चाहिए था। इस प्रकार पाठविपर्यय होने से पर्य्यायप्रक्रम-दोष उपस्थित होता है। पाठविपर्यास में छन्दोभंग का भय नहीं है। महिमभट्ट ने ठीक पाठ का विधान तो कर

---

१. न चास्य स्वार्थाभिधानमात्रपर्यवसितसामर्थ्यस्य व्यापारान्तरमुपपद्यते, येनायमर्थान्तरमवगमयेत्, तदपेक्षं चोपसर्जनीकृतार्थत्वमियात्। अर्थस्यैव तदुपपत्तिसमर्थनात्।
—व्यक्तिविवेक, पृ० २१।

२. यद्यर्थ इति वाच्योऽर्थोऽभिमतो व्याप्तिरेव सा।
येनैवंवादिनीत्यादावर्थस्यार्थान्तराद् गतिः॥२१॥
अथोभौतहूर्च्यतिव्याप्तिर्द्वित्रवस्तुव्यवायिनि।
प्रहेलिकादिरूपेऽपि काव्ये ध्वन्यात्मता यतः॥२२॥
—व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श।

दिया है, लेकिन पाठविपर्यास की अपेक्षा तद् पद में नपुंसकलिग के प्रयोग में ही लाघव माना है। अतः यहाँ उक्त रीति से पर्य्याय-प्रक्रमभेद दोष विद्यमान है।[1]

५. विकल्पार्थक 'वा' का असम्भव प्रयोग––लक्षण में 'वा' शब्द का प्रयोग विकल्प या समुच्चय दोनों में से किसी अर्थ में नहीं बनता। इसका विकल्पार्थक होना इसलिए सम्भव नहीं कि यहाँ पक्षान्तर का अभाव है। यदि यह कहें कि अर्थ या शब्द में से एक ओर से ही कार्य का निर्वाह हो जाने से पक्षान्तर सम्भव है तो 'व्यंक्तः' में द्विवचन का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। विकल्प में एक वचन ही पर्याप्त होता है। उदाहरणतः 'शिरःश्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' पद्य में विकल्पार्थक 'वा' के प्रयोग से क्रिया में एकवचन का ही प्रयोग हुआ है। द्विवचन के प्रयोग की उपपत्ति समुच्चय में ही है। किन्तु ग्रंथकार को समुच्चय अभीष्ट नहीं है ऐसा माना ही जा सकता है। क्योंकि समुच्चयार्थ में 'वा' का प्रयोग मानने पर जहाँ शब्द एवं अर्थ दोनों ही व्यञ्जक होंगे, उसी काव्य में ध्वनिव्यपदेश हो सकेगा। केवल शब्द अथवा केवल अर्थ की व्यञ्जकता दशा में ध्वनिकाव्यता नहीं होगी;[2] जो सर्वथा अनभिप्रेत है। इस प्रकार यहाँ वा शब्द का प्रयोग एवं उसके साथ प्रयुक्त व्यंक्तः में द्विवचन, दोनों ही अनुपपन्न हैं।

६. व्यंक्तः में द्विवचन की अनुपपत्ति––ध्वनिलक्षणकारिका में क्रियापद के रूप में 'व्यंक्तः' का प्रयोग हुआ है जोकि विपूर्वक 'अञ्जु व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' धातु से लट् लगाकार प्र० पु० द्विवचन में निष्पन्न होता है तथा जिसका अर्थ है––दोनों व्यक्त करते हैं। कर्तृ वाच्य की क्रिया के पुरुष और वचन कर्त्ता के अनुसार प्रयुक्त होते हैं। यहाँ कर्त्ता के रूप में अर्थ और शब्द दो पदों का प्रयोग हुआ है पर दोनों का अलग-अलग उल्लेख है। इनको बारी-बारी से क्रिया से जोड़ने वाला अव्यय 'वा' है। 'वा' के दो अर्थ होते हैं––समुच्चय और विकल्प। वा के समुच्चय अर्थ को लेकर यहाँ क्रिया में द्विवचन का प्रयोग युक्तियुक्त हो सकता था। किन्तु ध्वनिकार को 'वा' का विकल्प अर्थ ही अभीष्ट है, समुच्चय नहीं। क्योंकि अर्थान्तर व्यंग्य की अभिव्यक्ति जहाँ केवल शब्द से होती है या केवल अर्थ से होती है वह भी ध्वनिकाव्य होता है। अतः

---

१. किंच तमिति तदः पुंस्त्वेन निर्देशोऽनुपपन्नः। तस्यानन्तरप्रक्रान्तार्थपरामर्शिनस्तल्लिंगतापत्तेः। न चात्र तल्लिगताविशिष्टः कश्चिदर्थः प्रक्रान्तः, वस्तुतो नपुंसकलिंगस्यानन्तरं प्रक्रान्तत्वात्। तेन तत्रैव––

"प्रतीयमानः पुनरन्य एव सोऽर्थोऽस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
योऽसौ प्रसिद्धावयवातिरिक्तश्चकास्ति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"

इति। सरस्वती स्वादुतमं तमर्थमिति च पाठविपर्यासः कर्तव्यः। न त्वत्रैव वस्तुतदिति। तत्रैव हि पाठविपर्यासे पर्यायप्रक्रमभेदः पुंस्त्वनिर्देशश्च परिहृतौ भवतः। अत्रत्वेक एव तदः पुंस्त्वनिर्देशदोषः। एवैव च प्रमेयशय्या श्रेयसी। ––व्यक्तिविवेक, पृ० ९१-९२।

२. किंचात्र वा शब्दो विकल्पार्थो वा स्यात् समुच्चयार्थो वा। न तावद्विकल्पार्थः पक्षान्तरासम्भवस्य व्युत्पादितत्वात्। सम्भवे वास्य द्विवचनानुपपत्तिः, तयोस्समुच्चयाभावाद्। यथा 'शिरः श्वा काको वा द्रुपदत नयो वा परिमृशेत्' इत्यत्र बहुवचनस्य। समुच्चायार्थत्वे यत्र शब्दार्थयोरेकैकस्य व्यञ्जकत्वं तत्र ध्वनित्वमिष्टंन स्यात्। ––व्यक्तिविवेक, पृ० ८९-९०।

लक्षणकारिका में 'शब्दो व्यनक्ति वा अर्थो व्यनक्ति' रूप में क्रिया में एकवचन का ही प्रयोग होना चाहिए। यह विचार व्याकरण की दृष्टि से हुआ।

'वा' और 'व्यंक्तः' दोनों का अर्थ परस्पर सापेक्ष है। व्यंक्तः के द्विवचन से 'वा' का समुच्चय अर्थ ही करना होगा, किन्तु ध्वनि के निरूपण में वा का समुच्चय अर्थ सर्वथा असंगत होगा। भट्टनायक का कहना था कि ध्वनि के मुख्य दो भेदों—विवक्षितान्यपरवाच्य एवं अविवक्षितवाच्य में पूर्वत्र कहीं शब्द तो कहीं अर्थ व्यञ्जक होता है तथा उत्तरत्र तो कहीं शब्द ही व्यञ्जक होता है। दोनों शब्द और अर्थ एक साथ कहीं भी व्यञ्जक नहीं हो सकते। अतएव 'वा' का समुच्चय अर्थ नहीं किया जा सकता। विकल्प अर्थ करने पर 'व्यंक्तः' में द्विवचन का प्रयोग सर्वथा अशुद्ध एवं भ्रान्तिमूलक है। आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि यद्यपि अविवक्षितवाच्य के स्थलों में शब्द ही व्यञ्जक होता है तथापि वहाँ अर्थ की भी सहकारिता होती है क्योंकि यदि वहाँ अर्थ की सहकारिता न हो तो ऐसा शब्द भी व्यञ्जक होने लगेगा जिसका अर्थ ज्ञात नहीं। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के उन सभी स्थलों में जहाँ अर्थ ही व्यञ्जक होता है शब्द की भी सहकारिता अवश्य होती है। क्योंकि वह अर्थ तब तक व्यंजक नहीं हो सकता जब तक कि वह स्वयं विशिष्ट शब्द का अर्थ न हो। इस प्रकार सर्वत्र ध्वनि के स्थलों में शब्द एवं अर्थ दोनों का ध्वनन व्यापार युगपत् होता है।[1] इस प्रकार उक्त विवेचन से 'व्यंक्तः' में द्विवचन की उपपत्ति बन जाती है। फिर भी भट्टनायक का द्विवचन के प्रयोग को दोषयुक्त कहना गजनिमीलन के अतिरिक्त और क्या है !

इस पर यह कहा जा सकता है कि समस्या का यह समाधान पूर्ण नहीं हुआ। 'व्यंक्तः' के द्विवचन का समर्थन तो हम भी कर सकते हैं पर उस स्थिति में 'वा' का अर्थ विकल्प न कर समुच्चय ही मानना होगा जो ध्वनिकार को अभीष्ट नहीं है। इस पर आचार्य अभिनव का कहना है कि 'वा' के विकल्प अर्थ का अभिप्राय उस स्थल में उसी की प्रधानता से है अर्थात् जहाँ शब्द व्यञ्जक है वहाँ प्रधानता शब्द की रहती है और वहाँ अर्थ गौण होता है, इसी प्रकार अर्थ की व्यञ्जकता में अर्थ प्रधान और शब्द गौण होता है। शब्द-व्यञ्जकता और अर्थ-व्यञ्जकता का अलग-अलग उल्लेख 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' न्याय से हुआ है। क्योंकि अनेक के विद्यमान होने पर जो मुख्य होता है उसी के नाम वस्तु की संज्ञा पड़ती है।[2]

आचार्य महिमभट्ट ने अभिनवगुप्त कृत ध्वन्यालोक लोचन के इस खण्डन-मण्डनात्मक विवेचन को अविकल रूप से समुद्धृत करते हुए कहा है कि अपने को ही पण्डित मानने वाले व्यक्ति (अभिनवगुप्त) के उक्त विवेचन में कोई सार नहीं है बल्कि वह भ्रान्तिमूलक भी है। ध्वनिकारकृत ध्वनिकाव्य लक्षण कारिका में हुए व्यङ्क्तः में द्विवचन के प्रयोग के समर्थन की आकांक्षा से उस व्यक्ति (अभिनवगुप्त) का चित्त इतना विक्षिप्त हो गया है

---

१. व्यङ्क्तः इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकः तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दः तद्व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव। विशिष्टशब्दाभिधेयतया बिना तस्यार्थस्य अव्यञ्जकत्वात् इति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः। ध्व० लो० का० १।१३ पर लोचन।

२. अर्थः शब्दो वा इति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण। ध्व० लो० का० १।१३ पर लोचन।

कि वह वाच्य तथा वाचक की प्रतीति के बीच स्थित सर्वमान्य क्रम को भी भूल गया है और उन दोनों की प्रतीति को एक समय में ही होने वाली समझ कर शब्द एवं अर्थ की परस्पर की सहकारिता के द्वारा ही द्विवचन की उक्ति का उसने समर्थन किया है।[१] महिमभट्ट का आशय यह है कि शब्द एवं अर्थ की परस्पर की सहकारिता तभी बन सकती है जब उनकी प्रतीति में यौगपद्य हो। व्याकरण के स्फोट-सिद्धान्त के अनुसार ध्वन्यात्मक शब्दों से अर्थ की प्रतीति ध्वनि की प्रतीति के अनन्तर ही होती है। पदज्ञान को वाक्यार्थ-ज्ञान का करण तथा पदार्थज्ञान को अवान्तर व्यापार (द्वार) कहा गया है।[२] करण असाधारण-कारण को कहते हैं जिसकी सत्ता कार्य एवं अवान्तर व्यापार से पूर्व नियत होती है।

इसके अतिरिक्त वाच्य एवं व्यंग्य की प्रतीति में क्रम के होने की व्यवस्था देते हुए स्वयं ध्वनिकार ने कहा है कि वाक्यार्थ के समान ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी पद से पदार्थ के द्वारा ही होती है,[3] जिसका अभिप्राय यह है कि पहले पद फिर पदार्थ अनन्तर वाक्यार्थ या व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार व्यञ्जक पद एवं उसके अर्थ की प्रतीति को एककालिक नहीं समझना चाहिए। इसलिए भी इनको एककालिक नहीं समझना चाहिए कि इनमें परस्पर साध्य-साधन-भाव सम्बन्ध निहित होता है। अर्थ साध्य और शब्द उसका साधन माना गया है।[४] साधन की साध्य के प्रति पूर्वकालिकता सर्वशास्त्र सिद्ध है। यही उनके बीच क्रम है। आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि शब्द एवं उसके अर्थ में पूर्वापरभाव विद्यमान होने से वे व्यंग्य की प्रतीति कराने में एक-दूसरे के सहकारी नहीं हो सकते। स्वतंत्र रूप से शब्द व्यङ्ग्य का प्रत्यायक हो सकता है। इसी प्रकार अर्थ को भी स्वतंत्र रूप से व्यञ्जक माना जा सकता है। पर 'दोनों की सहकारिता से अन्यार्थ व्यञ्जित होता है' अभिनवगुप्त का यह कथन अनर्गल है। फिर 'व्यंक्तः' के द्विवचन की सार्थकता का उसी आधार पर समर्थन धूलिप्रक्षेपमात्र है। अतः 'यत्रार्थः शब्दो वा' में प्रयुक्त 'वा' का अर्थ यदि विकल्प है समुच्चय नहीं तो 'व्यंक्तः' का द्विवचन सर्वथा सदोष ही है।

---

१. अत्र केचिद्विद्वन्मानिनो द्विवचनसमर्थनामनोरथाक्षिप्तचित्ततया वाच्यवाचकयोर्विस्मृतसुप्रसिद्धप्रतीतिक्रमभावाः तयोरेककालिकतां शब्दस्योक्तनयनिरस्तामपि व्यञ्जकतां पश्यन्नस्तनिबन्धनां ध्वनिभेदयोः अविवक्षितविवाक्षितान्यपरवाच्ययोः ध्वननव्यापारं प्रति पर्यायेण अन्योन्यसहकारितां तदपेक्षां चानयोः प्रधानेतरतामुपकल्प्य सहकारितया व्यक्तिक्रियां प्रति उभयोरपि कर्तृत्वात् तदपेक्षो व्यङ्ग्य इति द्विवचननिर्देशः प्राधान्यापेक्षश्च 'यत्रार्थः शब्दो वेति' विकल्प इतिमन्यमानाः व्यङक्तः इति द्विवचनेनदमाह-यद्यपि ....इतियदाहुस्तद्भ्रान्तिमात्रमूलं न तत्त्वमित्यलमवस्तुनिबन्धनेन। —व्यक्तिविवेक, पृ०, ९०-९१।

२. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः। शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।
—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली कारिका; ४।१।

३. यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः। —ध्व० का० १।१०॥

४. सर्वएव हि शाब्दव्यवहारः साध्यसाधनगर्भतया प्रायोणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः।
—व्यक्तिविवेक पृ० २१।

७. व्यक्ति (व्यंजना) की सिद्धि में दोष—लक्षण में प्रयुक्त 'व्यंक्तः' पद से व्यञ्जना नामक शब्दव्यापार की सत्ता का निर्देश हुआ है। किन्तु जब शब्द में अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार की सत्ता ही सम्भव नहीं है तो व्यञ्जनाशक्ति की मान्यता के अभाव में, ध्वनिकाव्यलक्षण ही निमूंल एवं विश्रृंखलित हो जाता है। शब्द में व्यापारान्तर की सत्ता के अभाव का विवेचन विस्तारपूर्वक तृतीय परिच्छेद में हो चुका है।

८. काव्य-विशेष पद का प्रयोग—लक्षणकारिका में प्रयुक्त 'काव्यविशेषः' पद भी अनुपयुक्त ही है, क्योंकि यहाँ पर काव्य में विशिष्टत्व ही नहीं बनता। जब काव्यमात्र को ध्वनिपद से व्यपदिष्ट किया गया है एवं सर्वत्र रसात्मकता की प्रतीति का ही विधान हुआ है तो फिर ध्वनि को काव्यविशेष कहना कहाँ तक उपयुक्त है? स्वयं ध्वनिकार ने कहा है कि—काव्य की आत्मा वही प्रतीयमान अर्थ है जो आदि कवि वाल्मीकि के क्रौंच-युगल के वियोग से उत्पन्न शोक की ही श्लोक के रूप में परिणतिस्वरूप है तथा वह रस है। निरतिशय सुखास्वादरूप होने से उसका विशेष कथमपि सम्भव नहीं।[1] कहा भी है कि काव्य के पाठ की संगीतमयी ध्वनि से जब रससत्ता की अनुभूति होने लगती है तो व्यक्ति क्षणभर के लिए आत्मविभोर हो उठता है। उस समय आस्वादकर्ता एकमात्र अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। विगलित-वेद्यान्तर होने से उसे चित्त की निर्वृति-रूप आनन्द का वह निष्यंद प्रकाशित हो जाता है जिससे योगी लोग तृप्त हो निरतिशय सुखा-स्वाद का अनुभव करते हैं।[2] उसके अभाव में तो काव्यता ही नहीं बनती, उसकी विशेषता के आधान की तो बात ही क्या है। अतः उसका प्रयोग निष्फल है।[3]

यहाँ यह कहा जा सकता है कि काव्य रसात्मक है और रस की सत्ता में ही काव्य में ध्वनि का व्यपदेश हुआ है तो भी रसों के वैशिष्ट्य से काव्य में वैशिष्टच क्यों न स्वीकार किया जाय? इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि—यह कथन इसलिए ठीक नहीं है कि ऐसा स्वीकार करने पर भी सामान्यतः रसवैशिष्टच से काव्यवैशिष्टच का कथन ठीक नहीं। क्योंकि रस अनेक हैं वे सब मिलकर एकत्र अवस्थित नहीं हो सकते। प्रत्युत रुचिवैचित्र्य से प्रकरणवश या प्रबन्धा-नुकूल किसी का कहीं उपनिबन्धन होता है तो दूसरे का अन्यत्र। इस प्रकार प्रतिनियत किसी एक का किसी स्थानविशेष पर ही अवस्थान होने से प्रतिनियत रसात्मा काव्य की ही ध्वनि

---

१. **अपि च काव्यविशेष इत्यत्र काव्यस्य विशिष्टत्वमनुपपन्नम्, काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेश-विषयत्वेनेष्टत्वात् तस्य रसात्मकत्वोपगमाद्। यत् स एवाह- 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इत्यादि। न च तस्य विशेषः सम्भवति निरतिशयसुखास्वादलक्षणत्वात् तस्य।**

—व्यक्तिविवेक, पृ० ९२-९४।

२. यदाहु :— पाठ्यादथ ध्रुवागानात् ततः सम्पूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखः क्षणम्॥
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः॥इति॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ९४।

३. तदभावे चास्य काव्यतैव न स्यात् किमुत विशेष इति अनारम्भणीयमेवं तत् प्रेक्षावतां स्याद् वैफल्यात्

—व्यक्तिविवेक, पृ० ९५।

संज्ञा होगी। प्रकृत से भिन्न रसवाले काव्य की ध्वनिसंज्ञा नहीं होगी। लेकिन वहाँ पर भी ध्वनिसंज्ञा अभीष्ट है। अतः लक्ष्य में ही लक्षण के न जाने से वह अव्याप्ति दोषग्रस्त हो जाता है।[1] यदि यह कहें कि वस्तुमात्रादि से रसात्मक काव्य में वैशिष्टच उत्पन्न हो सकता है तो ठीक नहीं। क्योंकि वस्तुमात्रादि विभावादि के रूप में रसाभिव्यक्ति के हेतुमात्र हैं। व्यञ्जकों की विशेषता पर व्यंग्य की विशिष्टता का कथन उसी प्रकार ठीक नहीं जिस प्रकार शबली, धवला, कपिला आदि से गोत्व में किसी प्रकार की विशेषता का आधान नहीं होता। यदि उक्त प्रकार से ध्वनि-काव्य में विशेषता मानने लगें तो जहाँ पर वस्तुमात्र या अलंकार इन दोनों की या इनमें से किसी एक की व्यंग्यता होगी वहीं ध्वनि का व्यपदेश हो सकेगा। केवल-रसादि के स्थल में व्यञ्जक-कृत वैशिष्टच के अभाव के कारण ध्वनिव्यपदेश नहीं हो सकेगा, जो अभीष्ट नहीं। इस प्रकार रसादिमात्रसंवलित काव्य तो काव्यता से वंचित ही हो जायेगा, जिसे ध्वनिकार ने काव्यात्मा कहा है। और प्रहेलिकादि में वस्तुमात्रादि की विशेषता से अनभीष्ट भी ध्वनिकाव्यता अतिप्रसक्त हो जायेगी। अतः काव्य-विशेष में विशेष पद का उपादान ठीक नहीं है।[2] मेघदूत आदि विप्रलम्भ काव्यों में रसों के वैशिष्टच से जो काव्य का वैशिष्टच देखा जाता है वह अभिधेयार्थ विशेष के समारोप से है, मुख्यतः नहीं।[3] इस विवाद का समापन करते हुए कहते हैं कि काव्य की विशिष्टता के उक्त प्रकार से असिद्ध हो जाने पर ध्वनिकार के काव्यलक्षण और इनसे पूर्व के दण्डी वामनादि के काव्यलक्षणों में कोई भेद नहीं रह जाता। यदि कोई विशेषता रह जाती है तो वह ध्वनिसंज्ञामात्र की जिसकी अनुपयुक्तता का विवेचन आगे किया जायेगा।[4]

९. **काव्यलक्षण में ध्वनि पद का व्यर्थ प्रयोग**—यदि किसी प्रकार ध्वनि की सत्ता सिद्ध भी हो जाय तो लक्षण-वाक्य में उसका शब्दतः उपादान नहीं होना चाहिए। क्योंकि ध्वनिव्यपदेश से लक्षण में किसी प्रकार की विशेषता का आधान नहीं होता प्रत्युत जो प्रतीति स्वतः हो जाती है उसके लिए शब्द का उपादान करने

१. न च रसानां वैशिष्टये तदात्मनः काव्यस्य विशिष्टत्वमिति युक्तं वक्तुम् अव्याप्तेः। एवं हि प्रतिनियतरसात्मन एव तस्य ध्वनित्वं स्यात्, नान्यस्यान्यरसात्मनः, वैशिष्टचाभावात्। इष्यते च तत्रापीत्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ९७-९८।

२. न च रसात्मनः काव्यस्य वस्तुमात्रादिभिर्विशेषः शक्य आधातुं, तेषां विभावादिरूपतया रसाभिव्यक्तिहेतुत्वोपगमात्। न च व्यञ्जकानां वैचित्र्ये व्यंग्यस्य विशेषोऽभ्युपगन्तुं युक्तः शाबलेयादीनामिव गोत्वस्य। ततोऽस्य विशिष्टतोपगमे वा यत्र तयोरुभयोरेकैकस्य वा व्यङ्ग्यता तत्रैव ध्वनिव्यपदेशः स्यान्न केवलरसात्मनि काव्ये वैशिष्टचाभावात्। इष्यते चासौ तत्रापि। प्रहेलिकादौ च नीरसे स्यात्। तत्राप्युक्तक्रमेण वस्तुमात्रादेरभिव्यङ्ग्यत्वेनेष्टत्वाद् इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यत्वमात्रप्रयुक्तोऽसावित्यनुमीयते। —व्यक्तिविवेक, पृ० ९९-१००।

३. किंच मुख्ये रसात्मनि काव्ये सम्भवति न तस्य गौणस्याश्रयणं युक्तं गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय इति नियमात्। यस्तु मेघदूतादौ काव्यविशेषव्यपदेशः सोऽभिधेयार्थविशेषसमारोपकृतो न मुख्यः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १०१।

४. इत्थंच काव्यस्य विशिष्टतानुपपत्तावितरतल्लक्षणविधायिमतातिरिक्तं न किंचिदनेनाभिहितं स्याद्, अन्यत्र ध्वनिव्यपदेशमात्रात्। न च तेनापि किंचित्। —वही, पृ० १०१-०२।

से अवाच्य-वचन दोष आपतित होता है। जिस प्रकार राजा की सवारी निकलने का समाचार पाकर राजमार्ग में उपस्थित सामान्यदर्शक भी आगन्तुकों में अश्वारूढ़ व्यक्ति को बिना किसी निर्देश के ही राजा समझ लेते हैं उसी प्रकार ध्वनिविचार के प्रकरण में काव्यलक्षण की ध्वनि-संज्ञिता स्वतः बोधगम्य है। उसका शब्दतः उपादान अनावश्यक, अतः गौरवास्पद है।[1]

१०. सूरिभिः बहुवचन का निर्देश—लक्षण में 'सूरिभिः कथितः' पद से कथन क्रिया और उसके कर्ता सूरिभिः का निर्देश हुआ है। यह निर्देश कर्तृ-सामान्य अथवा कर्तृ-विशेष के रूप में ही हो सकता है। व्यक्तिविवेककार का आशय यह है कि यदि कर्तृ-सामान्य में सूरिभिः का प्रयोग हुआ है तो ऐसा नहीं होना चाहिए था। क्योंकि—'येन बिना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' न्याय से कर्त्ता के बिना अनुपपन्न क्रिया से ही सामान्य कर्ता का बोध आक्षिप्त हो जाता है। यदि यहाँ कर्तृ-विशेष की विवक्षा है तो भी उसका शब्दतः उपादान इसलिए नहीं होना चाहिए कि अनन्तरोक्त क्रम से व्यापार-विशेष के सम्बन्ध से ही कर्तृ-विशेष की प्रतीति हो जाती है। अतः पूर्वोक्त न्याय से जो अर्थ अन्य प्रकार से प्रतीत हो रहा है उसके लिए वाचकपद का प्रयोग लक्षण को अवाच्यवचनदोषग्रस्त कर देता है।[2]

आचार्य ने ध्वनिलक्षण में दोषों की उद्‌भावना के अनन्तर ही उनका निराकरण कर परिष्कृत ध्वनिलक्षण वाक्य का अर्थ किया है कि—जहाँ पर वाच्य या उससे अनुमित अर्थ किसी भी सम्बन्ध से अर्थान्तर को प्रकाशित करे वह काव्यानुमिति है—

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥—व्यक्तिविवेक, वि० १।२५ ।

यह ध्वनिकारकृत ध्वनिकाव्यलक्षण का ही दोष-निवृत्तिपूर्वक परिष्कृत रूप है। उनका कहना है कि—ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने जिन बातों को ध्यान में रखकर काव्यलक्षण का निरूपण किया है, उनके लिए उन्हें उक्त लक्षण ही करना चाहिए था। उनके मूल-लक्षण एवं इस परिष्कृत लक्षण में अर्थतः कोई भेद नहीं। इस लक्षण के स्वरूप के विषय में कहते हैं कि यदि विचार कर देखा जाय तो प्रकारान्तर से यह अनुमान का ही लक्षण है। त्रिरूप लिंगाख्यान को ही परार्थानुमान कहा गया है। अतः ध्वनि और परार्थानुमान में वस्तुतः कोई भेद नहीं। भेद है तो केवल संज्ञा का।[3] क्योंकि काव्य का आत्मारूप संज्ञी रस है, इसकी मान्यता में किसी को विसंवाद नहीं। विमति तो काव्य की संज्ञा के विषय में ही है। ध्वनिकार जिसे व्यंग्य या ध्वनि कहते

---

१. न च ध्वनिव्यपदेशो नापि किंचित् कथंचिद्वा तदुपपत्तौ तदवाच्यमेव तस्य तात्पर्यावसायिनो लक्षणविशेषसम्बन्धादेव तवदगतेः। यथा योऽश्वमारूढः स पुरुषो राजेत्यत्र। अथ पुरुषस्याश्वविशिष्टस्यैव सतस्तल्लक्षणसम्बन्धो न तु तत एवास्य वैशिष्टयमिति, तथाप्यवाच्यं, काव्यत्वादेव तस्याप्यवगतत्वात्। तच्चोक्तमित्यवाच्यवचनं दोषः।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १०२-१०३।

२. किंच 'सूरिभिः कथित' इति कथनक्रियाकर्तृनिर्देशः पक्षद्वयेप्यवाच्य एव। कर्तृमात्रविवक्षायां क्रियायाः कर्त्रव्यभिचारात् कर्तृविशेषविवक्षायामनन्तरोक्तक्रमेण व्यापारविशेषसम्बन्धादेव तद्विशेषावगतिसिद्धिरित्यवाच्यवचनं दोषः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १०३-१०४।

१. एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य। यदुक्तं त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति केवलं संज्ञाभेदः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १०५।

हैं महिमभट्ट उसे ही अनुमिति कहते हैं । वह भी इसलिए कि व्यञ्जना के योग के बिना व्यंग्य या ध्वनिसंज्ञा कैसे हो सकती है । व्यञ्जना की सत्ता कथमपि सम्भव नहीं ।

उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः ।
न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः ॥१।२८॥

ध्वनि के लक्षण में शब्द पद का ग्रहण व्यर्थ ही किया है । क्योंकि अर्थान्तर के बोध की प्रक्रिया में शब्द-शक्ति की गति इष्ट नहीं ।

न चोपसर्जनत्वेन तयोर्युक्तं विशेषणम् ।
यतः काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता ॥१।२९॥

चूंकि काव्य में गुणीभूत-व्यंग्य को लेकर भी चारुता होने का विधान ध्वनिसिद्धान्त-सम्मत है । अतः शब्द और अर्थ के विशेषण उपसर्जनीकृतात्मत्व का प्रतिपादन भी उपयुक्त नहीं हुआ है । गुणीभूत-व्यंग्य के स्थल में जहाँ वाच्य का ही चमत्कार-विशेष होता है, अपने को गौण बनाने के अभाव में वहाँ ध्वनिकाव्यता उपपन्न नहीं होगी ।

अतएव विशेषस्योपादानमपि नार्थवत् ।
संज्ञासम्बन्धमात्रैकफलं तदिति गम्यते ॥१।३०॥

अतएव (उपर्युक्त कारण से) ध्वनिलक्षण कारिका में 'काव्य-विशेषः' पद में विशेष शब्द का कथन भी सार्थक नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि उसका एकमात्र प्रयोजन ध्वनि-संज्ञा से सम्बन्धमात्र की प्रतीति कराना है न कि ध्वनि की ।

यदा चातिप्रसङ्गः स्यात्संज्ञायां यस्य कस्यचित् ।
यद्वाक्यवर्तिनोऽन्यस्य विशेषस्य तदाप्तितः ॥१।३१॥

यदि ऐसी ही बात है तो ध्वनि-संज्ञा में अतिव्याप्तिदोष प्रसक्त होगा । क्योंकि प्रहेलिका आदि जिस किसी जगह काव्य से सम्बन्धित विशेष का ध्वनि से ग्रहण होने लगेगा; अर्थात् किसी भी वाक्य में स्थितविशेष का ध्वनिपद से ग्रहण होने लगेगा ।

व्यक्तिविवेककारकृत ध्वनि-लक्षण की उपर्युक्त गहन मीमांसा, इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि आचार्य महिमभट्ट की मेधा काव्यतत्त्व के विषय में भी कितनी परिपक्व एवं सशक्त थी । अपने समसामयिक या किंचित् पूर्ववर्ती महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के मत का भी इन्होंने जो खण्डन किया है, वह इनकी असाधारण विद्वत्ता का परिचायक है । आनन्दवर्धन का ध्वनि-लक्षण विद्वानों में बड़ा ही लोकप्रिय है । उसमें इतने दोष हो सकते हैं, इसकी सम्भावना तक साहित्यशास्त्र के उत्तमोत्तम आचार्यों के लिए नितान्त असम्भव एवं अत्यन्त दुरुह है । इनकी समीक्षा का प्रभाव उत्तरकालीन आचार्यों पर नहीं पड़ा, ऐसी बात नहीं है । यह बात और है कि साक्षात् तौर पर भी किसी आचार्य ने इसके लिए महिमभट्ट की सराहना नहीं की है । अप्रत्यक्ष रूप से सबसे पहले काव्यप्रकाशकार ने ही इन दोषों की यथार्थता का अनुभव किया और अपना लक्षण काव्य-विशेषपरक न करके काव्य सामान्यपरक ही किया । मम्मट, भोज, हेमचन्द्र, विश्वनाथ कवि-राज तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति उत्तरकालीन साहित्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने अपनी कृतियों में काव्यसामान्य का ही लक्षण किया है तथा काव्यविशेष के रूप में ध्वनि का वर्णन उत्तम, मध्यम, अधम आदि काव्यविभेद की परिपाटी से किया है। यह निर्देश व्यक्तिविवेककार

महिमभट्ट का ही था। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह हुई कि काव्य के निष्कृष्ट लक्षण करने की महिमभट्ट ने एक ऐसी कसौटी प्रदान की जिसने उत्तरकालीन आचार्यों को साव-धान कर दिया और उन्होंने अपने काव्यलक्षण महिमभट्टप्रतिपादितसरणि पर ही किये, ध्वनिकार के अनुकरण पर नहीं। पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यलक्षणों में दोषों की उद्भावना कर अपने निर्दुष्ट काव्यलक्षण की प्रतिस्थापना की परम्परा भी महिमभट्ट की ही देन है।

इस सम्बन्ध में जो आश्चर्य की बात है वह यह कि उत्तरकालीन ध्वनिवादी किसी भी आचार्य ने व्यक्तिविवेक में उद्भावित ध्वनिलक्षण के दस मुख्य दोषों में प्रयुक्त युक्ति एवं तर्कों का समाधान या खण्डन नहीं किया है और न यही कहा है कि महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण में अमुक-अमुक दोषों का उद्भावन किया है। यह मौन महिमभट्ट की विवेचना की गम्भीरता का ही साधक है कि उनका उत्तर देना सम्भव नहीं था। उनका समर्थन भी इसलिए नहीं किया जा सकता था कि उससे ध्वनिवाद का खण्डन ही होता है। जो भी हो, महिमभट्ट का ध्वनि-लक्षण-विवेचन बहुत पाण्डित्यपूर्ण एवं सारगर्भित है। इसके अध्ययन से काव्य के वास्तविक स्वरूप एवं लक्षण के विषय में स्पष्टता आ जाती है।

(उ) भक्ति एवं ध्वनि की एकरूपता

भक्ति का अभिप्राय गुणवृत्ति लक्षणा से है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में भक्ति पद की तीन व्युत्पत्तियाँ दी हैं[1] --

१. भज्यते इति मुख्यस्य अर्थस्य भंगो भक्तिः।

मुख्यार्थ का भंग होना भक्ति की प्रथम व्युत्पत्ति है। लक्षणा में ही मुख्य अर्थ का भंग (बाध) होता है अतः भक्ति का अर्थ लक्षणा है।

२. भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतया उत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मः अभिधेयेन सामीप्यादिः

शब्द का अर्थ जिसका सेवन करता है अर्थात् अभिधेय (वाच्य अर्थ) से जिसकी उत्प्रेक्षा होती वह सामीप्य आदि वह सम्बन्ध ही भक्ति है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षणा की द्वितीय शर्त मुख्यार्थ से सम्बन्ध का ग्रहण किया है।

३. तीसरी व्युत्पति है--गुणासमुदायवृत्ते शब्दस्य अर्थभागः तैक्ष्ण्यादिः प्रयोजनं भक्तिः

गुणों के आधार पर शब्द का अर्थ करने वाली गौणी वृत्ति से प्रतिपादित तीक्ष्णता आदि प्रयोजन ही भक्ति है। अथवा 'प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः भक्तिः।' समीपता एवं तीक्ष्णता आदि प्रतिपाद्य व्यंग्यरूप प्रयोजन के प्रति श्रद्धातिशय ही भक्ति है। इस प्रकार मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध एवं रुढ़ि या प्रयोजन के प्रति आदर होने से भक्ति लक्षणा ही है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भक्ति में अन्तर्भाव का खण्डन प्रबल तर्क एवं युक्तियों से किया है। उन्होंने 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' (अन्य लोग उसे भाक्त कहते हैं) की उक्ति से ध्वन्या-

---

१. ध्वनि कारिका १।१४ पर लोचन।

लोक की प्रथम कारिका एवं उसके व्याख्यान में ही पूर्व-पक्ष के रूप में ध्वनि के अभाववाद, भक्तिवाद एवं अनिवर्चनीयवाद की उद्भावना कर उसका सोपपत्ति खण्डन किया है। ध्वनि, भक्ति नहीं है, इसके लिए उन्होंने जो तर्क एवं युक्तियाँ दी हैं वे निम्न प्रकार से हैं। भक्ति में ध्वनि की सम्भावना उन्होंने तीन प्रकार से की है—

१. ध्वनि, भक्ति ही है। अर्थात् दोनों एक ही तत्त्व के दो नाम हैं।

२. ध्वनि, भक्ति का लक्षण है।

३. ध्वनि, भक्ति का उपलक्षण है।

ध्वनि की भक्ति के साथ एकरूपता का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि—ध्वनि की भक्ति के साथ एकता इसलिए संभव नहीं है कि दोनों का स्वरूप एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है।[1] वाच्य से भिन्न अर्थ का, वाच्यवाचक के द्वारा तात्पर्य विशेष वश प्रकाशन ही ध्वनि है। भक्ति तो उपचारमात्र है। उपचार अतिशयित व्यापार को कहते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार अतिशयित व्यापार का अभिप्राय उस रंजनात्मक उक्ति से है, जहाँ किसी वस्तु या विषय का प्रतिपादन असत्य की तरह होता हो।[2] 'सिंहो माणवकः' (बालक सिंह है) की उक्ति इसका उदाहरण है, जहाँ बालक को सिंह कहा जाता है, जो कथमपि सत्य नहीं। ध्वनि तो ऐसा नहीं है। इसलिए ध्वनि और भक्ति एक या अभिन्न नहीं हो सकते।[3]

भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती क्योंकि लक्षण तो वस्तु या विषय का कोई असाधारण धर्म ही होता है, जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव दोष शून्य हो। भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोनों दोष आपतित होते हैं।[4] 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' (कमलिनी पत्र की शैया कहती है) इत्यादि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ मुख्यार्थ-बाधरूप अन्वयानुपपत्ति होने से लक्षणा या भक्ति तो है लेकिन व्यंग्यार्थ के सद्भाव के बिना वहाँ ध्वनि कथमपि संभव नहीं। जहाँ कहीं प्रयोजनवती लक्षणा के स्थलों में व्यंग्य होता भी है वहाँ उसकी प्रतीति लक्षणा से न होकर व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है।[5] लावण्य आदि पदों में जहाँ रूढ़ि होने से लक्षणा तो है पर व्यंग्य की सत्ता के अभाव में वहाँ ध्वनि की सम्भावना तक नहीं।[6] अतः यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानेंगे तो इन सब स्थलों में भक्ति का सदभाव किन्तु ध्वनि का अभाव होने से लक्षण अतिव्याप्ति-दोष-ग्रस्त हो जायगा। यदि किसी

---

१. भक्तया विभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः। —ध्वन्यालोक १।१४।

२. उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः।
—ध्वन्यालोक लोचन, कारिका १।१७ पर अभिनवगुप्त की टीका।

३. अयमुक्तप्रकारो ध्वनिः भक्त्या नैकत्वं विभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यंग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।
—ध्वन्यालोक वृत्ति १।१४।

४. अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्नचासौ लक्ष्यते तया॥ —ध्वन्यालोक का० १।१४।

५. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणासमुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जना नापरा क्रिया॥ —काव्यप्रकाश का० २।१४

६. रूढ़ा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः॥ —ध्वन्यालोक का० १।१६

प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के स्थलों में व्यंग्य की सत्ता होने से उसे ध्वनि का स्थल मान भी लें तो अभिधामूला व्यञ्जना के वे स्थल जहाँ रसादि व्यंग्य होते हैं और जो ध्वनि का सर्वस्व माने गये हैं, ध्वनिपद-वाच्य होने से वंचित रह जायेंगे। फलतः वहाँ अतिव्याप्तिदोष पड़ेगा।[1] इसलिए भक्ति को ध्वनि का लक्षण भी नहीं कह सकते। इसीलिए ध्वनि अन्य है और गुणवृत्ति अन्य। गुणवृत्ति का आश्रय वाचकत्व है तो ध्वनि का आश्रय व्यञ्जकत्व। फिर भक्ति ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है? अतः भक्ति या गुणवृत्तिध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।[2]

भक्ति ध्वनि का उपलक्षण भी नहीं हो सकती। ध्वनि के किसी भेद में भक्ति की सत्ता अवश्य रहती है इतने मात्र से, 'काकवद्देवदत्तस्य गृहम्' (देवदत्त का घर वही है जिस पर कौवे बैठे हों) की तरह यदि भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानकर उसे भाक्त कहेंगे तो सभी अलंकारों के वाच्य होने से उनका व्यपदेश अभिधा से ही होना चाहिए, उनकी उपमारूपकादि नाना प्रकार की संज्ञायें देने एवं उनका लक्षण करने की क्या आवश्यकता है?[3] जब वहाँ यह लाघव सरणि नहीं अपनायी गई तो यहीं पर इसके अपनाने की क्या आवश्यकता है? इसीलिए ध्वनिवादी सभी आचार्यों ने ध्वनि और लक्षणा के विभेद का विवेचन किया है। मम्मट ने तो स्पष्ट ही कहा है कि जिस प्रकार अभिधा को संकेतग्रह की अपेक्षा होती है उसी प्रकार लक्षणा भी हेतुत्रय की अपेक्षा करती है और इस प्रकार लक्षणा अभिधापुच्छभूता ही है।[4]

आचार्य महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के ठीक विपरीत ध्वनि और भक्ति को एक ही कहा है। ध्वनि की भक्ति के साथ एकता की सिद्धि में उसी युक्ति का उपन्यास किया है जिससे आनन्दवर्धन ने खण्डन किया है, और वह है—ध्वनि एवं भक्ति के स्वरूप का एक होना। क्योंकि ध्वनिकार ने कहा था कि—गुणवृत्ति का आश्रय वाच्यवाचक भाव है तथा ध्वनि व्यंग्य-व्यञ्जक भाव से सम्पन्न होता है। महिम का कथन है कि पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार यह सिद्ध हो चुका है कि गुणवृत्ति का आश्रय वाचकत्व नहीं। अपितु अर्थप्रकरणादि के आधार पर एक अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति ही भक्ति है। ध्वनि भी यही है। अतः दोनों के गम्यगमकभाव या हेतुहेतुमद्भाव मूलक होने से, दोनों के स्वरूप में कोई भेद नहीं है।[5]

'अथ च' ध्वनि भक्ति का लक्षण भी है। ध्वनिकार ने जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष दिखाकर भक्ति के ध्वनि का लक्षण होने का निषेध किया है, उसका समाधान करते हुए

---

१. **अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य। न हि ध्वनि-प्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते। —ध्वन्यावलोक वृत्ति १।१८।**

२. **वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।**
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्॥ —ध्वन्यालोक का० १।१८।

३. **सा पुनः भक्तिः वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत, यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरो अलंकार-वर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलंकाराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसंगः॥—ध्वन्यालोकवृ० १।१९।**

४. **यथा च समयसव्यपेक्षा अभिधा तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयसव्यपेक्षा लक्षणा अतएव अभिधापुच्छभूता सेत्याहुः। काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० २४८। (झलकीकर पूना)**

५. **भक्त्या विभर्ति चैकत्वं रूपाभेदादयं ध्वनिः॥ —व्यक्तिविवेक, १।५८।**

महिम यह कहते हैं कि भक्ति अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोषशून्य होने से ध्वनि का लक्षण ही है। 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' एवं 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' में कोई अन्तर नहीं है। उभयत्र वाक्य में लक्षणा होती है। अतः पूर्वत्र ध्वनि एवं अपरत्र लक्षणा मानना कहाँ तक न्याय्य है। क्योंकि यदि वाक्य में लक्षणा का होना स्वीकार नहीं करते तो लक्षणामूला ध्वनि भी कैसे निष्पन्न होगी? अतः वाक्य में भी लक्षणा इष्ट होनी चाहिए। लक्षणा पदार्थ एवं वाक्यार्थ भेद से दो प्रकार की कही गयी है।[1] 'अतस्मिंस्तत्समारोपः' जो वस्तु जो नहीं है उसी का उस पर आरोप (दो भिन्न वस्तुओं में से एक का दूसरे पर आरोप) भक्ति का यही सामान्य लक्षण है जो अर्थान्तर की प्रतीति का एक प्रकार है। ध्वनि भी उसी तरह अर्थान्तर की प्रतीति का प्रकार होने से भक्ति अर्थात् गुणवृत्ति से पृथक् कथमपि मान्य नहीं।[2]

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त की मीमांसा करके उसकी भक्ति अर्थात् लक्षणा के साथ एकरूपता की सिद्धि हो जाने पर लावण्य आदि वह शब्द जो अपने वाच्य से भिन्न अर्थ में रूढ़ हैं तथा ध्वनिकार ने जिनमें ध्वनित्व का निषेध किया है, क्या ध्वनि के आस्पद नहीं है? अपितु अवश्य है। क्योंकि जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए मुख्यवृत्ति अभिधा का परित्याग कर गुणवृत्ति लक्षणा का आश्रयण किया जाता है, उस प्रयोजन-विशेष की प्रतिपत्ति में, वाचक शब्द की गति कदापि स्खलित नहीं होती। ऐसा स्वयं ध्वनिकार ने ही कहा है।[3]

ध्वनि और गुणवृत्ति की एकनिष्ठता में दूसरी युक्ति का उपन्यास करते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि––गुणवृत्ति का आश्रय जो वाचकत्व कहा गया था वह संगत नहीं होने से अब मान्य नहीं। अपितु असिद्ध होकर वह गमकत्व के रूप में ही स्वीकार्य हुआ है। इसी प्रकार ध्वनि के व्यञ्जकत्व का खण्डन करके उसे भी गम्यगमकभाव से ही व्यवस्थित किया है। अतः एकमात्र गमकत्व मूलक होने से क्या गुणवृत्ति ध्वनि का विषय नहीं हो जाती? अर्थात् अवश्य हो जाती है। क्योंकि उभयत्र आश्रय रूप में गमकत्व ही इष्ट होता है।[4]

---

१. न च नाव्याप्त्यतिव्याप्त्योरभावाल्लक्ष्यते तया ॥
सुवर्णपुष्पामित्यादौ न चाव्याप्तिः प्रसज्यते ।
यतः पदार्थवाक्यार्थभेदाद भक्तिर्द्विधोदिता ॥ ––व्यक्तिविवेक १।५९ ।

२. अतस्मिंस्तत्समारोपो भक्तेर्लक्षणमिष्यते ।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थः प्रकारः सोऽपि शस्यते ॥ ––व्यक्तिविवेक १।६० ।

३. रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावाण्याद्याः प्रसक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ ––भवन्त्येवेत्यर्थः । यतः––
मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ ––व्यक्तिविवेक, १।६१,६२ ।

४. वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिरसंगता ।
गमकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याद्विषयो न किम् ॥
व्यञ्जकत्वैकमूलत्वमसिद्धं च ध्वनेर्यतः ।
गमकत्वाश्रयापीष्टा गुणवृत्तिस्तदाश्रयः ॥ ––व्यक्तिविवेक, १।६३, ६४ ।

समित् एवं इध्म आदि पद गुणवृत्ति के प्रसिद्ध स्थल हैं, अतएव शब्दशक्त्युत्थध्वनि के भी उदाहरण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।[1]

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥

इस पद्य में धृति आदि के लिए समित् शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है । साथ ही इससे धृत्यादि भावों का अन्योन्यापेक्ष व्यञ्जकत्व ध्वनित होता है । इसी प्रकार इध्म शब्द का प्रयोग गुण-वृत्ति का विषय होते हुए ध्वनि का भी विषय है। इस प्रकार ध्वनिकार की सरणि पर ही व्युत्पत्ति एवं शक्ति से सम्पन्न स्खलद्गति शब्द का जो प्रयोग है, उसे ही ध्वन्यादि के समान अनुमान का विषय समझना चाहिए । ध्वनिकारोक्तन्याय से भी अल्पविषय ध्वनि का महाविषय अनुमान में अन्तर्भाव ही ठीक है ।[2]

उक्त प्रकार के ध्वनि और भक्ति को एक सिद्ध कर उनका अनुमान में अन्तर्भाव ही व्यक्तिविवेककार को अभीष्ट है । ध्वनि को भक्ति कहने से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि महिमभट्ट भक्ति को शब्द-व्यापार के रूप में स्वीकार करते हैं । अपितु उनके द्वारा ध्वनि को भक्ति कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भक्ति या लक्षणा नामक शब्दव्यापार सर्वथा असम्भव हैं, उसी प्रकार ध्वनि भी । अर्थ के व्यापार के रूप में भक्ति के समान ध्वनि का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है । क्योंकि अनुमान, ध्वनि एवं भक्ति की अपेक्षा महाविषय है और उसकी मान्यता सर्वत्र पूर्व से ही है ।

उपर्युक्त समूचे विवेचन का सारांश देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि--शब्द की एकमात्र शक्ति अभिधा ही होती है तथा अर्थ में एकमात्र लिंगता या हेतुता की ही शक्ति निहित है। शब्द एवं अर्थ दोनों में ही व्यञ्जकत्व सम्भव नहीं, यह अच्छी तरह से सिद्ध हो गया । अतः ध्वनि के लक्षण में शब्द का ग्रहण ध्वनिकार ने व्यर्थ में ही किया । क्योंकि अर्थान्तर की प्रतीति में शब्दशक्तिमूलक किसी भी प्रकार की गति या व्यापार अभीष्ट नहीं ।[3] इसलिए ध्वनिलक्षण को सुधारकर इस प्रकार कहना चाहिए कि जहाँ पर वाच्यार्थ या वाच्य से अनुमित अर्थ सामीप्य आदि किसी भी सम्बन्ध से अर्थान्तर को प्रकाशित करें उसे काव्यानुमिति कहते हैं ।

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥

---

१. समिदिध्मादयः शब्दाः प्रसिद्धा गुणवृत्तयः ।
ध्वनेः पदादिव्यङ्ग्यस्य येनोदाहरणीकृताः ॥ --व्यक्तिविवेक, १।६५ ।

२. तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयो अनुमान-विषयोऽन्यवत् ॥ --व्यक्तिविवेक, १।६६ ।

३. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥
उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः ।
न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः ॥ --व्यक्तिविवेक, १।२७, २८ ।

इसलिये जहाँ पर प्राधान्य या अप्राधान्य जिस किसी रूप में वाच्यशक्ति से अनुमेयार्थ की स्फुट प्रतीति होती है वही काव्य है अन्य, नहीं ।[1]

(ऋ) शब्द में व्यंजकत्व का निषेध तथा अर्थव्यञ्जकता का अनुमान में अन्तर्भाव

ध्वनिकाव्य के लक्षण की अनुपपन्नता का विवेचन एवं उसकी काव्यानुमितिपरकता के विधान के अनन्तर अब व्यक्तिविवेकके अनुसार शब्द में व्यंजकत्व का निषेध कर अर्थ-व्यंजकता की अनुमानरूपता का निरूपण किया जायेगा । अभिधा के अतिरिक्त शब्द का अन्य कोई व्यापार नहीं होता इसका निरूपण शब्दशक्तिविमर्श के अवसर पर तृतीय परिच्छेद में हो चुका है । अतः जब व्यंजना व्यापार ही नहीं बनता तो 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' न्याय से तदाश्रित ध्वनि की उपपत्ति कैसे सम्भव हो सकती है । व्यंजना की सिद्धि के अभाव में भी यंग्यार्थ की प्रतीति स्वीकार करने पर, कारण के अभाव में शब्द का अर्थ के साथ नियत-सम्बन्ध नहीं बनेगा । शब्द से जहाँ भी अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ शब्द कारण और अर्थ कार्य होता है ; एवं शब्दविशेष से अर्थविशेष का निश्चय होने पर अमुक शब्द से अमुक अर्थ बोद्धव्य है, इस प्रकार का जो विशिष्ट कार्यकारणभाव होता है, उसकी उपलब्धि यहाँ पर व्यंञ्जना में नहीं होती ।[2] इस पर यह प्रश्न उठता है कि यहाँ विशिष्ट कार्यकारणभाव चाहे भले न हो, शब्दार्थ के नित्य-सम्बन्ध के सिद्धान्त के अनुसार स्वभावप्राप्तकार्यकारणभाव तो सामान्यरूप से है ही। अतः व्यंजना की मान्यता के बिना भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति मानने में क्या हानि है ? इस उक्ति का खण्डन करते हुए आचार्य महिमभट्ट कहते हैं कि गेय वस्तु का षड्जादि रागों के साथ जैसा स्वाभाविक सम्बन्ध है कि उससे आपामरतिर्यक् सबको रसानुभूति होने लगती है, शब्द का प्रतीयमान वस्तुमात्रादि के साथ वैसा ही स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं होता। इसमें यही प्रमाण है कि शब्द से उस अर्थ-विशेष की प्रतीति आपामरतिर्यक् व्युत्पन्न, अव्युत्पन्न सबको नहीं होती, केवल तत्तद् वासना वासित सहृदयों को ही होती है । अतः यहाँ शब्दार्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकार करने योग्य नहीं ।[3]

इस पर यह कहा जा सकता है कि शब्द की व्यंजकता के स्थल में व्यक्ति (व्यञ्जना) को नहीं मानते तो न सही, शब्द और प्रतीयमान अर्थ में स्वाभाविक के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध अवश्य मानना होगा । मुख्यार्थ-बाध आदि हेतुत्रय के अभाव में लक्षणा की प्रवृत्ति भी वहाँ सम्भव नहीं । अतः अभिधा ही वह सम्बन्ध है ऐसा मानना चाहिए । इस पर व्यक्तिविवेक-

---

१. तस्मात्स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा ।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत्काव्यमुच्यते ॥ —व्यक्तिविवेक, का० १।३२ ।

२. नापि शब्दस्य अभिधाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्वं व्यापारान्तरमुपपद्यते, येन अर्थान्तरं प्रत्याययेद् व्यक्तेरनुपपत्तेः सम्बन्धान्तरस्य चासिद्धेः। तदभावेऽपि तदभ्युपगमे तस्यार्थनियमो न स्याद् निबन्धनाभावात् । —व्यक्तिविवेक, पृ० १२७-१२८ ।

३. न ह्यस्य गेयस्येव रत्यादिभिर्भावैः स्वाभाविक एव सम्बन्धः, सर्वस्यैव तत्प्रतीति-प्रसङ्गात् । —व्यक्तिविवेक, पृ० १२८ ।

कार कहते हैं कि नहीं, अभिधा से उसका बोध इसलिए नहीं हो सकता कि वह एकमात्र संकेत-सहाया है और सम्बन्ध औपाधिक अर्थात् प्रकरणादिगत है। उपाधि वह है जो व्यंजक में विलक्षणता का आधान करती हो। उपाधि के देश, काल एवं पात्र के अनुसार अनन्त तथा अनियमित होने के कारण वह संकेतग्रह का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि पग-पग पर संकेतग्रह एवं शब्दानुशासन का विधान संभव नहीं है। अतः एकमात्र संकेतग्रह की अपेक्षा करने वाली अभिधा से उस सम्बन्ध-विशेष की प्रतीति संभव नहीं। एवं औपाधिक होने से व्यंजकत्व समयकृत भी नहीं माना जा सकता।[1] क्योंकि एकही शब्द, प्रकरणादि-सामग्री की विशेषता से विविध अर्थों का बोधक होता है।

यथा— १. **रामोऽस्मि सर्वं सहे।**

२. **रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्।**

३. **रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते।**

४. **रामे तच्छान्तवसतौ कुशतल्पशायिन्यद्यापि नास्ति भगवन् भवतो व्यपेक्षा।**

इन सब स्थलों में प्रयुक्त एकही राम शब्द प्रकरण-भेद से नाना अर्थों का बोधक है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शब्द का अर्थान्तर के साथ सम्बन्ध, सामयिक अर्थात् संकेतग्रह-कृत् भी नहीं। क्योंकि उपर्युक्त सभी स्थलों में संकेतग्रह का विधान शब्द-शास्त्र के सामर्थ्य की बात नहीं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने गमकत्वलक्षण व्यंजनात्मकव्यापार के विषय में कहा है कि—शब्दार्थ में जो प्रसिद्ध वाच्यवाचकभाव नामक संबन्ध है उसका अनुशीलन करते हुए ही गमकत्व या व्यंजकत्वलक्षणव्यापार की सत्ता है। और वह व्यापार प्रकरणादि अन्य अनेक सामग्रियों पर निर्भर होने से औपाधिक रूप में प्रवृत्त होता है। अभिधा से उसके भेद का यही विनियामक है। प्रत्येक शब्द के साथ नियत रहना ही वाचकत्व अर्थात् अभिधा का स्वरूप है। संकेतग्रहादि की व्युत्पत्ति के समय से लेकर उसके साथ वह वाचकत्व अविनाभाव सम्बन्ध से रहता है। प्रकरणादि के निश्चय के अनन्तर ही उसकी प्रतीति होती है अन्यथा उसकी प्रतीति नहीं होती।[2]

चूँकि व्यंग्य एवं व्यंजक का औपाधिक के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध संभव नहीं अतः प्रकरणादि रूप सामग्री के सम्बन्ध से ही व्यंजक में व्यंजकता या अर्थान्तर की गमकता बन सकेगी, शब्द के सम्बन्ध से नहीं। अर्थ के कारण भी उसमें कोई विशेषता नहीं है। आशय यह है कि व्यंजना वृत्ति से जिस व्यंग्यार्थ की प्रतीति की बात कही गई है, उस अर्थ का बोधक शब्द नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द के साथ संकेत-ग्रह के रूप में उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु उसका

---

१. नापि समयकृतः व्यञ्जकत्वस्यौपाधिकत्वाद् उपाधीनां चार्थप्रकरणादिसामग्रीरूपाणामानन्त्यादनियतत्वाच्च प्रतिपदमिव शब्दानुशासनस्य समयस्य कर्तुमशक्यत्वात्। एक एव हि शब्दःसामग्रीवैचित्र्याद्विभिन्नानर्थानवगमयति। —व्यक्तिविवेक, पृ० १२८।

२. यथाह ध्वनिकारः—शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुसन्धान एव गमकत्वलक्षणो व्यापारसामग्र्यन्तरसद्भावादौपाधिकः प्रवर्तते। अत एव च वाचकत्वात् तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा, सङ्केतव्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियत औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरि (तरथा त्वप्रतीतेरिति)। —व्यक्तिविवेक, पृ० १२९।

सम्बन्ध वाच्यार्थ से अवश्य है। जब वाच्य ही प्रकरणादिवश व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराता है तो उसी को व्यंग्यार्थ की प्रतीति का निमित्त मानना चाहिए, शब्द को कदापि नहीं। फिर लिंग-लिंगिभाव के सम्पन्न होने से वह व्यंग्य अर्थ अनुमेय ही होता है। अतः शब्द के व्यंजक होने के पक्ष का उपन्यास ही व्यर्थ है।[१]

इस पर पुनः यह कहा जा सकता है कि यदि अर्थ-निरपेक्ष शब्द में व्यंजकत्व नहीं है तो 'प्राप्तम्' आदि पदों में प्रयुक्त प्रादि उपसर्गोंके वाचकत्व का निषेध कर उन्हें अर्थविशेष का द्योतक क्यों कहा गया है? द्योतक, प्रकाशक या व्यंजक, यह सब एक-दूसरे के पर्याय ही तो हैं। जब प्रादि द्योतक हो सकते हैं तो अन्यशब्द द्योतक या व्यंजक क्यों नहीं हो सकते? इसका उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि ठीक है पर प्रादि में द्योतकत्व का विधान उपचारतः (गौणतः) हुआ है, परमार्थतः नहीं। वास्तव में द्योतक तो वह है जो पूर्वसिद्धवस्तु का प्रकाशन करता हो। प्रदीपादि ही सही अर्थों में द्योतक है। क्योंकि वह पूर्वतः विद्यमान अंधकार में तिरोहित घटादि पदार्थों का द्योतन करते हैं। शब्दार्थ में कुला के समान घटादि अर्थ को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है। अज्ञात के ज्ञापक न होन से वे प्रादि, द्योतक भी नहीं हो सकते। जनक तथा द्योतक से भिन्न कोई हेतु लोक में नहीं होता। अतः प्रादि के लिए द्योतकत्व का प्रयोग औपचारिकमात्र है। क्योंकि प्रदीपादि निष्ठ द्योतकता का शब्दार्थ के विषय में सर्वथा अभाव होता है।[२]

इस पर पूर्वपक्ष का पुनः उत्थापन करते हैं कि--पच् आदि धातुएँ क्रियासामान्य के अर्थ में पढ़ी गयी हैं। सामान्य में सकल विशेष अन्तर्निहित रहते हैं। सामान्य की प्रतीति के साथ ही अविनाभाव से विशेषों की भी प्रतीति स्वतः सिद्ध है। कहा भी है--"निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।" इस प्रकार क्रिया के सामान्य अर्थ के सामर्थ्य से विशेष की सत्ता की प्रतीति के लिये उनमें द्योतकता की अपेक्षता दुर्निवार्य है। अतः द्योतन-मात्र परक होने से प्रादि क्रिया में उत्कर्षादि विशेषों के द्योतक ही सिद्ध होते हैं वाचक, कदापि नहीं।[३]

---

१. न चानयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवतीति तस्याः सामग्र्या एव सम्बन्धबलात् तद्गमकत्वमुपपन्नं न शब्दस्येति, नार्थपक्षादस्य कश्चिद्विशेष इति व्यर्थस्तत्पक्षोपन्यासः।

--व्यक्तिविवेक, पृ० १२९।

२. ननु यदि शब्दस्यार्थनिरपेक्षस्य व्यञ्जकत्वं नेष्यते, तत् कथं प्राप्तमित्यादौ प्रादीनां द्योतकत्वमुक्तं न वाचकत्वम्। वाचकत्वे हि हलादित्वाद्धातोर्यञादिप्रसङ्गः स्यात्। द्योतकत्वं प्रकाशकत्वं व्यञ्जकत्वं चेत्येक एवार्थ इति। सत्यम्। उक्तमुपचारतो न परमार्थत इति तस्य प्रदीपादिनिष्ठस्य वास्तवस्य शब्दार्थविषयत्वस्य प्रतिक्षेपात्।--व्यक्तिविवेक, पृ० १२९।

३. अथोच्यते--पचत्यादयः क्रियासामान्यवचनाः। सामान्यानि चाशेषविशेषान्तर्भावभाञ्जि भवन्तीति तत्प्रतीतिनान्तरीयकतयैव विशेषसद्भावः सिद्ध एव। यदाहुः--'निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवद्' इति। केवलमर्थसामर्थ्यसिद्धोऽपि विशेषो द्योतनमपेक्षत इति तन्मात्रव्यापाराः प्रादयो द्योतका एव भवितुमर्हन्ति न वाचका इति।

--व्यक्तिविवेक, पृ० १३०।

इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि––ठीक है किन्तु जहाँ विशेष की प्रतीति के अभाव में सामान्य की प्रतीति सम्भव न हो वहाँ पचादि सामान्य से विशेष मात्र की प्रतीति होती हो तो हो पर विशेष को लेकर किसी प्रकार के व्यवहार की सिद्धि तो होती नहीं दीखती । क्योंकि व्यवहार में उसकी सिद्धि का कारण तो प्रकरणानुरूप विशेष का ज्ञान या निश्चय ही होता है । उस विशेष का अवधारण पचादि सामान्य से न होकर प्रादि से ही होता है। अर्थापत्ति से भी विशेषों की प्रतीतिरूप व्यवहारसत्ता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि वह तो प्रत्येक विशेष के ज्ञान या निश्चय के साथ ही होती है ।[1] इसलिये जिस धातु से 'प्रादि के प्रयोग से अन्वयव्यतिरेकपूर्वक जिस अर्थ की प्रतीति होती है उन दोनों (धातु और अर्थ) में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध ही मानना ठीक है । अभिव्यक्ति का या व्यंजकत्व आदि का विषय वह उसी प्रकार नहीं होता जैसे घट शब्द और उसका अर्थ । घट शब्द से उसके अर्थ की प्रतीति अन्वयव्यतिरेक से नियत रूप में होती है अतः वह वाच्य ही होता है, व्यंग्य नहीं । इस प्रकार घट शब्द घट अर्थ का वाचक ही कहा जाता है, व्यंजक नहीं। इसी प्रकार उपसर्ग-विशेष से अन्वित धातु से जब किसी विशिष्ट अर्थ की नियमतः प्रतीति होती है तो वह अर्थ व्यंग्य न होकर वाच्य ही होता है तथा उपसर्ग-विशिष्ट वह धातु उस अर्थ-विशेष का व्यंजक न होकर वाचक ही होता है । पच् आदि धातुओं में प्रकर्ष आदि विशेषार्थों की जो प्रतीति होती है वह प्र आदि के प्रयोग के अनन्तर ही होती है । अतः पूर्वोक्त प्रकार से प्रादि में वाचकत्व ही है। अन्यथा वाचकत्व आदि में अन्वयव्यतिरेक की व्यवस्था को अस्वीकार करने पर नीलोत्पल आदि उदाहरणों में जहाँ नील पद की विशेषणता तथा उत्पल की विशेष्यता सर्वमान्य है, वहाँ विशेष्यविशेषण भाव ही समाप्त हो जायगा। क्योंकि वहाँ पर भी द्योतकत्व का विधान लागू किया जा सकता है। उत्पलादिशब्द सामान्य उक्तियाँ हैं। सामान्य में सभी विशेष अन्तर्निहित होते हैं । अतः वहाँ पर उनकी सत्ता सिद्ध होने पर नीलादि शब्द भी प्रादि की तरह तत्तद् विशेषणों के द्योतकमात्र हैं, अभिधायक नहीं। और फिर सामान्य में विशेष के द्योतकत्व को सिद्धान्तरूप में स्वीकार कर लेने पर घटादि पद भी, जिनकी सत्ता सामान्य रूप से पहले से ही सिद्ध है, द्योतक ही कहे जायेंगे, वाचक नहीं । और इस प्रकार वाच्यवाचक-भाव सर्वत्र सर्वदा के लिये समाप्त हो जायेगा । अतः द्योतकत्व को भाक्त अर्थात् गौण ही समझना चाहिए, मुख्य नहीं । भक्ति का प्रयोजन ही यही है कि जिससे वाच्यार्थ की स्फुट प्रतीति हो । उसका निमित्त, विशेषण और विशेष्य

---

१. सत्यम् । किन्तु यदप्रतीतौ सामान्यप्रतीतिरेव न पर्यवस्यति तद्विशेषमात्रं तेभ्यः प्रतीयतां नाम। न तु तावता व्यवहारसिद्धिः काचित्। तस्याः प्रतिनियतविशेषावसायनिबन्धनत्वात्। स त्वपूर्वतया प्रादिभ्य एवोद्भवन्नवधार्यते । न पचत्यादिभ्यः । नार्थादपि तत्सद्भावसिद्धिः काचित् । अस्याः प्रतिनियतविशेषावसायनिबन्धनत्वात् ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० १३० ।

२. तस्माद्यत्प्रयोगान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी यस्य प्रतीतिस्तयोर्वाच्यवाचकभावव्यवहारविषयत्वमेवोपगन्तुं युक्तं नाभिव्यक्तिविषयत्वम् । यथा घटशब्दतदर्थयोः ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० १३० ।

की शीघ्रतापूर्वक ऐसी प्रतीति होना है कि उनमें क्रम का ज्ञान न हो, अपितु यौगपद्य का ही भान हो ।[1]

विशेषण-विशेष्यभाव संबंध को और स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि––विशेषण दो प्रकार के होते हैं––अन्तरंग एवं बहिरंग। अन्तरंग अव्यवहित रूप में ही गुणकारी होता है। अर्थात् विशेष्य के पूर्व या पश्चात् सन्निहित होकर ही काम करता है और विशेषता का आधायक उसी प्रकार होता है जैसे स्फटिक में लाक्षा रक्तस्वरूप विशेषता की आधायिका होती है। जो विशेषण व्यवहित एवं अव्यवहित उभयरूप से काम करता है, वह बहिरंग कहलाता है। जैसे अयस्कान्त-मणि लोहे से व्यवहित होने पर भी उसे अपनी शक्ति से अपने समीप खींच लेता है। यह उभयविध विशेषण समानाधिकरण एवं भिन्नाधिकरण भेद से दो प्रकार का होता है। विशेष्य भी धात्वर्थ एवं नामार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। उपसर्गों का विषय प्रायः धात्वर्थ ही होता है, नामार्थ नहीं। निपातसंज्ञक चादि अव्यय उभयविषयक होते हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि विशेष्यों से उपसर्गों का पूर्व में एवं चादि का पश्चात् प्रयोग होता है।[2]एवं विशेषण-विशेष्य के स्वरूप का अवधारण हो जाने पर यह जो अन्तरंग विशेषण कहा है वह विशेष्य में उसी प्रकार अन्तर्भूत होता है जैसे गवादि में गोत्वादि। शीघ्रता के कारण उनकी प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता। अपितु सहभाव के कारण उनमें द्योत्य-द्योतक भाव का भ्रम हो जाता है, न कि वास्तव में इनमें द्योत्यद्योतक भाव होता है।[3] अतएव भर्तृहरि प्रभृति कुछ विद्वानों ने तो इन प्रादि उपसर्गों को धातु में ही अन्तर्हित मानते हुए कहा है––

अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम् ।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव च तादृशः ॥ वाक्य० २।१८०

(व्याकरणशास्त्र में धातु और उपसर्गों का अलग-अलग पाठ कल्पितरूप से अट् आदि प्रत्ययों की व्यवस्था के लिये किया गया है। वस्तुस्थिति तो यह है कि सोपसर्ग सप्रत्यय––वह स्वरूप धातु का ही है।)

---

१. प्रादिप्रयोगानुविधायिनी तत्र पचतीत्यादौ प्रकर्षादिप्रतीतिरिति तेऽपि तथा भवितुमर्हन्त्येव। अन्यथा नीलोत्पलादौ सर्वस्यैव विशेषणाभिमतस्य नीलादिशब्दस्य विशेष्यवाचिनश्चोत्पलादेर्विशेषणविशेष्यभावव्यवहारोऽस्तमुपगच्छेत्। तत्रापि ह्येतच्छक्यं वक्तुम्। उत्पलादयः शब्दाः सामान्यवचनाः। सामान्यानि च गर्भीकृतविशेषाणि भवन्तीति तेषां तत्र सद्भावसिद्धौ सत्यां नीलादिशब्दा अपि तत्तद्द्योतनमात्रव्यापाराः प्रादिवद् द्योतका भवितुमर्हन्ति नाभिधायका इति। ––व्यक्तिविवेक, पृ० १३०-१३१।

२. एवंचान्तर्मात्रविपरिवर्तितया सिद्धसद्भावानां घटादीनां घटादिशब्दा अपि द्योतका एव स्युर्न वाचका इति वाच्यवाचकव्यवहारोऽस्तमियात्। तस्माद् भाक्तमेव द्योतकत्वमुपगन्तव्यं न मुख्यम्, भक्तेश्च प्रयोजनं वाच्यस्यार्थस्य स्फुटत्वप्रतिपत्तिः। निमित्तं च विशेषणविशेष्यप्रतीत्योराशुभावितया क्रमानुपलक्षणात् सहभावप्रतीतिः।––व्यक्तिविवेक, पृ० १३१।

३. तदेवं विशेषणविशेष्यस्वरूपेऽवसिते यदेतदन्तरङ्गं विशेषणमुक्तं तद् गवादौ गोत्वादिवद्विशेष्यस्वरूपान्तर्भूतमिवेति तत्प्रतीत्योराशुभावितया क्रमानुपलक्षणात् सहभावावगमो द्योत्य-द्योतकभावभ्रमहेतुः। ––व्यक्तिविवेक, पृ० १३२।

विशेषण के रूप में प्रयुक्त चादि अव्ययों के विषय में विशाष नियम यह है कि वे विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं और विशेष्यों से उनका व्यवधान उसी प्रकार बना रहता है जिस प्रकार निर्मल स्फटिक पत्थर से लाक्षा का। वे जिनके अनन्तर उपाधिरूप से प्रयुक्त होते हैं उन्हीं में ही विशेषता का आधान करने में समर्थ होते हैं, अन्यत्र नहीं। अत जहाँ कहीं भी उनका प्रयोग उक्त क्रम को भंग करके हुआ है, वह स्थल निर्दोष नहीं है। क्योंकि अनुचित स्थान पर उनका प्रयोग प्रकरणविरुद्ध एवं अनियमित अर्थ का ही प्रत्यायक होगा जिससे प्रस्तुत अर्थ में असामंजस्य होने लगेगा। यदि यह कहें कि महाकवियों के प्रबन्धों में अनेकत्र इनके प्रयोग भिन्न क्रम से हुए हैं और वहाँ अभिमत अर्थ की प्रतीति भी सुतराँ होती है तो ठीक नहीं।[1]

क्योंकि चादि के भिन्न क्रम से उपादान करने पर भी कथंचित् अभिमतार्थ की प्रतीति होती है ऐसा स्वीकार करने से प्रस्तुतार्थ की प्रतीति में पड़ने वाली बाधा का निराकरण तो होता नहीं, प्रस्तुतार्थ की प्रतीति में बाधा पड़ने से उस रचना में रसास्वाद का भंग हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक हो जाता है। क्योंकि वहाँ शब्ददोष रूप अनौचित्य की प्रसक्ति होने लगती है, जो रसभंग का सबसे बड़ा हेतु है।[2] आचार्यों ने भी कहा है--

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ (ध्वन्यालोक)

उपर्युक्त व्याख्यान से यही निष्कर्ष निकला कि शब्द में व्यंजकत्व किसी भी प्रकार नहीं बनता। अतः व्यंग्यव्यंजकभाव की सिद्धि के अभाव में ध्वनि का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। अर्थ में व्यंजकत्व न होकर हेतुत्व ही रहता है। अतः जहाँ भी अर्थान्तर की प्रतीति होती है वे स्थल अनुमान से सिद्ध हो जाते हैं। फलतः ध्वनि-सिद्धान्त अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जाता है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धनकृत ध्वनिलक्षण का विवेचन करने पर उसका सारांश यही निकलता है कि सहृदयश्लाघ्य वह अर्थ जिसे काव्य की संज्ञा दी जाती है दो प्रकार का होता है--वाच्य एवं प्रतीयमान। वाच्य अर्थ का सद्भाव उपमादि अलंकारों से सिद्ध है। अभिधा से वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनन्तर वक्ता, श्रोता एवं प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से उसी वाक्य से अर्थान्तर की भी प्रतीति होती है। उसी को प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ कहा गया है। यह प्रतीयमान वस्तु, अलंकार एवं रसादि तीन प्रकार का ही होता है। सभी प्रतीयमान अर्थ व्यंग्य अवश्य होते हैं पर सभी ध्वनिव्यपदेश के भागी नहीं होते। अपितु वही ध्वनि कहे जाते हैं, जिनमें वाच्य अर्थ या वाच्य अलंकार की अपेक्षा चारुता अधिक होती है।

---

१. चादीनां चोपाधीनां विशेष्येभ्यो निर्मलेभ्यः स्फटिकोपलेभ्य इव लाक्षादीनामव्यवधानमेव। तेन ते यदनन्तरमुपाधीयन्ते,तेष्वेव विशेषमाधातुमलं नान्यत्रेति यत्तेषां भिन्नक्रमतया क्वचिदुपादानं तदनुपपन्नमेव अयथास्थानविनिवेशिनो हि तेऽर्थान्तरमनभिमतमेव स्वोपरागेणोपरञ्जयेयुः। ततश्च प्रस्तुतार्थस्यासामञ्जस्यप्रसङ्गः। --व्यक्तिविवेक, पृ० १३२।

२. कथंचिद्वा भिन्नक्रमतयाप्यभिमतार्थसम्बन्धोपकल्पने प्रस्तुतार्थप्रतीतेर्विघ्नितत्वात् तन्निबन्धने रसास्वादोऽपि विघ्नितः स्यात् शब्ददोषाणामनौचित्योपगमात् तस्य च रसभङ्गहेतुत्वात्। --व्यक्तिविवेक, पृ० १३३।

जिस प्रकार शब्द एवं उसके वाच्य अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध होता है और संकेतग्रह से ही उस सम्बन्ध का निर्धारण होता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ प्रतीयमान के व्यंजक होते हैं तथा प्रतीयमान एवं उनके बीच व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध होता है। यह व्यंग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध क्या है ? इस पर प्रकाश डालते हुए ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है कि —वह सम्बन्ध गमकत्व ही है जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध के अनुसार बनता है। अर्थात् वक्ता, श्रोता और प्रकरणादि वैशिष्ट्य से प्रतीयमानार्थ का जो अवधारण होता है वह औपाधिक ही होता है।[1]

महिमभट्ट शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक के अतिरिक्त अन्य किसी भी सम्बन्ध को स्वीकार करने के लिए इसलिए प्रस्तुत नहीं हैं कि उसमें कोई प्रमाण नहीं है । अर्थान्तर व प्रतीयमान के प्रति शब्द की कारणता या गमकता संभव नहीं। प्रत्युत प्रकरणादि विशिष्ट वाच्यार्थ की ही कारणता वहाँ पर होती है। अतः अर्थान्तर या प्रतीयमान की प्रतीति शब्दगम्य न होने से वह शब्द-व्यापार का विषय कदापि नहीं हो सकती।[2]

प्रतीयमान या अर्थान्तर की प्रतीति शाब्दी न होकर एकमात्र आर्थी है। अर्थ के अर्थान्तर का गमक होने से प्रतीयमान की प्रतीति शब्दव्यवहार का विषय न होकर एकमात्र अर्थ-व्यवहार का विषय है जो एक अर्थ से अर्थान्तर का लिंगलिंगी रूप अनुमान ही हो सकता है। ग्रंथकार की इस उक्ति का पूर्वप्रकरणों में अनेक बार प्रतिपादन हुआ है। स्थूणाखनन न्याय से ही यहाँ पर भी उसका पुनः प्रतिपादन किया गया है। महिमभट्ट को प्रतीयमानार्थ की प्रतीति के विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। न वह अर्थ की व्यंजकता के ही विरोधी हैं। उनका विरोध तो केवल शब्द की व्यंजकता से है जो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। यही आनन्द और महिम का प्रतीयमान या अर्थान्तर की प्रतीति के विषय में मतभेद का स्थल है। शब्द की व्यंजकता के असिद्ध हो जाने पर व्यंजना का अनुमान में एवं व्यंग्य का अनुमेय अर्थ में अन्तर्भाव अत्यन्त सरल एवं स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसीलिए उन्होंने शब्द के व्यंजकत्व के खण्डन में ही अनेक युक्तियाँ एवं तर्क उपस्थापित किये हैं। इसी विस्तृत विवेचन को व्यक्तिविवेककार ने निम्न-लिखित संग्रहकारिकाओं में संकलित किया है।

स्वाभाविकं ध्वनेर्युक्तं व्यञ्जकत्वं न दीपवत्।
धूमवत् किन्तु कृतकं सम्बन्धादेरपेक्षणात् ॥१।७४॥

---

१. शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यः तमनुसन्धान एव गमकत्वलक्षणो व्यापारसामग्र्यन्तरसद्भावात् औपाधिकः प्रवर्तते। अतएव च वाचकत्वात् तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियतं संकेतव्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। सत्वनियतः औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरन्यथा तु अप्रतीतेरिति।
—ध्वन्यालोक, पृ० ४३६ (का० ३।३३ पर वृत्ति)।

२. न चानयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवतीति तस्याः सामग्र्या एव सम्बन्धबलात् तद्गमकत्वमुपपन्नं न शब्दस्येति, नार्थपक्षादस्य कश्चिद्विशेष इति व्यर्थस्तत्पक्षोपन्यासः।
—व्यक्तिविवेक, पृ० १२९।

दीपक से घट के प्रकाशन के समान ध्वनि में व्यञ्जकता स्वाभाविक नहीं है अपितु धूम से अग्नि के अनुमान के समान सम्बन्ध आदि की अपेक्षा करके ही व्यंग्य तथा व्यञ्जक का परस्पर सम्बन्ध होता है।

प्रादीनां द्योतकत्वं यत् कैश्चिदभ्युपगम्यते ।
तद्भाक्तमेव तत्रेष्टं न मुख्यं तदसम्भवात् ॥१।७५॥

कुछ लोगों ने प्रादि उपसर्गों को जो द्योतक माना है वह कथन सामान्यतया गौण है, मुख्य नहीं। क्योंकि प्रादि में मुख्य वृत्ति से द्योतकता सम्भव नहीं।

तथा हि यस्य शब्दस्य भावाभावानुसारिणी ।
यदर्थबुद्धिस्तस्यासौ वाच्योऽर्थ इति कथ्यते ॥ १।७६॥
गोशब्दस्येव गौरर्थः सान्यथा त्वव्यवस्थिता ।
वाच्यत्वव्यवहारश्च न स्यादर्थस्य कस्यचिद् ॥ १।७७॥

अतः अन्वय एवं व्यतिरक के अनुसार शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अर्थ शब्द का वाच्य ही कहा जाता है जैसे गो शब्द का अन्वय-व्यतिरेक से प्रतीत होने वाला गाय रूप अर्थ गोपद का वाच्य ही होता है। अन्यथा नियत रूप से किसी अर्थ के बोधक होने पर भी यदि उस शब्द में व्यञ्जकत्व या द्योतकत्व मानेंगे तो वाच्य-वाचक भाव से होने वाली प्रतीति अव्यवस्थित हो जायगी और किसी भी अर्थ को वाच्य कहना कठिन हो जायगा।

प्रादिप्रयोगानुगमव्यतिरेकानुसारिणी ।
प्रकर्षादौ मतिस्तेन तस्य तद्वाच्यता न किम् ॥१।७८॥

प्र आदि उपसर्गों के प्रयोग से क्रियाओं में प्रकर्ष आदि विशिष्ट अर्थ की प्रतीति अन्वय-व्यतिरेक के अनुसार ही होती है अतः वह प्रकृष्ट अर्थ वाच्य नहीं तो और क्या है ? अर्थात् वह वाच्य ही है।

विशेषावगमस्याशुभावादनुपलक्षणात् ।
क्रमस्य सहभावित्वं भ्रमो भक्तेर्निबन्धनम् ॥१।७९॥

भक्ति अर्थात् लक्षणा के स्थलों में भी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति इतनी शीघ्र होती है कि वाच्य से लक्ष्य की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता। अतएव उसमें सहभाव (एक साथ ही प्रतीत होने के भाव) का भ्रम उत्पन्न होने लगता है।

विशेषणं तु द्विविधमान्तरं बाह्यमेव च ।
तत्राव्यवहितं सद्यदर्थकारि तदान्तरम् ॥१।८०॥
स्फटिकस्येव लाक्षादि, द्वितीयमुभयात्मकम् ।
आयसस्येव तत्कान्तं, तदपि द्विविधं मतम् ॥१।८१॥
असमानसमानाधिकरणत्वविभेदतः ।

विशेषण दो प्रकार का होता है—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक वह है जहाँ अर्थ की प्रतीति में कोई व्यवधान नहीं होता, जैसे स्फटिक मणि में लाक्षा की प्रतीति।

द्वितीय बाह्य प्रकार का विशेषण विशेष्य के साथ व्यवधान-रहित एवं व्यवधान-सहित उभय प्रकार से व्यवस्थित होता है। पहला स्फटिक मणि के पास बिना व्यवधान के स्थित लाक्षा की तरह और दूसरा लोहे से दूरी पर स्थित चुम्बक की तरह। दोनों प्रकार के बाह्य विशेषण व्यधिकरण एवं समानाधिकरण भेद से पुनः दो-दो प्रकार के होते हैं।

विशेष्योऽपि द्विधा ज्ञेयो धातुनामार्थभेदतः । १।८२॥
शब्दत्वार्थत्वभेदेन नामार्थोऽपि द्विधा मतः ।
तत्रोपसर्गाणां प्रायो धात्वर्थो विषयो मतः ॥१।८३॥

विशेष्य भी धातु और नामार्थ भेदों से दो प्रकार का होता है। शब्दत्व और अर्थत्व भेद से नामार्थ के भी दो प्रकार होते हैं। इनमें धातु का अर्थ वह है जो प्रायः उपसर्गों का विषय होता है।

चादीनां तु निपातानामुभयं परिकीर्तितम् ।
केवलं तु विशेष्यात् स्युः पूर्वपश्चाच्च ते क्रमात् । १।८४॥
विशेषणानामन्येषां पौर्वापर्यमयन्त्रितम् ।

च आदि निपातसंज्ञक अव्ययों के विषय धात्वर्थ एवं नामार्थ दोनों ही कहे गये हैं। इनमें भेद इतना ही है कि जहाँ धात्वर्थ बोधकचादि विशेष्य से पूर्व में प्रयुक्त होते हैं वहाँ नामार्थबोधक विशेष्य के बाद। अन्य विशेषणों में पूर्वपश्चात् भाव का कोई क्रम नियत नहीं होता। विशेष्य के कभी पूर्व तो कभी अनन्तर भी उनका प्रयोग होता है।

इत्थं स्थिते स्वरूपेऽस्मिन् विशेषणविशेष्ययोः ॥१।८५॥
यदन्तरङ्गमुद्दिष्टमुभयात्मा विशेषणम् ॥
विशेष्ये मग्नमिव तद् गवि गोत्वमिव स्थितम् । १।८६॥

विशेषण एवं विशेष्य के स्वरूप के इस प्रकार निश्चित हो जाने पर जो विशेषण अन्तरंग है वह विशेष्य से व्यवहित एवं अव्यवहित उभयात्मक नहीं होता अपितु गो में अव्यवहित रूप से मग्न गोत्व के समान अन्तर्हित-सा रहता है।

अतएवाशुभावित्वात् तत्प्रतीत्योः क्रमाग्रहः ।
यन्मूलश्चायमनयोर्द्योत्यद्योतकताभ्रमः ॥१।८७॥

इसीलिए शीघ्रता से होने के कारण उनकी प्रतीति में पूर्वापरभाव का क्रम लक्षित नहीं होता पर होता अवश्य है। यही कारण है कि प्रादि एवं उनके विशेष्य मूल-धात्वर्थ में द्योत्य-द्योतकभाव का भ्रम हो जाता है।

प्रादीनां धातुगर्भत्वोपगमाच्च यदुक्तवान् ।
अडादीनां व्यवस्थार्थमित्यादि विदुषां वरः ॥१।८८॥

प्र आदि उपसर्गों के धातु के गर्भ में समा जाने से ही विद्वानों में श्रेष्ठ भर्तृहरि ने 'अडादीनां व्यवस्थार्थम्' इत्यादि कहा है; जिसका अभिप्राय यह है कि अन्य शब्दों की तरह उपसर्गों में भी द्योतकता या व्यंजकता नाम की कोई शक्ति या व्यापार काम नहीं करता जिसे ध्वनिसिद्धान्त की आधारशिला व्यंजना की सिद्धि के लिये दृष्टान्त के रूप में उपस्थापित किया जा सके।

अतएव व्यवहितैर्बुधा नेच्छन्ति चादिभिः ।
सम्बन्धं ते हि शक्ति स्वामुपदध्युरनन्तरे ॥१।८९॥

अतएव विद्वान् लोग वाक्य में व्यवहित अर्थात् दूरस्थ 'च' आदि के द्वारा विशेष्य और विशेषण में सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहते। अपितु वे अपनी सम्बन्ध-बोधिनी शक्ति को अव्यवहित पद के अर्थ में ही निहित रखते हैं।

सान्तरत्वे तु तां शक्तिमन्यत्रैवादधत्यमी ।
ततश्चार्थासामंजस्यादनौचित्यं प्रसज्यते ॥१।९०॥

ये चादि विशेष्य से व्यवहित होने पर अपनी अर्थ प्रत्यायिका शक्ति का आधान अन्यत्र ही करने लगते हैं उससे वाक्य के अर्थ में असामंजस्य पैदा होता है जिससे अनौचित्य (दोष) की प्रसक्ति होने लगती है।

तृतीय-विमर्श

ध्वनिभेदों की अनुपपत्तिपूर्वक अनुमेयता

(क) गुणीभूत व्यंग्य की अनुपपन्नता

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य के दो भेद किये हैं—ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य। ध्वनि के लक्षण एवं उसकी अनुमेयता का विवेचन पूर्वविमर्श में हो चुका है। प्रकृत स्थल में हम गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण कर ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के प्रधानेतर-भाव की असम्भाव्यता का प्रदर्शन करेंगे। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का कहना है कि काव्य के स्वरूप की व्युत्पत्ति के लिए ही ध्वनिकार ने ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य नामक भेद एवं उनके प्रभेदों का निरूपण किया है। किन्तु सबसे पहले उन्हें काव्य का सामान्य-लक्षण करना चाहिए था, उक्त प्रकार से विशेष लक्षण नहीं। किन्तु ऐसा न कर ध्वनिकार ने जो प्रधानेतर भाव की कल्पना करते हुए काव्यविशेष का ही निरूपण किया है, और ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य के जो दो भेद किये हैं उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। विशेष की प्रतीति के लिए, निमित्त के रूप में जिसका आश्रयण किया जाता है, उसका प्रतिपाद्य वह विशेष ही होता है, अन्य नहीं। अन्यथा अतिप्रसंग दोष की सम्भावना होती है। उदाहरणस्वरूप दण्डी-व्यक्ति की प्रतीति के लिए दण्ड का प्रयोग होने पर, वहाँ प्रतिपाद्य होने से व्यक्ति की ही प्रधानता होती है, दण्ड की नहीं।[1] इसी प्रकार व्यंग्य की प्रतीति के लिए निमित्त-रूप में जिस वाच्य का आश्रयण होता है, वही व्यंग्य का प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। गुणीभूत-व्यंग्य काव्य में यही होता है। वहाँ व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य में चारुत्व के अधिक होने से वाच्य की ही प्रधानता होती है, और उस चारुत्वातिशय का निमित्त व्यंग्य ही होता है। ध्वनिकार ने स्वयं कहा है[2]—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥

(गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य का एक दूसरा भेद है जहाँ व्यंग्य के सम्बन्ध से वाच्य में चारुत्व का प्रकर्ष होता है।)

---

१. किञ्च काव्यस्य स्वरूपं व्युत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम्, यत्र वाच्यप्रतीयमानयोर्गम्यगमकभावसंस्पर्शस्तत् काव्यमिति, तावतैव व्युत्पत्तिसिद्धेः। यत्तु तदनाख्यायैव तयोः प्रधानेतरभावकल्पनेन प्रकारद्वयमुक्तं तदप्रयोजकमेव। यो हि यद्विशेषप्रतीतौ निमित्तभावेन निश्चितः स एव तदर्थिनः प्रतिपाद्यो भवति नान्यः, अतिप्रसंगात्। यथा दण्डिप्रतीतौ दण्डः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १३६।

२. ध्वन्यालोक का० ३।३४।

वस्तुतः काव्य में चारुत्व का आधान, अन्वय-व्यतिरेक से उस अनुमेयार्थ के संस्पर्शमात्र से ही होता है जिसको ध्वनिवादी प्रतीयमान कहते हैं। अतः इस रहस्य का अवधारण हो जाने पर, उसे ही ध्वनि-काव्य कहना चाहिए, न कि प्राधान्याप्राधान्यकृत किसी विशेष को। अपि च वस्तुमात्र, अलंकार एवं रसादि, काव्य की तीनों विधाओं में प्राधान्याप्राधान्य या सामान्य-विशेष विषयक ऐसी कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती जो सहृदयहृदयाह्लादजनक हो।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ पर प्रतीयमान अर्थात् अनुमेय-अर्थ होता है वहाँ वस्तुमात्र, अलंकार या रसादि की प्रतीति प्रधानतया होती हो या अप्रधानतया, वह उत्तम-काव्य है। प्रतीयमान के अप्रधान होने से काव्य की उत्तमता में कोई व्याघात नहीं होता। वस्तुमात्र की प्रधानता से उत्तम काव्य का उदाहरण है—

व्रज ममैवैकस्याः भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया बिना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत।

नायक सज-धजकर कहीं जा रहा है। नायिका जानती है कि इस समय वह अपनी किसी अन्य प्रेयसी के पास जाना चाहता है। किन्तु नायिका को खिन्न देखकर वह रुक जाता है। इस पर नायिका कहती है कि– जहाँ जा रहे थे जाओ। जिससे अकेले मेरे ही भाग्य में सिसकना-रोना रहे। न जाकर उसके बिना तुम्हें भी न रोना पड़े। यहाँ पर नायक का नायिकान्तर में अनुराग का अतिशयरूप वस्तु व्यंग्य है और उसी की प्रधानता भी है। किन्तु—

लावण्य सिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

'नदी के तट पर स्नान के लिए आयी सुन्दरी नायिका को देखकर कोई रसिक कहता है— सौन्दर्य की एक दूसरी नदी यह कौन है जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं और गोता लगाये हुए हाथी का मस्तक उभरा हुआ दिखाई दे रहा है, तथा जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदलीस्तम्भ और मृणालदण्ड प्रतीत हो रहे हैं।

इस पद्य में नवयौवनपरिस्फुल्ललावण्यवती किसी कामिनी को देखकर संजाताभिलाषुक नायक उसका वर्णन करता है। इस वर्णन में नायिका के शरीर, मुख, नयन, स्तन, उरु एवं भुजाओं का लावण्यसिन्धु, शशि इत्यादि के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है और इस प्रकार यह पद्य अभेदाध्यवसायात्मिका अतिशयोक्ति का उदाहरण है। सिन्धु आदि पदार्थों की नायिका में अनुपपत्ति होने से यहाँ अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि है जिसमें लावण्य में प्रवहमानादि लक्षित होते हैं और नायिका के अंगों की परिपूर्णता रूप वस्तु ध्वनित होता है। किन्तु वह वाच्य अति-

---

१. अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुर्निश्चितम्। अतस्तदेव वक्तव्यं भवति न त्वस्य प्राधान्याप्राधान्यकृतो विशेषः। न हि तयोः सामान्यविशेषयोस्त्रिष्वपि वस्तुमात्रादिष्वनुमेयेषु चेतनचमत्कारकारी कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते।
—व्यक्तिविवेक, पृ० १३६।

शयोक्ति अलंकार की अपेक्षा अप्रधान है, फिर भी यहाँ उत्तमकाव्यता का व्याघात नहीं होता । इसी प्रकार––

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥

संध्यारूपी नायिका दिवसरूपी नायक से प्रेम करती है। नायक भी उसी ओर ही अग्रसर है। पर विधि की विचित्र गति है कि फिर भी दोनों का मिलन नहीं हो पाता।

इस पद्य में समासोक्ति अनुप्राणित अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलंकार है । तथा गुरुजनों की परतंत्रतावश अनुरक्त प्रेमियों का मिलन न हो सकना, अर्थ ही व्यंग्य है जो कारण के रहते हुए भी कार्याभावरूप विशेषोक्ति अलंकार की सृष्टि करता है। इस अलंकार रूप व्यंग्य की अपेक्षा, सन्ध्यादिवससमागम रूप वाच्य ही उत्कृष्ट है, अतएव ध्वनिकार ने इसे गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण कहा है। यद्यपि यहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं है, फिर भी उसकी अप्रधानता के कारण काव्य की चारुता का लेशमात्र भी अपकर्ष नहीं होता । अलंकार की प्रधानता का उदाहरण है––

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे ।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥

यहाँ पर प्रियास्तनोत्संग एवं रिपुगजकुंभस्थल के दर्शन समान रूप से आकर्षक हैं । किन्तु शत्रु पक्ष के गजों के कुम्भस्थल के दर्शन में वीरों के लिए जो आकर्षण है, वह प्रिया के स्तनों के उठाव के प्रति नहीं है । यह व्यतिरेक ही व्यंग्य है । उभयत्र आदरविषयक सादृश्य की प्रतीयमानता से यहाँ उपमाध्वनि है और वही प्रधान भी है । अलंकारव्यंग्य की अप्रधानता में भी काव्य की उत्तमता का लोप नहीं होता । इसका उदाहरण है––

चन्द्रमयूखैः निशा, नलिनी कमलैः, कुसुमगुच्छैर्लता ।
हंसैः शारदशोभा, काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥

यहाँ पर गुरुकरण रूप समानधर्म, चन्द्रमयूखप्रभृति एवं निशादि उपमान कोटि के पदार्थों में जैसा है, काव्य कथा में उपमेय कोटिक पदार्थ सज्जन में भी वैसा ही है । इस तरह वह समान धर्म उपमेयकोटिक पदार्थ में अन्वित होता हुआ प्रकृत पद्य में दीपकालंकार का विधान करता है। यहाँ पर उपमालंकार अवश्य व्यंग्य है, किन्तु जैसी चारुता का अनुभव वाच्यालंकार दीपक से होता है, प्रतीयमान उपमा से वैसा न होने के कारण उसकी प्रधानता नहीं है, फिर भी यहाँ व्यंग्य अलंकार की अप्रधानता में भी काव्य की उत्तमता की हानि नहीं होती ।

रसादि की अप्रधानता के उदाहरण कुमारसम्भव के मधु-प्रसंग में पुष्पाभरण से विभूषित देवी के आगमनादि से लेकर कामदेव के शरसन्धान पर्यन्त घटनाओं, एवं शम्भु की धैर्यरहित चेष्टाओं के वर्णन आदि हैं। वहाँ पर काव्य की उत्तमता में किसी को किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है । रसादि की अप्रधानता शुद्ध एवं संकीर्ण दो भावों से सम्भव है । शुद्ध रूप से उसकी अप्रधानता का उदाहरण है––

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण ! प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः ?

स्वप्नान्तेष्विति तेऽवदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो,
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥

कोई कवि किसी राजा की स्तुति करते हुए कहता है––हे राजन् ! आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ अपने पतियों को स्वप्न में पाकर उनके गले में हाथ डालकर कहती हैं कि इस तरह का मजाक क्यों करते हो ? आज तो बहुत दिनों के बाद मिले हो। अब तो फिर नहीं जाओगे न ? निष्ठुर कहीं के ! यह तो बताओ कि तुम अब इतना बाहर क्यों रहने लगे हो ? किसने तुम्हें मुझसे दूर कर दिया था ? किन्तु जब उनका स्वप्न भंग हो जाता है और वे अपनी भुजाओं से बने घेरे को रिक्त पाती हैं तो जोरों से रोने लगती हैं। यहाँ पर रिपुस्त्री के स्वप्नविलाप से किसी राजा के प्रभावातिशय का वर्णन हुआ है। स्वप्न में पतिदर्शन से उद्दीपित शुद्ध करुणरस उस प्रभावातिशय का अंग है, अतः अप्रधान है। संकीर्ण-रसादि की अप्रधानता का उदाहरण है––

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ (अमरुशतक)

अग्नि-रूपी शिव का वह बाण आप लोगों के पापों को जला दे जो परनायिकोपभोग आदि अपराध किये हुए कामी नायक के समान त्रिपुर की युवतियों को हाथ लगाने पर उनके द्वारा झटक दिया गया, जोरों से प्रताड़ित होने पर भी उनके आँचल की छोर को पकड़ने के लिये मचलता रहा, उनके केशों को पकड़ने पर किसी तरह मुश्किल से दूर हटाया गया, उनके चरणों पर पड़ने पर भी क्रोध एवं घबराहट के कारण उनके द्वारा देखा तक नहीं गया तथा हठात् आलिंगन करने पर उनके द्वारा अपने कमलवत् नेत्रों में आँसू भर कर तिरस्कृत किया गया। यहाँ पर त्रिपुरारि में शिव का प्रभावातिशय ही वाक्यार्थ है तथा श्लेषानुप्राणित ईर्ष्या और विप्रलम्भ उसके पोषक हैं। अतः प्रभावातिशय की अप्रधानता संकीर्ण है। फिर भी यहाँ काव्य की उत्तमता में किसी प्रकार की कमी नहीं है। इस प्रकार ध्वनि के वस्तुमात्र, अलंकार एवं रसादि तीनों भेदों में अनुमेयार्थ के संस्पर्श को ही काव्य की चारुता का हेतु समझना चाहिए, चाहे वह प्रधान हो अथवा अप्रधान।[1] आचार्य महिमभट्ट का यही मत है।

इस तथ्य को स्वयं ध्वनिकार ने भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि––सहृदय-हृदयाह्लादक काव्य का ऐसा कोई भी प्रकार सम्भव नहीं, जहाँ चारुत्व के आधान का हेतु, प्रतीयमान का संस्पर्श न हो। अतः विद्वानों को सम्बोधित-सा करते हुए उन्होंने इस बात को काव्य का परम रहस्य कहा है।[2] यही नहीं, उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि महाकवियों की

१. तदेवं प्रकारत्रयेऽपि अनुमेयार्थ संस्पर्श एव काव्यस्य चारुत्वहेतुः इत्यवगन्तव्यम् ।
व्यक्तिविवेक, पृ० ४०-१४१।

२. सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन न सौभाग्यम् । तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिः विभावनीयम् ।
––ध्वन्यालोक वृत्ति ३।३७, पृ० ४२० (दिल्ली)।

अलंकारप्रधान रचनाओं में भी प्रतीयमानार्थ की छाया अर्थात् व्यंग्यकृत सौन्दर्य ही चमत्कार का मुख्य आधायक-तत्त्व उसी प्रकार होता है जिस प्रकार नानाविध वस्त्रालंकार से सुसज्जित नायिका का लज्जाभाव ही मुख्य रूप से उसमें सौन्दर्य का आधान करता है।[1] गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्यभेद का स्वरूप-निरूपण करते हुए ध्वनिकार ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वहाँ भी वाच्य में चारुत्वातिशय का आधान व्यंग्य के अन्वय से ही होता है।[2]

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ध्वनि या प्रतीयमान के प्राधान्याप्राधान्य से काव्य में चारुत्व के उत्कर्षापकर्ष का अनुभव ही नहीं होता। अपितु वहाँ प्रधानेतरभाव से प्रतीयमान का उपनिबन्धन हो सकता है। यहाँ प्रधानेतर भाव के खण्डन करने का अभिप्राय यह है कि इसमें ध्वनि के स्वरूपमात्र का प्रतिपादन होता है। उसके चारुत्व के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं होती। स्वरूपमात्र के प्रतिपादन को ही इस विवेचन का फल इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि फिर ध्वनिवाक्यवर्ती पद, वर्ण, संख्या आदि के स्वरूप का निरूपण भी इतिकर्त्तव्यता की कोटि में आ जायगा। इस प्राधान्याप्राधान्य निरूपण का मुख्य प्रयोजन तो संज्ञासंज्ञिविषयक व्युत्पत्ति है, काव्यविशेष की प्रतिपत्ति नहीं। किंच ध्वनि के प्रधानेतर भाव को उसी रूप में स्वीकार कर लेने पर भी अनुमेयार्थ की सिद्धि में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। उक्त विवेचन को ही ग्रंथकार ने निम्नलिखित संग्रहकारिकाओं में उपनिबद्ध किया है।

यदि काव्ये गुणीभूतव्यङ्गयेऽपीष्टैव चारुता।
प्रकर्षशालिनि तर्हि व्यर्थ एवादरो ध्वनौ ॥१।९६॥

यदि गुणीभूतव्यंग्य नामक भेद में भी काव्य का उत्कर्षरूपी सौन्दर्य अभीष्ट है तो ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रति इतना आदर कि वही काव्य की आत्मा हो सकता है, व्यर्थ ही में प्रदर्शित किया। क्योंकि बिना आत्मा के जिस प्रकार जीवन की सत्ता असम्भव है उसी प्रकार काव्यात्मा ध्वनि के बिना काव्य का कोई भी प्रकार सम्भव नहीं होगा।

नहि काव्यात्मभूतस्य ध्वनिस्तत्रास्ति सम्भवः।
तेन निर्जीवितैवास्य स्यात् प्रकर्षे कथैव का ॥१।९७॥

वहाँ (गुणीभूतव्यंग्य के स्थलों में) काव्य के आत्मभूत तत्त्व ध्वनि की सत्ता कथमपि

---

१. मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ —ध्वन्यालोक, का० ३।३८।

२. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्गयः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्गयान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥ —ध्वन्यालोक, का० ३।३५

३. सम्भवापेक्षया चास्य ध्वनेः स्वरूपमात्रप्रतिपादनार्थत्वोपगमेऽन्येषामपि तद्वाक्यवर्त्तिनां पद वर्णसंख्यादीनां तदुपदर्शनप्रसङ्गो विशेषाभावादितिसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धव्युत्पत्तिमात्रफल मेतत् पर्यवस्यतीति न काव्यविशेषव्युत्पत्तिफलम्। न चायं प्रधानेतरभावेनोपनिबद्धस्तेषा मनुमेयतां प्रतिबध्नाति। —व्यक्तिविवेक, पृ० १४१।

सम्भव नहीं। अतः गुणीभूतव्यंग्य काव्य अपनी आत्मा ध्वनि के अभाव में सर्वथा निर्जीव ही ठहरता है, उसके उत्तम या मध्यम काव्य होने की तो बात ही क्या ? कहने का आशय यह है कि काव्य का कोई भी भेद पहले काव्य होना चाहिए अनन्तर उसका उत्तम, मध्यम या अधम भेद। काव्यात्मा ध्वनि के अभाव में कोई भी रचना ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार काव्य ही नहीं कही जा सकती, फिर उसके एक भेद होने की तो बात ही क्या ?

अतोऽतदात्मभूतस्य येऽभावं जगदुर्ध्वनेः ।
ते मुधैव प्रतिक्षिप्ताः स्वोक्तिभावमपश्यता ॥१।९८॥

अतः जिन लोगों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा होने का विधान किया है उन्होंने अपनी उक्ति के भाव को न देखते हुए अपनी ही दूसरी उक्ति का खण्डन कर दिया है। अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य को काव्य का एक भेद कहने से ध्वनि की काव्यात्मता का स्वतः अपलाप हो जाता है ।

अथेष्यते स तत्रापि रसादिव्यक्त्यपेक्षया ।
काव्यमेवान्यथा न स्याद्रसात्मकमिदं यतः ॥१।९९॥

सिद्धान्तपक्ष तो यह है कि यदि गुणीभूतव्यंग्य आदि स्थलों में काव्यत्व अभीष्ट है तो वह रसादि की अभिव्यक्ति को लेकर ही बन सकता है क्योंकि काव्य सदा रसात्मक ही होता है ।

इत्थञ्च गम्यमानार्थस्पर्शमात्रमलङ्कृतिः ।
वाच्यस्येत्येतदुक्तं स्यान्मता सैवानुमा ततः ॥१।१००॥

इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्धन के ध्वनि का अभिप्राय यदि यही है कि प्रतीयमान के संस्पर्श मात्र से वाच्य अलंकृत हो उठता है तो वह अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

(ख) लक्षणा एवं अभिधामूलक ध्वनिभेदों की अनुपपत्ति

ध्वनिकार ने ध्वनि के अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दो भेद किये हैं। अविवक्षितवाच्यध्वनि लक्षणामूलक होता है जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित नहीं होता। इसका उदाहरण है—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

यहाँ न तो पृथ्वी कोई लता है, न सुवर्ण पुष्प, और न उसका चयन ही हो सकता है। अतः सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी का चयन यह वाक्य यथाश्रुत रूप में अन्वित नहीं हो सकता। इसलिए मुख्यार्थबाध होने से लक्षणा द्वारा वह विपुल धन और उसके अनायास उपार्जन से व्यक्ति का सरलतापूर्वक समृद्धिशाली होना व्यक्त करता है। लक्षणांमूलक होने से इसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं। जहाँ पर वाच्य अर्थ विवक्षित होता है किन्तु वह व्यंग्यपरक होता है उसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं। यह अभिधामूलक होता है। इसका उदाहरण है—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥

यहाँ पर अधरान्वित तव पदार्थ का प्रयोजकत्वसम्बन्ध से विम्बफलकर्मक दशन के साथ भी अन्वय होकर, तुम्हारे अधरारुण्यलाभ से गर्वित विम्बफल का तुम्हारे सम्बन्ध से ही, मुख्यतः तुमको लक्ष्य में रखकर ही, दशन कर रहा है। यह अर्थ विवक्षित है, इसीलिए 'तवाधरपाटलं' इस समस्तपद का प्रयोग किया है। शुकशावक को उचित तारुण्यकाल पर उसकी प्राप्ति और रसज्ञता, यह सब पुण्यातिशयलभ्य है, यह अर्थ और इसके साथ अनुरागी का स्वाभिप्रायख्यापन अर्थ व्यंग्य है।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि के इन दोनों भेदों की सत्ता का खण्डन किया है। उनका कथन है कि--ध्वनिकार ने ध्वनि के अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य नामक जो दो भेद किये हैं, वहाँ अविवक्षितत्व का तात्पर्य क्या है? क्या वह वाच्य की अनुपादेयता है या अन्यपरता? यदि वहाँ वाच्य अनुपादेय है तो पूर्ण रूप से या अंशतः? वाच्य को सर्वात्मना अग्राह्य मानने पर उसका व्यञ्जकत्व भी अनुपादेय (अग्राह्य) ही होगा और इसका प्रयोग काव्य में उसी प्रकार सदोष होगा जैसे पुनरुक्तआदि का।[1] क्योंकि जब वाच्य ही विवक्षित नहीं तो उसके अधीन व्यंग्य तो सुतरां अविवक्षित होगा। यदि यह कहें कि अर्थ के दो स्वरूप होते हैं--वाच्यात्मक एवं व्यङ्ग्यात्मक। यहाँ पर अंशतः अविवक्षित पक्ष में अर्थ की वाच्यात्मकता ही अविवक्षित है, व्यंग्यात्मकता नहीं, तो ठीक है, किन्तु उस अविवक्षित अंश का शब्दतः उपादान होना चाहिए। विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निरूप्यमाण होकर उसका पर्यवसान उसकी स्वयं की अप्रधानता में ही होता है। इस प्रकार अविवक्षितत्व, अन्यपरत्व एवं उपसर्जनीकृतस्वार्थत्व सब एक-दूसरे के अपरपर्य्याय हैं और इन सबका एक ही अर्थ है। प्रकारान्तर से इन सबसे ध्वनि के स्वरूप का ही कथन होता है उसके प्रकार या भेद पर प्रकाश नहीं पड़ता।[2] पदार्थ के धर्म का अनुसरण करने पर अवान्तर-विषय का जो संस्पर्श होता है वह उसका प्रकार या भेद कहा जाता है। जैसे शाबलेय आदि गोत्व के भेद होते हैं। कोई वस्तु या विषय अपना ही प्रकार कदापि नहीं हो सकता, अन्यथा अनवस्था-दोष पड़ेगा। उक्त विवेचन के अनुसार अविवक्षित-वाच्य एवं विवक्षितान्यपर-वाच्य नामक ध्वनि-भेदों में किसी विशेष का ग्रहण नहीं होता। अतः वह ध्वनि के प्रकार किस प्रकार हो सकते हैं।[3]

---

१. किञ्च, यदविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति ध्वनेः प्रकारद्वयमुक्तं, तत्र किमिदमविवक्षितत्वं नामेति तात्पर्यतोऽस्यार्थो वक्तव्यः। किमविक्षितत्वमनुपादेयत्वमुतान्यपरत्वम्। अनुपादेयत्वं च किं सर्वात्मना अंशेन वा। सर्वात्मनानुपादेयत्वे व्यञ्जकत्वमप्यस्यानुपादेयं तस्य तदाश्रितत्वात्। ततश्च प्रयोग एवास्य दुष्टः स्याद् यथान्यस्य पुनरुक्तादेः। व्यक्तिविवेक, पृ० १४३।

२. अथांशेनेत्युच्यते। वक्तव्यस्तर्ह्यसावंशः। स च निरूप्यमाणः स्वाप्राधान्य एव पर्यवस्यति ततश्चाविवक्षितत्वमन्यपरत्वमुपसर्जनीकृतात्मत्वं चेत्येक एवार्थ इत्यनया भंग्या स्वरूपमेव ध्वनेरुक्तं भवति न तु तस्य प्रकारभेदः। --व्यक्तिविवेक, पृ० १४३-४४।

३. यस्य हि यल्लक्षणानुगमे सत्यवान्तरविशेषसंस्पर्शः, स तस्य प्रकार इत्युच्यते यथा गोत्वस्य शाबलेयादि न तु तस्यैव स एव प्रकारो भवितुमर्हति तदनवस्थाप्रसङ्गात्। न चात्र विशेषसंस्पर्शः कश्चिदिति कथमस्य ध्वनिप्रकारत्वोक्तिर्युक्तिमती। --व्यक्तिविवेक, पृ० १४४।

ध्वनि का दूसरा भेद जो विवक्षितान्यपरवाच्य है, उसकी सत्ता तो और भी अस्पष्ट एवं सन्देहास्पद है। क्योंकि यदि विवक्षितत्व प्राधान्य को कहते हैं तो उसका अन्यपरत्व कैसे सम्भव है ? अन्यपरता का अभिप्राय दूसरे का अंग होना है। तथा जिसके अंगभाव का विधान होगा वह उसी समय किस प्रकार विवक्षित होने से प्रधानता का अनुभव कर सकता है ? अतः वाच्य के विवक्षितत्व अर्थात् उसकी प्रधानता एवं अन्यपरत्व अर्थात् अप्रधानता, युगपत् प्रत्यक्ष अनुभवविरुद्ध होने से, विवक्षितान्यपरवाच्य भेद की अनुपपन्नता स्वतः सिद्ध हो जाती है।[1] एकाश्रयत्वेन प्रधानेतरभाव मानने से भी इसलिए काम नहीं चलता कि एकाश्रयत्वेन प्राधान्याप्राधान्य सम्बन्धवत्ता उसी अर्थ में ही ठीक होती है जो विशेषण के रूप में अभिमत होते हैं, अन्य विषय में नहीं। वही एक वस्तु, प्रधान और अप्रधान दोनों हो सकती है, जो विशेषण है। विशेष्यवस्तु तो सर्वदा प्रधान ही होती है। 'रामस्य पाणिरसि' इत्यादि वाक्य में 'पाणि' में कठोरता रूप उत्कर्ष के आधान के कारण ही राम की प्रधानता है, अन्यथा राम पद पाणि का विशेषण होने से अप्रधान ही है।[2] किंच विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि की सत्ता को स्वीकार कर लेने पर भी वाच्य की अन्यपरता का कथन नहीं होना चाहिए था। क्योंकि ध्वनि का प्रभेद होने से ही उसमें अन्यपरता स्वतः सिद्ध है। अन्यपरता ही उपसर्जनीकृतात्मता है जो ध्वनि के प्रत्येक भेदप्रभेद में सामान्य रूप से स्वतः विद्यमान है।[3]

यदि विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिभेद में से अन्यपरत्व अंश निकालकर उसका विवक्षितवाच्य मात्र नाम रखा जाय, तो जहाँ पर वाच्य ही विवक्षित अर्थात् प्रधान होता है, ऐसा गुणीभूत व्यंग्य भी ध्वनिकाव्य हो जायगा। और इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य में काव्य की उत्तमता का निषेध नहीं होगा। इस पर व्यक्ति विवेककार कहते हैं कि—यदि विवक्षितान्यपरवाच्य में अन्यपरत्व का प्रयोग करते हैं तो अविवक्षित वाच्य में भी अन्यपर पद का प्रयोग क्यों नहीं करते ? क्योंकि यही दोष वहाँ पर भी उपस्थित होता है। अथवा यदि अविवक्षितवाच्य में अन्यपर का प्रयोग नहीं करते तो विवक्षिता यपरवाच्य में भी उसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। क्योंकि अनुमेयार्थसंस्पर्श में ही अन्वयव्यतिरेक से काव्य की चारुता निहित होती है

---

१. किञ्चेदं विवक्षितान्यपरवाच्यत्वन्नाम न बुध्यामहे। यदि हि विवक्षितत्वं नाम प्राधान्यमुच्यते तत् कथं तस्यान्यपरत्वं घटते। अन्यपरत्वं ह्यन्यस्याङ्ग भावो भण्यते। यस्य चाङ्गभावः स कथं तदैव विविक्षितत्वात् प्राधान्यमनुभवेदिति यद्वाच्यस्य विवक्षितत्वमन्यपरत्वं चोपगतं तद्विप्रतिषिद्धं विवक्षितान्यपरत्वयोर्विरोधात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० १४४।

२. एकाश्रयत्वेन हि प्राधान्येतरयोगित्वं विशेषणाभिमतार्थविषयमेव संगच्छते नान्यविषयम्। तदेव हि विशेष्यस्योत्कर्षाधाननिबन्धनभावेन विवक्षितत्वात् प्राधान्यम् उपाधिभावाच्च वास्तवादप्राधान्यमनुभवितुमलं यथा 'रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते' इत्युक्तम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० १४५।

३. किञ्चास्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदत्वेऽभ्युपगम्यमाने वाच्यस्यान्यपरत्वमनुपादेयमेव तस्य तत्प्रभेदत्वादेव सिद्धेः। अन्यपरत्वं ह्युपसर्जनीकृतात्मत्वम्। तच्च ध्वनेः सामान्यं रूपमुक्तमेव। —व्यक्तिविवेक, पृ० १४५।

प्रधानेतरभाव की चर्चा से किसी प्रकार का संस्कार विशेष सिद्ध नहीं होता तथा दोनों ही ध्वनि के सामान्य भेद हैं ।[1]

(ग) ध्वनि अवान्तरभेदों का खण्डन एवं उनकी अनुमेयता का विधान

ध्वनिकार ने अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूल-ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य नामक दो प्रभेद किये हैं। दोनों क्रमशः उपादान एवं लक्षणलक्षणा-मूलक होते हैं। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का कथन है कि--उक्त दोनों भेद सर्वथा अनुपपन्न हैं । अर्थान्तिर संक्रमितवाच्यध्वनि का जो उदाहरण 'अग्निर्माणवकः' दिया गया है उससे यही सिद्ध होता है कि अर्थान्तिरसंक्रमित-वाच्य गुणवृत्ति लक्षणा का भेद है न कि ध्वनि का । उससे लक्षणा के एक भेद गौणी का ही समर्थन होता है । उपचारतः अर्थात् सादृश्यसम्बन्ध से ही गौणी लक्षणा होती है । अन्यून एवं अनतिरिक्त (न कम न अधिक होने के) भाव से निहित साधर्म्य के बोध के लिए, एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर जो आरोप होता है, उसी को उपचार कहते हैं । आरोप्यआरोपकभावरूप होने से वह उपचार, आरोप्य एवं आरोपक उभयार्थविषयक होता है ।[2] जब शब्द का वही अर्थ सामान्यविशेषभाव की कल्पना से उभयरूप में इस उपचार का विषय होता है, तो वहाँ पर अर्थ प्रकरणादि से निश्चित विशेषांश ही उत्कर्षापकर्ष से समारोपित हो साधर्म्य के बोध का हेतु होता है, सामान्य अंश नहीं । जैसे 'तदमृतम् अमृतम्', (वह अमृत अमृत ही है) इत्यादि स्थलों में द्वितीय अमृत पद का अर्थ परसंजीवनाधायकत्व रूप विशेष ही है । तथा 'स इंदुरिन्दुः' (वह चन्द्रमा चन्द्रमा ही है) में प्रयुक्त द्वितीय इन्दु पद का अर्थ संतापनिवर्तकत्व विशेष ही है । कहने का सारांश यह है कि 'सामान्यं विशेषात् नातिरिच्यते । निर्विशेषं न सामान्यम्' (सामान्य विशेषों से बाहर नहीं है, न विशेष ही सामान्य से रहित हो सकते हैं) इत्यादि न्याय से विशेष की कुक्षि में ही सामान्य का पात सम्भव है । अतः किसी वस्तु में उसी का आरोप सर्वथा सम्भव है ।[3]

यही नहीं अर्थान्तिरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का तो अनुमान में साक्षात् अन्तर्भाव सम्भव है । उदाहरणस्वरूप--'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इत्यादि स्थलों में प्रयुक्त रामादिपद, प्रकरण विशेष से निश्चित उत्कर्षापकर्षलक्षण धर्म विशिष्ट संज्ञी का ही बोध कराते हैं, संज्ञा मात्र का

---

१. अथात्र तदुपादीयते पूर्वत्रापि तदुपादीयताम् उभयत्रापि वा मोपादायि उभयोरपि तत्प्रकारत्वाविशेषात् । ---व्यक्तिविवेक, पृ० १४६ ।

२. किञ्चार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये यदुदाहरणं तदग्निर्माणवक इतिवद् गुणवृत्तेरेव संगच्छते तस्य गुणवृत्तिप्रकारत्वसमर्थनात् । तथा हि प्रसिद्धान्यूनानतिरिक्तभावस्यान्यस्य साधर्म्यप्रतिपत्यर्थमन्यत्रारोप उपचारः । स चायमारोप्यारोपकभावात्मकतया उभयार्थविषयो वेदितव्यः । ---व्यक्तिविवेक, पृ० १४६ ।

३. ततश्च यदैक एवार्थ एक शब्दाभिधेयः सामान्यविशेषांशपरिकल्पनेनोभयरूपोऽस्यविषयभावं भजते, तदार्थप्रकरणाद्यध्यवसितोत्कर्षापकर्षो विशेषांश एव समारोपितस्तत्र साधर्म्यावगतिहेतुर्भवति यथा 'तदमृतममृतं स इन्दुरिन्दुः' इति । न तु सामान्यांशः विशेषस्य सामान्याव्यभिचारात् । ---व्यक्तिविवेक, पृ० १४६-१४७ ।

नहीं । यहाँ पर जो अर्थ वाच्य होता है वही आश्रयभाव से अनुमित होकर धर्मरूप अर्थान्तर में संक्रमित अर्थात् परिणत हो जाता है ।[१] अनुमेय दो प्रकार का होता है--धर्मरूप एवं धर्मी-रूप । धर्मरूप अनुमेयार्थ ही अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि का विषय होता है । वहाँ पर धर्म की ही वाच्यार्थगतत्वेन प्रतीति होती है । धर्मीरूप अनुमेयार्थ तो 'पर्वतो बह्निमान् धूमात्' आदि की तरह शास्त्रीय अनुमान का विषय होता है, काव्य का नहीं । धर्मविशेष की प्रतिपत्ति में प्रकरणादि ही हेतु के रूप में आते हैं, रामादि शब्द नहीं ।[२]

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक ध्वनिभेद तो 'गौर्वाहीकः' की तरह पदार्थों का सादृश्य-मात्र है, जिसके अनुमान में अन्तर्भाव का विवेचन शब्दशक्तिविमर्श के अवसर पर पहले ही हो चुका है । प्रकृतस्थल में उसका निरूपण चर्वितचर्वणमात्र होने से नहीं किया गया है ।[३]

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भी दो भेद किये गये हैं--अलक्ष्यक्रम-व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य । आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि शब्दशक्तिमूल अनुरणन रूप संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य तो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं । क्योंकि शब्द का अभिधा के अतिरिक्त अन्य व्यापार सर्वथा असंभव एवं अस्वीकार्य है । इसका भी विवेचन पूर्वाध्यायों में विस्तारपूर्वक हो चुका है। तथा अलक्ष्यक्रम व्यंग्य रूप रसादि ध्वनि का विवेचन आगे 'रसनिरूपण' के अवसर पर किया जायगा ।[४] इस प्रकार ध्वनि के सभी प्रकार के भेदों की अनुपपन्नता एवं उनके अनुमान में अन्तर्भाव का विवेचन, ग्रन्थकार ने बड़ी ही विद्वत्तापूर्वक किया है। ध्वनिकार की मान्यताओं की गहन मीमांसा कर महिमभट्ट ने यह दिखाने का सफल प्रयास किया है कि ध्वनि के भेद-प्रभेद कपोल-कल्पित एवं प्रवादमात्र हैं । इस समूचे व्याख्यान का सार निम्नलिखित संग्रहकारिकाओं में ग्रंथकार ने स्वयं संकलित कर दिया है ।

नाविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्युक्ता प्रकारता ।
न हि प्रकारस्तस्यैव स एवेत्युपपद्यते ॥१।१०१॥

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य-नामक भेद भी ठीक नहीं हैं क्योंकि कोई वस्तु स्वयं अपना ही प्रकार नहीं हो सकती ।

भक्तिः पदार्थवाक्यार्थरूपत्वात् द्विविधा मता ।
तद्बुद्धिश्चानुमानान्तर्भूता यदुपपादिता ॥१।१०२॥

---

१. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽप्यनुमान एवान्तर्भवति । रामादिशब्दा हि प्रकरणाद्यवसितोत्कर्षापकर्षलक्षणधर्मविशिष्टं संज्ञिनं प्रत्याययन्ति, न संज्ञिमात्रम् । अर्थान्तरं यदनुमितं धर्मरूपं तत्र संक्रमितमाश्रयभावेन परिणतं वाच्यमस्येति कृत्वा । --व्यक्तिविवेक, पृ० १४७ ।

२. द्विविधो ह्यनुमेयोऽर्थो धर्मरूपो धर्मिरूपश्चेति । तत्राद्योऽस्यविषयः । तस्यैव वाच्यार्थनिष्ठतया प्रतीतेः । अन्यस्त्वन्यस्य यथा अग्निरत्र धूमादिति । ततो धर्मविशेषप्रतिपत्तौ प्रकरणादिरेव हेतुतयावगन्तव्यः, न रामादिशब्दा इति । --व्यक्तिविवेक, पृ० १४७ ।

३. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्तु पदार्थोपचार एव यथा गौर्वाहीक इति । तस्याप्यनुमानान्तर्भावः समर्थित एव । --व्यक्तिविवेक, पृ० १४७ ।

४. शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्तु न सम्भवत्येव । शब्दस्याभिधाशक्तिव्यतिरेकेण शक्त्यन्तरानभ्युपगमादित्येतदुक्तं, वक्ष्यते च । --व्यक्तिविवेक, पृ० १४७ ।

पदार्थ एवं वाक्यार्थ रूप दो प्रकार की जो भक्ति कही गई है उसमें उक्त दोनों भेदों का अंतर्भाव हो जाता है। भक्ति (गुणवृत्ति) के अनुमान में अन्तर्भाव का निरूपण हो चुका है।

ततिरस्कृतवाच्यस्य ध्वनेर्भक्तेश्च का भिदा।
द्वितीयोऽपि प्रकारो यः सोऽपि संगच्छते कथम् ॥१।१०३॥
परस्परविरुद्धत्वाद् विवक्षातत्परत्वयोः ।

अतः अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि और भक्ति (लक्षणा) में क्या अन्तर है ? विवक्षितान्यपरवाच्य संज्ञक ध्वनि का जो दूसरा (अभिधामूल) भेद है वह भी विवक्षा और अन्यपरत्व के परस्पर विरुद्ध होने से कैसे संभव हो सकता है ?

यः शब्दशक्तिमूलोऽन्यः प्रभेदो वर्णितो ध्वनेः ॥१।१०४॥
सोऽयुक्तोऽन्यत एवासौ तत्रेष्टार्थान्तिरे मतिः ।
शब्दे शक्त्यन्तराभावस्यासकृत् प्रतिपादनात् ॥१॥१०५॥

शब्दशक्तिमूल विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो दूसरा भेद संलक्ष्य एवं अलक्ष्य क्रम नाम से वर्णित किया गया है वह भी युक्त नहीं क्योंकि विवक्षित अन्य अर्थ का बोध दूसरे प्रकार से ही होता है तथा शब्द में अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्ति के संभव न होने का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में अनेक बार किया जा चुका है ।

चतुथ-विमर्श

ध्वनि के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ग्रंथ के अन्तिम तृतीय विमर्श में ध्वनि के उन उत्कृष्ट उदाहरणों की व्याख्या अनुमान की प्रक्रिया से की है जिनको ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में मुख्यरूप से उदाहृत किया है। ध्वनि के अनन्त भेदप्रभेदों में तीन को मुख्य माना गया है—वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रसादि ध्वनि। शेष इन्हीं के अवान्तर भेद होते हैं। अतः इन तीनों के ही प्रख्यात उदाहरणों की व्याख्या, अनुमान की प्रक्रिया से यथोचित रूप से सम्पादित कर देने पर 'स्थाली पुलाक' न्याय से ध्वनि के अशेष उदाहरणों का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव सुतरां सिद्ध हो जायेगा।

(अ) वस्तु-ध्वनि के उदाहरण की अनुमानरूपता

ध्वन्यालोक में वस्तु-ध्वनि के अनेक उदाहरण-प्रत्युदाहरण दिये गये हैं किन्तु ध्वनिकार को जो उदाहरण परम अभीष्ट है, तथा अभिनवगुप्त ने लोचन में विशद व्याख्या कर जिसे वस्तु-ध्वनि का विशुद्ध उदाहरण बताया है वह हाल की गाथा-सप्तशती की निम्न गाथा है—

भ्रम धार्मिकविस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुहरवासिना दृप्तसिंहेन ॥[1]

---

१. भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकडंग वासिणा दरिअसीहेण ॥

(गाहासत्तसई)

गाथा सप्तशती की यह गाथा ध्वन्यालोक, व्यक्तिविवेक, काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन, साहित्यदर्पण तथा रसगंगाधर प्रभृति अलङ्कार-शास्त्र के प्रायः सभी मूर्धन्य ग्रन्थों में उद्धृत की गई है। सर्वत्र टीकाकारों ने इसकी संस्कृत छाया दी है जिनमें पर्याप्त अन्तर भी है। ध्वन्यालोक की टीकालोचन में इसकी संस्कृत छाया विलक्षण ही उपलब्ध होती है—

**भ्रम धार्मिकविस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरी नदी कूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन ॥**

कहीं 'विस्रब्धः' के स्थान पर 'विश्वस्तः' तथा 'शुनको' के स्थान पर 'शूनको' या 'श्वाद्य' पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। उत्तरार्ध के 'गोलाणइ कच्छ कुडंग वासिणा' का एक दूसरा संस्कृत पाठ 'गोदा-नदी-कच्छ-कुहर-वासिना' तथा तीसरा कुहर के स्थान पर कुंज एवं निकुञ्ज पाठ भी उपलब्ध होता है।

यह गाथा मूलतः प्राकृत में है जिसका प्रसंग यह है कि कोई प्रेमीयुगल गोदावरी नदी के तट के उपवन में मिलने का कार्यक्रम बनाता है , किन्तु भ्रमणार्थ समागत एक वृद्ध धार्मिक उनके मिलन-कार्य में विघ्न हो जाते हैं। उन्हें रोकने के लिए वे सम्भवतः उनके पीछे एक कुत्ता छोड़ते हैं। इस पर भी जब वह नहीं मानते तो एक दिन वह चतुर नायिका बड़े ही भोलेपन के साथ उपर्युक्त गाथा को पढ़ती है जिसका वाच्यार्थ यह है कि 'हे वृद्ध, धार्मिक अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण करें क्योंकि जो कुत्ता आपको तंग करता था उसे गोदावरी तट के कुञ्ज से आकर एक दुर्दान्त सिंह ने मार डाला ।'

ध्वनिकार ने प्रकृत पद्य में दो अर्थों का निरूपण किया है जिनमें एक वाच्य है, दूसरा प्रतीयमान । वाच्य अर्थ भ्रमण-विधानात्मक है तथा प्रतीयमान उसका निषेधात्मक । आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि यहाँ दोनों अर्थ वाच्य इसलिए नहीं हो सकते कि एक तो विधिरूप है और दूसरा ठीक इसके विपरीत निषेधरूप। दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध होने से एक नहीं हो सकते । साधारणतः विधि शब्द का अर्थ प्रवर्तकत्व या भावना आदि रूप होता है। परन्तु यहाँ यह अर्थ संगत नहीं होगा। इसलिए यहाँ विधि का अर्थ प्रतिप्रसव या प्रतिषेधनिवर्तन या निषेधाभाव माना गया है । कुत्ते की उपस्थिति धार्मिक के भ्रमण में निषेधात्मक या बाधारूप थी। कुत्ते के मर जाने से उस बाधा की निवृत्ति हो गई, यही प्रतिषेध की निवृत्ति या प्रतिप्रसव, यहाँ विधि शब्द का अर्थ है। भ्रम क्रिया से लोट् लकार का विधान अतिसर्ग अर्थ में हुआ है। अतः निषेधात्मक अर्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती । क्योंकि उसका अभिधायक कोई भी पद, वाक्य में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अपितु वक्तृ-वैशिष्टय से एवं प्रकरणादिवश ही उसकी प्रतीति होती है, अतएव वह व्यंग्य है।[1]

आचार्य महिमभट्ट का कथन है कि चूँकि दोनों अर्थों की प्रतीति क्रमपूर्वक होती है, पहले विधिरूप वाच्य अर्थ की, अनन्तर निषेधात्मक प्रतीयमान अर्थ की, अतः धूम एवं अग्नि के समान दोनों अर्थों में साध्यसाधन-भाव अन्तर्निहित है। प्रथम अर्थ भ्रमण का विधायक है। उसकी प्रतीति के लिए वैदग्ध्यविवेक की आवश्यकता नहीं। तथा उसके साध्य भ्रमण का विधान एवं साधन भ्रमण के अवरोधक कुत्ते का विनाशरूप अर्थ होता है। यहाँ दोनों का शब्दतः उपादान हुआ है। अतः विधिरूप अर्थ वाच्य ही है।[2] निषेधरूप द्वितीय अर्थ की प्रतीति उसी बोद्धा को संभव है जो मारितः में प्रयुक्त णिच् के अर्थ का पर्यालोचन करने में समर्थ है। तथा वाक्य की प्रयोजिका कामुकी नायिका के स्वरूप की गवेषणा करने पर, प्रथम अर्थ के सामर्थ्य से, प्रकरणादि बोध के अनन्तर ही द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है। वह सामर्थ्य इस बात के कथन में ही है कि कुत्ते की मृत्यु हो जाने पर वहाँ पर उससे भी अधिक भयंकर जीव सिंह विद्यमान है। अतः यह कथन ही निषेधात्मक द्वितीय अर्थ का प्रतिपादक है। इस प्रकार इन दोनों अर्थों में

---

१. ध्वन्यालोक का० १।४ पर लोचन टीका ।

२. अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः, तयोर्धूमाग्न्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात् । तत्राद्यस्तावदविवेकसिद्धः स्पष्ट एव भ्रमणविधिलक्षणस्य साध्यस्य तत्परिपन्थिक्रूरकुक्कुरसारणात्मनः साधनस्य चोभयोरप्युपादानात् ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ४०० ।

साध्यसाधनभाव अन्तर्निहित है, यही समझना चाहिए। साध्य-साधनरूप इन दोनों अर्थों के बीच अबिनाभाव-नियम रूप व्याप्ति का आधार, इनका वैपरीत्य सम्बन्ध ही है, जो लोक-प्रमाण से सिद्ध है[1]। इस प्रकार उपर्युक्त पद्य का निषेधात्मक द्वितीय अर्थ अनुमेय ही है, यह सिद्ध हो जाता है। अतः उक्त रीति से विदग्ध मुग्धा नायिका की उक्ति का, विश्रब्ध धार्मिक को उसके हित निवेदन के व्याज से विधि मुख से भ्रमण के प्रतिषेधात्मक अर्थ में ही पर्यवसान होता है, और वह अनुमेय ही होता है।

इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि उक्त पद्य से दो अर्थों की प्रतीति होती है तो निषेधात्मक अपर अर्थ में ही वाक्य की विश्रान्ति क्यों मानते हैं, पूर्व विधि अर्थ में अथवा विधि-निषेधात्मक उभय अर्थ में क्यों नहीं ? क्योंकि दोनों ही अर्थ समानरूप से प्राकरणिक हैं। इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि वाच्य या उभय अर्थ में वाक्य की विश्रान्ति इसलिए नहीं मान सकते कि वाच्य एवं अनुमेय दोनों अर्थों की प्रतीति समुच्चयरूप से नहीं होती। 'भ्रम, माच भ्रमीः' इस विधिनिषेध का आश्रय एक कदापि नहीं हो सकता। अतः एकाश्रय के विरोध के कारण दोनों अर्थों की प्रतीति एक साथ समुच्चयरूप से कथमपि संभव नहीं। विकल्पात्मकरूप से भी दोनों की एकाश्रय प्रतीति इसलिए नहीं हो सकती कि 'भ्रमण करो या भ्रमण मत करो' विकल्पात्मक रूप से ऐसा कहने का कोई अर्थ ही नहीं होता। विधिनिषेध में अंगांगिभाव के उपपन्न न होने के कारण उन दोनों अर्थों की प्रतीति अंगांगिभाव के रूप में भी नहीं हो सकती। अपितु इनकी प्रतीति केवल एक ही प्रकार से संभव है। भ्रमण की विधि में हेतु रूप से उपन्यस्त जो यह दृप्त-पंचानन का व्यापार है वही विदग्ध बोद्धा के द्वारा विमृश्यमान होकर परम्परया भ्रमण के निषेध की प्रतीति कराने में पर्यवसित हो जाता है। इसका कारण यह है कि भ्रमण की विधि एवं उसके निषेध में बाध्यबाधकभाव है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो उन्मत्त नहीं है और कुत्ते के भय से भ्रमण का परित्याग कर बैठा है, वहीं पर दुर्दान्त सिंह के सद्भाव को जानकर भी विस्रंभपूर्वक भ्रमण करेगा। अतः यहाँ पर दोनों अर्थों का बाध्यबाधकभाव ही वह विशेष तत्त्व है जो वाक्यार्थ की अनुमेयार्थ में विश्रान्ति का हेतु होता है।[2]

---

१. द्वितीयस्त्वत एव हेतोः पर्यालोचितणिजर्थस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूपनिरूपणेन सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति। तच्च सामर्थ्यमृतेऽपि कौलेयके क्रूरतरस्य सत्त्वान्तरस्य तत्र सद्भावावेदनं नाम नापरम्। तदेव च साधनम्। तयोश्च साध्यसाधनयोरबिनाभावनियमो विरोधमूलः। स चानयोर्लोकप्रमाणसिद्ध इत्युक्तम्। ——व्यक्तिविवेक, पृ० ४००।

२. ननु यद्यतो वाक्यादर्थद्वयावगमस्तत् कथमुत्तरस्मिन्नेव नियमेन विश्रान्तिर्न पूर्वस्मिन् उभयत्रापिवा, तयोः प्राकरणिकत्वेन विशेषाभावात्। उच्यते। न तावदत्र वाच्यानुमेययोरर्थयोः समुच्चयेन अवगतिरुपपद्यते भ्रम मा च भ्रमीरिति विधिनिषेधयोरेकाश्रयत्वविरोधात्। नापि विकल्पेन, भ्रम वा मा वा भ्रमीरिति वचनोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। नाप्यङ्गाङ्गिभावेन, विधिनिषेधयोस्तदसम्भवात्। केवलं याऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपञ्चाननव्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात्।

अनन्तर आचार्य महिमभट्ट ने सम्बलपूर्वक कहा है कि विधिनिषेधात्मक इन दोनों अर्थों का बाध्यबाधक भाव से होना मानना ही पड़ेगा अन्यथा शुक्ति में रजत की क्रमपूर्वक प्रतीति में भी यही दोष उपस्थित होगा। शुक्तिका में पहले चाक-चिक्यवश रजत की प्रतीति का भ्रम होता है। पश्चात् यथार्थ-प्रतीति से उस भ्रान्त-प्रतीति का बाध होता है। इस प्रकार शुक्तिरजत प्रतीतियों का भी बाध्यबाधकभाव में ही पर्यवसान होता है। अन्यथा इन स्थलों में बाध्यबाधक-भाव को अस्वीकार करने पर शुक्तिरजत-प्रतीति भी इस पर्यनुयोग का विषय हो सकती है कि—उत्तरकालीन शुक्ति की प्रतीति में ही वाक्य की नियमपूर्वक विश्रान्ति क्यों होती है ? पूर्वकालीन रजत की प्रतीति में अथवा उभयत्र दोनों की भ्रान्त प्रतीति में क्यों नहीं ? इसलिए विधिनिषे-धात्मक दोनों प्रतीतियों में बाध्यबाधकभाव के निश्चयपूर्वक ही, निषेधात्मक द्वितीय अर्थ में, 'भ्रम-धार्मिक' इत्यादि वाक्य की विश्रान्ति होती है, यह बात सिद्ध हो गई।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि उत्तरार्थ में वाक्य की विश्रान्ति का नियामक दोनों अर्थों के बीच बाध्यबाधकभाव के होने का निश्चय ही है। जैसे ही यह निश्चय हो जाता है कि दोनों अर्थों में बाध्यवाधकभाव है, वाक्य की विश्रान्ति स्वतः बाधक अर्थ में हो जाती हो, जो सर्वदा द्वितीय अर्थ ही होता है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व अर्थ में वाक्य की विश्रान्ति नहीं बनती तो न सही, उभयत्र उसकी विश्रान्ति न मानने में क्या हेतु है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि सिंहयुक्त प्रदेश में निर्भयभ्रमण सुकर नहीं होता। अतः निर्भयभ्रमण रूप साध्य एवं सिंहसद्भावात्मक हेतु में सामानाधिकरण्य न होने से दोनों का परस्पर विरोध स्पष्ट है। इसलिए इन दोनों में एक के सद्भाव के ज्ञान से दूसरे की स्वभाव-विरुद्ध उपलब्धि स्वतः होती है और इस प्रकार साध्य हेतु के सहानवस्थान रूप अर्थापत्ति से निर्भयभ्रमण की विधि के प्रतिषेध की जानकारी होने पर विधिनिषेधात्मक दोनों अर्थों की तुल्यत्वेन प्रतीति ही सम्भव नहीं है। अतः उभयत्र विश्रान्ति के प्रश्न के लिए यहाँ कोई अवसर ही नहीं। इसलिए भ्रमण का निषेधरूप अर्थ अनुमेय ही है, व्यंग्य नहीं। इसकी अनुमेयता उसी प्रकार सिद्ध है, जिस प्रकार 'नात्रशीतस्पर्शोऽग्नेः' इस वाक्य में शीत स्पर्श के निषेध का अर्थ अनुमेयही होता है, व्यंग्य नहीं[2]। यहाँ पर यदि यह कहें कि प्रथम विधि अर्थ में ही बोद्धा की बुद्धि संदेह-रहित हो जाती है तो इस प्रकार भ्रमण रूप विधि अर्थ के

को ह्यनुन्मत्तः कुक्कुरमात्रसद्भावभयात् परिहृतभ्रमणस्तत्रैव दृप्तसिंहसद्भावा-शङ्कायामपि सविस्रम्भं भ्रमेदित्यनुमेयार्थविश्रान्तिनियमहेतुर्बाध्यबाधकभावोऽस्त्येवात्र विशेषः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ४००-०१।

१. अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा शुक्तिकारजतप्रतीत्योरपि क्रमभाविन्योरेतत्पर्यनुयोग प्रसङ्गः केन वार्यते। तस्माद् बाध्यबाधकभावावसायकृत एवात्रोत्तरार्थविश्रान्तिनियम इति स्थितम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ४०१।

२. तस्यास्य हेतोः साध्यस्य च निर्भयभ्रमणविधिलक्षणस्य सहानवस्थानलक्षणो विरोधः प्रसिद्ध एवेत्येकस्य सद्भाववेदनेनापरस्य स्वभावविरुद्धोपलब्ध्या प्रतिषेधे विज्ञायमाने सति सम-शीर्षिकयोभयार्थप्रतीतिरेवात्र न समस्तीति तद्विश्रान्तिपर्यनुयोगो निरवकाश एव। तेनानुमेय एव भ्रमणस्य निषेधो न व्यंग्य इत्यवसेयं यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नरित्यतः शीतस्पर्शस्य। —व्यक्तिविवेक, पृ० ४०२।

अतिरिक्त निषेधात्मक द्वितीय अर्थ के लिए यहाँ कोई अवसर ही नहीं है। अतः उसकी सम्भावना करना व्यर्थ है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'मारितः' में णिजर्थ के प्रयोग का पर्यालोचन करने पर विधिरूप अर्थ के प्रति संशय पैदा होना स्वाभाविक है और फिर वक्ता के स्वरूपादि प्रकरण का ध्यान होते ही पूर्व-अर्थ के प्रति व्यापक विरुद्धोपलब्धि होने से वाक्य का पर्यवसान स्वतः द्वितीय अर्थ में उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार 'नात्रतुषारस्पर्शोऽग्नेः' इस वाक्य का तुषार-स्पर्श के निषेध में ही पर्यवसान होता है।[1]

अनुमान की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए व्यक्तिविवेककार ने कहा है कि यहाँ पर उक्त पद्य में 'भ्रम धार्मिकविस्रब्धः' वाक्य का अर्थ भ्रमण की विधि ही वाच्य है। 'स शुनकोऽद्यमारितस्तेन' इत्यादि से दृप्तसिंह के द्वारा कुत्ते का मारण रूप वाक्यार्थ ही आर्थ हेतु होता है। भ्रमण का प्रतिषेधरूप अर्थ तो सर्वथा अनुमेय ही है, वाच्य कदापि नहीं। क्योंकि यहाँ पर 'गोदावरी कच्छ-कुञ्जवासिना' से धर्म पक्ष का, दृप्तसिंह से भ्रमणभाव रूप साध्य के निमित्त दृप्तसिंह सद्भाव रूप हेतु का, तथा कुञ्जवासिना से धर्म के धर्मी पक्ष में सद्भाव का निर्देश हुआ है। अतः भ्रमण का निषेध अर्थ अनुमेय ही है, व्यंग्य नहीं।[2] अनुमान की प्रक्रिया निम्न प्रकार से है—

गृहं भयकारणेन निवृत्तिमत्, भीरुभ्रमणयोग्यत्वात्।
यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तद् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्,
यथा नगरोद्यानादि।

स्वार्थानुमान की इस अन्वयव्याप्ति से भ्रमण का विधान होता है जो वाच्यार्थ है। अनुमेयार्थ की प्रतीति के विषय में अनुमान निम्नलिखित व्यतिरेकव्याप्ति के प्रकार से होता है—

१. गोदावरीतटे भीरुभ्रमणाभावः, सिंहोपलब्धेः (भयकारणनिवृत्यभावात्)

२. यत्रयत्र भयकारणनिवृत्यभावः (भयकारणोपलब्धिः) तत्र तत्र भीरुभ्रमणाभावः यथा महदरण्यम्।

३. गोदावरीतटेऽपि भयकारणसिंहोपलब्धिभावोऽतस्तत्रापि धार्मिकविस्रब्धभ्रमणाभावः।

इस व्यापक विरुद्धोपलब्धि से गोदावरीतट पर धार्मिक के भ्रमण न करने का अर्थ अनुमेय ही है।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में महिमभट्ट के मत का पूर्व पक्ष के रूप में उपन्यास करते हुए उपर्युक्त गाथा को ही उदाहृत किया है। तथा अनुमान की प्रक्रिया

---

१. यदि वा प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरर्थसंशयाभावनिश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धश्चात्रानर्थसंशयोऽस्माद्विधिवाक्याण्णिजर्थपर्यालोचनयावसीयत इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या यथा नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरित्यतः तुषारस्पर्शस्य। —व्यक्तिविवेक, पृ० ४०१।

२. तत्र 'भम धम्मिअ, वीसद्धो' इति वाक्यार्थरूपो भ्रमणविधिर्वाच्यः तस्य 'सोसुणओ अज्ज मारिओ देण' इत्यादिना क्रूरकुक्कुरमारणं दृप्तसिंहविहितं वाक्यार्थरूपमेवार्थो हेतुः। तत्प्रतिषेधस्त्वनुमेय एव न वाच्यः तस्योक्तनयेनाक्षेपात्। तत्र 'गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा' इति गोदावरीकच्छकुहरस्य धर्मित्वनिर्देशः। 'दरिअसी हेणे'ति श्वमारणकारणाभिधानद्वारेणोपात्तस्य दृप्तसिंहसद्भावस्य हेतुभावः। कडुंगवासिणेति तद्विशेषणेन तस्य धर्मिणि सद्भावोपपादनम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ४०१-४०२।

में दोष दिखलाते हुए कहा है कि यहाँ पर द्वितीय अर्थ की प्रतीति अनुमान से इसलिए नहीं हो सकती कि उसके हेतु के रूप में भयकारण, जिस सिंहोपलब्धि का उपन्यास हुआ है उसमें सद्-हेतुता ही नहीं बनती। शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार मीमांसा करने पर उसमें अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध तीनों प्रकारों के हेत्वाभास दोष विद्यमान हैं। उनका कहना है कि भीरु भी गुरु या प्रभु की आज्ञा, प्रियानुराग अथवा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं से, भयकारण के विद्यमान होने पर भी, भययुक्त स्थान में भ्रमण करता हुआ देखा जाता है। अतः भ्रमणाभाव का हेतु भयकारण साध्याभाववदवृत्ति होने से अनैकान्तिक है। अथ च कुत्ते से डरकर भी कोई वीर सिंह से नहीं डरता। अतः हेतु के साध्याभाव में व्याप्त होने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास भी यहाँ पर है। इसके अतिरिक्त गोदावरी तीरपक्ष में भयकारण सिंह रूपी हेतु का सद्भाव न तो प्रत्यक्ष से निश्चित है न अनुमान से ही, अपितु वचनमात्र से। किन्तु जिसके वचन से वहाँ सिंह के होने की प्रतीति होती है वह एक स्वैरिणी नायिका है जिसके वचन का कोई प्रामाण्य नहीं। अतएव नायिका रूप तीसरा हेत्वाभासि स्वरूपासिद्ध भी यहाँ विद्यमान है। अतः इस प्रकार के दुष्ट हेतु से साध्य की अनुमिति कैसे हो सकती है।

इस सम्बन्धमें महिमभट्ट का कहना है कि काव्य में, जहाँ गम्यगमकभाव से अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ सत्यासत्य का विचार नहीं होता। काव्यानुमिति पक्ष का अभिप्राय इतने में ही है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति, चाहे वह वस्तु मात्र हो, अलंकार हो, या रसादि, अनुमान की प्रक्रिया से ही सम्भव है। व्यंग्य पक्ष में भी अर्थ के सत्यासत्य का विचार नहीं होता, न हो ही सकता है। स्वयं ध्वनिकार ने अनेक स्थलों पर इस बात को स्वीकार किया है कि व्यंग्य के रूप में प्रतीत होने वाला अर्थ यथार्थ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार अर्थान्तर की प्रतीति में सत्यासत्य का विचार सम्भव नहीं तो काव्यानुमिति पक्ष में ही उसके प्रामाण्याप्रामाण्य का विमर्श क्यों किया जाता है? न्याय-सिद्धान्त के अनुसार भी ज्ञान का ग्रहण स्वतः प्रामाण्य से होता है तथा उसके प्रामाण्य का ग्रहण परतः। काव्य में जिस अर्थ की प्रतीति प्रतीयमान के रूप में होती है उसके प्रामाण्य-ग्रहण का अवसर ही नहीं होता। अतः काव्य में प्रामाण्याप्रामाण्य का शास्त्रीय विचार सम्भव नहीं। अथ च भ्रान्ति-ज्ञान भी सम्बन्ध विशेष से प्रमात्मक ज्ञान हो जाता है। काव्य में यही होता है। हम भ्रान्ति को ही प्रमाण समझ बैठते हैं तथा उससे ही चमत्कार विशेष का अनुभव करने लगते हैं। इसका विशद विवेचन रस-निरूपण के प्रसंग में पञ्चम परिच्छेद में किया जायगा।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार ही ध्वनिकार द्वारा उदाहृत वस्तु व्यंग्य के 'कस्यवा न भवति रोषो, सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्, शिखरिणि क्व नु नाम, स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो, तदा जायन्ते गुणाः, गगनं च मत्तमेघम्, इत्यादि पद्यों में भी अर्थान्तर की प्रतीति अनुमान की प्रक्रिया से ही होती है। व्यक्तिविवेककार ने इन सभी उदाहरणों में पक्ष, साध्य एवं हेतु भाव का निरूपण तर्कपुष्ट शैली से किया है तथा तद्विषयक सम्भावित शंकाओं का भी समाधान किया है। विस्तारभय एवं प्रकृतानुपयोगी होने से हम उसका उसी रूप में विवेचन नहीं कर सकते।

(इ) अलंकारध्वनि के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या

ध्वन्यालोक में प्रस्तुत अलंकारध्वनि के उदाहरणों में महिमभट्ट ने जिसे चुना है वह ध्वनिकार आनन्दवर्धन की स्वयं की रचना है। वह है—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ॥
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः ॥

यहाँ पर प्रसंग यह है कि कोई परम सुन्दरी नायिका किसी युवक पर मुग्ध है और उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये अपने हावभाव, कटाक्षादि प्रदर्शित करती है। किन्तु उस व्यक्ति पर जब उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता तो वह अपना तिरस्कार समझती है और उसका मुख कोपरंजित हो उठता है। उसे ही सान्त्वना देते हुए कोई सखी या द्रष्टा कह रहा है कि—हे तरलतयाक्षि ! लावण्य-कान्ति से परिपूरित प्राची दिशा के समान तुम्हारे मुख की इस मुस्कराहट पर यदि यह समुद्र क्षुब्ध नहीं हो उठता तो उस पर बुरा मानने की क्या बात है ? क्योंकि इस प्रकार उसने यह स्पष्टतया व्यक्त कर दिया कि वह वास्तव में जैसा उसका जलराशि नाम है वैसा ही जडराशि है भी। उसमें चैतन्य का लेश तक नहीं, फिर उससे किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा ही क्यों की जाय ?

लोचनकार ने इसकी टीका करते हुए कहा है कि क्रोध के कारण रक्त वर्ण का तथा मन्द-मसकान से युक्त तुम्हारा यह मुख सन्ध्याकालीन अरुणिमा से पूर्ण चन्द्रमा का मण्डल ही है। अतः उसे देखकर सहृदय के हृदय-रूपी सागर में क्षोभ अवश्य होना चाहिए था। ऐसा नहीं होता, इससे उसकी अन्वर्थता ही व्यक्त होती है कि जलराशि जड़ता का संचय ही है। यहाँ पर 'सहृदय को तुम्हारे मन्द-मुसकानयुक्त मुख का अवलोकन करने से मदनविकारात्मक क्षोभ होता है', इस अर्थ का बोध कराकर ही अभिधा की विश्रान्ति हो जाती है। अतः यहाँ रूपक अलंकार ध्वनित ही होता है। श्लेषालंकार यहाँ अवश्य वाच्य है किन्तु वह व्यञ्जक नहीं है। अपितु अर्थशक्ति के द्वारा ही अनुरणनरूप ध्वनि की प्रक्रिया से रूपकालंकार की व्यञ्जना होती है तथा उसी को लेकर ही इसमें काव्यगत चारुता का आधान होता है। अतएव यहाँ पर अलंकारध्वनि से ही काव्यता का व्यपदेश हुआ है।[1]

आचार्य महिमभट्ट ने इसी पद्य की अनुमानपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि जिस प्रकार पूर्ण-चन्द्र को देखकर जलराशि समुद्र में क्षोभ न हो तो उसे जड़राशि समझकर उसकी अवहेलना ही करनी होगी उसी प्रकार यदि विविध गुणों से समन्वित नायिका के मुख के सौन्दर्य को देखकर युवक-हृदय विचलित न हो गया तो वह निस्सन्देह जड़ है। यही श्लोक का वाच्यार्थ है। यहाँ नायिका के परम सुन्दर मुख को देखकर (पयोधि) समुद्र में होने वाले स्वाभाविक क्षोभ के अभाव का वर्णन, नायिका के अनिन्द्य सुन्दर मुख में पूर्ण-चन्द्र के

१. कोपकषायपाटलं स्मेरं च तव मुखं सन्ध्यारुणपूर्णशशधरमेवेति भाव्यं क्षोभेण चलचित्ततया सहृदयस्य। न चैति तत्सुव्यक्तमन्वर्थतायं जलराशिः जाड्यसञ्चयः। अत्र च शोभा मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखावलोकनेन भवतीतीयत्यभिधायाः विश्रान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव। वाच्यालङ्कारश्चात्र श्लेषः, स च न व्यञ्जकः। अनुरणनरूपं यद्रूपकम् अर्थशक्तिव्यंग्यं तदाश्रयेणेह काव्यस्य चारुत्वं व्यवतिष्ठते। ततस्तेनैव व्यपदेश इति सम्बन्धः।
—लोचन, ध्वन्यालोक टीका, द्वितीयोद्योत, पृ० २६२-६४।

आरोप के बिना सिद्ध नहीं होता। अतः वही इस आरोप का हेतु हो जाता है। मुख पर पूर्णेन्दु का आरोप रूपक अलंकार है जो साध्य है। नायिका के सुन्दर मुख को देखकर भी समुद्र में क्षोभ का न होना (ज्वारभाटे का न आना) यह अर्थ वाच्य है जो हेतु के रूप में उपन्यस्त हुआ है। इससे ही मुख एवं चन्द्र में रूप्यरूपक भाव रूपी रूपकालंकार की अनुमिति होती है। एवं वाक्यार्थ तथा प्रतीयमान अर्थ में हेतुहेतुमद्भाव के यथावत् बैठ जाने से यहाँ अनुमान की प्रक्रिया ही काम करती है। इस प्रकार ध्वनिकारकृत अलंकार-ध्वनि के इस स्थल में रूपकादि अलंकार की अनुमिति ही होती है।

यहाँ पर विचार करने की बात यह है कि--"क्षोभं यदेति न मनागपि", इसमें पठित क्षोभपद का क्या अर्थ है ? यदि यह कहें कि सलिलोल्लास ही क्षोभ का आशय है, तो कहना होगा कि, यदि मुखचन्द्र को देखकर समुद्र का जल उल्लसित नहीं होता तो इसके जलराशि होने का परम अर्थ सलिल समूहमात्र ही समझना चाहिए। किन्तु यहाँ पर तो इसमें चेतन-चमत्कार की कोई कणिका भी नहीं है। अतः इस अभिप्रायः को लेकर जलराशि का उपादान नहीं हुआ है, यही मानना चाहिए। अन्यथा सलिलसमूह तो समुद्र में सदैव सन्निहित होता है, फिर पूर्णचन्द्र के उदय होने पर उस समय भी उसमें जलराशित्व के समान होने से क्षोभ नहीं होना चाहिए। किन्तु तब तो क्षोभ होता है, अतः उक्त क्रम से अर्थ में अन्तर्विरोध होने पर, हमें बाध्य होकर ही मुख एवं चन्द्र में रूप्यरूपकभाव की अनुमिति करनी पड़ती है।[1] एवं रूपकालंकार अनुमेय ही ठहरता है। तथा जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है--यदि सहृदय में मदनोन्माद-लक्षण क्षोभ के आविर्भाव के निबन्धन की बुद्धि से जाड्य प्रतिपादन के लिये उसे सदसद्विवेक विकल जड़ कहा है, तो इस प्रकार भी सौन्दर्यातिशयशाली मुख के सौभाग्यातिरेक की ही अभि-व्यक्ति होती है, उसकी पूर्णरूपता की नहीं।[2] हमारा तो कहना है कि मुख में पूर्णेन्दुरूपता की प्रतीति तभी हो सकती है जब समुद्रसंक्षोभ रूपी स्वकार्य के प्रति पूर्णेन्दु में अविकल कारणता हो। उस कारणता से संक्षोभ की उत्पत्ति सम्भावित थी। किन्तु किसी प्रतिबन्धकवश नहीं हो पाती। अन्यथा यदि पूर्णेन्दु में समुद्रसंक्षोभ के प्रति कारणता अविकल रूप से नहीं होती तो अनुमान के लिये कोई अवसर नहीं था। उदाहरणतः यदि इसी पद्य में निम्नप्रकार से पाठ का विपर्यास कर दिया जाय तो मुख में पूर्णचन्द्ररूपता का अनुमान नहीं हो सकता।

यत् प्रह्वभावमुपयाति न तेन मन्ये।
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

---

१. केवलमिदमत्र विचार्यते-यदेतद्वदनेन्दुबिम्बसद्भावे सत्यपि पयोधेस्सलिलोल्लासलक्षण-क्षोभाविर्भावनिबन्धनधिया सलिलसमूहमात्रपरमार्थः "यन्नास्य काचन चेतनचमत्कार-कणिका समस्तीत्ये" वमर्थतात्पर्येण जलराशित्वमुपात्तं तत् तस्य सदैव सन्निहितमित्यना-रोपितरूपयामिनीरमणोदयसमयेऽपि नास्य संक्षोभाविर्भावो भवेत् तदापि जलराशित्वाविशे-षात्। --व्यक्तिविवक, पृ० ४३१।

२. अथमदनोन्मादलक्षणक्षोभाविर्भावनिबन्धनबुध्या सदसद्विवेकविकलोऽयं जड इति जाड्य-प्रतिपादनपरतया तदुपादानमिति। एवमपि वदनस्य सौन्दर्यातिशयशालिनः सौभाग्यातिरेक एवानुमितो भवति। --व्यक्तिविवक, पृ० ४३२।

इस प्रसंग में एक दूसरा दृष्टान्त उपस्थित करते हैं--

भवति न गुणानुरागो जडानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम् ।
किल प्रस्नौति शशिमणिश्चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे ।।

पूर्णेन्दु के सन्निकर्ष से चन्द्रकान्तमणि में अवश्य प्रस्रवण होने लगता है। इस साधारण नियम के अनुसार प्रिया के मुखरूपी चन्द्रमा को देखकर उसमें प्रस्रवण होना चाहिए था; किन्तु नहीं होता। इसका कारण यही है कि आखिर वह मणि भी तो उन्हीं जड़ों में से हैं जिनमें केवल अपनी ख्याति की भूख रहती है, गुण के प्रति अनुराग नहीं होता। यहाँ पर प्रियामुख के सन्निधान से चन्द्रकान्तमणि में क्षीर प्रस्रवण की संभावना थी। किन्तु जड़ों के उस प्रकार के विश्वास के कारण सम्पन्न नहीं होती। हेतुभूत इस उक्ति से मुख की चन्द्ररूपता का अनुमान बलात् होता है। यह कथन कि 'वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है किन्तु जड़ नहीं मानते' मुख पर चन्द्र के आरोप के बिना किस प्रकार सम्भव हो सकता है।[1]

इस पर यदि यह कहें कि यहाँ पर चन्द्रबिम्बरूपी कार्य का प्रतिबन्धक कोई भी नहीं कहा गया है, अतः मुख की पूर्णेन्दुरूपता का अनुमान कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि--जहाँ किसी वस्तु का जिस कार्य के प्रतिबन्धक के रूप में उपादान होता है वहाँ उसी सम्बन्धी का ग्रहण होता है दूसरे का नहीं, अन्यथा अतिप्रसंग रूपी दोष आपतित होता है।[2]

पूर्वोदाहृत पद्य में मुख को देखकर पयोधि क्षुब्ध नहीं होता, इसका कारण उसका अचेतनत्व एवं परमार्थतः जलराशि होना ही है। यहाँ क्षोभ कार्य है "उसकी उत्पत्ति में प्रतिबन्धक का कथन होना चाहिए' अथवा, 'उसके अभाव का कारण बताया जाना चाहिए'। दोनों प्रकार की उक्ति का आशय एक ही है। समुद्र की अचेतनता एवं जलराशि होने की बात का उपादान करने पर मुख में उस सौभाग्यातिरेक की ही प्रतीति होनी चाहिए, चन्द्र आदि की नहीं। क्योंकि यदि बिना किसी सम्बन्ध के ही उसमें चन्द्रत्व आदि अन्य की प्रतीति मानेंगे तो फिर चन्द्र की ही क्यों? कमल आदि की भी प्रतीति क्यों न मानी जाय, यहाँ पर भी न्याय समान है। चन्द्रत्व में किसी भी प्रकार की ऐसी विशेषता नहीं है जिसके आधार पर उसकी ही प्रतीति मानी जाय, अन्य की नहीं।[3]

इसलिए उभयार्थ साधारण क्षोभपद के प्रयोगमात्र से ही मुख और इन्दु-बिम्ब में रूप्य-

---

१. इत्यत्र प्रियामुखस्य पूर्णेन्दुरूपत्वं तत्कार्यस्य चन्द्रकान्तमणिप्रस्नुतिलक्षणस्य सम्भाव्यमानोत्पादस्य सतो जाड्यजनितप्रसिद्धिशरणत्वरूपप्रतिबन्धकप्रत्ययबलादनुत्पादे सत्यनुमीयते ।
--व्यक्तिविवेक, पृ० ४३२ ।

२. न चेह चन्द्रबिम्बकार्यस्य किमपि प्रतिबन्धकारणमुपात्तमिति कथं तस्य पूर्णेन्दुरूपतानुमितिसिद्धिः । यत्र हि यत्कार्यस्य यत्प्रतिबन्धनिबन्धनभावेनोपकल्प्यते तत्र तस्यैव तदुपादाने सत्यवसायो नान्यस्य अतिप्रसङ्गात् । --व्यक्तिविवेक, पृ० ४३३ ।

३. मुखे च सौभाग्यातिरेककार्यस्य मदनोन्मादलक्षणस्य क्षोभस्याचेतनत्वं परमार्थजलराशित्वं प्रतिबन्धनिबन्धनभावेनोपात्तम् । अतस्तस्यैव तत्र प्रतीतिरुपपन्ना न चन्द्रत्वादेः । अन्यथा कमलत्वादेरपि सा स्याद् विशेषाभावात् । --व्यक्तिविवेक, पृ० ४३३ ।

रूपकभाव का ज्ञान होता है जो हेतु से साध्य का अविनाभाव सम्बन्ध के आधार पर होने वाला अनुमानात्मक ज्ञान ही है, यह सिद्ध हो गया।[1]

अनन्तर 'वीराणां रमते, सवक्तुमखिलान्, दैवायत्तेफले, हृदयस्थापितमन्युम्, जायेय वनोद्देशे, चन्दनासक्तभुजगेत्यादि पद्यों में अलंकार रूप अर्थान्तर की प्रतीति में अनुमान की प्रक्रिया का विधिवत् निरूपण करने के पश्चात् ग्रंथकार ने कहा है कि इस प्रकार वाच्य से व्यतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी यथायोग अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया का अनुसरण स्वयं करना चाहिए।

(उ) रसध्वनि के उदाहरण की अनुमितिपरक व्याख्या

रसध्वनि के उदाहरण की अनुमेयता का निरूपण करते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि विभावादि से जो रसादि की प्रतीति होती है, उसका भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव की प्रतीति ही रसादि की प्रतीति का साधन होती है। वे विभावादि रत्यादि स्थायिभावों के कारण, कार्य एवं सहकारी कारणरूप होते हैं और रत्यादि का अनुमान कराते हुए ही रसादि की निष्पत्ति कराते हैं। प्रतीयमान रत्यादि स्थायीभाव ही रसावस्था को प्राप्त कर रसपद से व्यपदिष्ट होते हैं। अतः उनकी प्रतीति में क्रम अवश्यम्भावी है। शीघ्रतावश वह परिलक्षित नहीं होता।[2] यह कथन स्वयं ध्वनिकार का है।

कुमारसम्भव के वसन्त वर्णन में पुष्पाभरण से विभूषित देवी पार्वती के शिव के समीप आगमन से लेकर मदनदहन पर्यन्त, परिवृत्त-धैर्य शम्भु की चेष्टाविशेष का समूचा वर्णन रस-ध्वनि का उदाहरण है, जिसकी व्याख्या अनुमान की प्रक्रिया से ही ठीक-ठीक हो सकती है। स्थालीपुलाक न्याय से एक उदाहरण की व्याख्या यहाँ दी जाती है।

शिवपार्वती यथेच्छ विहार कर रहे थे कि इसी बीच में ग्रीष्मकाल आ उपस्थित हुआ जिसकी जमुहाई से ही मधुमास के कुसुमविकास का उपसंहार हो गया तथा चारों ओर मल्लिका के श्वेत पुष्प ऐसे खिल उठे मानो महाकाल रूपी शिव ने अट्टहास ही किया हो।

अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुदजृम्भत ।
ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः ॥

यहाँ पर प्राकरणिक महाकाल नामक देवताविशेष विषयक प्रतीति ही साध्य है। अट्टहास सम्बन्ध एवं युगसंहार व्यापार यह दोनों ही उसके साधन हैं, जिनका वह कार्य है। इनमें कार्यकारण-मूलक साध्यसाधनभाव का निर्धारण आगम-प्रमाण से होता है। अतः उससे ही समासोक्ति

---

१. तस्मादुभभयार्थसाधारणक्षोभपदप्रयोगमात्रविप्रलम्भकृतोऽयं मुखेन्दुबिम्बयो रूप्यरूपक-भावभ्रम इति स्थितम्। —व्यक्तिविवक, पृ० ४३३।

२. यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भावमर्हतीति विभावानुभाव-व्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते। ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्य—सहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति। त एव हि प्रतीयमाना आस्वाद-पदपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते इत्यवश्यम्भावी तत्प्रतीतिक्रमः।
—व्यक्तिविक, पृ० ४१७।

के क्रम से अप्राकरणिक अर्थान्तर की प्रतीति सिद्ध होती है। वह सिद्धि उभयार्थवर्ती महाकाल शब्द की शक्ति से कदापि नहीं हो सकती। इसका युक्तिपूर्वक प्रतिपादन पहले के परिच्छेद में ही हो चुका है और आगे रसनिरूपण के अवसर पर भी करेंगे।[१]

इसी प्रकार भाव, रसाभास एवं भावशान्ति आदि के ध्वनिकार द्वारा उदाहृत पद्यों का विशद विवेचन ग्रंथकार महिमभट्ट ने अनुमान की प्रक्रिया के अनुसार किया है। प्रकृत-प्रबन्ध में अनुपयोगी होने से हम उसका विवेचन यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं करेंगे। अपितु स्थालीपुलाक न्याय से कृत उक्त विवेचन के आधार पर, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि ध्वनि के सभी प्रकार के भेदों के उदाहरण प्रत्युदाहरणों का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव सुतरां साधित हो सकता है। उक्त समूचे विवेचन का सारांश ग्रंथकार ने स्वयं निम्नलिखित कारिकाओं में संगृहीत कर दिया है।[२]

तदिदं विस्तरस्यास्य तात्पर्यमवधार्यताम्
यार्थान्तराभिव्यक्तौ वस्सामग्रीष्टा निबन्धनम् ॥३०॥
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता।
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानमनुमैकसमाश्रयम् ॥ ३१ ॥

उपर्युक्त समूचे विस्तृत विवेचन का निम्नलिखित तात्पर्य समझना चाहिए —

आप ध्वनिवादी को अर्थान्तर (व्यंग्य) की अभिव्यक्ति के लिए (प्रकरण-पर्यालोचनादि) जो सामग्री अपेक्षित होती है वही सामग्री हम अनुमितिवादियों को गमक (हेतु) के रूप में सम्मत है। (ध्वनि में अर्थान्तर की अभिव्यक्ति का आधार प्रकरण पर्यालोचन माना गया है। अनुमितिवाद में वही प्रकरणपर्यालोचन लिंग अर्थात् हेतु का काम करता है।) फिर वहाँ अनुमिति के होने में कोई बाधा नहीं होती। क्योंकि किसी वस्तु से उससे भिन्न प्रकार की वस्तु का ज्ञान एकमात्र अनुमान के आधार पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वाच्यवाचकयोः स्वार्थप्राधान्यप्रतिषेधतः
ध्वनेः शक्त्यन्तराभावाद् व्यक्तेश्चानुपपत्तितः ॥३२ ॥[३]

क्योंकि ध्वनिवादी ने वाच्य एवं वाचक के द्वारा अपने अर्थ की अपेक्षा दूसरे अर्थ की प्रधानतया अभिव्यक्ति को ध्वनि कहा है। वाच्य एवं वाचक के द्वारा अपने अर्थ से अर्थान्तर की प्रधानतया अभिव्यक्ति की बात का निषेध यहाँ किया गया है। अभिधा के अतिरिक्त ध्वनि नाम की कोई शक्ति सम्भव नहीं। व्यञ्जना की भी सिद्धि नहीं हो पाती। अतः प्रकरणादि हेतु हैं एवं अन्य अर्थ साध्य।

---

१. इत्यत्राप्रकरणिकमहाकालाख्यदेवताविशेषविषया प्रतीतिस्साध्या। तस्याश्चाट्टहाससम्बन्धो युगसंहारव्यापारश्चेत्युभयं साधनं तस्य तत्कार्यत्वात् कार्यकारणभावावसायश्चानयोरागमप्रमाणमूल इति तत एव समासोक्तिक्रमेणाप्राकरणिकार्थान्तर प्रतीतिसिद्धिः न तूभयार्थवृत्तेर्महाकालशब्दस्य सा शक्तिरित्येतदुक्तं वक्ष्यते च।–व्यक्तिविवेक, पृ० ४१७।

२. व्यक्तिविवेक का०, तृतीय विमर्श।

३. व्यक्तिविवेक कारिका, तृतीय विमर्श।

पंचम-विमर्श

वक्रोक्ति-सिद्धान्त एवं उसकी समीक्षा

(क) काव्य में वक्रोक्ति का उद्गम

महिमभट्ट के पूर्व कुन्तक नाम के एक आचार्य हो गये हैं जिनका ग्रंथ 'वक्रोक्ति-जीवित' अलंकारशास्त्र के इतिहास में वक्रोक्ति नामक एक नये वाद का प्रतिनिधित्व करता है। वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य के लिए सर्वथा नवीन नहीं है। यह शब्द अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में इस शब्द का प्रयोग अनेकत्र किया है जिसका अर्थ रसिकजनों का क्रीड़ालाप अथवा परिहास-विजल्पित है।[1] अमरुशतक में भी वक्रोक्ति पद का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।[2] अलंकार-शास्त्र के ग्रंथों में भी वक्रोक्ति पद कम लोकप्रिय नहीं है। वहाँ वक्रोक्ति का अभिप्राय वक्र उक्ति अर्थात् किसी बात को घुमाकर कहने से है। ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति की कल्पना का आरम्भ भामह से होता है। आचार्य भामह ने अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति कहा है और उसे ही सामान्य रूप से अलंकारों का जीवनाधायक एवं काव्य के मूलतत्त्व होने का विधान किया है। और इस प्रकार सभी प्रकार के अलंकारों के लिए वक्रोक्ति का योग आवश्यक माना है।[3] इसलिए उन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में स्थान-स्थान पर वक्रोक्ति का निर्वचन किया है।

आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति के स्वरूप का निरूपण एक दूसरे प्रकार से किया है। उन्होंने समूचे वांङमय को स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो भागों में विभक्त किया है। जहाँ वस्तुओं का यथार्थतः निरूपण होता है वे सब स्थल स्वभावोक्ति के हैं। काव्यादर्श में उसे ही 'जाति' अलंकार के नाम से अभिहित किया गया है। वक्रोक्ति में अतिशय का कथन होने से उसे स्वभा-

---

१. वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन।....एषापि बुध्यते एव एतावतीः वक्रोक्तीः।
 --कादम्बरी, पृ० ४४ तथा १९५ (पीटर्सन संस्करण)

२. सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना।
 नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्॥ ---अमरुशतक-२३।

३. (अ) सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
 यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥--भामह, काव्यालंकार--२।८५।
 (ब) वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः॥ --वही १।३६।
 (स) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते। --वही ५।६६।

वोक्ति से भिन्न माना है । और इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रसवत्प्रेय: आदि रसालंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं। श्लेष के द्वारा ही वक्रोक्ति में चमत्कार का आधान होता है।[१] इस प्रकार दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति विषयक मान्यता को स्वीकार-सा कर लिया है। आचार्य वामन ने भी वक्रोक्ति का लक्षण एवं उसकी व्याख्या काव्यालंकारसूत्र एवं वृत्ति में की है जो भामह की सरणि से सर्वथा भिन्न है । उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्यसम्बन्ध से होने वाली लक्षणा ही है । सामीप्यादि सम्बन्धों को लक्षणा का आधार मानते हुए उन्होंने कहा है कि जहाँ पर लक्षणा सादृश्यवश होती है वही वक्रोक्ति का स्थल है । सादृश्येतरसम्बन्ध से उपनिबद्ध लक्षणा वक्रोक्ति नहीं कहलाती।[२] रुद्रट के समय में वक्रोक्ति का क्षेत्र सीमित होकर शब्दालंकार मात्र रह जाता है।[3] रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति का उदाहरण वह है जहाँ वाक्य को सुनकर श्रोता उसमें प्रयुक्त किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर एक ऐसा उत्तर देता है जो वांछित या कल्पित नहीं होता।[४] आचार्य आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति के स्वरूप एवं लक्षण का विस्तृत विवेचन कर उसका अन्तर्भाव ध्वनि में ही किया है । अभिनवगुप्त ने भामह के वक्रोक्ति के लक्षण 'वक्राभियशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः' की व्याख्या करते हुए कहा है कि—शब्द और अर्थ की वक्रता उनकी लोकोत्तररूप से स्थिति में होती है । लोक में शब्द और अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है काव्य में उससे विलक्षण रूप में होना ही वक्रोक्ति कहलाता है।[५] प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने अपने भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रथम एवं द्वितीय दोनों खण्डों में वक्रोक्ति के स्वरूप एवं सिद्धान्त का ऐतिहासिक क्रम से विशद विवेचन किया है ।

(ख) वक्रोक्ति काव्यजीवित के रूप में

वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवितसर्वस्व या प्राण कहने का श्रेय आचार्य कुंतक को है। अतएव इन्होंने अपने ग्रंथ का नाम 'वक्रोक्तिजीवित' रखा है । वक्रोक्ति के स्वरूप के निरूपण के प्रसंग में वक्रोक्तिजीवितकार ने कहा है कि—काव्य में शब्द तथा अर्थ दोनों ही अलंकार्य होते हैं। वैदग्ध्यभणिति अर्थात् चतुरतापूर्ण शैली से कथनरूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार

---

१. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वाभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङमयम् ॥ —काव्यादर्श २।३६३ ।

२. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम् । तत्र सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिरसाविति । असादृश्य-निबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः ।
—वामन, काव्यालंकारसूत्र ४।३।८ की वृत्ति ।

३. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथापरं चित्रम् ।
शब्दस्यालङ्काराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ॥ रुद्रट, काव्यालंकार,—२।१३ ।

४. वक्ता तदन्यथोक्तं वाचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः ।
वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः ॥ —वक्रोक्तिजीवित २।१४ ।

५. शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमिति अयमेवासौ अलङ्कारस्यालङ्कारान्तरभावः ।
—लोचन-ध्वन्यालोक टीका पृ० २०८ (चौखम्भा, काशी) ।

होती है।[१] वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए निस्सन्देह रूप से कुन्तक भामह के ऋणी हैं। प्रो० बलदेव उपाध्याय ने कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मर्म निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है, "काव्य का उद्देश्य श्रोताओं के हृदय में अलौकिक आह्लाद का उन्मीलन ही है। यह उन्मीलन तभी सिद्ध हो सकता है जब कि शब्द का प्रयोग शास्त्रादि में मान्य प्रयोगों से दूर हटकर कुछ विचित्रता लिए हो। लोकव्यवहार में शब्दों का प्रयोग प्रायः किसी न किसी अर्थ में रूढ़ हो जाता है। इन रूढ़ अर्थों से हमारा परिचय इतना गाढ़ हो जाता है कि उनके प्रयोग से हमें किसी प्रकार का आह्लाद नहीं होता, अतः उन प्रचलित प्रकारों से भिन्न, स्वतन्त्र प्रयोग में ही वैचित्र्य उत्पादन की क्षमता सम्भव है। यही कुन्तक को स्वीकार है[२]।" अतएव वक्रोक्तिकार ने अपने ग्रंथ में स्थान-स्थान पर 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकि, अतिक्रान्तप्रसिद्ध-व्यवहार-सरणि' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए आचार्य कुन्तक ने कहा है कि--काव्य-मर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक कवि के वक्रव्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।[३] वक्रोक्तिजीवित ग्रंथ में वक्रोक्ति के लक्षण का निरूपण स्थान-स्थान पर हुआ है।

(ग) वक्रोक्ति और महिमभट्ट

आचार्य महिमभट्ट ने अपने ध्वनिध्वंसक ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' में कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का भी पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यास कर अनुमान में ही अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। यह विवेचन यद्यपि संक्षेप में है तथापि जिस मूल सिद्धान्त पर वक्रोक्ति की स्थापना हुई है उसी का विश्लेषण कर वक्रोक्ति की निस्सारता सिद्ध कर दी गई है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का अलंकार कहा है। अलंकार से उनका तात्पर्य उपमा-रूपक उत्प्रेक्षा आदि के समान एक विशेष प्रकार का अलंकार होना नहीं है अपितु सम्यक् रूप से काव्यजन्य सौन्दर्य ही वक्रोक्ति पद से अभिहित है। इसीलिए वक्रोक्तिकार ने उसे लोकोत्तर चमत्कारी तथा अपूर्व अर्थात् विलक्षण कहा है।[४] इसका अभिप्राय यह है कि जिस वक्रोक्ति का निरूपण कुन्तक ने किया है वह काव्य का एक ऐसा विलक्षण तत्त्व है जिसका निरूषण आज तक नहीं किया गया था। काव्य में इसके उपनिबन्धन से जिस चमत्कार की सृष्टि होती है वह एक विशेष प्रकार की विचित्रता है जिसकी उपलब्धि लौकिक वर्णनों में कदापि नहीं हो सकती। उनका कहना है कि काव्यों में सैकड़ों अलंकारों का निरूपण हुआ है पर जिस अलौकिक वैचित्र्य की सृष्टि वक्रोक्ति से होती है किसी भी अलंकार से वह सम्भव नहीं।[५] उसकी सृष्टि

---

१. उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥ --व० जी० उन्मेष १।१०।

२. भारतीय साहित्यशास्त्र, खण्ड २, पृ० २९९।

३. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि। --व० जी० उन्मेष १।७।

४. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वोविधीयते॥ --व० जी० का० १।२।

५. यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्काराः तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः।
--वही--प्रथम उन्मेष का० २ पर वृत्ति।

का रहस्य शब्दार्थ की वह विलक्षण योजना है जो कवि के वक्र-व्यापार से सम्पन्न होती है। कवि के वक्र-व्यापार द्वारा की गई शब्दार्थ की यह योजना व्याकरण आदि शास्त्रों में वर्णित शब्दार्थ की योजना से सर्वथा भिन्न होती है। इसके संयोजक व्यापार को वक्र इसलिए कहते हैं कि अब तक स्वीकृत या अपनायी गई शब्दार्थ-योजना की प्रसिद्ध परिपाटी से यह सर्वथा भिन्न है।

व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट का कथन है कि शब्दार्थ की योजना का प्रकार तो एक-मात्र अभिधा ही प्रसिद्ध है। उससे भिन्न रूप में शब्दार्थ की योजना दो प्रकार से ही सम्भव है––

१. औचित्य के आधार पर।

२. व्यंग्य अर्थ की अभिव्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना के आधार पर।

इनसे भिन्न शब्दार्थ के उपनिबन्धन का कोई अन्य प्रकार सर्वथा असम्भव है।[1]

यहाँ पर प्रथम पक्ष की, कि काव्य में शब्दार्थ-रचना की शास्त्रादि से भिन्नता औचित्य-पर्यवसायिनी होगी, सम्भावना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि काव्य के स्वरूप-निरूपण में औचित्य की महत्ता स्वतः सिद्ध है। उसका पृथक् उपादान करना व्यर्थ है। विभावादि का औचित्यपरक उपनिबन्धन रूप कविव्यापार ही काव्य है, शब्दार्थमात्र के उपनिबन्धनपरक नहीं। यह विभावादि, शास्त्रानुरूप उपनिबद्ध होकर ही यथाभिलषित अर्थ की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं। काव्य तो सदा रसात्मक ही होता है। उसमें अनौचित्य के संस्पर्श की संभावना ही कहाँ है जिसके निराकरण के लिए ग्रंथकार को इस लम्बे-चौड़े घटाटोप भयंकर काव्यलक्षण एवं विलक्षण कविव्यापार का प्रकथन करना पड़ा।[2]

यदि सामान्य-शब्दार्थ की भिन्नता से, वक्रोक्ति-जीवितकार को प्रतीयमानपरक द्वितीय पक्ष अभिप्रेत है तो वक्रोक्ति प्रकारान्तर एवं शब्दान्तर से ध्वनि का ही लक्षण है, कोई नवीन वस्तु नहीं। क्योंकि ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों के मूलभूत सिद्धान्त अभिन्न हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि वक्रोक्ति के विषय में ध्वनि की संभावना परक दूसरा पक्ष ही ठीक है। क्योंकि वक्रोक्ति के भेदोपभेद एवं उदाहरण-प्रत्युदाहरण आदि प्रायः वही हैं जो ध्वनि के दिये गये हैं। अतः ध्वनि के युक्तायुक्त विवेचन से ही वक्रोक्ति का विवेचन तथा उसका भी ध्वनि की तरह ही अनुमान में अन्तर्भाव स्वतः सिद्ध हो जाता है।[3]

---

१. प्रसिद्धोपनिबन्धनव्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थयोरौचित्यमात्रपर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्धाभिधेयार्थव्यतिरेकिप्रतीयमानाभिव्यक्तिपरं वा स्यात्। प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिबन्धनवैचित्र्यस्य प्रकारान्तरासम्भवात्। ––व्यक्तिविवेक, पृ० १२४-१२५।

२. तत्राद्यस्तावत् पक्षो न शङ्कनीय एव, तस्य काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादान-वैयर्थ्यात्। विभावाद्युपनिबन्ध एव हि कविव्यापारो नापरः। ते च यथाशास्त्रमुपनिबध्य-माना रसाभिव्यक्तेर्निबन्धनभावं भजन्ते, नान्यथा। रसात्मकं च काव्यमिति कुतस्तत्रानौ-चित्यसंस्पर्शः सम्भाव्यते, यन्निरासार्थमित्थं काव्यलक्षणमाचक्षीरन् विचक्षणम्मन्याः।
––व्यक्तिविवेक, पृ० १२६।

३. द्वितीयपक्षपरिग्रहे पुनर्ध्वनेरेवेदं लक्षणमनया भङ्ग्याभिहितं भवति, अभिन्नत्वाद्वस्तुनः। अतएव चास्य त एव भेदास्तान्येवोदाहरणानि तैरुपदर्शितानि। तच्चायुक्तमित्युक्तम्।
––व्यक्तिविवेक, पृ० १२६।

व्यक्तिविवेककार ने वक्रोक्ति-जीवितकार के अपने सिद्धान्त को सर्वथा विलक्षण एवं सर्वोत्कृष्ट समझने के दम्भ पर चोट-सी करते हुए कहा है कि अपने को सहृदय मानने वाले मानी विद्वान का 'शब्दार्थौ सहितौ' इस कारिका में यह कथन कि शास्त्रादि में होने वाली शब्दार्थ की प्रसिद्ध योजना से सर्वथा विलक्षण एवं वैचित्र्य की सृष्टि करने वाला कवि का वक्र-व्यापार ही काव्य का प्राण है, प्रमाणपुष्ट न होने से समीचीन नहीं।[1] उपर्युक्त व्याख्यान को ही ग्रन्थकार ने निम्नलिखित संग्रह-कारिकाओं में संकलित कर दिया है।

प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये ।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥१।६९॥

वैचित्र्य की सिद्धि के लिए (शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति के) प्रसिद्ध मार्ग (अभिधा) को छोड़कर एक अन्य (वक्र) प्रकार से ही जो अर्थ का प्रतिपादन होता है वही वक्रोक्ति है।

पदवाक्यादिगम्यत्वात् सचार्थोबहुधा मतः ।
तेन तद्वक्रतापीष्टा बहुधैवेति तद्विदः ॥१।७० ॥

कहीं शब्द, कहीं वाक्य तो कहीं प्रकृति-प्रत्यय आदि अन्य तत्त्व से गम्य होने के कारण वह अर्थ अनेक प्रकार का माना गया है। उसी के आधार पर वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रतिपादक उस विद्वान् को व्यापार की वक्रता के भी अनेक प्रकार अभीष्ट हैं।

अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने ।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः ।१।७१॥

इस पर यही कहना है कि शब्द से अर्थ के प्रकाशन का व्यापार एकमात्र अभिधा ही मान्य है। इससे भिन्न लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्य एवं वक्रोक्ति आदि जितने भी व्यापारों की कल्पना की जाती है वे सब अर्थ के व्यापार हैं।

वाच्यादर्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्गमस्य सः ।
तन्नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम् ॥१।७२॥

यदि वाच्य से अन्य अर्थ सर्वथा भिन्न है तो वाच्य ही उसकी प्रतीति का निमित्त होता है। क्योंकि यह लक्षण लिंग (हेतु) का ही है जो लिंगी (साध्य) के साथ अबिनाभाव सम्बन्ध से व्यवस्थित होता है। ऐसे सभी स्थलों में अन्य अर्थ के साथ वाच्य का उपनिबन्धन अबिनाभाव सम्बन्ध से ही किया गया होता है। उस (वाच्य) के लिंग होने की यही पहचान है।

अबिनाभाव सम्बन्ध से वाच्य के व्यवस्थित होने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कहीं भी वाच्य से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है उन सब स्थलों में पहले वाच्य की प्रतीति अवश्यंभाविनी है। ऐसा कोई भी स्थल नहीं जहाँ अर्थान्तर की प्रतीति वाच्य की प्रतीति के बिना ही हो जाती हो। यही वाच्य और अर्थान्तर के बीच नान्तरीयकता अर्थात् अबिनाभाव सम्बन्ध

---

१. यत्पुनः 'शब्दार्थौ सहितौ' इत्यादिना शास्त्रादि-प्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबन्धनव्यतिरेकि यद्वैचित्र्यं तन्मात्रलक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति सहृदयमानिनः केनचिदाचक्षते तदप्यसमीचीनम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० १२५।

है। 'अन्तरेण तेन बिना न संभवति इति नान्तरीयः स एव नान्तरीयकः, तस्य भावः नान्तरीयकता तया नान्तरीयकतया' अर्थात् उसके बिना अकेले सम्पन्न न होने से।

अभेदे बहुता न स्यादुक्तेर्मार्गान्तराग्रहात् ।
तेन ध्वनिवदेषाऽपि वक्रोक्तिरनुमा न किम् ॥१।७३ ॥

यदि इन वाच्य एवं अन्य अर्थों में लिंगलिंगी भाव न मानकर इन्हें एक दूसरे से अभिन्न मानते हैं तो अर्थान्तर की वाच्य से भिन्नता या अर्थों की अनेकता नहीं बनेगी। क्योंकि शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति का अभिधा के अतिरिक्त और कोई मार्ग स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वोक्त प्रकार से ध्वनि के समान कवि की यह 'वक्र-व्यापार-रूपा वक्रोक्ति' भी क्या अनुमान नहीं है? अपितु अवश्य ही इसका भी अन्तर्भाव अनुमान में ही उसी प्रकार साधित हो जाता है जैसे ध्वनि का सिद्ध किया जा चुका है।

पंचम-अध्याय

प्रथम-विमर्श

रस का महत्त्व

(क) आनन्द और रस

जीवन में आनन्द का स्थान सर्वोपरि माना गया है। उपनिषदों में कहा है कि आनन्द ही ब्रह्म है तथा आनन्द से ही अखिल भूतों की उत्पत्ति होती है, उसी से उनका जीवनधारण होता है और अन्त में आनन्द में ही उनका पर्यवसान भी हो जाता है।[1] इस आनन्द की अनुभूति का एकमात्र साधन रसोपलब्धि बताया गया है।[2] उपनिषत् प्रतिपाद्य, आनन्द और रस का यह सम्बन्ध, विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है। लौकिक विषयों में भी हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति में आनन्द और रस का सम्बन्ध ही काम करता है। इस बात की पुष्टि हमारे दैनन्दिन के व्यवहार से होती है। बुभुक्षा की शान्ति या शरीर को पोषकतत्त्वों की प्राप्ति, जिन वस्तुओं से होती है उन सबके प्रति हमारी प्रवृत्ति समान रूप से नहीं होती। विविध व्यञ्जनों के उपभोग या रसों के आस्वादन से व्यक्ति की बुभुक्षा अथवा तृषा की उतनी ही शान्ति होती है जितनी उबले हुए शाक अथवा शुद्ध जल से। शरीर के पोषण की दृष्टि से शाकाहार विविध व्यञ्जनों की अपेक्षा अधिक उपयोगी एवं स्वास्थ्यप्रद होता है। फिर भी हमारी प्रवृत्ति व्यञ्जन की ओर ही अधिक क्यों होती है ? इसका एक ही उत्तर है कि व्यञ्जनादि के उपभोग से बुभुक्षादि मूल-प्रवृत्तियों की शान्ति के साथ-साथ वहाँ कुछ और मिलता है जो हमें हठात् अपनी ओर आकृष्ट करता है। वही रस है। रस की उपलब्धि से व्यक्ति को एक ऐसी विलक्षण अनुभूति होती है जो सब प्रकार की अनुभूतियों को अतिक्रान्त कर देती है। वह विलक्षण अनुभूति ही आनन्द है। भरत मुनि ने जीवन तथा जगत् में रस की महत्ता का निर्वचन करते हुए ठीक ही कहा है कि—कोई भी पदार्थ रस के बिना प्रवृत्त नहीं होता।[3] यहाँ पर हम औपनिषद एवं लौकिक रस में प्रवृत्ति का एक ही निमित्त आनन्दोपलब्धि पाते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्द के स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहा है कि वास्तव में स्वात्मपरामर्श ही आनन्द है। यह स्वात्मपरामर्श तब तक नहीं होता जब तक स्वभाव के प्रकाशन में परिपूर्णता नहीं आती।[4] यह परिपूर्णता विषयविशेष के उपभोग से, विषयों के

---

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धि एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिविशन्ति। —तै० उ०, भृगुवल्ली, षष्ठ अनुवाक।

२. रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति - —तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली, सप्तम अनुवाक।

३. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।—नाट्यशास्त्र अध्याय ६, पृ० २७२, (गा० ओ० बड़ौदा)।

४. स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेवपरामर्शमयतां दधद् आनन्द इत्युच्यते। —ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, विमर्शिनी, पृ० १७७। (काश्मीर सं० ग्रन्थावली)

संस्कार से एवं विशुद्ध-चैतन्य के साक्षात्कार से ही सम्भव है। अतएव उन्होंने विषयानन्द, काव्यानन्द एवं ब्रह्मानन्द के नाम से आनन्द के तीन स्तरों का विधान किया है, जिनमें परस्पर भेद स्वरूपतः नहीं होता अपितु आनन्दाभूति के माध्यम एवं उसकी मात्रा से होता है।

क्षुधार्त व्यक्ति का उदाहरण देते हुए उन्होंने विस्तारपूर्वक इस तथ्य का विवेचन किया है कि किसी व्यक्ति को क्षुधा की निवृत्ति से आनन्द की जो उपलब्धि होती है वह वास्तव में भोजन से नहीं होती अपितु क्षुधा की निवृत्ति के अनन्तर, जब उसकी एक अपूर्णता समाप्त हो गई होती है, चेतना को आत्मपरामर्श का अवसर मिलता है, तभी आनन्द होता है। आनन्दानुभूति का यही रहस्य है। इसे ही विषयानन्द कहते हैं। क्योंकि अमुक वस्तु के उपभोग से यह आनन्द मिला है, इस प्रकार का व्यवधान यहाँ बना रहता है। काव्यानन्द की विषयानन्द से यह विलक्षणता है कि वहाँ विषयों के अर्जनादि विषयक सम्भाव्य व्यवधान का अभाव होता है तथा इसका आश्रय एकमात्र व्यक्ति का हृदय होता है। यहाँ जो स्वात्मपरामर्श होता है उसमें रत्यादि विषयों का संस्पर्श, संस्कार के रूप में ही रहता है, साक्षात् नहीं। अतएव यह भी ब्रह्मानन्द से निम्नकोटि का ही होता है। ब्रह्मानन्द में विषयों का संस्पर्श साक्षात् या परोक्ष (संस्कार रूप से) किसी भी प्रकार नहीं होता। अपितु स्वात्मपरामर्श स्वतन्त्र रूप से अवस्थित एवं अनुभूति की एकघनता से ही होता है। इसीलिए इसे परमानन्द, निर्वृति या चमत्कार के नाम से अभिहित किया गया है।[1]

(ख) काव्यरस की महत्ता

काव्य में रस का स्थान लोक एवं अध्यात्म दोनों से कुछ विलक्षण ही है। काव्य का प्रयोजन उपदेश आदि चाहे कुछ भी हो उसका असाधारण तत्त्व रस ही है, इसमें कोई विसम्वाद नहीं। काव्य से निरतिशय सुखास्वादरूप आनन्द की उपलब्धि का साधकतम तत्त्व रस ही माना गया है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने बिना किसी विप्रतिपत्ति के रस को काव्यात्मा का स्थान दिया है।[2] इस प्रकार रस काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही नहीं अपितु उसका सर्वस्व है। इसीलिए लोक तथा अध्यात्म में किसी प्रयोजनवश रस की निवृत्ति का प्रतिपादन चाहे भले हुआ हो[3] काव्य में उसका उपादान ही किया गया है। नाटचशास्त्र का विधान है कि काव्य को रस से उसी प्रकार ओत-प्रोत रखना चाहिए जैसे मधुमास में उद्यान की भूमि पुष्पावकीर्ण होती है।[4]

काव्यरस की लौकिक एवं आध्यात्मिक रस से विशेषता इसलिए भी है कि उसका अधिकारी एकमात्र व्यक्तिविशिष्ट सहृदय ही होता है, जनसामान्य नहीं। इसे सहृदय इसलिए कहते हैं कि उसका हृदय अर्थात् अन्तःकरण प्राक्तन एवं ऐहन्तन उभयविध काव्य-वासना से वासित होता है। साहित्यशास्त्रियों की यह मान्यता है कि काव्य की अनुभूति सबको नहीं होती।[5]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, पृ० १८९।

२. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। —व्यक्तिविवेक, पृ० २६।

३. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ —गीता, अ० २।५९।

४. पुष्पावकीर्णाः कर्त्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः। —नाट्यशास्त्र ७।१२०।

५. न जायते तदास्वादो बिना रत्यादिवासनाम्। —सा० द०, परि० ३।८।

जिन थोड़े लोगों को काव्यानुभूति होती है उनके दो प्रकार होते हैं––एक वह जिनके अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर के काव्यविषयक संस्कार काम करते रहते हैं। उनके उस संस्कार को प्राक्तन-वासना कहते हैं और ऐसे व्यक्ति जन्मजात सहृदय कहे जाते हैं। दूसरे प्रकार के सहृदय वे होते हैं जिनके अन्तःकरण में काव्यविषयक संस्कार इस जन्म के निरन्तर अभ्यास से पड़ते हैं। इनकी वासना को ऐहन्तन-वासना के नाम से अभिहित किया गया है।[1] उत्तमकोटि के सहृदय वही माने गये हैं जिनका अन्तःकरण प्राक्तन एवं इदानीन्तन, उभयविध वासना से वासित होता है। सहृदय पद का यही विशिष्ट अर्थ है। अन्यथा हृदय से सहित तो कौन व्यक्ति नहीं होता। आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय की परिभाषा करते हुए कहा है कि––जिनका मन-रूपी दर्पण काव्य के निरन्तर अनुशीलन एवं अभ्यास से इतना विशद हो जाय कि उसमें वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयीभाव होने लगे तथा अपने हृदय की संवेदनशीलता का परिपूर्ण परामर्श जिनकी चेतना को हो जाता हो, वही सहृदय हैं।[2] इस प्रकार काव्यरस का महत्त्व भी कम नहीं है, जो सहृदय सामाजिक को रत्यादिभावों की पराकोटिक अनुभूति कराता हुआ अनायास ही उसे परमानन्द के पास तक पहुँचा देता है।

काव्य-रस का माहात्म्य इसलिए भी बहुत अधिक है कि शास्त्रीय कृत्याकृत्य-विवेकरूप दुरूह उपदेश वस्तु को, रस के ही माध्यम से कवि सुकुमार हृदय पाठकों की बुद्धि का भी विषय अनायास ही बना देता है। संक्षेप में रस का यही महत्त्व है।

---

१. वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः। तत्र यदि आद्या न स्यात् तदा श्रोत्रियजड-मीमांसकादीनामपि सा स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात् तदा रागिणामपि केषांचिद् रसोद्बोधो न दृश्यते, तन्न स्यात्। उक्तं च धर्मदत्तेन––

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्यश्मसन्निभाः॥ ––सा० द०, परि० ३।८।

२. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसम्वादभाजः सहृदयाः। ––अभिनवगुप्त–ध्वन्यालोक का० १।१ पर 'लोचन'।

द्वितीय-विमर्श

काव्य में रस की धारणा के स्रोत

(क) उपनिषदों में रस का उल्लेख

काव्य के विशिष्ट तत्त्व के रूप में रस का निरूपण न्यूनाधिक रूप से साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी ग्रंथों में हुआ है। किन्तु ध्वनि एवं वक्रोक्ति आदि काव्य-तत्त्वों के समान ही काव्य में रस की धारणा का मूल-स्रोत अन्धतिमिराच्छन्न है। हमारे देश में किसी भी विषय के मूल स्रोत की जानकारी के लिए भारतीय प्राचीनतम साहित्य वेदों के ही पन्ने उलटे जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के सप्तम अनुवाक के दो वाक्यों में रसपद का साक्षात् प्रयोग हुआ है।[1] यद्यपि आनन्द का उद्‌बोधक एवं आनन्दोपलब्धि का विषय होने से काव्यरस एवं औपनिषद रस का प्रयोजन समान है तथापि यह स्पष्ट है कि उपनिषत् प्रतिपाद्य रस से साहित्य का रस सर्वथा भिन्न होता है। उपनिषद् में जहाँ रसपद ब्रह्मानन्द का वाचक है, काव्य में वह निरतिशय सुखास्वाद रूप विगलितवेद्यान्तर आनन्द का उद्‌बोधक। रसगंगाधर के टीका-कार प्रसिद्ध वैया करण नागेश भट्ट ने ग्रंथ में प्रयुक्त लोकोत्तराह्लाद पद की मीमांसा करते हुए उसे ब्रह्मानन्द ही माना है।[2] यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो तैत्तिरीय उपनिषद् का रस-विवेचन ही काव्य में रस की धारणा का मूलस्रोत सिद्ध हो जाता है। क्योंकि आनन्द के अपरपर्य्याय के रूप में ही उभयत्र रसपद का प्रयोग हुआ है।[3]

विश्वनाथ कविराज प्रभृति साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने तथा नाटचशास्त्र के अनेक टीकाकारों ने काव्य-रस को औपनिषद रस से सर्वथा पृथक् माना है और उसके लिये 'ब्रह्मानन्दसहोदर' तथा 'परब्रह्मास्वादसविध' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। औपनिषद रस साक्षात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही है जिसकी अनुभूति निर्विकल्पक समाधि या ब्रह्मसाक्षात्कार से ही होती है। काव्य-रस तो विभावानुभावव्यभिचारिभाव के संयोग से रत्यादि भावों की वासना-जन्य मानसिक अनुभूतिमात्र है। काव्य-रस रत्यादि की परिणति मात्र है, जिसकी अनुभूति बिना वासना के नहीं हो सकती। ब्रह्मानन्द की अनुभूति में रत्यादि विषयों का तो सर्वथा अभाव

---

१. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।–तै० उप०, ब्र०वल्ली सप्तमअनुवाक।

२. ननुलोकोत्तरत्वं यथा कथंचित् चेदुक्तदोषः, आत्यन्तिकं चेद् ब्रह्मानन्द एव।
—रसगंगाधर टीका, पृ० ४।

३. (क) आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तै० उप० भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक।
(ख) सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दम यनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते।—नाटचशास्त्र (अभिनवभारती), प्रथम खं०, अ० ६, पृ० २७७ (बड़ौदा)।

होता ही है, उस समय अन्तःकरण में किसी प्रकार की भी वासना विद्यमान नहीं होनी चाहिए। काव्यरस और उपनिषत् प्रतिपाद्य रस में यही समानता और भेद हैं। औपनिषद रस के काव्य-रस का मूलस्रोत होने या न होने का निर्णय हम आगे करेंगे।

(ख) नन्दिकेश्वर रस के आद्य आचार्य

दशम शताब्दी ईस्वी के प्रसिद्ध कवि एवं साहित्यशास्त्र के ख्यातनामा आचार्य राजशेखर ने अपनी कृति 'काव्यमीमांसा' में काव्य के आधायक जिन अठारह तत्त्वों का परिगणन किया है उनमें रस अन्यतम है। काव्य के इन तत्वों की उत्पत्ति के विषय में एक पौराणिक गाथा का उल्लेख करते हुए उन्होंने प्रत्येक तत्त्व पर स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना के लिये काव्यपुरुष द्वारा काव्यविद्या के अठारह दिव्यस्तानकों की नियुक्ति की बात कही है, जिसमें रसाधिकरण पर ग्रन्थ लिखने के लिये नन्दिकेश्वर का नाम लिया गया है।[1] इस प्रकार वहाँ नन्दिकेश्वर रस के प्रवक्ता आद्य आचार्य के रूप में उल्लिखित हुए हैं। रस पर नन्दिकेश्वर कृत किसी भी ग्रंथ की उपलब्धि अब तक नहीं हुई है। इसके विपरीत शारदातनय ने भावप्रकाशन में नाटच की उत्पत्ति के विषय में एक दूसरी पौराणिक गाथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि शिव की आज्ञा के अनुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा को नाटच की शिक्षा दी और ब्रह्मा ने फिर भरत को।[2] नन्दिकेश्वर के नाम से 'अभिनय-दर्पण' नामक एक लघु ग्रंथ की उपलब्धि भी हुई है, जिसमें अभिनयचतुष्टय का ही थोड़े विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है। नाटचशास्त्र के रसप्रकरण में उदाहृत आनुवंश्य श्लोकों एवं आर्याओं के विषय में विद्वानों का अनुमान है कि भरत ने अपने पूर्वाचार्यों की मान्यताओं का ही उपयोग कर उन्हें व्यवस्थित रूप दिया है।[3] यदि राजशेखर का नन्दिकेश्वर विषयक उल्लेख साधार है तो यह मानना पड़ेगा कि नन्दिकेश्वर नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यों में से थे। सम्भव है रस के ऊपर भी नन्दिकेश्वर की कोई कृति रही हो जो अब उपलभ्य नहीं। यहाँ पर रस के आचार्य के रूप में नन्दिकेश्वर का नाम एकमात्र राजशेखर के उल्लेख से ही लिया गया है।

(ग) रस की दिव्य उत्पत्ति

काव्य-रस का सविध एवं सांगोपांग निरूपण सर्वप्रथम भरत के नाटचशास्त्र में उपलब्ध होता है। नाटचशास्त्र की रचना नाटच के रंगमंच पर प्रयोग को ध्यान में रखकर की गई है। भरत ने काव्य और नाटच शब्दों का प्रयोग अपर पर्य्याय के रूप में किया है।[4] अभिनवगुप्त ने भी अभिनवभारती के 'तस्मान्नाटचरसाः स्मृताः' वाक्यांश की टीका करते हुए कहा है कि रस समुदाय ही नाटच है।[5] नाटचशास्त्र के षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में रस एवं भावों

---

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय।

२. शारदातनय, भावप्रकाशन, प्रथम अध्याय।

३. डा० पी० वी० काणे, हि० आफ० सं० पो०, पृ० ३४०।

४. नाटचशास्त्र १६।१६९ तथा १७।५।

५. नाटचात् समुदायरूपाद्रसाः यदि वा नाटचमेवरसः। रससमुदायो हि नाटचम्....काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव....काव्यं च नाटचमेव ॥
—नाटचशास्त्र (प्रथम भाग) अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० २९०-९१ (बड़ौदा)।

की विस्तारपूर्वक मीमांसा हुई है। वहीं पर भरत ने आठ रसों की गणना कराते हुए उन्हें द्रुहिण प्रोक्त बताया है।[1] देवी भागवत के अनुसार द्रुहिण ब्रह्मा का ही दूसरा नाम है।[2] द्रुहिण पद से भरत का निर्देश भी ब्रह्मा की ओर ही प्रतीत होता है। ब्रह्मा ने ही देवताओं के आग्रह पर चारों वेदों से नाटच के चार मुख्य तत्त्व पाठच, संगीत, अभिनय एवं रस का क्रमशः ग्रहणकर नाटचवेद की रचना की।[3] इस प्रकार ऋग्वेद से पाठच, साम से गान, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्ववेद से रस का उपादान हुआ है। पाठच, गान एवं अभिनय के ऋग्, साम् एवं यजुः से ग्रहण की उपपत्ति तो बन जाती है। किन्तु अथर्ववेद से रस के उपादान का रहस्य आपाततः समझ में नहीं आता। अभिनवगुप्त ने उसका विवेचन करते हुए कहा है कि--अथर्ववेद में शान्ति, मारण आदि कर्मों का विधान हुआ है जिनमें ऋत्विक् नट के समान ही नानाप्रकार के तान्त्रिक अनुभवों का अभिनयात्मक अनुष्ठान करता है। तथा वहाँ पर धृति, प्रमोद आदि व्यभिचारिभावों का जो परमार्थतः सत् नहीं होते, ग्रहण एवं आचरण किया जाता है। इसके अतिरिक्त काव्य-रस की आनन्द में ही विश्रान्ति होने की तरह अथर्ववेद में भी मारण, मोहन, उच्चाटन आदि तत्तद् सभी प्रकार के अनुष्ठानों का पर्यवसान शान्ति में ही होता है। इसीलिये अथर्ववेद से रस का उपादान युक्तियुक्त ही हुआ है।[4] और इस प्रकार नाटचशास्त्र एवं अभिनवगुप्त दोनों के अनुसार काव्य में रस की धारणा का स्रोत वैदिक साहित्य ही ठहरता है। इसे दिव्य इसलिये कहा गया है कि दिव्य-प्रोक्ता ब्रह्मा के द्वारा ही अथर्ववेद से ग्रहण कर काव्य में रस का आधान हुआ।

(घ) लौकिक व्यंजन-रस से काव्य-रस की धारणा की प्रेरणा

नाटचशास्त्र में रस के लक्षण की व्याख्या एवं उसके स्वरूप का निर्वचन करते हुए मुनि भरत ने नानाप्रकार के व्यंजन एवं औषधिद्रव्यों के संयोग से जायमान रसास्वाद का उदाहरण पुनः पुनः दिया है।[5] जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन रस के स्वरूप-निरूपण के अवसर पर किया

---

१. एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना। --नाटचशास्त्र ६।१६।

२. द्रुहिणे सृष्टिशक्तिश्च हरौ पालनशक्तिता॥ --देवीभागवत १।८।३८।

३. जग्राहपाठचमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ --नाटचशास्त्र १।१७।

४. आथर्वणे तु शान्तिमारणादिकर्मसु नटस्येव तस्यर्त्विजः प्राण्डुदवैषुणाद्यनुभावानां प्रजाशत्रु-प्रभृतिना अवधानग्रहणादिना लोहितोष्णीषादेर्नेपथ्यस्य तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रयत्न पुरुषसम्पाद्यमनोवष्टम्भात्मनः सत्त्वस्य सम्भवात् ततोऽभिनयानामग्रहणम्। वाचिकस्त्वभि-नयः पूर्वमेवोक्तः। प्राधान्यात् विभावानां धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणां च परमार्थसत्तां समा-हरणं प्रधानमिति विभावादिसामग्रीरूपरसात्मकचर्वणासम्भव इति ततस्तदग्रहणमुक्तम्।
--अभिनवभारती, प्रथम अध्याय, पृ० १५-१६।

५. यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसम्बन्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मात् नादचरसाः स्मृताः॥ --ना० शा० ६।३२-३३।

जायेगा। आठों रसों के समूचे विवेचन में रस को ब्रह्मानन्द के तुल्य या उसका सहोदर एक बार भी नहीं कहा है, जो आश्चर्य की बात है। अतः सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि काव्य में रस की धारणा का उद्भव भूयोभूयो अनुभूयमान व्यंजनादि तत्तद् विषयों का आस्वाद ही है। और इस प्रकार विषयानन्द ही काव्य में आनन्दात्मक रस की धारणा का मूलस्रोत प्रतीत होता है, उपनिषदों का प्रतिपाद्य ब्रह्मानन्द नहीं। इस विवेचन के आधार पर काव्य में रस के उद्गम की भूमि लोक ही ठहरता है, अध्यात्म नहीं।

उत्तरकालीन आचार्यों ने जो रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर या परब्रह्मास्वाद-सविध आदि विशेषणों से विभूषित कर, उसकी आनन्दपरक व्याख्या की है वह मौलिक नहीं, अपितु काव्य के क्षेत्र में दार्शनिकों के प्रवेश का परिणाम मात्र है। इसीलिए इन विवेचनों में एकरूपता भी नहीं है। क्योंकि दर्शन की विविध मान्यताओं के आचार्यों ने जब काव्य के क्षेत्र में पदार्पण किया तो उन्होंने अपनी किसी मान्यताविशेष के अनुसार ही काव्य के आधायक तत्त्वों की व्याख्या की। जिसका सम्बन्ध दर्शन की किसी-न-किसी धारा से अवश्य है। नाटचशास्त्र के मूल रसविवेचन में उसका सर्वथा अभाव होने से रस की दार्शनिक व्याख्या मौलिक नहीं मानी जा सकती। इस अभिप्राय से यहाँ रस की मौलिक उत्पत्ति का निरूपण किया गया है।

(ङ) निष्कर्ष

उपर्युक्त कथन के विपरीत भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ कविराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति अलङ्कारशास्त्र के उत्तरकालीन प्रायः सभी आचार्यों ने रस का निरूपण आध्यात्मिक स्तर पर ही किया है, जो काव्यरस को औपनिषद अध्यात्मविषयक रस से सम्बन्धित कर देता है। इनका विवेचन सर्वथा कपोलकल्पित है या गड्डलिकाप्रवाहमात्र है, यह कथन युक्तिसंगत न होगा अपितु इन सबके विवेचन का मूलस्रोत क्या है? उस सूत्रके अनुसन्धान की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में नाटचशास्त्र के रसभावाध्यायों का पुनः-पुनः अनुशीलन करने पर रस के आध्यात्मिक विवेचन का सूत्र भी हमें वहीं उपलब्ध हो जाता है। नाटच-शास्त्र के षष्ठ अध्याय की अन्तिम कारिकाओं में शान्तरस का जो निरूपण हुआ है, उसमें भावों की उत्पत्ति एवं उनके विलय का विवेचन करते हुए कहा है कि रत्यादि जितने भी भाव हैं, वह सब विकार हैं, तथा शान्त ही उनकी प्रकृति है। जिस प्रकार प्रकृति से निमित्तभेद से नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं और निमित्त के नष्ट हो जाने पर उन विकारों का प्रकृति में ही विलय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार शान्त से ही निमित्त भेद से रत्यादि तत्तद् भावों की प्रवृत्ति होती है तथा विभावादि निमित्त का विनाश होने पर, वे पुनः शान्त में ही विलीन हो जाते हैं।[1] नाटचशास्त्र में शान्तरस का वर्णन करते हुए मोक्ष एवं अध्यात्म की भावना को उसका मूलस्रोत, तत्त्वज्ञान को उसका कारण एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति को उसका फल कहा है।[2] उसके अनुभव

१. भावा विकारा रत्याद्या : शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तामेव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुर्ननिमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥ —ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३३४-४३५।

२. मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति॥ —ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३३५।

के क्षण में ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का संरोध हो जाता है । अर्थात् वह अपने व्यापार से विरत हो जाती हैं तथा व्यक्ति की अध्यात्म में संस्थिति हो जाती है। उस समय उसमें सभी प्राणियों के सुख एवं हित की भावना ही प्रधान रूप से होती है।[1] यही नहीं शान्तरस उसे कहा गया है जहाँ न दुःख हो, न सुख, न द्वेष, न मत्सर प्रत्युत उसकी अनुभूति के क्षणों में व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति सम हो जाता है।[2] सप्तम अध्याय में भावों को रसों का भावक कहा है। यहाँ उन्हें शान्त का विकार माना है। इस प्रकार शान्तरस से विकृत भावों के ही रसों के भावक होने से परम्परया शान्त ही शृंगारादि रसों का मूल सिद्ध होता है। अभिनवगुप्त ने 'श्रीमत्-सिद्धान्त-शास्त्र' के नाम से एक श्लोक उद्धृत किया है। जिसमें कहा गया है कि——आठ देवों के समान ही शृङ्गारादि आठ रस होते हैं तथा देवाधिदेव परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम के समान शान्तरस को समझना चाहिए।[3] इसके अतिरिक्त अथर्ववेद से, जहाँ मारण, मोहन, उच्चाटन आदि सभी प्रकारों के अनुष्ठानों को मूलतः एवं अन्तशः शान्तिपरक माना गया है, रस का ग्रहण इस बात का संकेत करता है कि काव्य में रस की धारणा का उद्गम शान्त ही है।

भरत के अनुसार काव्यरस का उद्गम वैदिक है। नाटचशास्त्र का शान्तविषयक निरूपण हमें रस के उद्गम के विषय में औपनिषद आध्यात्मिक रस की ओर संकेत करता है। जिसकी संगति उत्तरकालीन आलङ्कारिकों के रसविषयक विवेचन से भी बैठ जाती है। चूँकि उपनिषद् भी वैदिक साहित्य के उसी प्रकार अंग हैं जिस प्रकार अथर्ववेद, इसलिए मोटे तौर पर वैदिक साहित्य को ही हम काव्यगत रसविषयक धारणा का मूलस्रोत कहेंगे।

---

१. बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-संरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥ ——ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३३४।

२. न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥ ——ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३३४।

३. अष्टानामिव देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च देव-देवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥
——अभिनवभारती——नाटचशास्त्र, अध्याय ६, पृ० ३४०।

तृतीय-विमर्श

रस तथा भाव

(क) रस का स्वरूप एवं लक्षण

प्रायः सभी आलंकारिकों ने रस के स्वरूप एवं लक्षण का गहन विवेचन किया है। किन्तु भरतनाटचशास्त्र के षष्ठ अध्याय में जो रस का विवेचन हुआ है वही सबका मूल है। अध्याय के प्रारम्भ में ही रस के विषय में पाँच प्रश्न उठाये गये हैं। नाटच में जो रसों का वर्णन हुआ है उनमें रसत्व किस प्रकार है अर्थात् वह रस क्यों कहे जाते है ? यह पहला प्रश्न है। वेदों से जब रसों का ग्रहण हुआ तो वहाँ भावों का नाम भी नहीं सुना गया। फिर यहाँ रस-प्रकरण में उनका वर्णन क्यों किया गया ? यह दूसरा प्रश्न है। तीसरा प्रश्न यह है कि यदि वर्णन किया गया तो वे भाव किसकी उत्पत्ति कराते हैं ? या किसे भावित करते हैं ? चौथे और पाँचवे प्रश्न रस सम्बन्धी कारिकाओं के संग्रह एवं उनकी निरुक्ति के विषय में हुए हैं।[१] भरत मुनि ने रस के इस महत्व को बताते हुए कहा है कि नाटच का कोई भी तत्व रस के बिना प्रवृत्त नहीं होता, अतः सबसे पहले रस की ही व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। रस का सामान्य लक्षण करते हुए मुनि भरत ने कहा है कि—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है।[२] इसका दृष्टान्त देते हुए नाटचशास्त्र में बताया गया है कि—जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जन एवं औषधि द्रव्यों के संयोग से रस रसायन का निष्पादन होता है उसी प्रकार नानाप्रकार के भावों के विलक्षण संयोग से काव्य में रस की निष्पत्ति होती है। तथा जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यञ्जनों एवं औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार नानाप्रकार के भावों से उद्रिक्त स्थायिभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।[३]

रस क्या वस्तु है ? इसका उत्तर देते हुए नाटचशास्त्र में कहा है कि—आस्वाद्यत्व ही रस है। अथवा उसे रस इसलिये कहते हैं कि वह आस्वाद्य है। रस की आस्वाद्यता के स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार नानाप्रकार के व्यञ्जन से सुसंस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए व्यक्ति रस का आस्वादन करते हैं और प्रसन्न होते हैं। उसी प्रकार नाना

---

१. ये रसाः इति पठचन्ते नाटचे नाटचविचक्षणैः। रसत्वं केन वै तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥
भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि। संग्रहं कारिकाँ चैव निरुक्तं चैव तत्त्वतः ॥
—नाटचशास्त्र अध्याय ६।२,३।

२. तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ॥—ना० शा० अ० ६, पृ० २७२।

३. को दृष्टान्तः ? अत्राह यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद् रसनिष्पत्तिः। यथाहि—गुडादिभिः द्रव्यैः व्यञ्जनैः औषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसतामाप्नुवन्ति इति।
—वही, पृ० २८०।

प्रकार के भावों एवं वाचिक, आङ्गिक तथा सात्विक अभिनय से व्यञ्जित तत्तद् स्थायिभावों का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्षादि से पुलकित होते हैं। लोक में जिन भावों से नाना प्रकार के सुखदुःखात्मक अनुभव होते हैं, नाटच में उन्हीं से एकमात्र आनन्द की प्राप्ति होती है। इसीलिये काव्य में ही उन्हें रस कहा है।[1]

इस कुल का निष्कर्ष यह निकला कि सामाजिक के मन में स्थायी रूप से अवस्थित रत्यादि स्थायीभाव ही जब विभावादि भावों से संयुक्त होकर मन के द्वारा सहृदयों के आस्वाद का विषय होते हैं तो शृङ्गारादि रस कहे जाते हैं।[2] 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आस्वाद्यमानता को लेकर ही इनके लिये रस पद का व्यपदेश हुआ है। महिम भट्ट ने 'यथोक्तम्' से किसी पूर्वाचार्य की रसविषयक कारिका का उद्धरण व्यक्ति-विवेक में दिया है कि—विभावादि भावों के संयोग से व्यंग्य एवं विलक्षण ज्ञान का विषय, आस्वादनात्मक अनुभव ही काव्य-प्रतिपादित रस पदार्थ है।[3] इस बात को काव्यप्रकाशकार ने बड़े ही उत्तम ढंग से व्यवस्थित कर कहा है कि लोक में हम जिन्हें कारण, कार्य एवं सहकारी कारण कहते हैं वही यदि काव्य में वर्णित हों तो उनकी क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि-भाव संज्ञा होती है। उन्हीं विभावानुभाव व्यभिचारिभाव से व्यक्त रत्यादि स्थायी भाव रस कहलाते हैं।[4] साहित्यदर्पणकार ने भी रस का लक्षण करते हुए कहा है कि—विभाव, अनुभाव तथा संचारिभाव के द्वारा व्यक्त स्थायीभाव ही सहृदयों के आस्वाद का विषय होता हुआ रस पदवी को प्राप्त कर लेता है।[5] प्रभाकर भट्ट ने रसप्रदीप में रस के लक्षण एवं स्वरूप के विषय में नानाप्रकार के मतमतान्तरों का उल्लेख करते हुए अपना लक्षण किया है कि—काव्य के

---

१. अत्राह—रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः ? यथा हि नाना व्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः, हर्षादींश्च अधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः, हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तस्मान्नाटचरसा इत्यभिरव्याताः।
—नाटचशास्त्र, अध्याय ६, पृ० २८८-२८९।

२. नानाभिनयसम्बन्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाटचरसाः स्मृताः॥ —ना० शा० ६।३३।

३. भावसंयोजनाव्यङ्गचपरिसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ६७।

४. कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटचकाव्ययोः॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥२८॥ —का० प्र०, चतुर्थ उल्लास।

५. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥ —सा० द० ३।१।

माहात्म्य से लौकिक कारणत्वादि के परित्यागपूर्वक अलौकिक विभावादि के प्राप्त होने पर उनसे ही रत्यादि स्थायीभाव व्यक्त होते हैं वही रस है।[1]

(ख) भाव का स्वरूप, लक्षण एवं उसके भेद

नाटचशास्त्र के सप्तम अध्याय में भाव एवं उनके भेदप्रभेद का विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है। आरम्भ में ही प्रश्न उठाया है कि इनकी भाव संज्ञा क्यों है ? क्योंकि 'भवन्ति इति भावाः' (स्वयंहोना) या 'भावयन्ति इति भावाः' (दूसरों को बनाना) उभय प्रकार से भावपद व्युत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर दिया है कि––वाचिक, आङ्गिक एवं सात्विक अभिनयों से युक्त होकर यह काव्यार्थ (रस) की भावना कराते हैं, अतः 'भावयन्ति इति भावाः' इसी व्युत्पत्ति से इनकी भाव संज्ञा होती है।[2] सत्तार्थक 'भू' धातु से करण में घञ् प्रत्यय होकर भाव शब्द व्युत्पन्न होता है। भावित, वासित, कृत इसके पर्य्याय हैं। लोक में भी कहा जाता है कि इस गन्ध या रस से सब कुछ प्रभावित हो गया। विभाव से जिस काव्यार्थ का आहरण होने पर वाचिक, आङ्गिक एवं सात्विक अभिनयरूप अनुभावों से जो गम्य है उसी की भावसंज्ञा हुई है।[3] वाक्, अङ्ग एवं मुखराग तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव की भावना कराने से ये भाव कहे गये हैं।[4] चूंकि ये नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध तत्तद् रसों की भावना कराते हैं अतः नाटच-प्रयोक्ताओं ने इन्हें भाव की संज्ञा दी है।[5]

भावों के पाँच प्रकार होते हैं––विभाव, अनुभाव, संचारी या व्यभिचारी, सात्विक एवं स्थायी। यही भाव जब काव्यार्थों की विभावना के हेतु होते हैं तो इन्हें विभाव कहा जाता है और जब यही साङ्गोपाङ्ग रूप से काव्यार्थ का अनुभव कराते हैं तो अनुभाव कहे जाते हैं।[6] वि, अभि उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक चर् धातु से णिनिप्रत्यय होकर व्यभिचारी शब्द व्युत्पन्न होता

---

१. विभावत्वानुभावत्वसंचारित्वाद्युपागतैः ।
उपनायकमाहात्म्यात्कारणत्वादिवर्जितैः ॥
रत्यादिर्व्यज्यते स्थायी रसः सोऽस्मन्मते मतः ॥ ––रस-प्रदीपिका, पृ० ३७-८।

२. भावानिदानीं व्याख्यास्यामः । अत्राह-भावा इति कस्मात् ? किं भवन्तीति भावाः किं वा भावयन्तीति भावाः । उच्यते-वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति। ––ना० शा०, सप्तम अध्याय।

३. विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥१॥ ––नाटचशास्त्र, सप्तम अध्याय।

४. वागङ्गमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतंभावं भावयन्भाव उच्यते ॥२॥ ––वही।

५. नानाभिनयसंबद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः ॥३॥ ––वही।

६. बहवोऽर्थाः विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥४॥
वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥५॥ ––वही।

है। जो भाव वाचिक, आङ्गिक एवं सात्विक अभिनयों से युक्त होकर रस को विविध प्रकार से आस्वादोन्मुख करते हैं उनका नाम संचारी या व्यभिचारी है। जिस प्रकार सूर्य, दिवस एवं नक्षत्रों का आनयन कन्धे पर नहीं करता अपितु उनका बोध करा देता हैं फिर भी लोक में यही कहा जाता है कि सूर्य ही उन्हें ले आता है। उसी प्रकार तैंतीस व्यभिचारिभाव भी हैं जो स्थायी भावों को आस्वादोन्मुख करते हैं।[१]

सत्व मन का धर्म है। समाहित मन में ही उसकी उपस्थिति रहती है। मन की समाधि अवस्था में ही सत्व की निष्पत्ति होती है। काव्य में सुखदुःखकृत भावों का यथास्वरूप वर्णन या अभिनय होना चाहिए। यह सत्व-विशुद्धि के बिना सम्भव नहीं। जिसे दुःख का अनुभव नहीं है वह विशुद्ध रूप से दुःख का अभिनय नहीं कर सकता। चूंकि अश्रु रोमाञ्च वैवर्ण्य इत्यादि भावों के दुःखसुखात्मक होने से इनका साक्षात् सम्बन्ध सत्व अर्थात् मन से है, अतः इन्हें सात्विक भाव कहा गया है।[२] इनकी संख्या आठ है।

उपर्युक्त भावों में जो सहृदय-संवेद्य होते हैं वही रसपदवी को प्राप्त होते हैं। जैसे अग्नि शुष्क काष्ठ में क्षणभर में व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार ये भाव शरीर में झटिति व्याप्त हो जाते हैं।[३] भाव उनचास होते हैं। उनमें से जो रस की अवस्था तक पहुँचता है वह परम या स्थायीभाव कहलाता है। कहा भी है कि–वे भाव जो रसत्व प्राप्त होने के लिये प्रसिद्ध हैं स्थायिभाव है।[४] स्थायी, सात्विक एवं व्यभिचारी भावों में स्थायित्व का व्यपदेश साभिप्राय हुआ है। जब रत्यादि भाव विभावादि से पूर्णरूप से परिपुष्ट होकर रसत्व को प्राप्त होने की अवस्था में होते हैं तो स्थायीभाव कहे जाते हैं। अन्यथा प्रतीतिमात्र होने से वह व्यभिचारी-

---

१. व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह व्यभिचारिण इति कस्मात्? उच्यते—वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर् इति गत्यर्थो धातुः विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्ग-सत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। अत्राह—कथं नयन्तीति। उच्यते-लोक-सिद्धान्त एषः यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत् यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिणः इत्यव-गन्तव्याः। —ना० शा० सप्तम अध्याय, पृ० ३५५-५६ (बड़ौदा)।

२. इह हि सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वाद् उच्यते। मनसः समाधौ सत्वनिष्पत्ति-र्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्यो अन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाटचस्य सत्त्वमीप्सितम्। को दृष्टान्तः? इह हि नाटचधर्मिप्रवृत्ताः सुखदुःखकृताः भावाः तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्याः यथासरूपाः भवन्ति। तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकं तत्कथं दुःखितेन सुखं च प्रहर्षात्मकसुखितेन वाभिनयेयम्। एत-देवास्य सत्त्वं यद् दुःखितेन सुखितेन वा अश्रुरोमाञ्चौ दर्शितव्यौ इति कृत्वा सात्विका भावा इत्यभिव्याख्याताः॥ —ना० शा० सप्तम अध्याय, पृ० ३७४-३७५ (बड़ौदा)।

३. योऽर्थो हृदयसम्वादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥ —ना० शा० ७।७।

४. (१) रसावस्थः परं भावःस्थायितां प्रतिपद्यते। —प्रकीर्ण।
(२) रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते। —प्रकीर्ण।

भाव की ही कोटि में रहते हैं।[1] इसीलिये नाटचशास्त्र में कहा है कि—जिस प्रकार मनुष्यों में नृपति एवं शिष्यों के बीच गुरु महान् एवं प्रधान होता है उसी प्रकार उनचास भावों में स्थायी ही प्रधान एवं महान् होते हैं।[2]

भाव उनचास होते हैं। उनमें आठ स्थायी, तैंतीस व्यभिचारी तथा आठ ही सात्विक भाव होते हैं। इन उनचास भावों को काव्य में रसाभिव्यक्ति का हेतु कहा गया है। इन्हीं से सामान्य गुण योग से रसनिष्पन्न होते हैं।[3] यहाँ भावों का निरूपण इसलिये किया गया है कि रस की निष्पत्ति में इनका योग ही सर्वस्व है। रस से भावों का क्या सम्बन्ध है? इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

(ग) रस एवं भावों का सम्बन्ध

रस और भावों का परस्पर क्या सम्बन्ध है? क्या रस से भावों की स्थिति होती है? अथवा भावों से रस की? यह सब प्रश्न ऐसे हैं जिनका विचार इसलिये अत्यन्त आवश्यक है कि उसके बिना रस का यथार्थ स्वरूप बुद्धिगम्य नहीं होता। इस सम्बन्ध में किन्हीं प्राचीन आचार्यों का मत था कि परस्पर सापेक्षरूप से ही रस एवं भावों की अभिनिर्वृत्ति (स्थिति) होती है, अतः काव्य में दोनों की सत्ता अन्योन्याश्रयसम्बन्ध से होती है। भरत मुनि ने नाटचशास्त्र में इसका खण्डन किया है और बताया है कि भावों से ही रस बनते हैं रस से भाव कदापि नहीं बनते।[4] कहा भी है कि चूँकि ये भाव ही नाना प्रकार के अभिनय से सम्बद्ध होकर रसों की भावना कराते हैं, अतः नाटच-प्रयोक्ताओं को इनका ज्ञान परमोपादेय है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के द्रव्यों से विविध प्रकार के व्यञ्जन तैयार होते हैं उसी प्रकार विविध प्रकार के भावों से ही रसों की निष्पत्ति होती है। अनन्तर इनका सम्बन्ध परस्पर सापेक्ष हो जाता है। अथवा जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है अनन्तर उसमें पुष्प और फल आते हैं उसी प्रकार सबके मूल में रस हैं और इन्हीं रसों को दृष्टि में रखकर उनके अनुकूल ही भावों की व्यवस्था हुई है।[5]

---

१. रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैः सम्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः॥
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ —प्रकीर्ण।

२. यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥ —ना० शा० ७/८।

३. तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः। त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः। अष्टौ सात्त्विका इतिप्रभेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते। —ना० शा० सप्तम अध्याय, पृ० ३४८। (बड़ौदा)

४. किं रसेभ्यो भावानाम् अभिनिर्वृत्तिः उताहो भावेभ्यो रसानामिति। केषांचिन्मते परस्पर-सम्बन्धादेषाम् अभिनिर्वृत्तिरिति। तन्न। कस्मात्? दृश्यते हि भावेभ्यो रसानमभिनिर्वृत्ति र्नतु रसेभ्यो भावानामिति। —ना० शा०, षष्ठ अध्याय, पृ० २९२। (बड़ौदा)

५. नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः॥३४॥
यथा बीजाद्भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥३८॥ —नाटचशास्त्र, षष्ठ अ०

रस एवं भावों के स्वरूप तथा लक्षण का यह विवेचन पृष्ठपूर्ति मात्र के लिये नहीं हुआ है। अपितु इसका विशेष प्रयोजन है और वह यह है कि महिमभट्ट काव्य के अन्य तत्व वस्तु-अलङ्कारादि की तरह ही रस को भी अनुमेय मानते हैं। इसके लिये रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का अनुमान में अन्तर्भाव अत्यन्त आवश्यक है। रस-निष्पत्ति में अनुमान की प्रक्रिया भाव और रस के परस्पर के सम्बन्ध को लेकर ही बन सकती है, अन्यथा नहीं। अतः रस को अनुमेय सिद्ध करने से पूर्व रस एवं भाव में साध्यसाधनभाव-गर्भित अनुमान की प्रक्रिया प्रदर्शित करने के पहले रस तथा भावों के वस्तुस्वरूप का निरूपण यहाँ किया गया है और भावों को रसनिष्पत्ति का साधक अर्थात् हेतु माना गया है।

चतुर्थ-विमर्श

रस-विषयक विविधवाद

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि काव्य में रसविषयक विवेचन नाट्यशास्त्र की देन है। रस के स्वरूप का निर्वचन करते हुए भरत मुनि ने पहली बात जो कही वह यह है कि विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत-प्रोक्त रससूत्र देखने में जितना सरल है उसका अर्थ उतना ही जटिल है। इसमें 'संयोगात्' और 'निष्पत्ति' दो पद ऐसे प्रयुक्त हुए हैं जिनके अर्थ का स्पष्टीकरण नाट्यशास्त्र में नहीं हुआ है। इन्हीं दोनों पदों को लेकर भरत-सूत्र की विविध व्याख्यायें की गई है। संयोग पद सम्बन्ध-सामान्य का वाचक है। किन्तु विभावादि के सम्बन्ध तो अनेक प्रकार से सम्भव हैं। किस सम्बन्ध-विशेष से रस की निष्पत्ति होती है? यह विषय विवादास्पद होगया है। दूसरा जटिल पद 'निष्पत्ति' है। इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है पूर्ण होना। विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, इस वाक्य में प्रयुक्त निष्पत्ति पद के अनेक अर्थ हो सकते हैं—उत्पत्ति, व्यक्ति, ज्ञप्ति, प्रतीति, भुक्ति, अभिव्यक्ति इत्यादि। निष्पत्ति के अर्थ का निश्चय भी संयोगात् के अर्थ से सम्बद्ध है स्वतंत्र नहीं। यदि संयोगात् का अर्थ कार्यकारण सम्बन्ध है तो निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति ही हो सकता है, अन्य नहीं। वैसे तो नाट्यशास्त्र के दशाधिक टीकाकार हुए हैं और सबने अपने अपने ढंग से इस वाक्य का अर्थ किया है, पर उनमें चार मुख्य हैं जिनका उल्लेख अभिनव-भारती एवं काव्य-प्रकाश में हुआ है। उन्होंने रससूत्र की व्याख्या में स्वतन्त्र रूप से वाद विशेष का प्रतिपादन किया है जो निम्नलिखित हैं—

१. भट्ट लोल्लट का कृति या उत्पत्तिवाद।
२. श्रीशंकुक का ज्ञप्ति या अनुमितिवाद।
३. भट्टनायक का भुक्तिवाद।
४. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद।

यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में रस-निष्पत्ति की एकादश प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया है किन्तु प्रकृत स्थल में अनुपयुक्त होने से उनका विवेचन यहाँ नहीं किया जायगा। उक्त चार के अतिरिक्त धनंजय के भावनावाद का भी संक्षेप में निरूपण करेंगे।

१. भट्ट लोल्लट का कृतिवाद

अभिनवभारती के अनुसार भट्टलोल्लट नाट्यशास्त्र के प्राचीनतम व्याख्याकार हैं जिनका उद्धरणमात्र हमें उपलब्ध है। सम्भवतः वह प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य प्रभाकर के अनुयायी थे। अलंकारशास्त्र में दीर्घ-दीर्घतर इषु-व्यापार के समान शब्द के एकमात्र अभिधाव्यापार

की मान्यता का श्रेय इन्हें ही दिया जाता है। अनेक प्रमाणों से इनका समय प्रभाकर के बाद एवं शंकुक से पूर्व (८०० से ८५० ईस्वी) का मध्य माना गया है।[1]

रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्टलोल्लट कहते हैं कि पहले विभावादि का स्थायी भाव से संयोग होता है अनन्तर रस की निष्पत्ति। अतः विभाव चित्त की स्थायी वृत्ति रत्यादि की उत्पत्ति के कारण हैं। अनुभाव रस के जनक नहीं होते अतः उनकी गणना कारण के रूप में नहीं हो सकती। अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव भी यद्यपि चित्तवृत्यात्मक ही होते हैं, पर स्थायी नहीं होते। अतः स्थायिभावों के साथ भी इनकी गणना नहीं हो सकती। फिर भी भरत के रस-सूत्र में उनका उल्लेख इसलिए हुआ है कि वह रस प्रकरण में वासनात्मक रूप से विवक्षित होते हैं। जिस प्रकार व्यञ्जन आदि के प्रति, स्थायी वृत्ति बुभुक्षा के साथ-साथ तद्वत् सुगन्धि ग्रहण, जिह्वास्वाद आदि छोटी-मोटी अनेक वासनाएँ होती रहती हैं वैसे ही स्थायी भावों के साथ अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव भी सम्बद्ध होते हैं। अतएव स्थायी ही विभावानुभाव से उपचित होकर रस कहलाता है। अनुपचित अवस्था में वह स्थायिभाव ही रहता है। यह स्थायी मुख्यवृत्ति से तो रामादि अनुकार्य में ही होते हैं, किन्तु काव्यानुसन्धान एवं अभिनय आदि के प्रभाव से वह अनुकर्ता नट में भी प्रतीत होते हैं।[2] दण्डी प्रभृति चिरन्तन आचार्यों ने भी यही कहा है कि विविध रूप एवं अभिनय का योग पाकर रतिभाव ही शृंङ्गार हो जाता है तथा पराकोटि का अधिरोहण कर कोप ही रौद्र रूप धारण कर लेता है।[3]

भट्टलोल्लट की रस-सूत्र की इस व्याख्या का निष्कर्ष यह है कि विभाव रस के निमित्त कारण हैं, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव सहकारी कारण तथा स्थायिभाव उपादान कारण हैं। इन सबके जुट जाने पर रसरूपी कार्य निष्पन्न हो जाता है। रस की उत्पत्ति का साक्षात् आश्रय

---

१. पी० पी० काणे--हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयेटिक्स (तृतीय संस्करण)।

२. अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः--विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः। तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपितु भावानामेव। (ते) येऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। दृष्टान्तेऽपिव्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्। अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः स्थायी भवत्यनुपचितः। स चोभयोरपि। (मुख्यया वृत्या रामादौ) अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्--इति। --अभिनवभारती, नाटयशास्त्र, अध्याय ६, प० २७२ (बड़ौदा)।

३. प्राक्प्रीतिर्दर्शिता, सेयं रतिः शृङ्गारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन, तदिदं रसवद्वचः ॥२८१॥
निगृह्य केशेष्वाकृष्य कृष्णा येनाग्रतो मम।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्धः किं जीवति क्षणम् ॥२८२॥
इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः।
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ॥२८३॥ --दण्डी, काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद।

तो अनुकार्य रामादि हैं पर अभिनयादि से नट भी उसकी प्रतीति का आश्रय हो जाता है। किन्तु रस की अनुभूति का आश्रय तो सामाजिक ही होता है। इनके अनुसार रससूत्र का अर्थ यह होता है कि स्थायिभाव के साथ विभावादि के कार्य कारणभाव सम्बन्ध से रस की उत्पत्ति अर्थात् कृति होती है। जिस प्रकार सर्प के अभाव में भी सर्परूप में अवलोकित रस्सी से भय उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार सीताविषयक रामरति नट में न रहते हुए भी काव्य-नैपुण्य से उसमें स्थित सी प्रतीत होती हुई सहृदयों के हृदय में जिस चमत्कार का आधान करती है, वही रस है।

उत्तरकालीन प्रायः सभी व्याख्याकारों ने भट्टलोल्लट की रससूत्र की इस व्याख्या का खण्डन किया है तथा उसमें अनेक अनुपपत्तियाँ दिखाई हैं। सबसे पहले शंकुक ने ही इनका खण्डन किया है। अनन्तर अभिनवगुप्त ने इनके मत का सांगोपांग विशद विवेचन कर इनकी प्रत्येक मान्यता को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। इनमें पहला दोष यह बताया गया है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी एवं स्थायीभावों का रस के साथ सहकारी एवं उपादानादि कारणभाव यथोक्त लक्षण के अनुसार बन नहीं सकता। अतएव रस को कार्य कहना सर्वथा असंगत है। अभिनवगुप्त ने रस के कार्य होने का खण्डन अभिनवभारती में ही किया है। उनका कहना है कि रस कार्य कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि उसे कार्य मानने पर अव्यवहित पूर्व में नियत रहने से विभावादि को ही उसका कारण मानना पड़ेगा। लेकिन उनमें से कोई उपादान कारण इसलिए नहीं हो सकता कि वह तो कोई द्रव्य ही होता है। स्थायिभाव कोई द्रव्य नहीं। ये विभावादि असमवायि कारण भी नहीं हो सकते। क्योंकि वह तो कोई गुण ही होता है। विभावादि निस्संदिग्ध रूप से न द्रव्य हैं न गुण। फिर वह समवायि और असमवायि कारण कैसे हो सकते हैं? निमित्त कारण अवश्य हो सकते हैं। किन्तु विभावादि को निमित्त कारण मानने पर निमित्त कारण के विनाश होने पर भी एक बार उत्पन्न रस रूपी कार्य का विनाश उस कारण के विनाश से नहीं होसकता। घट का निर्माण हो जाने पर दण्ड, चक्र, चीवर तथा कुलाल के विनाश का उत्पन्न घट-कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार एक बार विभावादि से रस की उत्पत्ति हो जाने पर विभावादि के अभाव में भी रस की सत्ता बनी रहनी चाहिए। किन्तु रसनिष्पत्ति में ऐसा नहीं होता। रस को विभावादि जीवितावधि कहा गया है।[1] अतः विभावादि को रस का निमित्त कारण भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। फलतः रस कार्य और विभावादि उसके कारण कदापि नहीं माने जा सकते।

भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में दूसरा दोष यह कहा गया है कि रसोद्रेक के साक्षात् आश्रय रामादि अनुकार्य ही होते हैं। अधिक से अधिक शिक्षाभ्यासादि वश वह नट तक में प्रतीत हो सकता है। यदि रसोत्पत्ति के आश्रय अनुकार्य एवं अनुकर्ता ही हैं तो सामाजिक—प्रेक्षक, श्रोता, पाठक को रसास्वाद कैसे होता है? इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि लोल्लट के अभिप्राय को ठीक-ठीक न समझ कर ही, यह दोष दिया जाता है। अन्यथा रसनिष्पत्ति के स्रोत

---

१. (क) अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य! तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गात्।
—अभिनवभारती—नाटचशास्त्र, षष्ठ अ०, पृ० २८५।

(ख) स च न कार्यः। विभावादिविनाशेऽपि तस्य संभव-प्रसङ्गात्।
—मम्मट, काव्यप्रकाश—चतुर्थोल्लास, पृ० ९३ (पूना)।

तो वास्तव में कथानक के पात्र एवं नट ही होते हैं। नट के अभिनय कार्य से ही अनुकार्य का सामाजिक के साथ साधारणीकरण होता है। यदि सामाजिक को ही निरपेक्ष रूप से रसनिष्पत्ति का आश्रय मानेंगे तो उसे रस की सर्वदा ही अनुभूति होती रहनी चाहिए। साधारणीकरण का अर्थ सामाजिक का अनुकार्य के विभावादि के साथ एकीभाव है।

भट्टलोल्लट के ऊपर तीसरा जो आक्षेप किया जाता है वह यह है कि लोल्लट रस-निष्पत्ति का अर्थ स्थायिभावों की उत्पत्ति मानते हैं। विभावादि कारण से स्थायिभाव की उत्पत्ति अर्थात् नूतन कृति होती है। जब रत्यादि स्थायिभाव होते ही नहीं तो उत्पन्न कहाँ से हो जाते हैं ? इसी अभिप्राय से उनकी आलोचना की गई है। किन्तु अभिनवभारती के उद्धरण इसके सर्वथा विपरीत है। आचार्य मम्मट का यह कथन कि भट्टलोल्लट के मत से रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं, अभिनवभारती के इस उल्लेख से, कि स्थायी का विभावादि से संयोग होने पर रसनिष्पत्ति होती है, विरुद्ध है। यही नहीं स्थायी ही विभावादि के द्वारा उपचित होकर रस होते हैं, अनुपचित अवस्था में वह स्थायी ही रहते हैं।[1]

२. श्रीशंकुक का अनुमितिवाद

श्री शंकुक सम्भवतः न्याय-दर्शन के विद्वान् थे। इनके द्वारा कृत नाटयशास्त्र की टीका यद्यपि उपलब्ध नहीं है फिर भी अभिनवभारती में स्थल-स्थल पर इनके मत का विस्तारपूर्वक उद्धरण दिया गया है। इन्होंने भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन किया है अतः ये उनके उत्तर-कालीन तथा भट्टनायक से पूर्ववर्ती हैं।

श्री शंकुक भट्टलोल्लट की इस बात से सहमत नहीं हैं कि विभावादि के योग के बिना ही रत्यादि स्थायिभाव की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि विभावादि वह हेतु हैं जिनसे स्थायी की प्रतीति होती है। अतः हेतु के अभाव में हेतुमान् की अवस्थिति सम्भव कैसे हो सकती है ? विभावादि के संयोग के पूर्व ही स्थायीरूप धारण कर लेने पर उनका पुनः रस होना सम्भव नहीं। यदि यह कहें कि रत्यादि की मन्द, मन्दतर या मन्दतम अवस्था की संज्ञा स्थायी है, तथा रस उनकी प्रखर अवस्था है, तो एक तो आनन्त्य दोष पड़ेगा। दूसरे हास्य रस के भेदों का प्रतिषेध हो जायगा, साथ ही काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रसभाव का अतिप्रसंग समुपस्थित होगा और शोक का पहले तीव्र होना तदनु मन्द हो जाना तथा क्रोध, उत्साह, रति का अमर्ष, धैर्य एवं सेवा के अभाव में ह्रास दिखाई देना, यह सब विपर्य्यस्त हो जायगा। इसलिए विभावादि हेतुओं, अनुभावादि कार्यों तथा व्यभिचारिभावादि रूप सहकारी कारणों से प्रतीयमान स्थायिभाव

---

१. विभावादिभिः संयोगः अर्थात् स्थायिनः। ततोरसनिष्पत्तिः। स्थायी एव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भवत्यनुपचितः।
अभिनवभारती——नाटयशास्त्र प्र० खं०, पृ० २७२ (बड़ौदा)।

२. एतन्नेति श्रीशङ्कुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानाँ पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात् स्थितदशायाँ लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसंख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तदनुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्यदृश्यमानत्वाच्च।——अभिनवभारती, ना० शा०, प्र० खं०, पृ० २७२ (बड़ौदा)।

अनुकार्य रामादि के रत्यादि भावों के अनुकरणरूप ही होते हैं । प्रयत्न से अर्जित कृत्रिम विभावादि के द्वारा लिंगलिंगीभाव से प्रतीयमान स्थायिभाव का ही अनुकरणरूप होने से एक भिन्न नाम रस हो जाता है ।[1]

श्रीशंकुक के अनुसार विभावादि के द्वारा अनुमाप्यानुमापकभाव सम्बन्ध से रस की अनुमिति होती है । इनका कहना है कि—सामाजिक सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य से विलक्षण चित्रतुरगन्याय से अनुकूल नट को ही रामादि समझ लेता है, और नट के द्वारा प्रकाशित कृत्रिम कार्यकारण सहकारि रूप विभावादि से रत्यादि स्थायी के रूप में सम्भाव्यमान रस का अनुमान होता है । यह स्थायिभाव वस्तुतः नट में नहीं रहते किन्तु सामाजिकों की वासना से उनका रसात्मक आस्वाद होता है । यह अनुमान अन्य शास्त्रीय अनुमानों से विलक्षण इसलिए होता है कि अन्यत्र अनुमाता को अनुमेय के गुणों का आस्वाद नहीं होता । यहाँ काव्य में नट नैपुण्य अथवा वस्तु सौन्दर्यबलात् अनुमाता सामाजिक को पक्ष नट में अनुमीयमान रत्यादि का वासनात्मक आस्वाद होता है । रत्यादि स्थायिभाव मूलतः तो अनुकार्य में ही रहते हैं । किन्तु अनुकरण होने से ही उनकी रस संज्ञा होती है । वहाँ अनुमान का स्वरूप निम्न प्रकार से होता है—रामोऽयं सीताविषयकरतिमान्, तद्विषयककटाक्षादिमत्त्वात् । यः एवं विधः कटाक्षादिमान् न भवति सः रतिमान् न भवति यथा अहम् ।" इस प्रकार की व्यतिरेक-व्याप्ति से रस-निष्पत्ति में अनुमान की प्रक्रिया बन जाती है । श्रीशंकुक के मत का निर्गलित अर्थ यह है कि जिस प्रकार कुहरा व्याप्त प्रदेश में धूम की मिथ्याप्रतीति से वहाँ अविद्यमान भी वह्नि का अनुमान हो जाता है उसी प्रकार नट के द्वारा प्रकाशित विभावादि हेतु से उसमें अविद्यमान भी रति का सामाजिकों को जो आस्वाद होता है वह अनुमिति ही है ।[2]

श्री शंकुक के मत में भी अनेक दोष दिखाये गये हैं । यह सिद्धान्त विभावादि और रस के अनुमाप्यानुमापकभाव सम्बन्ध पर आधारित है जिसका आधार व्याप्ति ही यहाँ नहीं बनती । क्योंकि कभी-कभी विभावादि की उपस्थिति में भी अनौचित्य के योग से रसानुभूति नहीं होती । दूसरा दोष यह है कि रसानुभूति का पक्ष है नट और जैसे पक्ष पर्वत पर अनुमित अग्नि, अनुमाता को जला नहीं सकता उसी प्रकार नट पक्ष में अनुमित रत्यादि, सामाजिक को रस का आस्वाद किस प्रकार करा सकते हैं ? रस के अन्यानुमीयमानविलक्षण होने में कोई प्रमाण नहीं ।

३. भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक सांख्य दार्शनिक थे । इन्होंने अपने पूर्व के कृति, ज्ञप्ति और व्यक्ति तीनों वादों का खण्डन किया है तथा यह भी बताया है कि रस के आश्रय न अनुकार्य रामादि है न अनुकर्ता नट । सामाजिक में भी रस की उत्पत्ति, प्रतीति एवं अभिव्यक्ति नहीं होती अपितु भुक्ति

---

१. तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः । अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः ।
—अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, प्रथम खं०, पृ० २७२ (बड़ौदा) ।

२. काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, चतुर्थ उल्लास, पृ० ८८ (पूना) ।

ही होती है । भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति के प्रसंग में अभिधा के समान ही भावकत्व एवं भोजकत्व दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है । उनका कहना है कि काव्यार्थ-बोध के अनन्तर ही भावकत्वव्यापार से अनुकार्य और नटगत विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है तथा वे विभावादि, सामान्य नायक नायिकागत प्रतीत होने लगते हैं । भोजकत्वव्यापार से सामाजिक में अविद्यमान भी रत्यादि का आस्वाद होने लगता है । यह आस्वाद ही रस-निष्पत्ति है । इनके अनुसार भरतसूत्र का अर्थ यह होता है कि विभावादि के भोज्यभोजकभावसम्बन्ध से रस की भुक्ति होती है । इसीलिए इनका मत भुक्तिवाद है । अभिनवगुप्त ने इनके मत में भी दोष दिखाये हैं । व्यापार-द्वय की मान्यता को मुख्य दोष बताया है । दूसरा दोष असत्य रत्यादि की रसमयता में है । इसके साथ ही भावकत्वरूप साधारणीकरण नामक एक विलक्षण सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय भी इन्हीं को दिया गया है ।

४. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

नाटचशास्त्र के सशक्त व्याख्याकार, प्रसिद्ध शैवाचार्य महामहिम, अभिनवगुप्त ने नाटचशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नाम की टीका लिखी है । इसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के रसविषयक मतमतान्तरों का विस्तारपूर्वक निरूपण कर उनकी समीक्षा करते हुए अपना मत उपस्थापित किया है । अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के समर्थक व्यञ्जनावादी आचार्य थे । इन्होंने आनन्दवर्धन की सरणि पर ही रस की व्यञ्जनापरक व्याख्या की है । इनके अनुसार भरतसूत्र का यही अर्थ है कि विभावादि के व्यंग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध से रस की अभिव्यक्ति होती है । इनका कथन है कि लौकिक कारण नायिका आदि के द्वारा रत्यादि भावों के स्थायी होने की प्रतीति सर्वसामान्य को है । वह रत्यादि भाव मनोविकार हैं जो सामाजिक के अन्तःकरण में वासनात्मक रूप में निरन्तर बने रहते हैं । उनकी अभिव्यक्ति या तो लोक में उपयुक्त कारण के सन्निकर्ष से होती है अथवा काव्य में लौकिक कारणों के विभावादि रूप में परिणित होकर उनके साधारणीकरण से होती है । रत्यादि भावों का साधारणीकरण भी व्यञ्जनाव्यापार से ही हो जाता है । इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि से व्यञ्जित रत्यादि की चर्वणा ही रस है । यह चर्वणा, अनुभूति की सार्वभौम भावना से प्रभावित होती है जो प्रेक्षक को वेद्यान्तरस्पर्शशून्य कर देती है । यह अनुभूति न निर्विकल्पक होती है न सविकल्पक, न कार्य होती है न ज्ञाप्य, अतएव अलौकिक कही जाती है ।[1]

भट्टनायक से अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का भेद इसमें ही है कि भट्टनायक अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व, भोजकत्व नामक दो और व्यापार मानते हैं और अभिनवगुप्त केवल व्यञ्जनाव्यापार । भट्टनायक के मत से जिस रति का आस्वाद होता है वह सत्य नहीं होती । अभिनवगुप्त रति को वासना रूप में निरन्तर अवस्थित मानते हैं । अतएव भट्टनायक रस को भोग कहते हैं और अभिनवगुप्त के मत से रस व्यंग्य होता है ।

---

१. **अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य । तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञप्तिहेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयुः । सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभवात्। किंतर्हि एतद्धि विभावादय इति । अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद् भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ।**–अभिनवभारती, पृ० २८५।

५. धनंजय का भावनावाद

धनञ्जय ने भी अपनी कृति दशरूपक में रस-निष्पत्ति का विवेचन किया है। इनके अनुसार विभावादि, रत्यादि स्थायिभावों के उद्बोधक अर्थात् भावक होते हैं। और भाव्यभावक सम्बन्ध से सामाजिक को रस की भावना होती है[1]। रत्यादि भाव इसीलिए स्थायी कहे गये हैं कि उनका उच्छेद अनुरोधी या विरोधी किसी भी भाव से नहीं होता। वही स्थायी विभावादि-भावों के भाव्य-भावक-भाव सम्बन्ध से जब सामाजिकों की भावना के विषय होते हैं तो रस कहे जाते हैं।[2]

भरत के रससूत्र पर आधारित रस के विविध वादों का विवेचन यहाँ अत्यन्त ही संक्षेप में हुआ है क्योंकि हमें मुख्य रूप से महिमभट्ट कृत रसविषयक विवेचन का ही निरूपण विस्तारपूर्वक करना अभीष्ट है। यहाँ इन विविध मतों का उल्लेख इसलिए आवश्यक था कि इसके बिना महिमभट्ट के रस-विवेचन की विशेषता का ज्ञान नहीं होता।

---

१. अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्य व्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्यभावकसंबन्धः। काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्ट-विभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते। —दशरूपक (अवलोक) पृ० २४३ (चौ०)।

२. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावैर्नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥ —दशरूपक का० ४।३४।

पंचम-विमर्श

महिमभट्ट का रस-विवेचन

रसनिष्पत्ति के विषय में महिमभट्ट श्रीशंकुक के समर्थक हैं। इनके काव्यानुमिति पक्ष की परिपुष्टि श्रीशंकुक की रसानुमितिवाद से ही सम्भव थी। संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में श्रीशंकुक के अनन्तर एकमात्र महिमभट्ट ही ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने रस को अनुमेय कहा है। अभिनवगुप्त ने श्रीशंकुक के रसानुमिति पक्ष का खण्डन नाटचशास्त्र की व्याख्या अभिनवभारती में किया है और ध्वनिकार की सरणि पर रस को व्यङ्गच मानते हुए, युक्ति एवं तर्कों से उसकी परिपुष्टि की है। इस प्रकार महिमभट्ट के समक्ष किसी नये वाद की स्थापना का प्रश्न नहीं था अपितु श्री शंकुक के रसानुमितिवाद के विरुद्ध उठाई गई विप्रतिपत्तियों का समाधान नये ढंग से करना ही उनके लिए परम आवश्यक था और यही उन्होंने किया भी है। दूसरी बात यह कि उनका काव्यानुमिति का सिद्धान्त अपरिपुष्ट एवं अधूरा ही रह जाता यदि वह रसनिष्पत्ति में अनुमान की प्रक्रिया ठीक-ठीक बैठा न देते। यह कार्य अत्यन्त दुष्कर इसलिए था कि उन दिनों साहित्य एवं साहित्यिकों के ऊपर ध्वनि का सिद्धान्त पूर्णरूप से व्याप्त था। अभिनवगुप्त के प्रबल समर्थन से उसका इतना प्रचार हो रहा था कि ध्वनिविरोधी की बात सुनी ही नहीं जाती थी। इसीलिए महिमभट्ट ने केवल व्यञ्जना या रस का विवेचन न कर समूचे ध्वनि-सिद्धान्त का समूलोन्मूलन करने का बीड़ा उठाया, और व्यक्तिविवेक ग्रंथ की रचना की। अपनी कृति में सबसे पहले व्यञ्जना नामक शब्दशक्ति का खण्डन कर उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त को पादहीन कर दिया। अनन्तर उसे निष्प्राण एवं चेतनाहीन करने के लिए रसाभिव्यक्ति पक्ष का भी खण्डन करना उचित समझा। प्रकृत विमर्श में रत्यादि की विभावादि के साथ युगपत् प्रतीति की शंका का परिहार करते हुए व्यक्तिविवेककार ने रसध्वनि की परार्थानुमानरूपता का निरूपण किया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि रसादि व्यंग्य नहीं अपितु अनुमेय ही होते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने नाटचशास्त्र से उद्धरण देकर विभावादि के स्वरूप का स्फुटतया प्रतिपादन करते हुए उनमें सम्भावित हेतुत्व की शंका का निराकरण किया है और बताया है कि कृत्रिम विभावादि से असत्यभूत रत्यादि की प्रतीति का परामर्श ही रसास्वाद है।

(क) रत्यादि की विभावादि के साथ युगपत्प्रतीति की शंका का परिहार

व्यक्तिविवेककार ने व्यञ्जना का अनुमान में जो अन्तर्भाव सिद्ध किया है उसका मुख्य आधार व्यंग्य एवं व्यञ्जक में अन्तर्निहित साध्यसाधनभाव का परामर्श है। वस्तु एवं अलंकार-ध्वनि के स्थलों में व्यंग्य की प्रतीति में क्रम के सुतरां लक्षित होने से वहाँ साध्यसाधनभाव के परामर्श में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। रसध्वनि के स्थल में भ्रान्ति की सम्भावना इसलिए है कि वहाँ प्रतीयमान रस की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता। ग्रंथकार का कहना है कि वहाँ पर भी कार्यकारणमूलक साध्यसाधनभाव ही काम करता है, यह

सिद्ध हो जाने पर रस की अनुमेयता स्वतः सिद्ध हो जायेगी । इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता यह है कि विभावादि एवं रत्यादि स्थायिभावों में गम्यगमक भाव सम्बन्ध है । विभावादि स्थायि-भावों के गमक माने गये हैं । उनसे गम्य रत्यादि ही रस के रूप में प्रतीत होकर सहृदय के हृदय में चमत्कार का आधान करते हैं ।

ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यता है कि विभावादि से वाक्यार्थ के समकाल ही रत्यादि स्थायिभावों की प्रतीति होन लगती है । उनके बीच कार्यकारण भाव जैसा कोई सम्बन्ध नहीं होता, न हो ही सकता है । क्योंकि उनके बीच कार्यकारण आदि का स्मरण होता तो रत्यादि की प्रतीति में प्रतिबन्धक होता और तत्कृत पौर्वापर्यरूप व्यवधान का ज्ञान हमें अवश्य होता, तथा इस प्रकार रस प्रतीति में भी विघ्न हो जाता। अतः विभावादि रस के साथ कार्यकारण-भाव से नहीं अपितु प्रकाश्यप्रकाशकभाव से व्यवस्थित होते हैं । कोई भी प्रकाशक अपने प्रका-शनव्यापार के समय सम्बन्ध-स्मरण आदि की व्यपेक्षा नहीं रखता।।[1] अतः रत्यादि की प्रतीति ही रस की प्रतीति है, और व्यंग्यव्यञ्जकभाव मुख्यवृत्ति से ही सम्पन्न होता है । कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार कुम्भकार एवं प्रदीप दोनों ही घट के आविर्भाविक हैं, सामग्रीभेद से एक जनक है दूसरा प्रकाशक है, ठीक उसी प्रकार अभिधा एवं व्यञ्जना दोनों ही रस के आविर्भावक हैं । अतः रसाभिव्यक्ति के विषय में दोनों का एक साथ काम करना मुख्यवृत्ति से ही स्वीकार्य है । इस प्रकार दोनों को रस का आविर्भावक मानने में कोई बाधा नहीं ।

इसलिए प्रदीप एवं घटादि के समान ही रत्यादि तथा विभावादि में गम्यगमकभाव की मान्यता उपयुक्त ही है । स्वयं ध्वनिकार ने लक्षणा एवं व्यञ्जना के परस्पर के भेद का निरूपण करते हुए कहा है कि––व्यञ्जकत्व मार्ग में तो जब कि अर्थ अर्थान्तर को द्योतित करता है तो प्रदीप के समान अपने स्वरूप का प्रकाशन करता हुआ ही वह अन्य का प्रकाशन करता है । कहने का आशय यह है कि जहाँ पर लक्षणात्मक व्यापार की प्रवृत्ति होती है और एक पदार्थ पदार्थान्तर को उपलक्षित करता है तो वहाँ उपलक्षक अर्थ अपने को उपलक्षणीय अर्थ के रूप में परिणत कर देता है । वह अपने को वैसा ही बना लेता है । वहाँ पर दोनों में वास्तविक भेद नहीं रह जाता । व्यञ्जकत्व मार्ग में व्यञ्जना की प्रवृत्ति होने पर जब एक अर्थ दूसरे को द्योतित करता है तो अर्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही स्वातिरिक्त अन्य अर्थ का प्रकाशन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार प्रदीप घट का । प्रदीप ही पूर्ववत् स्वयं घट नहीं हो जाता । अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हुए दूसरों को प्रकाशित करना ही व्यञ्जकत्व का लक्षण है । अतएव व्यञ्जना में प्रकाश्य एवं प्रकाशक की भिन्नता होती है और लक्षणा में दोनों की एकता। यही व्यञ्जना से लक्षणा के भेद का हेतु है । उदाहरणतः––

'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती'

में पार्वती के लीलाकमल पत्र की गणना करने से आकार-गोपनात्मक अवहित्था नामक भाव

---

१. ननु विभावादिवाक्यार्थसमकालमेव रत्यादीनां भावानां प्रतीतिरुपजायमाना सर्वैरेवावधार्यते । न तु तत्रान्तरा सम्बन्धस्मरणादिविघ्नव्यवधानसंवित्तिः काचिद् ।

––व्यक्तिविवेक, पृ० ५८-६० ।

व्यंग्य होता है। यहाँ पर लीलापत्र-परिगणन स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अवहित्था भाव को प्रकाशित करता है।[1]

वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति पदार्थ से वाच्यार्थ की प्रतीति के सिद्धान्त के अनुसार नहीं होती अपितु प्रदीप से घट की प्रतीति के समान ही होती है। जिस प्रकार घटादि अभिमत पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर भी प्रदीप का प्रकाश निवृत्त नहीं हो जाता अपितु उसके साथ स्वयं भी प्रकाशित होता रहता है। उसी प्रकार व्यंग्य के अवबोध के समय भी वाच्य का ज्ञान होता रहता है। अर्थात् वाच्य और व्यंग्य दोनों का प्रकाशन अबिनाभावसम्बन्ध से होता है।[2] अबिनाभाव का अर्थ यहाँ सम्बन्धमात्र है व्याप्ति नहीं। इसका स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त ने लोचन एवं मम्मट ने काव्यप्रकाश में किया है। इस प्रकार व्यंग्यव्यञ्जकभाव घटप्रदीपभाव से ही सम्पन्न होता है। फलतः उसके बीच क्रम मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

इसका खण्डन करते हुए व्यक्ति-विवेककार कहते हैं कि वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति क्रमपूर्वक ही होती है समकाल नहीं। जहाँ तक इनके गम्यगमकभावसम्बन्ध का प्रश्न है उसके विषय में स्वयं ध्वनिकार ने वाच्य एवं व्यंग्य के स्वरूप के निरूपण करने की कामना से कहा है कि—विभावानुभावव्यभिचारिभाव ही रस हैं, ऐसा जो किन्हीं प्राचीनों का मत है वह ठीक नहीं। अपितु रसादि की प्रतीति विभावादि के द्वारा अबिनाभाव रूप से होती है। विभावादि और रसादि दोनों की प्रतीति में कार्यकारणभाव होने से उनके बीच क्रम अवश्यंभावी है। किन्तु लाघव के कारण वह लक्षित नहीं होता। इसीलिए रसादि को अलक्ष्यक्रम होते हुए व्यंग्य कहा गया है।[3] यही नहीं, ध्वनिकार ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि शब्दार्थ-बोध के समान ही वाच्य व्यंग्य की प्रतीति में भी कार्यकारण भाव के होने से क्रम नियत होता है। उपर्युक्त युक्ति के अनुसार वह क्रम कहीं—वस्त्वलंकार ध्वनि के स्थलों में लक्षित होता है तो कहीं रसध्वनि के स्थल में लक्षित नहीं होता। इस प्रकार स्वयं ध्वनिकार के अनुसार ही वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति के समकाल में होने का निषेध हो जाता है। इसलिये घटप्रदीप

---

१. रत्यादिप्रतीतिरेव रसादिप्रतीतिरिति मुख्यवृत्यैव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाभ्युपगमः। तत्र प्रदीपघटादिवदुपपन्नो गम्यगमकभावः। यत् स एवाह—'व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवद्। यथा—'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ' इति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ६०-६१।

२. पुनः स एवाह—'नहि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति। वाच्याबिनाभावेन तस्य प्रकाशनात्। तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः। यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभास' इति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ६१-६२।

३. उच्यते। वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोर्गम्यगमकभावः तथा तेनैव व्यक्तिवादिना तयोः स्वरूपं निरूपयितुकामेनाप्युक्तं, तदेवास्माभिः समाधित्सुभिरिह लिख्यते परम्। तद्यथा—'न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न लक्ष्यत इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादय इत्युक्तम्' इति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ६३।

के समान व्यंग्य और व्यंजक की प्रतीति का जो उपन्यास हुआ है वह ध्वनिकार की स्वयं की उक्ति में अन्तर्विरोध है ।

(ख) रस–ध्वनि की परार्थानुमानरूपता

इस प्रकार उक्त क्रम से विभावादि एवं रस की प्रतीति के बीच क्रम सिद्ध हो जाने से वाच्य और प्रतीयमान में ध्वनिकार के द्वारा भी निमित्तनिमित्तिभाव स्वीकार कर लेने से रस-ध्वनि का भी पूर्ववत् वस्तु एवं अलंकार ध्वनियों के समान अनुमान में अन्तर्भाव सुतरां समन्वित हो जाता है । इसलिये भी ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव होता है कि ध्वनि की अपेक्षा अनुमान महाविषय है । इसकी महाविषयता अर्थात् व्यापकता इसलिये है कि ध्वनि से व्यतिरिक्त पर्यायोक्ति एवं गुणीभूतव्यंग्य आदि काव्य के सभी लक्ष्यों में अनुमान बन जाता है । वचन व्यापार-पूर्वक होने से इसे परार्थानुमान ही समझना चाहिए । क्योंकि इसमें त्रिरूप लिंग व्यंञ्जक से ही लिंगी व्यंग्य का अवधारण होता है । इस प्रकार उक्त नय से ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव सुतरां सिद्ध हो जाने से ध्वनि की मान्यता में केवल वही विश्वास कर सकते हैं जो विचक्षण नहीं है तथा अनुमान की प्रक्रिया नहीं जानते ।[1]

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि सभी वाक्यार्थ साध्यसाधनभावगर्भित होते हैं, तो काव्य में साध्यसाधनभाव तथा व्याप्ति-प्रतिपादक दृष्टान्त का नियम पूर्वक उपादान होना चाहिए । क्योंकि अनुमान में व्याप्ति की सिद्धि में प्रमाण के लिये दृष्टान्त की निरन्तर अपेक्षा होती है अन्यथा व्याप्तिसाधक प्रमाण के विषय में दृष्टान्त के अभाव में व्याप्ति ही नहीं बनेगी. तन्मूलक अनुमान का होना तो दूर की बात है । इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि काव्य के सम्बन्ध में यह कथन ठीक नहीं कि व्याप्तिसाधक दृष्टान्त के बिना वहाँ अनुमिति नहीं हो सकती । क्योंकि काव्य में साधन अर्थात् हेतु के उपादान से ही साध्य की प्रतीति हो जाती है । वहाँ ऐसे ही साधन का प्रयोग होता है जो व्याप्तिग्रहण के बिना ही साध्य की प्रतीति कराने में अत्यन्त पुष्ट एवं समर्थ हों । ग्रंथकार का कहना है कि यह बात कपोलकल्पनामात्र नहीं है अपितु प्राचीन विद्वानों ने भी यही कहा है कि साध्यहेतुभाव के सामर्थ्य को न पहचानने वाले किञ्चिज्ञ व्यक्ति के लिये ही व्याप्ति में दृष्टान्त की आवश्यकता होती है । विद्वानों के लिये तो केवल साध्यहेतु का कथन ही पर्याप्त है । दृष्टान्त के बिना भी केवल हेतुमात्र से उसके सामर्थ्य वश साध्य की प्रतीति सहृदय-हृदय को स्वतः हो जाती है ।[2]

---

१. तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्यसमर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात् । महाविषयत्वं चास्य ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये पर्यायोक्तादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यादौ च सर्वत्र सम्भवात् । तच्च वचनव्यापारपूर्वकत्वात् परार्थमित्यवगन्तव्यम् । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानमिति केवलमुक्तनयानभिज्ञतया तत्र लक्षयत्यविचक्षणो लोकः । —व्यक्तिविवेक, पृ० ६३-६४ ।

२. अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थः साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते । तद्यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात् तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयतयावश्यापेक्षणीयत्वात् । न । प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षया प्रतिक्षेपात् । तदुक्तम्—
तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ६४-६५ ।

पूर्वपक्ष की ओर से इस पर पुनः प्रश्न होता है कि रत्यादि तो सुखादि की विशेष अवस्था होने से जड़ हैं। इनसे काव्य में सचेतन चमत्कारकारी सुख का आस्वाद कैसे सम्भव है ? और भी जो सुखास्वाद, रसादि में विद्यमान व्यंग्यव्यञ्जकभावरूप लक्षणा का फल माना जाता है, रसों के अनुमेय हो े से वह कैसे सम्भव हो सकता ? क्योंकि लोक में करुण शोकादि हेतु से अनुमीयमान शोकादि से, अनुमाता व्यक्ति को सुख की रंचमात्र भी अनुभूति नहीं होती। इसके विपरीत विरक्त महात्माओं को भी इनसे भय, शोक, करुणा, दौर्मनस्य, चित्त की विकलता आदि का ही अनुभव होता है। लोक से काव्य में कोई ऐसा आतिशय्य नहीं दीखता जिससे काव्य में ही अनुमान के द्वारा यह सुखास्वाद सम्भव होता हो, लोक में नहीं। लौकिक कार्यकारण सहकारी भाव ही काव्य में विभावानुभावव्यभिचारिभाव से गमक होते हैं और वे ही मानसिक अवस्था-विशेष लौकिक रत्यादिभाव, गम्य होते हैं। फिर काव्य में कौन-सी ऐसी विशेषता है जिससे वहीं पर रसास्वाद होता है लोक में नहीं ? इस प्रकार उक्त रीति से प्रयोजनरूप अंश के अभाव में रत्यादि भावों में व्यंग्यत्व का उपचार अर्थात् रसादि-व्यंग्य हैं इस प्रकार के औपचारिक प्रयोग की उपपत्ति नहीं बनती।[1]

इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जहाँ पर विभावानुभावव्यभिचारिभावों के द्वारा रत्यादि स्थायि-भावों का बोध होता है वहीं पर अर्थात् केवल काव्य में ही रसास्वाद का उदय हो सकता है। वह भी एकमात्र सहृदयसंवेद्य होता है। यह वस्तु का अपना स्वभाव है। वस्तु-स्वभाव शास्त्रीय प्रमाण या तर्कों के द्वारा खण्डन मण्डन का विषय नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से भरत ने रससूत्र की रचना की है कि विभावानुभावव्यभिचारि के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है जिसका अभिप्राय यह है कि कवि के द्वारा वर्ण्यमान विभावादि से ही रस की निष्पत्ति सम्भव है, लौकिकहेत्वादि से नहीं। यदि उनसे भी रसकी उत्पत्ति सम्भव हो तो रस-सूत्र में विभावादि पद का व्यर्थ प्रयोग कदापि नहीं होता।[2]

कहने का आशय यह है कि रत्यादि भावों की अनुभूति दो प्रकार से सम्भव है: प्रथम—लोक में प्रत्यक्षीकृत कार्य कारण सहकारी से, द्वितीय—काव्य में वर्णित विभावानुभावव्यभिचारी से। किन्तु लोक में साक्षात्कृत कार्यकारण आदि से रसास्वाद नहीं होता। केवल काव्य में

---

१. ननु कुतोऽयं रत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसम्भवः, यो रसादीनामनुमेयानां व्यङ्ग्यत्वोपचारस्य प्रयोजनांशतया कल्प्यते। न हि लोके लिङ्गतः शोकादिष्वनुमीयमानेष्वनुमातुः सुखास्वादलवोऽपि लक्ष्यते। प्रत्युत साधनामुदासीनानामपि वा भयशोकदौर्मनस्यादिदुःखमसममुपजायमानमवधार्यते। न च लोकतः काव्यादौ कश्चिदतिशयः येनासौ तत्रैवोपगम्येत, न लोके। त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमकाः। त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः। तत् कोऽतिशयः काव्यादौ, यत् तत्रैव रसास्वादो न लोक इति प्रयोजनांशासम्भवाद् व्यङ्ग्यत्वोपचारोऽनुपपन्न एव।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ६५-६६।

२. उच्यते। यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदयइति, वस्तुस्वभाव एवायं न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम्। यदाह भरतः 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति।
—व्यतिविवेक, पृ० ६६-६७।

वर्णित विभावादि से ही सम्भव होता है। क्योंकि रत्यादिवस्तु का यही स्वभाव है कि लोक में साक्षात्प्रत्यक्ष से उनसे तत्तद् सुख-दुःखमोहादि की ही अनुभूति होती है। काव्य में उन सबसे एकमात्र सुखास्वाद ही होता है। काव्य में रत्यादि भावों से एकमात्र सुखास्वाद की यह बात विचारकों की आलोचना का विषय इसलिये नहीं बन पाती कि उनके पास ऐसा कोई साधन उपलब्ध नहीं है जिससे वह इस तथ्य को प्रमाण की कसौटी पर कस सकें। इस सम्बन्ध में ग्रंथ कार ने एक कारिका उद्धृत की है जिसे अभिनवभारती में थोड़े पाठान्तर के साथ 'यत्तूक्तम्' से उद्धृत किया गया है। जिसका अर्थ है—विभावादिभावों के संयोग से व्यंग्य एवं विलक्षण ज्ञान का विषय आस्वादनात्मक अनुभव ही काव्य-प्रतिपादित रसपदार्थ है।[1] इससे निष्कर्ष यह निकला कि रसानुभूति लौकिक नहीं अपितु अलौकिक है इसलिये लौकिक कारणकार्यभाव वहाँ नहीं बनता। लोक में अनुमान से सुखास्वाद नहीं होता, काव्य में ही होता है। यही काव्य की लोकोत्तरता है। अन्य आचार्यों ने भी काव्य के लौकिक पक्ष का निराकरण ही किया है और उसे कार्य, ज्ञाप्य से भिन्न, लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परे तथा मितयोगिज्ञान एवं परिमितेतरयोगिज्ञान से भी विलक्षण कहा है। इसे दोष न मानकर रस के अलौकिकत्व का साधक होने से गुण ही माना है।[2] श्री शंकुक ने इसी को 'अन्यानुमीयमानविलक्षण' पद से अभिहित किया है।[3]

(ग) विभावादि का स्वरूप-निरूपण

आचार्य महिमभट्ट ने विभावादि भावों के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि लोक में विभावादि भावों की सत्ता सम्भव नहीं। वहाँ पर तो हेतु आदि ही होते हैं। विभावादि और हेत्वादि को एक ही पदार्थ नहीं मानना चाहिए। हेत्वादि अन्य हैं विभावादि अन्य। उनका लक्षण भी परस्पर भिन्न है। लोक में रामादिगत मानसिक अवस्थाविशेष जो रत्यादिभाव हैं वही काव्य में वर्णित अर्थ को अपने में अनुसंहित करके तत्तद् रसों की भावना कराते हैं। इसीलिये वे भाव कहे जाते हैं। भरत ने भी कहा है कि चूँकि ये नाना प्रकार के अभिनय से सम्बद्ध तत्तद् रसों की भावना कराते हैं इसीलिये भाव कहे जाते हैं।[4] लोक में रत्यादि आलम्बनोद्दीपन के

---

१. (क) यत्तूक्तम्—संवेदनाख्ययाव्यङ्ग्यपरिसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥
—अभिनवभारती, ना० शा०, बड़ौदा, पृ० २७७।

(ख) 'भावसंयोजनाव्यङ्ग्यपरिसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्चते ॥' —व्यक्तिविवेक, पृ० ६७।

२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, अभिनवगुप्त का रस-विवेचन।

३. अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यवलाद्रसनीयत्वेन अन्यानुमीययानविलक्षणः . .रसः ॥
—काव्यप्रकाश, पृ० ९० (पूना संस्करण)

४. नच लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादीनामेव तत्र सम्भवात्। न च विभावादयो हेत्वादयश्चेत्येक एवार्थ इति मन्तव्यम्। अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादयः। तेषां भिन्नलक्षणत्वात्। तथा हि ये लोके रत्यादयो रामादिगताः स्थेमभाजोऽवस्थाविशेषाःकेचित् त एव काव्यादौ कविप्रभृतिभिर्वर्णनाद्यर्थमात्मन्यनुसंहिताः सन्तो भावयन्ति तांस्तान् रसानिति भावा इत्युच्यन्ते। यदाह भरतः –
नानाभिनयसम्बन्धाद्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्, तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥" —व्यक्तिविवेक, पृ० ६७-६८।

हेतु जो सीता आदि पदार्थ हैं वे ही काव्य में समर्पित होकर तत्तद्भावों को विभावित करते हैं इसीलिये इन्हें विभाव कहते हैं। मुनि भरत ने भी कहा है कि––वाचिक एवं आङ्गिक अभिनय के आश्रय अनेक प्रकार के अर्थों की विभावना कराने के कारण ही भाव के हेतुओं की विभाव संज्ञा हुई है।[1] इन विभावों के जो मुखप्रसादादि कार्यरूप अर्थ हैं वे ही काव्यादि में दृश्यमान होकर तत्तद्भावों का अनुभव कराते हैं इसलिये इन्हें अनुभाव कहते हैं।[2] व्यभिचारिभाव वे हैं जो इन रत्यादि स्थायिभावों के बीच-बीच में आते हैं और उनकी अवस्था विशेष के जनक, तथा अवान्तर हेतु से उत्पन्न उत्कलिका के समान होते हैं। वे ही स्व स्व विभावानुभाव मुखेन उपदर्शित होते हुए तत्तद्भावों में विशेषरूप से अभिमुखसंचरण करने से ये व्यभिचारीभाव है।[3] तथा ये जो स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्विक पद से उनचास भाव कहे गये हैं वे सब व्यभिचारी ही हैं। इनमें स्थायी आदि की संज्ञा साभिप्राय और प्रतिनियतरूप की अपेक्षा से है। स्थायित्व स्थायिभावों में ही प्रतिनियत होते हैं व्यभिचारी एवं सात्विक भावों में नहीं। इसी प्रकार व्यभिचारित्व एवं सात्विकत्व भी इन्हीं में ही प्रतिनियत है। स्थायिभावों की गति उभयात्मक होती है। रस की पूर्णावस्था को प्राप्त होने पर ही रत्यादिभाव स्थायी कहे जाते हैं। अन्यथा वह व्यभिचारी ही रहते हैं। तैंतीस व्यभिचारिभाव सदा व्यभिचारी ही रहते हैं। स्थायी आदि कभी नहीं होते। अतएव भरत-सूत्र में स्थायिभाव का नामतः कथन नहीं हुआ है। व्यभिचारिभावों से ही उनका ग्रहण हो जाता है।[4]

---

१. ये च तेषां हेतवः सीताद्याः केचित्, त एव काव्यादिसमर्पिताः सन्तो विभाव्यन्ते भावा एभिरिति विभावा इत्युच्यन्ते । यदाह भारतः ––

"बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्, तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥" ––व्यक्तिविवेक, पृ० ६८ ।

२. ये च तेषां केचित् कार्यरूपा मुखप्रसादादयोऽर्थास्त एव काव्याद्युपदर्श्यमानाः सन्तोऽनुभावयन्ति तांस्तान् भावानित्यनुभावा इत्युच्यन्ते । यदाह भरतः––

"वागङ्गसत्वाभिनयैर्यस्मादर्थोऽनुभाव्यते।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तः सोऽनुभाव इति स्मृतः ॥" ––व्यक्तिविवेक, पृ० ६८-९ ।

क. ये कारिकाएं नाट्यशास्त्र में इसी रूपद्यमें उपलब्ध होती हैं। देखिये––भरतनाट्यशास्त्र अध्याय ७ का० ३,४,५.११ । पाँचवें श्लोक के चतुर्थ चरण में 'सोऽनुभाव इतिस्मृतः' के स्थान पर 'सोऽनुभावस्ततः स्मृतः' पाठ है।

३. ये च तेषामन्तरान्तरानवस्थायिनोऽवस्थाविशेषास्तदवान्तरहेतुजनिता उत्कलिकाकाराः केचिदुत्पद्यन्ते, त एव निजनिजविभावानुभाववर्गमुखेनोपदर्श्यमानाः सन्तो विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति तेषु तेषु भावेष्विति व्यभिचारिणइत्युच्यन्ते । यदाह भरतः 'विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः' इति ।

––व्यक्तिविवेक, पृ० ६९ ।

४. ये चैते स्थायिव्यभिचारिसात्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावा उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिणएव । केवलमेषां प्रतिनियतरूपापेक्षो व्यपदेशभेदः । तथा हि स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं, न व्यभिचारिसात्विकेषु । व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः सात्विकत्वमपि सात्विकेष्वेव, नेतरयोरिति । तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः । न व्यभिचारिसात्विकानाम् । ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते ।––व्यक्तिविवेक, पृ० ७० ।

नाटचशास्त्र के भावाध्याय में स्थायिभावों का जो लक्षण किया है उसे व्यभिचारिदशापन्नस्थायिभावों का ही लक्षण समझना चाहिए। रसत्वप्राप्ति के योग्य स्थायिभावों का नहीं। अन्यथा उनका लक्षण करना व्यर्थ हो जायगा। जैसे देवादिविषयक रति, शृंगारादि में हास्य, विप्रलम्भ शृंगार में शोक, प्रणयकोप आदि में कोप, वीर आदि में विस्मय, शृंगारादि में उत्साह, अभिसारिका में भय, संसारनिन्दा में जुगुप्सा आदि व्यभिचारिभाव ही हैं। नाट्य को भरत मुनि ने अनुकरणात्मक कहा है। अतः रस स्थायी का अनुकरणरूप ही है। रस कहने से उनके पूर्व स्थायिभावों की प्रतीति सुतरां सिद्ध है। रसादि ही प्रधान हैं, अतः उनके लक्षण द्वारा रत्यादि स्थायिभावों के स्वरूप का ग्रहण सिद्ध हो जाता है। क्योंकि वे रस में बिम्बप्रतिबिम्बभाव से रहते हैं। अतः स्थायिभावों में व्यभिचारिभावों का ग्रहण नहीं हुआ है। क्योंकि उनका ग्रहण होने पर वे निर्वेदादि की तरह भी स्थायी ही माने जाते, व्यभिचारी नहीं। इसीलिये भावाध्यायों में स्थायी, व्यभिचारी, और सात्विक वर्गत्रय का विभाग उनकी योग्यतामात्र के आधार पर किया गया है। जो यह दिखाने के लिये है कि स्थायी की संज्ञा केवल रत्यादि के लिये है। कोई भी व्यभिचारिभाव विभावादि से परिपुष्ट होने से ही स्थायी नहीं हो सकता और न उससे रसनिष्पत्ति ही हो सकती है। इस तरह ग्रंथकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विभावादि लौकिक हेत्वादि ही नहीं हैं, अपितु उनसे सर्वथा भिन्न होते हैं। यह बात उनके स्वरूपनिरूपण से स्पष्ट हो जाती है।[1]

(घ) विभावादि से रत्यादि का परामर्श ही रसास्वाद

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि विभावादि कृत्रिम हैं और एकमात्र काव्य के विषय हैं। उनके विपरीत रत्यादि के हेतु स्वाभाविक हैं और लोक के विषय होते हैं। इस प्रकार विभावादि और हेत्वादि के न केवल स्वरूप ही भिन्न हैं अपितु उनका विषयभेद भी है। अतः उनमें एकत्व की बात नहीं बनती। जब विभावादि के द्वारा, अवास्तव रत्यादि भावों की प्रतीति होती है तो प्रतीति से भिन्न उनकी वास्तविक सत्ता न होने से उनका साक्षात् प्रतीयमान-या गम्य कहा जाना मुख्यवृत्ति से उचित ही है। अतः विभावादि के द्वारा असत्यरत्यादि विषयक प्रतीति का अनुभवात्मक परामर्श ही रसास्वाद है, जो स्वाभाविक ही है।[2] अथवा रत्यादि सामा-

---

१. यत्तु भावाध्याये स्थायिनां लक्षणमुक्तं तद्व्यभिचारिदशापन्नानामेव तेषामवगन्तव्यं नान्येषां, लक्षणवचनस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। स्थाय्यनुकरणात्मानो हि रसा इष्यन्ते, ते च प्रधानमिति तल्लक्षणमुखेनैव तेषां स्वरूपावगमसिद्धे, तेषां बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनावस्थानात्, स्थायिभावेषु च निर्वेदादिष्विव व्यभिचारिणामनुपादानात्। तदुपादाने हि तेषां स्थायित्वमेव स्यान्न व्यभिचारित्वं निर्वेदादिवत्। तस्माद्योग्यतामात्रप्रवर्तितोऽयं वर्गत्रयविभागोपदर्शनाय व्यभिचारिष्वपि स्थायिव्यपदेशस्तन्मात्रविप्रलम्भकृतोऽन्येषां स्थायिभावलक्षणभ्रम इत्यलमप्रस्तुतवस्तुविस्तरेण।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७०-७३।

२. तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम्।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७३।

जिक में अविद्यमान होने से नितान्त परोक्ष रहें उससे कोई हानि नहीं। प्रत्यक्ष वस्तु साक्षात् संवेद्यमान होकर भी सहृदयों के मन में वैसा चमत्कार नहीं पैदा कर पाती जैसा वही किसी उत्तम कवि की वाणी से उद्भूत होकर चमत्कार का आधान करती है। कहा भी है कि कवि की काव्य-प्रतिभा द्वारा अर्पित ये रत्यादिभाव तन्मयीभाव के द्वारा चमत्कार का जितना आधान करते हैं उतना इन्द्रियों से प्रत्यक्ष अनुभूत होने पर नहीं कर पाते। वह रस भी विभावादि से साक्षात् प्रतिपादित होने पर उतना आस्वाद्यमान नहीं होता जितना उनके द्वारा अनुमित होने पर।[1] उसका यह स्वभाव ही है। इसमें दोषदर्शन का अवकाश नहीं। कहा भी है लौकिक धूमादि हेतु के द्वारा अनुमित होने पर, अनुमित अर्थ वह्न्यादि से उस प्रकार का अनुभव नहीं होता जिस प्रकार का सुखास्वाद, विभावादि के द्वारा रत्यादि के अनुमित होने पर होता है। जैसे कोई अर्थ वाच्य होकर वह आनन्द नहीं प्रदान करता जो प्रतीयमान होकर करता है।[2] ध्वनिकार ने भी कहा है कि साररूप वह अर्थ जब अपने शब्द से वाच्य होने की अपेक्षा प्रतीयमान होकर प्रकाशित होता है तो काव्य में प्रकाम शोभा का आधान करता है। इस प्रकार विभावादि से अनुमित रत्यादि की जहाँ प्रतीति होती है वही काव्य है और ऐसा ही काव्य शिष्यों को विधिनिषेधमय व्युत्पत्ति का उपदेशरूप फल देने में समर्थ होता है।[3]

व्यक्तिविवेकव्याख्यानकार आचार्य रुय्यक ने महिमभट्ट के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्य में अनुमेय के प्रयोजक वास्तव एवं अवास्तव दोनों हो सकते हैं क्योंकि प्रतीति ही उसका सार है। दोनों प्रकार से चमत्कार की प्रतीतिरूप अर्थक्रिया सिद्ध है किन्तु अवास्तव अर्थात् विभावादि कृत्रिम प्रयोजनों से सुखास्वाद रूप काव्यानुमिति जितनी अच्छी तरह हो जाती है उतनी वास्तविक प्रयोजक लौकिक हेतु से नहीं होती। सामान्य अनुमान से काव्यगत अनुमान की यही विलक्षणता है। अनुमानवादियों का यही अभिप्राय है। व्यक्तिवादियों का कथन है कि अवस्तुरूप में प्रतिबद्ध वस्तु से रस की प्रतीति होने पर अर्थ की क्रिया या व्याप्ति के

---

१. आस्तां वा रत्यादिर्नित्यपरोक्षः। प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः। यदुक्तम् --
"कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल॥" इति।
--व्यक्तिविवेक, पृ० ७३।

२. सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते, यथा तैरेवानुमेयतां नीत इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति। तदुक्तम्--
"नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा॥"
--व्यक्तिविवेक, पृ० ७३-४।

३. ध्वनिकृताप्युक्तम्--"साररूपो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरां शोभामावहति' इति। प्रतीतिमात्रपरमार्थं च काव्यादि तावतैव विनेयेषु विधिनिषेधव्युत्पत्तिसिद्धेः।
--व्यक्तिविवेक, पृ० ७४।

बन जाने से इसे अनुमान कह सकते हैं। किन्तु जहाँ वस्तु कुछ होती ही नहीं, उसके आधार पर जो प्रतीति होती है वह अनुमान का विषय कैसे हो सकती है? अर्थक्रिया तो व्यंजना के पक्ष में भी ठीक बैठ जाती है। व्यज्यमान रसादि की प्रतीति स्थायिभावानुरूप ही होती है। स्थायिभाव वासनात्मक रूप से वास्तविक हैं अतः दोष की सम्भावना नहीं।[1]

आचार्य महिमभट्ट ने उक्त अभिप्राय को ही पूर्वपक्ष का रूप देते हुए कहा है कि जब विभावादि कृत्रिम हैं एवं उन्हीं के आधार पर रसानुभूति होती है तो वह भी कृत्रिम ही होगी। प्रतीतिमात्र-पर्यवसायिनी इस कृत्रिम रसानुभूति के माध्यम से शिष्यों को शास्त्रीय कृत्याकृत्य का उपदेश किस प्रकार दिया जा सकता है? क्योंकि जिस रसानुभूति के माध्यम से इस उपदेश का विधान किया गया है वह रसप्रतीति ही जब असत्य और निराधार है तो उससे होने वाला बोध भी असत्य और निराधार ही होगा और वह 'स्वयं नष्ट : परान्नाशयति' न्याय से उस शिला के समान है जो स्वयं डूब जाने वाली है, दूसरों को कैसे पार लगा सकती है? इसका समाधान करते हुए ग्रंथकार ने किसी प्राचीन आचार्य के मत को उद्धृत किया है कि भ्रान्ति अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान भी सम्बन्ध विशेष से प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान हो सकता है।[2]

जिस प्रकार असत्य के मार्ग पर अवस्थित होकर सत्य की प्राप्ति का अभिधान शास्त्रों में भी किया गया है उसी प्रकार असत्यभूत रत्यादि से सदसद्-विवेक रूपीफल का अनुसन्धान क्यों नहीं हो सकता? इस सम्बन्ध में ग्रंथकार ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की एक कारिका को समुद्धृत किया है कि मणि की प्रभा और प्रदीप की प्रभा दोनों के प्रति मणिबुद्धि से उसे प्राप्त करने की इच्छा से झटिति प्रवृत्तपुरुष का उभय प्रभा में मिथ्या ज्ञान की समानता होने पर भी अर्थक्रिया के प्रति भेद होता है। एकत्र मणि की प्राप्ति होती है अन्यत्र केवल अभिधावन। पर प्रवृत्ति उभयत्र समान होती है।[3] रसादि के प्रति सामाजिकों की प्रवृत्ति भी इसी प्रकार होती है। अतः यह कथन कि अवस्तुरूप में प्रतिबद्ध रत्यादि से रसादि की प्रतीति या कृत्याकृत्यविवेक नहीं होता, युक्तिसंगत नहीं।

वास्तव में यदि विचार कर देखा जाय तो रसानुभूति किसी के भी पक्ष में वास्तविक नहीं होती। वह एक प्रकार का भ्रान्ति ज्ञान ही है। यथार्थ ज्ञान नहीं। जिन लोगों को नाटच या काव्य से होने वाली अनुभूति अत्यन्त तीव्र होती है उन्हें अतिमूढ़ ही मानना चाहिए। और

---

१. अत्र प्रतीतिसारत्वात् काव्यस्यानुमेयगतं वास्तवावास्तवत्वमप्रयोजकम्। उभयथाचमत्कार-प्रतीतिलक्षणार्थक्रियासिद्धेः। प्रत्युतावास्तवत्वे यथा सिध्यति न तथा वास्तवत्व इति काव्यानुमितेरेवानुमानान्तरविलक्षणतेत्यनुमानवादिनोऽयमभिप्रायः। व्यक्तिवादिनः पुनरवस्तुमुखेन प्रतिबद्धाद्वस्तुनः प्रतीतावर्थक्रियाविसंवादादस्त्वनुमानत्वम्। अवस्तुन एव तु प्रतीतौ कथमनुमानत्वं स्यात्। अर्थक्रिया तु व्यक्तिपक्ष उपपद्यते। व्यज्यमानस्य वासनात्मनः स्थायिनो वस्तुत्वादित्याशयः। ——व्यक्तिविवेक, व्याख्यान, पृ० ७४।

२. तदुक्तम्——'भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा।' ——व्यक्तिविवेक, पृ० ७४।

३. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियाँ प्रति॥ ——व्यक्तिविवेक, पृ० ७४।

इस प्रकार रसानुभूति को वेदान्त की भ्रान्ति-ज्ञान की प्रक्रिया से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। जहाँ तक अर्थ-क्रिया-कारिता का सवाल है वह व्यक्तिपक्ष में भी ठीक बैठ जाती है किन्तु इससे रसानुमिति पक्ष का निरसन नहीं होता। अनुमान की सत्ता के अन्य प्रकार से भी सिद्ध होने से व्यक्ति के मानने की क्या आवश्यकता है? यही कारण है कि वेदान्तादि किसी भी दर्शन में जहाँ अनुमान सर्वमान्य है, व्यञ्जना को स्वीकार नहीं किया गया है और इसे पूर्वपक्ष के रूप में रखकर विचार करने के योग्य भी नहीं समझा गया।

(ङ) रस की प्रतीति में सत्यासत्य का विचार अनुपादेय

आचार्य महिमभट्ट ने इस तथ्य का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है कि रसानुभूति के विषय में सत्यासत्य के विचार का कोई उपयोग नहीं। अतः गम्य एवं गमक की सत्ता वास्तविक है कि नहीं यह प्रमाण द्वारा सिद्ध करने की बात नहीं। काव्य के विषय में भी वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति में सत्यासत्य का विचार सर्वथा अनुपयुक्त ही है। इसलिये काव्यानुभूति की प्रमाणान्तर से परीक्षा करना उपहासास्पद है।[१] काव्यानुभूति में अनुमान की प्रक्रिया का सम्बन्ध बताने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम वहाँ प्रामाण्य ज्ञान करने जा रहे हैं। यदि हेतु सद्हेतु नहीं है या व्याप्ति ठीक नहीं बनती तथा पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, सब यथावत् उपलब्ध नहीं होते तो वहाँ अनुमान की प्रक्रिया काम कर ही नहीं सकती। अथवा यदि अनुमान होता भी है तो वह प्रामाण्य ज्ञान नहीं पैदा कर सकता। यह कथन अप्रासंगिक एवं अविचारिताभिधान ही है। क्योंकि काव्यानुभूति, विशेषरूप से रसानुभूति की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द आदि प्रमाणों की किसी भी प्रकार की परिपाटी ठीक नहीं बन पाती, जिससे रस की अनुभूति को प्रामाण्यज्ञान कहा जाय। वैसे काव्यानुभूति के प्रत्येक पक्ष में चाहे वह वस्तुमात्र, अलंकार या रस हो, अनुमान की प्रक्रिया तो ठीक-ठीक बैठ ही जाती है। जिस प्रकार कुहरे से व्याप्त प्रदेश में धूम के भ्रान्तज्ञान से वहाँ अविद्यमान भी वह्नि का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं होती, ठीक उसी प्रकार काव्य में सर्वत्र प्रतीयमान अर्थ के अनुमेय होने में कोई बाधा नहीं।

अथ च नैयायिक ज्ञान-ग्रहण और प्रामाण्य-ग्रहण के साधकों को एक दूसरे से भिन्न मानत हैं। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होने पर हमें जिस जल का ज्ञान होता है उसकी प्रामाणिकता तब तक नहीं मानी जाती जब तक वहाँ जाकर हमारी प्रवृत्ति सफल न हो जाय। प्रवृत्ति की सफलता और विफलता पर ही ज्ञान के प्रामाण्याप्रामाण्य का निर्धारण होता है। काव्य में चूँकि प्रवृत्ति की सफलता का कोई प्रश्न ही नहीं है और रसानुभूति रत्यादि विषयक ज्ञान-विशेष का ग्रहणमात्र है, अतः उसके प्रामाण्याप्रामाण्य का प्रश्न उठाना वितण्डा-मात्र है। यही बात वाच्य व्यंग्य के सम्बन्ध में भी है। लौकिक अनुमान में भी अकृत्रिम हेत्वादि से अकृत्रिम ही रत्यादि साध्यों की प्रतीति होती है। वहाँ पर भी उसमें अनुमेयता ही है व्यंग्यत्व की गन्ध तक नहीं।

---

१. तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाच्य-व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति।

—व्यक्तिविवेक पृ० ७५।

फिर सुखास्वाद का लवलेश भी वहाँ कहाँ सम्भव है ? लोक से काव्यादि की यही विशेषता है।[1]

निष्कर्ष

महिमभट्ट के रसनिरूपण का अध्ययन करने के अनन्तर यह आवश्यक हो जाता है कि हम उसकी समीक्षा कर उनके योगदान का मूल्यांकन करें। व्यक्तिविवेक के अध्येता विद्यार्थी इस बात पर दो मत नहीं हो सकते कि आचार्य महिमभट्ट ने रस-सिद्धान्त की गुत्थी को जितना अधिक सुलझा कर रखने का प्रयास किया है और उसमें सफल हुए हैं उतना और कोई आचार्य नहीं। रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति के सिद्धान्तों के उद्भावन के पश्चात् संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब वाद विशेष का खण्डन या मण्डन करना कोई बहुत महत्व की बात नहीं समझी जाती थी। यद्यपि महिमभट्ट का समारम्भ खण्डनात्मक ही था तथापि व्यंजना और ध्वनि के अंश प्रत्यंश का खण्डन कर उसे जर्जरित कर देने के बाद उन्होंने यह आवश्यक समझा कि साहित्यशास्त्र के कुछ उलझे हुए जटिल विषयों को सुलझाया भी जाय। इसीलिये उन्होंने दोष एवं अलंकारों के स्वरूप तथा लक्षण का विवेचन विशुद्ध रूप से शास्त्रीय पद्धति पर किया जहाँ ध्वनि-सिद्धान्त के ध्वंस का कोई अवसर नहीं था। इनका रस-निरूपण भी उन्हीं विषयों में से एक है जिनके विवेचन में ग्रंथकार ने मौलिकता के साथ-साथ विषय में उपस्थित जटिलताओं को सुलझाने का भी स्तुत्य प्रयास किया है।

१. रसनिष्पत्ति के विषय में महिमभट्ट की देन कम महत्व की नहीं है। वह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने विभावादि के लौकिक हेत्वादि से पार्थक्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। और इस प्रकार काव्यानुभूति के लौकिक अनुभूति से सर्वथा भिन्न होने की प्राचीन आचार्यों की उक्तियों के लिये आधार का प्रतिपादन हो गया। मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों ने महिम की सरणि पर ही विभावादि की हेतुता का खण्डन किया है।

२. विभावादि एवं रत्यादि की युगपत् प्रतीति का खण्डन कर महिमभट्ट ने उनमें होने वाली सहभाव की प्रतीति को भ्रान्त बताया और विभावादि एवं रत्यादि में भी साध्य-साधन-भाव नामक सम्बन्ध का प्रतिपादन किया और इस प्रकार रस को अनुमेय सिद्ध कर दिया।

३. श्रीशंकुक के रसानुमितिवाद में सबसे बड़ा दोष उसकी अनुमीयमान अन्य विषयों से विलक्षणता मानी गयी है। तथा रस की अनुमेयता में सद्हेतु के अभाव एवं हेत्वाभास के सद्भाव की बात भी उठाई गई थी, साथ ही व्याप्तिग्राहक दृष्टान्त के अभाव में जो दोष दिखाये गये थे उन सबका समाधान महिमभट्ट ने तर्क एवं युक्ति उभयतः कर दिया।

अपने पक्ष की पुष्टि में इन्होंने प्राचीन आचार्यों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये। इनकी युक्तियाँ एवं तर्क इतने प्रबल तथा पुष्ट हैं कि उनका उल्लेख कर खण्डन करने का साहस मम्मट प्रभृति किसी भी उत्तरकालीन आलंकारिक आचार्य को नहीं हुआ। इसीलिये इन लोगों ने उनके इन सब तर्कों एवं युक्तियों को गजनिमीलायित कर दिया। काव्यानुमिति के सिद्धान्त पर

---

१. **तत्र हेत्वादिभिरकृत्रिमैरकृत्रिमा एव प्रत्याययन्ते । तत्रैषामनुमेयत्वमेव न व्यङ्ग्यत्वगन्धोपीति, कुतस्तत्र सुखास्वादलवोऽपि सम्भवति । एष एव लोकतः काव्यादावतिशय इत्युपपद्यत एव रत्यादौ गम्ये सुखास्वादप्रयोजनो व्यङ्ग्यत्वोपचार इति ।**

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७५ ।

दोषारोपण करते हुए प्रायः सबने यही कहा है कि वहाँ सद्हेतु नहीं है, अथवा अमुक हेत्वाभास है, अथवा व्याप्ति नहीं बनती, इत्यादि इत्यादि। और सबने रसानुमिति के प्रामाण्य ज्ञान न होने का भी विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। न्यायोचित तो यह था कि जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती श्रीशंकुक आदि प्रायः सभी आचार्यों के मतमतान्तरों का उपन्यास कर उनकी विस्तृत मीमांसा की है, अथवा जिस प्रकार महिमभट्ट ने ध्वनि सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यास कर उनका समाधान किया है, उसी प्रकार महिमभट्ट के इन कथनों का उपन्यास कर खण्डन किया गया होता। इस सम्बन्ध में महिमभट्ट की उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं—

१. गम्यगमक भाव में सत्यासत्य का विचार उपयोगी नहीं होता, २. भ्रान्तिमद् ज्ञान भी सम्बन्ध-विशेष से प्रमात्मक ज्ञान ही होता है, ३. रसानुभूति में सुखास्वाद का रहस्य कृत्रिम रत्यादि की विभावादि के द्वारा अहेतुकी प्रतीति ही है, ४. रत्यादि वस्तु का अपना यही स्वभाव है कि प्रत्यक्षतः तो उनका अनुभव उसी रूप में होता है जिस रूप में वह होते हैं। परोक्षतः या कृत्रिमरूप से उनकी प्रतीति होने पर वह सुखास्वाद रूप होकर अनुभूति में चमत्कार विशेष के आधायक होते हैं, ५. काव्य में परार्थानुमान से ही रसादि का आस्वाद होता है, ६. अनुमान की प्रक्रिया में अभ्यस्त विद्वानों के लिये व्याप्ति-ग्राहक प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। हेतु ही इतना पुष्ट होता है कि साध्य की साक्षात् प्रतीति करा देता है, ७. रस की अन्यानुमीयमान विलक्षणता उसकी अलौकिता ही है। अन्य आचार्यों ने भी रस की अलौकिता का प्रतिपादन विविध रूप से किया है। रत्यादि वस्तु के स्वभाव एवं अनुमाता की वासना से रसादि की आस्वाद्यमानता नितान्त स्वाभाविक ही है। यही रसानुमिति-पक्ष का संक्षेपतः किन्तु स्फुट प्रतिपादन है। और यही तत्व रस-सिद्धान्त के विषय में काव्यशास्त्र को महिमभट्ट की देन भी है।

षष्ठ-अध्याय

प्रथम-विमर्श

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में दोष-सिद्धान्त

दोष का सिद्धान्त संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में उतना ही प्राचीन है जितना इतिहास स्वयं। साहित्यशास्त्र के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ भरतनाटचशास्त्र से लेकर पण्डित-राज जगन्नाथ के काल तक के साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी ग्रंथों में न्यूनाधिक रूप से काव्य-दोष का निरूपण उपलब्ध होता है। जो इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि काव्य में दोष का स्थान गुणालंकारादि से किसी भी प्रकार कम नहीं। वह गुणालंकार, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, तथा रस आदि की तरह ही काव्यशास्त्र की विवेचना का एक महत्वपूर्ण तत्व है। प्रकृत विमर्श में हम संस्कृत-साहित्यशास्त्र में दोष-सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास का ऐतिहासिक कालक्रम से विवेचन करते हुए दोष सामान्य के लक्षण एवं स्वरूप का किंचित् विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

(अ) भरत का नाट्यशास्त्र

जैसा कि अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है कि संस्कृत में साहित्यिक समीक्षा पर प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ भरत का नाटचशास्त्र है। बड़ौदा संस्करण के सत्रहवें अथवा काशी प्रकाशन के सोलहवें अध्याय में, छत्तीस काव्य-लक्षणों तथा गुण और अलंकारों के साथ दस काव्य-दोषों का सलक्षण विवेचन हुआ है।[1] भरत के विवेचन का साक्षात् सम्बन्ध नाटच से था। अतः उन्होंने गुण, दोष एवं अलंकारों का निरूपण विस्तार पूर्वक नहीं किया। उनके विवे-चन का मुख्य विषय था रस, जो नाटच का प्राण या सर्वस्व कहा जाता है। दोष गुणअलंकार आदि काव्य के अन्य तत्वों का भी नाटचशास्त्र में विवेचन हुआ है। किन्तु वे नाटच में रसोद्रेक के साधन होकर ही आये हैं। नाटच में रस की निष्पत्ति का साक्षात् साधक अभिनय-चतुष्टय है। दोष गुण अलंकार आदि वाचिकाभिनय के अंग होकर ही नाटचशास्त्र की विवेचना के विषय हुए हैं। अतएव वहाँ इनका स्थान गौण है। तथा इससे यह स्पष्ट है कि भरत का दोष-विवेचन रस को दृष्टिगत करके ही हुआ है।

नाटचशास्त्र के दोष-विवेचन की एक दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि भरत ने दोषों को भावात्मक रूप प्रदान किया है। वह केवल गुणविपर्यय अभावात्मक नहीं हैं। यही नहीं भरत

---

१. गूढ़ार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः। —नाट्यशास्त्र, १७।८८।

ने तो एक पग और आगे बढ़कर कहा है कि गुण ही दोषविपर्यय रूप हैं।[1] जब कि सामान्यतः दोषों को गुणाभाव के रूप में ही स्वीकार किया जाता है। भरत का यह कथन वस्तुओं के विषय में लोगों की सामान्य धारणा के अनुरूप ही है। किसी वस्तु या व्यक्ति के दोषों को अनायास ही परख लेने की मूल-प्रवृत्ति हम सब में विद्यमान है। जब कि उसकी उत्तमता की पहचान केवल उन्हीं थोड़े से लोगों को हो पाती है जिनका बौद्धिक या मानसिक स्तर पर्याप्त ऊँचा उठा होता है। संभवतः इसीलिए भरत ने भी दोषों का विवेचन भावात्मक रूप से ही किया है और गुणों की सत्ता दोषों के अभाव में ही मानी है।[2] चूँकि नाटचशास्त्र में दोष का कोई सामान्य लक्षण नहीं हुआ है, अतः इसी वाक्य को कि, जिनका विपर्यय गुण है वही दोष हैं, हम दोष का सामान्य लक्षण कहेंगे। भरत ने इन दोषों को काव्यदोष के नाम से अभिहित किया है।

भरत के दोषविवेचन में एक विशेष बात और ध्यान देने की यह है कि उत्तरकालीन आचार्यों के ग्रंथों में दोषों का जो शब्दगत एवं अर्थगत विभाजन मिलता है नाटचशास्त्र में उसका सर्वथा अभाव है। केवल विसन्धि के लक्षण में यहाँ भी अर्थ की अपेक्षा शब्द पर अधिक बल दिया गया है। भरत ने इन दस दोषों को रसदोष भी नहीं कहा है जो कि उन्हें कहना चाहिए था। क्योंकि अन्ततः इनका पर्यवसान रसनिष्पत्ति में ही होता है। उन्हें केवल काव्यदोष के नाम से अभिहित करना भरत के काल में अलंकारशास्त्र की अनवस्था का परिचायक है। उत्तरकालीन अलंकारशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने दोषों का नामकरण सिद्धान्त-विशेष के अनुसार किया है जिसका उल्लेख हम यथावसर करेंगे।

(इ) भामह

भरत के पश्चात् अलंकारशास्त्र, नाटचशास्त्र के बन्धन से मुक्त हो गया और आचार्यों ने दोष गुणअलंकारादि काव्य के आधायक सभी तत्वों की मीमाँसा विस्तारपूर्वक की। यद्यपि अग्निपुराण के तीन सौ छियालिसवें अध्याय में भी अलंकार में काव्यदोष-विवेक के नाम से दोष का सामान्य लक्षण एवं उसके भेद प्रभेद का विवेचन हुआ है।[3] किन्तु पुराणों की तिथि के विषय में निश्चय न होने के कारण हम यहाँ उसका विवेचन नहीं कर रहे हैं। नाटचशास्त्र के अनन्तर साहित्यशास्त्र का प्राचीनतम ग्रंथ भामह का काव्यालंकार है। भामह ने दोषों का वर्णन अपने ग्रंथ में दो स्थलों पर किया है—प्रथम एवं चतुर्थ प्रकरण में। प्रथम परिच्छेद में दश दोषों का विवेचन हुआ है।[4] जिनका वर्णन काव्य के सामान्य धर्मों या तत्वों का परिगणन

---

१. गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः। —नाट्यशास्त्र १७।९५।

२. एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः। —नाट्यशास्त्र १६।९५।

३. उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां सच सप्तधा।
वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोगतः॥ —अग्निपुराण ३४६।१।

४. नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते॥३७॥
श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पना-दुष्ट इत्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्॥ ४७। —काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद।

करते हुए किया गया है। भामह अलंकारवादी आचार्य हैं। समूचे अलंकारवर्ग को इन्होंने वक्रोक्ति में ही समाहृत किया है। अतः उनके दोष का लक्षण भी अलंकार के स्वरूप को ध्यान में रखकर ही किया गया है और वह यही है कि वक्रोक्ति में हीनता ही दोष है। इस प्रकार भामह के दोषविवेचन का प्रथम वर्ग वक्रोक्ति दोष ही है।

भामह के दोष विवेचन का दूसरा स्थल उनकी कृति का चतुर्थ परिच्छेद है। यहाँ अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ आदि ग्यारह दोषों का निरूपण हुआ है।[1] ये दोष समूचे काव्य के हैं, केवल वक्रोक्ति के नहीं। प्रथम-परिच्छेद में वर्णित दोषकाव्य के अन्तरंग-दोष हैं तो चतुर्थ-परिच्छेद के दोष बहिरंग-दोष के रूप में उपवर्णित हुए हैं। भरत एवं भामह के दोषों की तुलना करने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भामह के कुछ दोष भरत के दोषों से नाम एवं रूप उभयतः साम्य रखते हैं। इनमें एकार्थ एवं विसन्धि मुख्य हैं। किन्तु विश्लेषण एवं व्यापकता की दृष्टि से भामह भरत से बहुत आगे हैं। इनका दोष-विवेचन पर्याप्त विस्तारपूर्वक एवं गहन हुआ है।

भामह के दोष-विवेचन का महत्व अन्य प्रकार से भी है। सबसे पहले भामह ने ही यह कहा कि कोई दोष सर्वत्र दोष ही नहीं रहता, यथावसर वह दोषाभाव तथा गुण तक हो जाता है। जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि भरत में दोषों का स्वरूप भावात्मक माना है और गुणों को दोषाभाव कहा है। भामह, भरत के इस निर्णय से केवल असहमत ही नहीं हैं अपितु इसके विपरीत उन्होंने दोषों को गुणाभाव स्वरूप ही माना है तथा दोष विशेष को गुण के रूप में परिवर्तित होने का विधान भी किया है। उदाहरणतः एकार्थ दोष विशेष परिस्थितियों में जहाँ शब्द की पुनरुक्ति, भयशोकादि अर्थों में हुई हो, काव्यात्मक चारुत्व का विशेष रूप से आधायक होता हुआ गुण हो जाता है। मम्मट प्रभृति आचार्यों ने दोषों के नित्या नित्य होने का जो विधान किया है उसका मूलस्रोत भामह का उक्त विवेचन ही है। उनका कथन है कि विशेष रूप से सन्निवेश होने पर दोष भी उसी प्रकार शोभावह अर्थात् गुण हो जाता है जिस प्रकार पुष्पों की माला के बीच-बीच गुँथे हुए काले पत्ते, माला के सौन्दर्य की वृद्धि ही करते हैं।[2] आश्रय के सौन्दर्य से असाधु भी विलक्षण सौन्दर्य का आधायक हो जाता है जैसे कान्ता के विलोचनों में लगा काजल भी बहुत अधिक सुन्दर लगता है।[3]

भरत के समान ही भामह ने भी दोषों का विभाजन पद, वाक्य, अर्थ एवं रस के आधार पर नहीं किया है, जैसा कि मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आलंकारिकों ने किया है। आचार्य भामह

---

१. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ॥१॥
देशकालकलालोकान्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥२॥ —भामह, काव्यालंकार, चतुर्थ-परिच्छेद।

२. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपिशोभते।
नीलं पलाशमाविद्धमन्तराले स्रजमिव ॥ —काव्यालंकार १।५४।

३. किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ॥
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ —काव्यालंकार १।५५।

काव्य में दोष के निराकरण के प्रति बड़े ही जागरूक प्रतीत होते हैं। उनकी राय है कि––काव्य में एक पद भी ऐसा नहीं प्रयुक्त होना चाहिए जो अवद्य हो। क्योंकि उससे समूचे काव्य का मूल्य उसी प्रकार कम हो जाता है जिस प्रकार कुपुत्र के कृत्यों से पिता की ही सर्वत्र निन्दा होती है।[१] उनकी दृष्टि में कवि का उत्तरदायित्व महान् है। वह कहते हैं कि कवि न होना कोई पाप नहीं, न उससे कोई व्याधि ही उत्पन्न होती है। अथवा कोई व्यक्ति इसलिए दण्ड का भागी नहीं हो सकता कि वह कवि नहीं है किन्तु कुकवि होना तो व्यक्ति की साक्षात् मृत्यु ही है।[२]

(उ) दण्डी

काव्य में दोष के निराकरण के विषय में दण्डी भामह से भी अधिक सावधान एवं उग्र प्रतीत होते हैं। उनका कथन है कि रचना में रंचमात्र भी दोष हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वह पूरे काव्य के सौन्दर्य को उसी प्रकार चौपट कर देता है जिस प्रकार सर्वांग-सुन्दर शरीर में श्वेत कोढ़ का एक दाग।[3] शुद्धरूप में प्रयुक्त गो शब्द से कामधेनु का पुण्यस्मरण हो जाता है। किन्तु यदि उसी पद का प्रयोग या उच्चारण अशुद्ध रूप में किया जाय, तो वही पद, प्रयोक्ता के गोत्व अर्थात् मूर्ख होने का संकेत करता है।[४]

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में दण्डी ने काव्य के दश दोषों का निरूपण किया है। जो भामह के चतुर्थ परिच्छेद में निरूपित दोषों से नाम एवं स्वरूप उभयतः साम्य रखते हैं। यहाँ तक कि उनका क्रम भी वही है जो भामह में उपलब्ध होता है। अपवाद का स्थल केवल 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानि' नामक दोष है। जिसको दण्डी ने स्वीकार नहीं किया है। आचार्य दण्डी का कथन है कि काव्य का पाठक प्रायः ऐसा होता है कि प्रतिज्ञा, हेतु एवं दृष्टान्त की हानि होने से उत्पन्न दोष को समझने में समर्थ नहीं होता। क्योंकि यह सब दार्शनिक विचार हैं, जो प्रायः अत्यन्त रूक्ष होते हैं। अतः काव्य में इनका वर्णन करने का प्रयोजन ही क्या है?[५] दण्डी, भामह के वक्रोक्ति दोषों को भी मान्यता नहीं देते। वह उन्हें गुणाभाव रूप ही समझते हैं। उदाहरणतः कान्तिगुण का अभाव ही अत्युक्ति एवं 'नेयत्व' 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण का विरुद्ध-भाव है। दण्डी परम्परा-प्राप्त दोषों की दश संख्या के बने रहने के ही पक्षपाती थे। यद्यपि उन्हें दोषों के अनेक अन्य प्रकारों की भी जानकारी थी।

---

१. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥ ––काव्यालंकार १।११।

२. नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान् मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ ––काव्यालंकार १।१२।

३. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ ––काव्यादर्श १।७।

४. गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति। ––काव्यादर्श १।६।

५. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥ ––काव्यादर्श ३।१२७।

दण्डी ने भरत के द्वारा उठाये गये उस प्रश्न की ओर ध्यान नहीं दिया कि दोषों का स्वरूप भावात्मक है अथवा गुण दोषाभाव रूप होते हैं। उपमादोष के सम्बन्ध में दण्डी ने भामह से आगे जाकर उसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। भामह ने संभवतः मेधावी के अन्धानुकरण पर ही उपमा दोष का निरूपण किया था। किन्तु दण्डी ने उपमादोष के सम्बन्ध में कहा कि काव्य में विपर्यय, असादृश्य तथा असम्भव की कमी से उपमा का अभाव होता है। इसलिए उन्हें उपमादोष कहना सार्थक है। भामहोदाहृत 'हीनता' 'अधिकत्व' एवं 'बचोभेद' दोषों को दण्डी ने उपमा-दोष के रूप में स्वीकार नहीं किया है।[1] समूचे विवेचन का उपसंहार करते हुए उन्होंने व्यवस्था दी है कि कोई रचना कहाँ सदोष है कहाँ निर्दोष इसका नियामक एकमात्र सहृदय-हृदय या मनीषी की बुद्धि ही हो सकती है।[2] यदि वह सहृदय के आस्वाद को भंग करता है तो उसे दोष अवश्य कहना चाहिए। उदाहरण प्रत्युदाहरण देकर उन्होंने इसकी गहन एवं विस्तृत मीमांसा की है। इस प्रकार यद्यपि दण्डी ने दोष विवेचन को मौलिक बनाने के लिए बहुत प्रयास किया है किन्तु भामह की तरह वह भी सर्वथा सफल नहीं हो सके हैं। यहाँ तक कि दोषों की परम्परागत दश संख्या को बनाये रखकर उन्होंने भी एक तरह से परम्परा का पालन ही किया है।

(ऋ) वामन

भामह तथा दण्डी की तुलना में वामन का दोष विवेचन अधिक व्यापक तथा पर्याप्त विकसित है। यहाँ विवेच्य विषय की जटिलता समाप्त हो गई है, एवं दोषों का स्पष्टतया विवेचन हुआ है। आचार्य वामन ने अपनी कृति 'काव्यालंकार सूत्र एवं वृत्ति' में अलंकारशास्त्र के अन्य तत्त्वों की तरह ही दोषों का निरूपण भी सुव्यवस्थित ढंग से किया है और पूरा एक प्रकरण दोष-विवेचन में लगाया है। ग्रंथ के आरम्भ में ही उन्होंने कहा है कि काव्य इसलिए ग्राह्य है कि उसमें अलंकार होते हैं। सौन्दर्य ही काव्य का अलंकार है। काव्य में सौन्दर्य का आधान दोषों के निराकरण एवं गुणालंकार के ग्रहण से ही होता है।[3] वामन के प्रसिद्ध टीकाकार कामधेनु ने सूत्रों के समर्थन में उनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि अभीष्ट की ओर अग्रसर होने के पूर्व अनिष्ट का निराकरण अत्यन्त आवश्यक होता है। अतः कवि को चाहिए कि अपनी रचना को गुणालंकार से मंडित करने के पूर्व उसे दोष रहित करे। इस रहस्य को सूचित करने के लिए ही सूत्र में 'दोषहान' शब्द का उल्लेख पहले हुआ है अनन्तर गुणालंकार के आदान का।[4]

---

१. नलिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ —काव्यादर्श २।५१।

२. ईदृशं वर्ज्यते सद्भिः कारणं तत्र चिन्त्यताम्।
गुणदोषविचाराय स्वयमेव मनीषिभिः। —काव्यादर्श २।५६।

३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः। स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।
—काव्यालंकार सूत्र १।१।१,२,३

४. इष्टानुवर्तनात् कुर्यात् प्रागनिष्टनिर्वतनमितिनीत्या गुणालंकारादानात् पूर्वं दोषहानमेव कविना कर्तव्यमिति सूचयितुं दोषहानस्य प्रथमतो निर्देशः।
—कामधेनु टीका, काव्यालंकार सूत्र १।१।३।

वामन ने अपने ग्रंथ का पूरा द्वितीय अधिकरण ही दोष निरूपण के लिए दिया है तथा उसे दोषाधिकरण के नाम से निर्दिष्ट किया है। प्रकरण के प्रथम सूत्र में ही दोष का सामान्य लक्षण करते हुए वह कहते हैं कि दोष वह है जिसका स्वरूप गुणों का अभाव अर्थात् विपर्यय है।[1] वह भरत के सिद्धान्त के विरोधी हैं कि दोष भावरूप होते हैं तथा गुण दोषाभाव स्वरूप हैं। संस्कृत अलंकारशास्त्र के इतिहास में वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने भरत से प्राप्त परम्परा की न केवल अवहेलना ही की अपितु उसका साक्षात् विरोध भी किया और अपनी नयी मान्यता की प्रतिष्ठा करते हुए दोष को गुण विपर्ययात्मक बताया।

इस पर यह कहा जा सकता है कि यदि दोष गुणाभाव रूप ही हैं तो गुणों के विवेचन से ही दोषों का निराकरण हो जाता, उनके स्वरूप निरूपण के लिए स्वतंत्र रूप से प्रकरण देने की क्या आवश्यकता थी ? इस आक्षेप का उल्लेख कर उत्तर देते हुए आचार्य वामन कहते हैं कि यह शंका ठीक है। वास्तव में गुणों के अभाव से ही दोषों का ग्रहण हो जाना चाहिए। किन्तु सौकर्य के लिए ऐसा किया गया है। दोषों का परिगणन कर उनके लक्षण उदाहरण दे देने से उनका ज्ञान सर्वसामान्य को भी अच्छी तरह से हो जायेगा।[2] अतएव वामन ने अपने पूर्ववर्ती भरत, भामह, दण्डी प्रभृत्ति आचार्यों की अपेक्षा दोषों का निरूपण अत्यधिक सुव्यवस्थित रूप से किया है।

वामन ने दोषों का वर्गीकरण चार विभागों में किया है--१. पददोष, २. वाक्यदोष, ३. पदार्थदोष, ४. वाक्यार्थदोष। दोषों का यह वर्गीकरण पूर्ववर्ती आचार्यों से सर्वथा भिन्न एवं मौलिक है। मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आलंकारिकों ने वामन के दोष विभाजन की उक्त सरणि का पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया है। वामन के अनुसार पद दोष पाँच होते हैं--असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत तथा अनर्थक। पदार्थ दोष भी पाँच ही होते हैं--अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढ़ार्थ अश्लील एवं क्लिष्ट। वाक्यदोष केवल तीन ही होते हैं--भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट तथा विसन्धि। जब कि वाक्यार्थ दोषों की संख्या सबसे अधिक सात है--व्यर्थ, एकार्थ, संदिग्ध, अयुक्त, अपक्रम, लोकविरुद्ध तथा विद्याविरुद्ध। कुल मिलाकर दश दोष पद-पदार्थगत एवं दश ही वाक्य-वाक्यार्थ-गत हैं। वामन को भी परम्परागत दश संख्या का व्यामोह कुछ ऐसा रहा है कि किसी-न-किसी प्रकार उन्होंने भी उसे बनाये रखा है। भामह एवं दण्डी के दोषों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि वामन ने भी दोषों के स्वरूप एवं उनकी संख्या में मौलिक रूप से कुछ भी वृद्धि नहीं की। उनके नवीन ढंग से वर्गीकरण का श्रेय वामन को अवश्य है जिससे वही दश दोष, बीस की संख्या में प्रतीत होते हैं।

प्रकरण का समापन करते हुए आचार्य वामन ने दोषों के विषय में यह व्यवस्था दी है

---

१. गुणविपर्ययात्मानो दोषाः। --काव्यालंकारसूत्र २।१।१
गुणानां वक्ष्यमाणानां ये विपर्ययाः तदात्मानो दोषाः। --वृत्ति २।१।१।

२. अर्थतस्तदवगमः २।१।१ गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषां दोषाणाम् अर्थादवगमो अर्थसिद्धिः। किमर्थं ते पृथक् प्रपञ्च्यन्ते इत्याह-सौकर्यायप्रपञ्चः। सू० २।१।३।
सौकर्याय प्रपञ्चो विस्तरो दोषाणम्। उद्दिष्टा लक्षिता हि दोषाः सुज्ञाता भवन्ति।
--काव्यालंकार सूत्र एवं वृत्ति।

कि वाक्य तथा वाक्यार्थ संज्ञक उक्त दोष त्याग करने के लिए हैं तथा जो शब्दार्थ दोष हैं वह सूक्ष्म हैं और वे स्थल-विशेष पर गुण के रूप में भी ग्राह्य हैं। इसीलिए उनका विवेचन गुण-निरूपण के अवसर पर किया है।[1] कामधेनु ने इस पर टीका करते हुए कहा है कि इस अधिकरण में लक्षणीय सभी दोष काव्य के असाधुत्व के आपादक हैं अतः स्थूल हैं। सूक्ष्म दोष वह हैं जो गुणाभाव रूप होते हैं।[2] उदाहरणतः ओज एक गुण है अतः रचना में ओजोगुण के अभाव से जो दोष होगा वह सूक्ष्म दोष है। स्थूल दोष सामान्य रूप से ही काव्य में सौन्दर्य का अपकर्ष करते हैं जैसे गुण सामान्य रूप से ही काव्य में सौन्दर्य का आधान करते हैं। इसीलिए ओजोगुण सर्वत्र गुण नहीं है। शृंगार एवं करुण के स्थलों में वही दोष हो जाता है। केवल वीर तथा रौद्र भाव की रचनाओं में ही वह गुण रहता है। उपमादोष के विषय में वामन ने कुछ नहीं कहा है।

(लृ) आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त प्रभृति ध्वनिवादी आचार्यों के विवेचन के अनन्तर ही गुणों के समान दोषों का भी रस से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित हुआ। ध्वनिकार ने अनौचित्य को ही रसभंग का एकमात्र कारण बताया और रस की निष्पत्ति का रहस्य औचित्य के उपनिबन्धन को ही कहा।[3] संस्कृत-अलंकारशास्त्र के इतिहास में ध्वनिसिद्धान्त की सर्वोत्तमता या सर्वोत्कृष्टता का रहस्य यही है कि एकमात्र वहीं काव्य के दोष-गुणालंकार रीति एवं रस आदि तत्वों को उनके स्वरूप के अनुसार उचित स्थान प्राप्त हुआ है। आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त में सहृदय के आस्वाद को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। दोषादोष के निर्णय या औचित्य-अनौचित्य की व्यवस्था का एकमात्र आधार सहृदय-हृदय को ही माना गया है। अतएव उन्होंने दोषों का विवेचन विस्तारपूर्वक नहीं किया। इसलिए भी दोषों का विवेचन नहीं किया कि उन महाकवियों की कृतियों में जिनको सहस्रों सूक्तियों के प्रकाशन से ख्याति मिल चुकी है, दोषान्वेषण करना अपना ही दोष देखना होगा। अतः उन्होंने स्वतंत्र रूप से दोषों का विवेचन नहीं किया।[4] वस्तुस्थिति भी यही थी कि दोषों के पाण्डित्यपूर्ण विवेचन एवं कवियों की रचनाओं में दोषोद्भावन से सहृदय पाठक को क्या मिल सकता है? प्रत्युत विस्तारपूर्वक दोष विवेचन से विद्वानों में व्यर्थ की एक ऐसी परम्परा का श्रीगणेश हुआ जिसमें पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों में दोष दिखाना ही पाण्डित्य एवं कवित्व की कसौटी हो गयी। महाकवि कालिदास के अनुसार

---

१. एते वाक्यवाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्या। ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते च गुणविवेचने वक्ष्यन्ते उपमादोषाश्चोपमाविचारे। —काव्यालंकारसूत्र वृत्ति २।१।३।

२. अस्मिन्नधिकरणे लक्षणीया दोषाः काव्यस्यासाधुत्वापादकाः स्थूला इत्यवगन्तव्यम्। —काव्यालंकार सूत्र कामधेनु टीका २-१-३।

३. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ ——ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत।

४. ननु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणं आत्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्। —ध्वन्यालोक वृत्ति, पृ० ९४।

भी उत्तम रचना में एकाध दोष का रह जाना स्वाभाविक ही है और वह दोष गुणों में उसी प्रकार खप जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक।[1] श्री के० कृष्णमूर्ति ने इंडियन हिस्टारिकल क्वारटर्ली नामक त्रैमासिक पत्रिका के बीसवें अंक में दोषों पर एक निबन्ध लिखा है जिसमें संस्कृत साहित्य के ह्रास का सबसे बड़ा कारण यही बताया है कि कवियों एवं आलोचकों ने दोष के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन के इस दृष्टिकोण की अवहेलना कर दी कि रचनाओं में दोष देखन की अपेक्षा औचित्य या सौन्दर्य देखने का ही प्रयास करना चाहिए। इस अवहेलना के कारण काव्य एवं कवियों में पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रतिस्पर्धा हो चली। परिणामस्वरूप काव्यों में आलंकारिक एवं शाब्दिक चमत्कार की ही प्रधानता हो गई और मुहावरेदार वे प्रयोग जो काव्य में औचित्य का आधान करने में समर्थ थे, ग्राम्य आदि दोषों की संज्ञा देकर तिरस्कृत कर दिये गये।[2]

महिमभट्ट के पूर्ववर्ती आचार्यों के दोषविषयक विवेचन का यही संक्षेप है। इसमें वर्णित आचार्यों के अतिरिक्त रुद्रट, कुन्तक आदि ने भी अपने ग्रंथों में यथावसर दोषों का विवेचन किया है जो इतना नगण्य है कि यहाँ उसका उल्लेख नहीं हो सका है। इसके पश्चात् हम व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट कृत अनौचित्य विचार का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

---

१. एको हि दोषो गुण-सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः। --कुमारसम्भव १।३।

२. इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, सितम्बर, १९४४. बीसवां अंक, पृ० २१७।

द्वितीय-विमर्श

महिमभट्ट दोष का-विवेचन

(क) दोष का सामान्यलक्षण एवं स्वरूप

ध्वनि के कटु आलोचक होते हुए भी महिमभट्ट इस बात से सहमत हैं कि रस ही काव्य की आत्मा है।[1] अतःकाव्यदोषों के स्वरूप के विषय में आनन्दवर्धन एवं महिमभट्ट एकमत हैं कि रसभंग से ही काव्य में दोष की संभावना होती है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अनौचित्य ही एकमात्र वह तत्व है जिसके कारण रसास्वाद भंग होता है।[2] अतएव आनन्द एवं महिम दोनों ने ही दोष के स्थान पर अनौचित्य पद का ही प्रयोग किया है। अनौचित्य का सामान्य लक्षण करते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि––काव्यार्थ के रूप में विवक्षित रस आदि की प्रतीति में जो विघ्न का विधायक हो वही दोष है।[3] आगे लक्षण की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि–– काव्य में रस का भंग साक्षात् भी हो सकता है, परम्परया भी रसभंग के साक्षात् हेतु को अन्तरंग तथा परम्परया हेतु को बहिरंग दोष कहा है। रस का साक्षात् भंग रसादि के परस्पर के विरोध एवं विभावानुभाव व्यभिचारिभावों के अनुचित विनियोग से ही होता है। विभावादि के रूप में उपवर्णित शब्द, अर्थ एवं वाक्यादि में जो अनौचित्य है वह विभावादि के द्वारा परम्परया ही रसभंग का हेतु होता है। अतः वह बहिरंग दोष है।

आचार्य महिमभट्ट ने यह अनुभव किया कि अन्तरंग दोषों का विवेचन आनन्दवर्धन ने पर्याप्त विस्तारपूर्वक कर दिया है। अतः उनके विवेचन के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। बहिरंग दोषों का विवेचन किसी भी आचार्य ने सन्तोषजनक नहीं किया। अतः उनका ही विस्तारपूर्वक विवेचन व्यक्तिविवेक ग्रन्थ में विवक्षित है।[4] पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने दोषों का विवेचन विस्तारपूर्वक नहीं किया है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि कालिदास प्रभृति जिन महात्माओं ने सहस्रों सूक्तियों की रचना करने का सौभाग्य प्राप्त किया है तथा उनके कारण लोक में जिनको पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल चुकी है, उनकी रचनाओं में दोषोद्भावन करना स्वयं दोष है। उन्होंने कवियों के लिये महात्मा शब्द का प्रयोग कर

---

१. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। ––व्यक्तिविवेक १।२६।

२. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। ––ध्वन्यालोक, तृतीयोद्योत।

३. एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। ––व्यक्तिविवेक, पृ० १५२।

४. अन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। ––व्यक्तिविवेक, पृ० १४९।

उन्हें बहुत ही गौरव दिया है। महात्माओं के चरित या कृति में दोष देखना तो किसी मतिमन्द का ही स्वभाव होता है।[1]

दोषों का विवेचन आचार्य महिमभट्ट का भी प्रिय विषय नहीं है। उनका विश्वास है कि दूसरों के दोषों को देखना एवं उनका विवेचन करना खलों का ही काम है सज्जनों का नहीं।[2] किन्तु उनकी विस्तृत व्याख्या के लिये वह विवश से प्रतीत होते हैं। विद्वान् पाठक उन्हें खल न समझ लें, अतः दोष विवेचन के लिये वह क्यों प्रवृत्त हुए हैं इसका स्पष्टीकरण सा करते हुए उन्होंने कहा है कि—प्रश्न का उत्तर न देने पर लोग नाना प्रकार की संभावनायें करते हैं कि व्यक्ति मूर्ख तो नहीं है क्या! अन्यथा पुनः पुनः प्रश्न करने पर उत्तर न देने की असभ्यता उसे नहीं करनी चाहिये। अथवा वह विद्वानों से ईर्ष्या या मात्सर्य तो नहीं रखता, और इसीलिये मौन धारण कर लिया है। लोग यह सब या अन्य इसी प्रकार की संभावनायें न करें इसलिये तथा छात्रों की पुनः पुनः अभ्यर्थना पर आज मुझे सहसा सज्जनों के मार्ग का परित्याग कर सबके समक्ष ही उस दुष्टता को अपनाना पड़ रहा है जिसका आचरण अभागे ही करते हैं।[3] कहने का आशय यह है कि दोषों का निरूपण भले व्यक्तियों का काम नहीं है किन्तु छात्रों के हित के लिये विवश होकर ही उन्होंने काव्य-दोषों का निरूपण किया है। आचार्य का कथन है कि जो व्यक्ति अपनी कृतियों में दोषों के निराकरण करने में समर्थ नहीं हैं वह दूसरों को कैसे अनुशासित कर सकता है। अर्थात् उनकी कृतियों के दोष गुण की समीक्षा किस प्रकार कर सकता है? ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार कोई वैद्यराज स्वयं अपथ्य का सेवन करता हुआ भी दूसरों के लिये उसका निषेध करता है। वही स्थिति समालोचक की होती है। स्वयं सफल कवि न होते हुए भी वह कविता की उत्तमता एवं अधमता को कवि से अधिक पहचानता है और इस प्रकार वह उसकी सफल समीक्षा कर सकता है।[4]

(ख) दोषों का विस्तृत-विवेचन

आचार्य महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में काव्य के आधायक विविध तत्वों का सांगोपांग निरूपण कर काव्यानुमितिवाद की हर प्रकार से प्रतिष्ठा की है। द्वितीय विमर्श में उन्होंने काव्य में संघटित होने वाले दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। दोष को उन्होंने सामान्यतया अनौचित्य के नाम से अभिहित किया है। क्योंकि उनके अनुसार रस ही काव्य का

---

१. द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्। —कुमारसंभव, ५।७५।

२. तानखलान् खला इव व्याख्यास्यामः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १५२।

३. मुग्धः किं किमसभ्य एष भजते मात्सर्यमौनं नु किं
पृष्टो न प्रतिवक्ति यः किल जनस्तत्रेति सम्भावयेत्।
छात्राभ्यर्थनया ततोऽद्य सहसैवोत्सृज्य मार्गं सतां
पौरोभाग्यमभाग्यभाजनजनासेव्यं मयाङ्गीकृतम् ॥१॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० १५२।

४. स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत् ॥२॥
—व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श।

सर्वस्व है तथा रसभंग से ही काव्य में दोष सम्भव है। वह रसभङ्ग अनौचित्य के बिना नहीं होता। इस प्रकार उन्होंने दोषों को सामान्यतया विवक्षित रसाणदि की प्रतीति का प्रतिबन्धक माना है। और बताया है कि दोष, साक्षात् एवं परम्परया उभयविधि से रस का अपकर्षण करते हैं। विमर्श के आरम्भ में ही ग्रंथकार ने कहा है कि दोष के दो भेद होते हैं––शब्द-विषयक और अर्थविषयक। अर्थविषयक दोष अन्तरंग कहे जाते हैं एवं शब्दविषयक बहिरंग। विभावानुभाव एवं व्यभिचारिभाव के संयोजन में त्रुटि रह जाने से रसों में जो अपकर्ष हो आता है, वह अन्तरंग दोष है। इसलिए व्यक्तिविवेक में उसका विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया है। आद्य आचार्यों से इनका अभिप्राय मुख्यरूप से आनन्दवर्धन से है। बहिरंग दोष साधारणतया पाँच प्रकार के होते हैं––१. विधेया-विमर्श, २. प्रक्रम-भेद, ३. क्रमभेद, ४. पौनरुक्त्य एवं ५. वाच्या-वचन। यद्यपि वृत्त का दुःश्रवत्व भी एक प्रकार से शब्ददोष ही है क्योंकि छन्द की रसानुगुण प्रवृत्ति ही इष्ट है, तथापि जैसे विधेयाविमर्शादि दोष केवल वाचकत्वाश्रय होते हैं उसी प्रकार छन्ददोष केवल वाचकत्वाश्रय ही नहीं होता किन्तु रसाश्रित भी होता है। अतः यहाँ पर उनकी श्रेणी में इसका भी उपादान नहीं किया है।[1]

१. विधेयाविमर्श दोष एवं उसमें प्रोद्भूत समस्यायें ––

(अ) नञ् समास के प्रसंग में प्रसज्य-प्रतिषेध का विधान

विधेया-विमर्श वह दोष है जहाँ विधेय का ठीक-ठीक विचार न कर यथोचित विमर्श के बिना ही उसे वाक्य में जहाँ कहीं स्थान दे दिया गया हो। इसका उदाहरण दिया है––

'संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी॥

गजकुम्भ और मेघखण्ड के प्रति सिंह का संरम्भ (आक्रमण के लिये उत्साह-प्रदर्शन) अत्यन्त स्वाभाविक है क्योंकि वह समूची सिंहजाति में विद्यमान एक महत्वाकाँक्षा है यह सोच कर दुर्गा का वाहन सिंह दिग्गजों और प्रलयंकारी मेघों की घटा उमड़ने पर

---

१. इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषयं शब्दविषयं चेति। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते। अपरं पुनर्बहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति। तद्यथा––विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः क्रमभेदः, पौनरुक्तयं, वाच्यावचनं चेति। दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव, तस्याप्यनुप्रासादेरिव रसानुगुण्येन प्रवृत्तेरिष्ट त्वात्। केवलं वाचकत्वाश्रयमेतन्न भवतीति न तत्तुल्यकक्ष्यतयोपात्तम्।

––व्यक्तिविवेक, पृ० ४९-१५२।

भी आक्रमणाभिमुख नहीं होता फिर अन्य किस पर अपने पौरुष-प्रदर्शन द्वारा चमत्कार की अतिशयता को प्राप्त करे।

यहाँ पर प्रयुक्त असंरब्धवान् में नञ् का प्रयोग विमर्श पूर्वक नहीं हुआ है। क्योंकि प्रकृत स्थल में उसका विषय पर्युदास है। वहीं पर विशेषण होने के कारण नञ् का सुबन्त उत्तर पद के साथ सम्बन्ध युक्तिसंगत है। कहा भी गया है कि जहाँ पर विधि प्रधान और निषेध गौण हो तथा जहाँ नञ् का उत्तर पद के साथ सम्बन्ध हो उसे पर्युदास समझना चाहिए।[1] इसका उदाहरण दिया है--

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥

निर्भीक होकर उसनेअपनी रक्षा की, विना आतुरता के धर्म का सेवन किया, लोभरहित होकर प्रजा से धन ग्रहण किया तथा अनासक्त भाव से विषय-सुख का अनुभव किया।

यहाँ अत्रस्तः, अनातुरः, अगृध्नुः, अशक्तः ये सभी पर्युदास के उदाहरण हैं। नञ् दो प्रकार का होता है--पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदास सदृशग्राही होता है और प्रसज्य निषेधात्मक[2]। प्रसज्य प्रतिषेध पर्युदास से विपरीत उन स्थलों में होता है जहाँ विधि अप्रधान हो और प्रतिषेध की ही प्रधानता हो तथा जहाँ क्रिया के साथ नञ् का विधान हुआ हो। इसका उदाहरण दिया है--

"नवजलधरः सन्नद्धो यं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी"॥

यह उन्मत्त राक्षस नहीं अपितु उमड़ता हुआ काला बादल है। दूर तक खिचा हुआ यह उसका धनुष नहीं अपितु इन्द्रधनुष है। वर्षा की यह निरन्तर लगी झड़ी जल वृष्टि है वाण वृष्टि नहीं। कसौटी पर कसी सुवर्ण की रेखा के समान कमनीय यह विद्युत ही है मेरी प्रिया उर्वशी नहीं।

उपर्युक्त उदाहरण असंरब्धवान् में पर्युदास का आश्रयण इसलिए असंगत है कि वहाँ न तो विधि की प्रधानता है और न नञ् का उत्तर पद के साथ सम्बन्ध ही। अपितु इसके विपरीत प्रतिषेध की ही प्रधानता है। एवं क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध होने से वह प्रसज्य का ही उदाहरण है। यह सिद्ध होने पर कि यहाँ नञ् प्रसज्य है समास नहीं बनता। क्योंकि समास होने पर विधीयमान होने के कारण नञ् का ही अर्थ प्रधान होगा और अनूद्यमान होने से उत्तर

---

१. अत्र ह्यसंरब्धवानिति नञ्समासस्तावदनुपपन्नः। तस्य हि पर्युदास एव विषयः, तत्रैव विशेषणत्वान्नञः सुबन्तेनोत्तरपदेन सम्बन्धोपपत्तेः। तदुक्तम्-

"प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥"

--व्यक्तिविवेक, पृ० १५४-१५५।

२. नञर्थौ द्विविधौ प्रोक्तौ पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासो सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥ प्रकीर्ण

पदार्थ गौण हो जायेगा तथा इस प्रकार के वाक्यों में प्रतिषेध की ही प्रधानता होगी। समास होने पर यह विध्यनुवादभाव भी समाप्त होने लगेगा। जहाँ पर ऐसा नहीं है अपितु इसके विपरीत है वहाँ समास होता ही है यथा—

"काव्यार्थतत्त्वावगमो न वृद्धाराधनं बिना ।
अनिष्टवान् राजसूयं कः स्वर्गं मुख्यमश्नुते" ॥

वृद्धों की सेवा के बिना काव्यतत्त्व का बोध नहीं हो पाता। ठीक ही है, राजसूय यज्ञ किये बिना स्वर्ग के सुख का भोग कौन कर सकता है?

यहाँ पर राजसूय यज्ञ करने पर ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है न करने पर नहीं, अभिप्राय के इस वाक्य में साध्य स्वर्ग है, राजसूय ही उसका हेतु है। वही प्रधान है, नञ् का अर्थ अप्रधान। अतः विध्यनुवादभाव के अभाव में राजसूय-यज्ञ रूप उत्तर पदार्थ की प्रधानता से अनिष्टवान् में नञ् समास हुआ है।[1] अन्तरश्लोकों में व्यवस्था देते हुए कहते हैं कि अनिष्टवान् की तरह असंरब्धवान् में नञ् का विधान नहीं है। क्योंकि वहाँ क्रियाँश कारकाँश दो हैं। दोनों अर्थों में से क्रियाँश का ही नञ् से निषेध करना अभीष्ट है, कारकाँश का नहीं। नेष्टवान् में तो प्रतीयमान क्रियांश का ही निषेध हुआ है। पूर्वत्र शब्द-शक्ति के स्वभाव से क्रियांश का निषेध प्राधान्येन विवक्षित है। उसका ठीक-ठीक विमर्श न होना ही विधेयाविमर्श दोष है।[2]

क्रियांश और कारकांश में क्रियांश ही निषेध्य है ऐसी बात नहीं है। कर्तांश भी अपोह्य होता है। लेकिन समासादि वृत्ति में उसके विपरीत कारकांश ही प्रतिषेध्य होता है, क्रियांश नहीं। जैसे न कुम्भकारः अकुम्भकारः, इस पद में 'कुम्भं करोतीति' विग्रह में कर्मणि अण् प्रत्यय होकर कुम्भकार पद कुलाल का वाचक होता है। यहाँ अकुम्भकारः नञ् से कारक कुम्भकार का ही निषेध होता है न कि 'कृ' क्रिया का, जो कि कुम्भकार पद में अनुस्यूत है। यह नियम शब्द शक्ति के स्वभाव से है। जहाँ पर नञ् अर्थ गौण होकर प्रतीत होता है वहाँ तो समास होता है और जहाँ उसका ही अर्थ प्रधान होता है उसका समास नहीं होता। इस अर्थ के स्पष्ट हो जाने पर असंरब्धवान् में समास करना, जहाँ नाञर्थ की प्रधानता होती है, ठीक नहीं है अतएव इसमें विधेयाविमर्श दोष है।[3] फिर भी कुछ विद्वान् व्यामोहवश पर्युदास नञ् में भी समास करना पसन्द नहीं करते। उदाहरणतः—

---

१. इह च पर्युदासाश्रयणमसङ्गतम् अर्थस्यायुक्तत्वप्रसङ्गात्। संरब्धवत्प्रतिषेधो ह्यत्राभिमतः नासंरब्धवद्विधिः तत्रैव क्रियांशप्रतिषेधावगतौ नञः क्रियाभिसम्बन्धोपपत्तेः। न चासौ प्रतीयते गुणीभूतसंरम्भनिषेधस्यार्थान्तरस्यैव संरब्धवत्सदृशस्य विधौ प्रतीतेः। न च तत्प्रतीतौ विवक्षितार्थसिद्धिः काचित्। तत्सिद्धिपक्षे च समासानुपपत्तिः। नार्थस्य विधीयमानतया प्राधान्यादुत्तरपदार्थस्य चानूद्यमानतया तद्विपर्ययात्। समासे च सति अस्य विध्यनुवादभावस्यास्तमयप्रसङ्गात्। यत्र तु विपर्ययस्तत्र समासो भवत्येव। व्यक्तिविवेक, पृ० १५६-१५७।

२. क्रियाकर्त्रंशभागर्थो वाक्येऽपोह्यो नञा यदि ।
क्रियांश एवापोह्यः स्यान्नेष्टवानितिवत् तदा ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० १५८।३।

३. अकुम्भकार इतिवद् वृत्तौ तु स्याद्विपर्ययः ।
इत्येष नियमोऽर्थस्य शब्दशक्तिस्वभावतः ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० १५८।४।

ननु साधु कृतं प्रजासृजा शशिकान्तेषु मनो न कुर्वता ।
न हि चेतनतामवाप्य ते विरमेयुर्गलितेन केवलम् ॥

यहाँ पर 'न कुर्वता' में समास नहीं किया है जिससे 'करोति' क्रिया के निषेध की ही प्रतीति होती है, जो वाक्यार्थ के अनुगुण नहीं है। अथवा--"गृहीतं ये नासीः परिभवभयान्नोचितमपि।" में 'अनुचितमपि' के स्थान पर समास न करके 'नोचितमपि' कहने से विपरीत अर्थ की प्रतीति होती है।

यदि यह कहें कि जैसे अश्राद्धभोजी ब्राह्मण की भाँति प्रसज्यप्रतिषेध में भी समास होता ही है उसी प्रकार यहाँ पर 'असंरब्धवान्' में भी समास होने से क्या दोष है ? यहाँ संरब्धवान् के निषेध का ही ज्ञान होना ठीक है असंरब्धवान् की विधि का नहीं। और इस प्रकार यहाँ भी प्रसज्यप्रतिषेध कर लेने से ही काम चल जाता है। पर्युदास के आश्रयण की क्या आवश्यकता है ? लेकिन ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि इस प्रकार 'अश्राद्धभोजी' पद में अव्यवहितोत्तर श्रूयमाण श्राद्ध पदार्थ के साथ नञ् के निषेध्यनिषेधक भाव रूप अभिसम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती। अपितु भोजी अर्थ के साथ अर्थात् श्राद्ध भोज्यकर्त्ता के साथ सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है। यहाँ पर भी कर्त्ता का अंश ही प्रधान है, क्रिया का नहीं। अतएव कर्त्ता श्राद्धभोजनशील प्रतीत होता है। उसके भोजन मात्र अर्थ में कर्त्ता में णिनि प्रत्यय का विधान नहीं हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'श्राद्धं भोक्तुंशीलम् अस्य इति श्राद्धभोजी, न श्राद्धभोजी अश्राद्धभोजी कश्चित् पुरुषः' इस व्युत्पत्ति से शब्द में दो अंश हैं एक भुज् क्रिया रूप दूसरा णिनि का अर्थ कर्त्ता। क्रिया कर्त्ता का विशेषण है अतः अप्रधान है। स्वतंत्र होने से कर्त्ता ही प्रधान है। नञ् का अन्वय किसमें हो इस संदेह में 'संदिग्धं राज्ञः' न्याय से प्रधान अर्थात् कर्त्ता में ही उसका अन्वय उपपन्न होगा अप्रधान क्रिया में नहीं। इस प्रकार क्रिया के साथ अन्वय न होने के कारण यह प्रसज्यप्रतिषेध का उदाहरण नहीं हो सकता, पर्युदास का ही हो सकता है। फिर इसकी तुलना 'असंरब्धवान्' से कैसे हो सकती है।[1] अतः उक्त 'असंरब्धवान्' में विधेयाविमर्श दोष है ही। इसी विषय को संग्रहकारिका में कहते हैं कि नञर्थ के प्रधान एवं निषेध के अप्रधान होने पर नञ् समास नहीं होता। क्योंकि समास होने से गौण की प्रधानता तथा प्रधान की गौणता रूप अर्थ-विपर्यास दोष उपस्थित होता है।[2]

(इ) यतद्पदों के प्रयोग का विचार

विधेयाविमर्श दोष में यत् और तत् शब्द का प्रयोग प्रायः आता है। यत् और तत् में

---

१. नन्वश्राद्धभोजीत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि यथा समास इष्यते तद्वदिहापि भविष्यति। संरब्धवन्निषेधश्च प्रतिपत्स्यते नासंरब्धवद्विधिरिति प्रसज्यप्रतिषेध एवायमस्तु किं पर्युदासाश्रयणेन। नैवं शङ्क्यं, यतो न तावदत्र नञः श्राद्धेनोत्तरपदार्थेनाभिसम्बन्धः कश्चित्प्रतीयते, अपि तु विशेष्यतया प्राधान्येन तद्भोज्यार्थेनैव। तत्रापि कर्त्रंश एव प्रधानो न क्रियांशः। श्राद्धभोजनशीलो ह्यतः कर्ता प्रतीयते न तद्भोजनमात्रं कर्त्तरि णिनेर्विधानात्।
—व्यक्तिविवेक, पृ० १५९-१६०।

१. नञर्थस्य विधेयत्वे निषेध्यस्य विपर्यये ।
समासो नेष्यतेऽर्थस्य विपर्यासप्रसङ्गतः ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० १६२।

से केवल किसी एक का प्रयोग उपपन्न नहीं माना जाता। क्योंकि विधेयत्व प्रतीतिकारी तत्पद के अभाव में वाक्य में निराकाँक्षत्व का ज्ञान नहीं होगा। अनुवाद्यत्वमात्र प्रतीतिकारिता से विधेयविषयक आकाँक्षा जागरूक रहती है। इसीलिये कहा गया है कि यत् और तत् का सम्बन्ध नित्य है। जहाँ कहीं भी इनमें से किसी एक का उपादान होगा, वहाँ दूसरे का विधान आवश्यक होता है। इन दोनों का उपक्रम और उपसंहार दो प्रकार का होता है—शाब्द और आर्थ। जहाँ पर दोनों का शब्दतः उपादान होता है वहाँ शाब्द होता है, जैसे—

'यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददौ न जहार तत्।'

तथा—'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूज्यकर्मा सुहृदां शृणोति यः'।

आर्थ वहाँ पर होता है जहाँ यत् और तत् दोनों में एक का तो शब्दतः उपादान किया जाय और दूसरा अर्थतः आजाय या दूसरे का अर्थ के सामर्थ्य से आक्षेप हो जाता हो। केवल तत् शब्द का अभिधान होने पर आर्थ तीन प्रकार का होता है—प्रसिद्धार्थ विषयक, अनुभूतिविषयक और प्रक्रान्तविषयक। जहाँ पर प्रसिद्ध वस्तु की विषयता से कल्पित यत् से सन्निधान स्थापित किया जाय उसे प्रसिद्धार्थविषयक कहते हैं। उदाहरणस्वरूप—

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी'॥

यहाँ पर तत् शब्द सा के प्रयोग से प्रसिद्धार्थ चन्द्रमा की कला के बोध के लिये या से यत् पद का आक्षेप हो जाता है। अनुभूतिविषयक वह है जहाँ यत् शब्दार्थ अनुभवगम्य हो। उदाहरणस्वरूप—

ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ति।

इसमें तत् पद 'ते' के उपादान से बहुशः अनुभूत उन नेत्रों का ग्रहण हो जाता है जिनका पहले अनेक बार साक्षात्कार हो चुका है। प्रक्रान्तविषयक वह है जहाँ तत् से यत् शब्दार्थ की प्रतीति प्रकरणवश होती है। यथा—

'कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिः समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः'॥

यहाँ पर तत्पदार्थ से प्रक्रान्त अग्निवर्ण राजा से गवेषित यत् का अर्थ निकलता है। प्रकरण से अग्निवर्ण का वर्णन हो रहा है, अतः तत् शब्दार्थ प्रक्रान्त विषयक एवं प्रमुख है। कुछ लोग इसके एक चौथे प्रकार का भी विधान करते हैं। जहाँ पर दोनों यत् और तत् का शब्दतः उपादान न हुआ हो किन्तु वर्णित वस्तु विषय से दोनों का ही आक्षेप हो जाता हो। उदाहरण स्वरूप—

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥'

उक्त पद्य में, 'वह जो उत्पन्न होगा उसके प्रति हमारा यह प्रयत्न सफल होगा' अर्थ होने से यहाँ

यत् और तत् दोनों का अर्थ से ही आक्षेप होता है। इसी अभिप्राय को संग्रहकारिका में कहते हैं।[1] ऐसा इसलिये होता है कि कर्तृ वाचक इदमादि शब्द से तद् शब्द का समन्वय नहीं होता।

यत् का अर्थ उपक्रमोपसंहार दो प्रकार से सम्भव है—प्रक्रान्तवस्तुकल्पित विषयक एवं तत्कर्मादिविषयक। जहाँ पर वस्तु का वर्णन प्रकरणवश विहित होता है उसे क्रान्तविषयक कहते हैं। जैसे—'यं सर्वशैलाः' इस पद में प्रकरणवश प्रयुक्त यत् शब्द से 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' में हिमालय का परामर्श होता है। दूसरे का उदाहरण है—'आत्मा जानाति यत्पापं, माता जानाति यत्पिता' यहाँ पर 'यत्पापं तत् आत्मा जानाति, यः पिता तं माता जानाति' उभयत्र तद् पद के आक्षेप से ही वाक्यार्थ उपपन्न होता है। कहीं कहीं पर तत् शब्द का दो बार तथा यत् शब्द का एक ही बार प्रयोग मिलता है। जैसे—'यत् तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।' इत्यादि पद में तत् पद का दो बार तथा यत् का एक ही बार उपादान हुआ है। फिर भी ऊपर कहे गये दो प्रकार के भेदों में ही इसका भी समावेश हो जाता है। क्योंकि यत् के प्रक्रान्तविषयक होने से तद् का एक जगह तो शाब्दसम्बन्ध है, दूसरे तत् के प्रयोग में यत्तद् के प्रसिद्ध तेजोनिष्ठतया उपकल्पित यत् के साथ सम्बन्ध होने से आर्थ है।[2]

इस प्रकार यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'योऽयमिह, योऽसौ' इत्यादि स्थलों में केवल यत् शब्द का ही उपादान हुआ है फिर उनका सम्बन्ध किससे माना जाय? यह वाक्य मुक्तक है इसमें उससे सम्बन्धित कोई ऐसा अर्थ सम्भव नहीं जो प्रकरणवश चला आ रहा हो, जिसके साथ इसके सम्बन्ध की कल्पना कर ली जाय। उपकल्पित तत् शब्द के साथ इस यत् शब्द का सम्बन्ध सम्भव नहीं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि इन स्थलों में यत् शब्द का प्रयोग निराकाँक्ष है। क्योंकि उनके साथ अदस् शब्द का प्रयोग हुआ है और उससे ही वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है वाक्यार्थ की विश्रान्ति होने पर विधेयाविमर्श दोष की सम्भावना कथमपि नहीं होती। किन्तु यह ठीक नहीं है। अदस् शब्द का अर्थ तद् शब्द के अर्थ के समान नहीं माना जा सकता। दोनों को समानार्थक मानने से विध्यनुवादभावरूपज्ञान की निराकाँक्षता हो जायगी। इसके अतिरिक्त अदस् शब्द को तत् का समानार्थक स्वीकार कर लेने पर जहाँ केवल अदस् शब्द का ही प्रयोग

---

१. यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिः।
तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते ॥६॥
यतोऽध्यक्षायमाणोऽर्थः स तेभ्यः प्रतिपद्यते।
न चासौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात् ॥७॥ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श।

२. यदः पुनरार्थो द्विप्रकारः सम्भवति प्रक्रान्तवस्तुकल्पिततत्कर्मादिविषयेण तदा तस्याभिसम्बन्धात्। यथा 'यं सर्वशैला' इत्यादौ 'स हिमालयोऽस्ती'ति। यथा च 'आत्मा जानाति यत् पापं माता जानाति यत्पिता' इत्यादौ तदात्मा जानातीत्यर्थावगतेः।

"यत् तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम् ॥"

इत्यादौ च यद्यपि तदो द्विरुपादानं सकृच्च यदस्तथापि तत्र यथोक्तसम्बन्धद्वैविध्यानतिवृत्तिः। तथा हि यदः प्रक्रंस्यमानविषयेण तदपीत्यनेन तदाभिसम्बन्धाच्छाब्दः। यत्तदित्यस्य तु प्रसिद्धतेजोनिष्ठतयोपकल्पितेन यदाभिसम्बन्धादार्थः। व्यक्तिविवेक, पृ० १६७-१६९।

है वहाँ पर भी उससे यत् का परामर्श होगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अदस् शब्द के साथ यत् का विध्यनुवादभाव नहीं बनता।[1]

इस प्रकार यत् और तत् शब्द के सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन कर ग्रंथकार ने नाना-प्रकार के उदाहरणों से यह प्रदर्शित किया है कि इन प्रयोगों की ठीक-ठीक जानकारी के बिना विधेयाविमर्श दोष का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इस समूचे विवेचन को निम्नलिखित संग्रह-कारिकाओं में भी संकलितकर दिया है—

अनुक्त्वैव परामृश्यं प्रयोगो यत्र यत्तदोः ।
निरन्तरः पुनस्तत्र तयोरुक्तिर्न दुष्यति ॥२।८॥

'यत्तदूर्जित' आदि स्थलों में जहाँ सर्वनाम से परामर्श किये जाने योग्य अर्थ को बिना कहे यत् और तत् का प्रयोग, बिना किसी व्यवधान के कर दिया जाता है वहाँ उनका पुनः कथन सा दोष नहीं होता।

तयोर्निरन्तरोपात्तेष्विदमेतददस्सु च ।
तयोस्तेषां च नापेक्षा तेष्वसत्स्विव शाम्यति ॥२।९॥

इसी प्रकार इदम्, एतद् और अदस् सर्वनामों का यत् और तद् के साथ बिना किसी व्यवधान के मिला कर प्रयोग किया गया हो फिर भी यत् से तत् और तत् से यत् की आकाँक्षा उसी प्रकार शान्त नहीं होती जैसे उनके न रहने पर अर्थात् यत् तत् के प्रसंग में अन्य सर्वनामों के प्रयोग से वाक्य में आकाँक्षा की पूर्ति नहीं होती।

उदाहरणजातं यत् तत्सांकर्यं समुद्भवम्
तस्य दिङमात्रमस्माभिरुक्तं विस्तरभीरुभिः ॥१।१०॥

यत् और तत् के इदम् आदि की मिलावट से अलग-अलग तथा दोनों को मिलाकर अर्थात् यत् शब्द के स्वतन्त्र रूप से अदस् आदि शब्दों के साहचर्य से, तद् शब्द के स्वतन्त्र रूप से इदम् आदि के साहचर्य से, तथा दोनों के सम्मिलित रूप से इदम् आदि के साहचर्य से जितने उदा-हरण सम्भव होते हैं मैंने उनका दिग्दर्शन मात्र कराया है। क्योंकि हम यहाँ इसका बहुत विस्तार नहीं करना चाहते।

(उ) समासासमास में विवक्षा की विधि

आचार्य महिमभट्ट ने विधेयाविमर्श दोष के विवेचन के अन्तर्गत समास को भी लिया है और विस्तृत विवेचन कर यह बताया है कि वाक्य में कहाँ समास विवक्षित होता है कहां नहीं। उनका कहना है कि जहाँ विशेष अंश को विधेय बनाने की विवक्षा हो वहाँ समास-वृत्ति नहीं होती। प्रधानेतरभाव की व्यवस्था में शब्दों में समास या समास का अभाव विवक्षाधीन होता है। समास में जिसके अर्थ की प्रधानता होती है वही पद विधेय होता है। उसका विमर्श न होने पर वहाँ विधेयाविमर्श दोष पड़ता ही है। पूर्वोदाहृत पद्य 'संरम्भः करिकीट......अम्बिका-

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० १६९-१७१।

केसरी' में प्रयुक्त समस्त पद 'अम्बिकाकेसरी' में इसी प्रकार का विधेयाविमर्श दोष है। निम्न संग्रहकारिकाओं में समास विषयक विवेचन का संकलन कर दिया है--

पदमेकमनेकं वा यद्विधेयार्थतां गतम् ।
न तत्समासमन्येन न चाप्यन्योन्यमर्हति ॥११॥
लोहितस्तक्षक इति समासोऽत्रापि नेष्यते ।
लौहित्यस्य विधावुक्तन्यायात्तस्याप्रवृत्तितः ॥१२॥
स्वरूपमात्रस्योक्तौ तु लौहित्याव्यभिचारतः ।
उष्णोऽग्निरितिवत् पक्षो न चास्त्यन्यस्तदत्यये ॥१३॥
विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित् ।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥१४॥
तौ विधेयानुवाद्यत्वविवक्षैकनिबन्धनौ ।
सा समासेऽस्तमायातीत्यसकृत् प्रतिपादितम् ॥१५॥[1]

समास में विधेयाविमर्श दोष प्रायः होता है। ग्रंथकार का कहना है कि इसीलिये काव्य में वैदर्भी रीति को ही सर्वोत्तम माना गया है क्योंकि उसमें समास लेशमात्र भी ग्राह्य नहीं होता। समास से केवल अन्वय का ही बोध कराना चाहिए। उत्कर्ष या अपकर्ष का नहीं। क्योंकि उनकी प्रतीति तो वाक्य से ही होती है। 'न्यक्कारो ह्ययमेव' नामक रावण की उक्ति का उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार ने उसे समझाया है। समास के विषय में एक दूसरे प्रकार की व्यवस्था देते हुए वह कहते हैं कि काव्य में समास की वृत्ति रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा करके होती है। इस प्रकार शान्त, शृङ्गार एवं करुण नामक रसों में समास का प्रयोग करना ठीक नहीं है क्योंकि वीरादि में ही समास-बहुला-पदावली प्रशस्त होती है। समास, वृत्त, वृत्तियाँ, काकु तथा वाचिकाभिनय रसाभिव्यक्ति के ही हेतु माने गये हैं। समास कैसा होना चाहिए इसका विधान करते हुए कहते हैं कि अर्धावधि एवं अन्तावधि ही समास है, इससे अधिक नहीं। अन्यथा पद्यात्मक रचना भी गद्यात्मक हो जायगी। गद्य में वृत्त (छन्द) के अभाव से रसाभिव्यक्ति पद्य की अपेक्षा कम होती है। ग्रंथकार ने समास में एक प्रकार के नियम का और विधान किया है कि उसमें पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होना चाहिए। क्योंकि बीच-बीच में सम्बन्ध विच्छेद से रसभंग होता है। इस पूरे व्याख्यान को निम्नलिखित आन्तर-श्लोकों में प्रतिपादित किया है--

अत एव च वैदर्भीरीतिरेकैव शस्यते ।
यतः समाससंस्पर्शस्तत्र नैवोपद्यते ॥१६॥
सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत् ।
नोत्कर्षमपकर्षं वा वाक्यात्तूभयमप्यदः ॥१७॥
किन्तु प्रवृत्तिरेतस्य रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
शान्तशृङ्गारकरुणानन्तरेण प्रशस्यते ॥१८॥
यतः समासो वृत्तं च वृत्तयः काकवस्तथा ।
वाचिकाभिनयात्मत्वाद्रसाभिव्यक्तिहेतवः ॥१९॥

---

१. व्यक्तिविवेक, द्वितीय-विमर्श ।

स चार्थान्तावधिः कार्यो नाधिको गद्यताप्तितः ।
गद्ये हि वृत्तवैकल्ये न्यूना तद्व्यक्तिहेतुता ॥२०॥
तस्माच्छिन्नः पदार्थानां सम्बन्धश्चेत् परस्परम् ।
न विच्छेदोऽन्तरा कार्यो रसभङ्गकरो हि सः ॥२१॥[1]

विधेय प्रधान का उपलक्षण है। इसलिए वाक्य में प्रधान का विमर्श न होने से दोष ही होता है। उदाहरणस्वरूप--

स्नेहं समापिबति कज्जलमादधाति
सर्वान् गुणान् दहति पात्रमधः करोति।
योऽयं कृशानुकणसंचयसम्भृतात्मा
दीपः प्रकाशयति तत् तमसो महत्त्वम् ॥[2]

यहाँ पर प्रकाशन क्रिया की ही प्रधानतया विवक्षा है अन्य पानाधानादि की नहीं। इसलिए उनका तुल्य श्रेणितया प्रकाशन दोष ही है। यहाँ पर प्रकाशन के अतिरिक्त अन्य सभी क्रियाओं का निर्देश शतृ आदि के द्वारा ही होना चाहिए था। जहाँ सभी क्रियाओं की सामान्यविवक्षा है वहाँ पर तुल्यत्वेन प्रतिपादन दोष नहीं है। इसी बात को संग्रहकारिका में कहते हैं--जहाँ पर एक कर्ता की अनेक क्रियाएँ प्राधान्य एवं गौण भाव से विहित हों वहाँ पर प्राधान्य का आख्यात के रूप में तथा शेष सब का शतृ आदि प्रत्ययों के माध्यम से ही प्रतिपादन होना चाहिए।

यत्रैककर्तृका नैका प्राधान्येतरभाक् क्रिया ।
तत्राख्यातेन वाच्याद्या शत्राद्यैरपरा पुनः ॥२२॥

अन्त में समास विषयक व्याख्यान का समाहार करते हुए कहते हैं कि समासादि वृत्ति के द्वारा उद्देश्य विधेय भाव का विधान नहीं हो सकता इसीलिए 'समर्थः पदविधिः' सूत्र में 'समर्थ' पद का ग्रहण किया। समासविधि और उसके प्रतिषेध में यही कारण है न कि बहुलग्रहण। क्योंकि उत्सर्गापवाद का विषय बहुलग्रहण का अशक्य नियम है, समास के विधि-निषेध रूप अन्य नियम नहीं। इसलिए जिस शब्द का अर्थ प्रकरणादि के द्वारा अर्थान्तर को प्रकट करता है वहाँ समास नहीं करना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर इष्टार्थ की प्रतीति के भंग होने का भय रहता

---

१. व्यक्तिविवेक, द्वितीय-विमर्श ।
२. अग्नि कणों के समूह से पूरित जो यह दीप है वह स्नेह अर्थात् तैल का पान करता है और कज्जल उत्पन्न करता है; सब प्रकार के कपास कौशेय तथा सन आदि की बनी हुई रस्सियों को जलाता है तथा स्नेह और बत्ती के आधार भूत पात्र की स्थिति को अपने नीचे किये रहता है। इस रूप में दीपक जो प्रकाश करता है, वह अन्धकार की ही महिमा है क्योंकि उसी के कारण दीपक का आश्रय लेना पड़ता है।

इस पद्य का दूसरा अर्थ यह भी है कि क्रोध रूपी अग्नि का आधिक्य जिस व्यक्ति में होता है वह अपने ही में विद्यमान प्रेमभाव (स्नेह) को पी जाता है रहने नहीं देता। कज्जल अर्थात् दोषजनक वाक्य का उच्चारण करता है, अपने में स्थित आभिजात्य, पाण्डित्य आदि गणों का दहन अर्थात् सर्वनाश करता है और अपनी सत्पात्रता को भी तिरस्कृत करता है। यह सब कुछ उस व्यक्ति में विद्यमान तमोगुण के आधिक्य के कारण ही होता है।

है।[1] अतः 'अम्बिका केसरी' इत्यादि स्थलों में जहाँ पर विशेष्य के उत्कर्ष या अपकर्ष का हेतु विशेषण है, वहां या तो विशेषण ही विधेय होना चाहिए अथवा समास ही नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्थल में अर्थात् जहाँ पर केवल अर्थ के साथ सम्बन्ध का प्रतिपादन इष्ट हो, उत्कर्षापकर्षादि इष्ट न हो, वहाँ के लिए बहुल ग्रहण है। अर्थात् वहाँ समास करने या न करने की स्वतंत्रता है। इसी अभिप्राय से समर्थ ग्रहण किया गया है। सापेक्षतादि अन्य दोषसमूह की निवृत्ति के लिए उसी प्रकार नहीं, जिस प्रकार 'पितरौ वन्द्यौ' इस वाक्य में नित्य साहचर्य होने से अपने ही माता-पिता की वन्दना का विधान होता है। इसी व्याख्यान को निम्न-लिखित संग्रहकारिकाओं में संक्षिप्त किया है।

विधेयोद्देश्यभावोऽयं वक्तुं वृत्या न पार्यते ।
यत् तेनानभिधानं वा समर्थग्रहणं च वा ॥२३॥
कारणद्वयमेवेष्टं बहुलग्रहणं न तु ।
अशक्यनियमो ह्यर्थो विषयस्तस्य नेतरः ॥२४॥
प्रकरणकाक्वादिसखो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
इष्टार्थभङ्गभीतेः शब्दो न समासमर्हति सः ॥२५॥
यत्रोत्कर्षोऽपकर्षो वा विशेष्यस्य विशेषणात् ।
तदेव वा विधेयं स्यात् समासस्तत्र नेष्यते ॥२६॥
अन्यत्र त्वर्थसम्बन्धमात्रे वक्तुमभीप्सिते ।
कामचारस्तदर्थं हि समर्थग्रहणं मतम् ॥२७॥
न तु सापेक्षताद्यन्यदोषजातनिवृत्तये ।
पित्रोः स्वतेव वन्द्यत्वे सा हि न्यायेन सिध्यति ॥२८॥

२. प्रक्रमभेद दोष तथा उसकी समस्यायें

दूसरा दोष प्रक्रमभेद है। जिस प्रकार उबड़खाबड़ भूमि में रथ पर बैठकर यात्रा करने

---

१. ननु चाचार्येणैवानिष्टनिवृत्यर्थं समासविधौ बहुलग्रहणं कृतम् । अतस्तेनैव क्वचिदेवंविधे विषये वृत्तिर्न भविष्यत्यन्यत्र भविष्यतीति किमनेन प्रधानेतरभावपरिकल्पनप्रयासेन । सत्यम् । किन्तु समासविधेः प्रधानेतरभावविवक्षानिबन्धनस्य च तत्प्रतिषेधस्योत्सर्गापवादभावेनावस्थानं द्रष्टव्यमित्यपवादस्यैवायं विषयो भवितुमर्हति न बहुलग्रहणस्य । यत्र तु क्वचिदुत्सर्गापवादयोर्विषयव्यवस्थानियमः कथंचनापि कर्तुमशक्यः स तस्य विषयो वेदितव्यः । अन्यथा गोदः कम्बलद इत्यत्राणभावोऽपि तद्विषयः स्यात् । इह तूक्तक्रमेण नियमः शक्यक्रिय एवेति नायं बहुलग्रहणस्य विषयः कल्पनीयः ।

न चायमर्थः स्वमनीषिकयैवास्माभिरुपकल्पितः किन्तर्हि, आचार्यस्याप्यभिमत एव । यदयं समासविधौ समर्थग्रहणं कृतवान् । केवलं तदभिप्रायमनवगच्छद्भिर्व्याख्यातृभिः सापेक्षतादिदोषान्तरव्यावृत्तिपरतयैव तद् व्याख्यातं न पुनरेतद्वयावृत्तिपरतयापीति तदभिप्रायमेवास्माभिः प्रकटयद्भिस्तस्येहार्थत्वमपि प्रतिपादितं न त्वपूर्वं किंचित् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २२७-२२९ ।

वाले की अनुभूति दुःखप्रद होती है ठीक उसी प्रकार रसविशेष में प्रवृत्त पाठक की अनुभूति में जिससे बार-बार परिस्खलन होता है, उसे प्रक्रमभेद दोष कहते हैं। काव्य में इस दोष के होने पर पाठक को अत्यन्त उत्तम भी रचना का आनन्द उसी प्रकार नहीं मिलता जिस प्रकार गर्तबहुल पथ पर रथ से जाता हुआ पथिक पतनभय से निरन्तर आशंकित रहता है तथा उसे यात्रा के सुख की रंचमात्र भी अनुभूति नहीं होती।[1]

शब्दार्थ के व्यवहार में विद्वान् लोग भी सर्वत्र लौकिक क्रम का अनुसरण करते ही हैं। रसास्वाद की प्रतीति में विघात न हो इसके लिए लोक शब्दार्थ व्यवहार को उसी क्रम में आदर देता है जिस क्रम में वे होते हैं। प्रकृति, प्रत्यय तथा पर्य्यायादि एवं तद्विषयक अभिमत भावों की अनन्तता के कारण प्रक्रमभेद अनन्त प्रकार का सम्भावित है।[2]

मुख्यतया इसके तीन भेद होते हैं—१. प्रकृतिप्रक्रमभेद, २. प्रत्ययप्रक्रमभेद और ३. पर्यायप्रक्रमभेद। प्रकृति प्रक्रमभेद का उदाहरण है—

सततमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनानयन्त्या।
गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमनालपनादहं भवत्याः॥क

यहाँ पर भाष् और लप् दोनों क्रियाओं का अर्थ समान होने पर भी चूंकि भाष् क्रिया से ही वाक्य का समारम्भ किया है, अतः उसी से निर्वाह करना उचित था अन्य लप् से नहीं। इस प्रकार के प्रक्रमभेदाख्य शब्द भेद में विध्यनुवादभाव की ही उपलब्धि होती है। अतः इन्हें विधेयाविमर्श का प्रकार भी कहा जा सकता है।

शब्द की पुनरुक्ति और प्रक्रमभेद को एक नहीं समझना चाहिए, क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है। प्रक्रमभंग का विषय है—उद्देश्य के अनुकूल ही प्रतीति का निर्देश। शब्द पुनरुक्ति इसके ठीक विपरीत भाव से होती है। इसलिए इसमें उसकी प्रसक्ति नहीं हो सकती। प्रत्यय प्रक्रमभेद का उदाहरण है—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः॥ख

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० २४३-२४४।

२. किंच सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे विद्वद्भिरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्त्तव्यः। लोकश्च मा भूद्रसास्वादप्रतीतेः परिम्लानतेति यथाप्रक्रममेवैनमाद्रियते नान्यथा। स चायमनन्तप्रकारः सम्भवति। प्रकृतिप्रत्ययपर्यायादीनां तद्विषयभावाभिमतानामानन्त्यात्।
—व्यक्तिविवेक, पृ० २४४।

क. तुम उन्हें लेकर जो नहीं आई इसके कारण हमारा तुम्हारा सम्भाषण सदा के लिये बन्द हो गया ऐसा मैंने निश्चय किया है क्योंकि मुझमें अब धैर्य नहीं रहा। उनसे बात करने के अतिरिक्त मेरे प्राण धारण करने के लिये अन्य कोई अवलम्ब सम्भव नहीं।

ख. यश की प्राप्ति के लिये, सुख की कामना से, अथवा मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या को अतिक्रान्त कर महान् होने के लिये उत्कण्ठा मात्र से रहित होकर जो महान् पुरुषार्थ करते हैं, सिद्धि उत्कण्ठिता नायिका के समान स्वयं उनके अंक में आ जाती है।

यहाँ पर 'सुखलिप्सया वा' के स्थान पर 'सुखमीहितुं वा' यह तुमन्त प्रयोग ही होना चाहिए था। अतः यहाँ प्रत्ययप्रक्रम दोष है। पर्यायप्रक्रमभेद का उदाहरण है—

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥[1]

यहाँ पर पुत्र और अपत्य शब्द एक दूसरे के पर्याय होने से प्रक्रम के विषय हैं—उत्तरार्ध में प्रयुक्त पुष्प और चूत शब्द नहीं। क्योंकि उनका कथन सामान्य विशेषभाव से हुआ है। पूर्वार्द्ध में भी इसी प्रकार 'पुत्रवती' के स्थान पर अपत्यवती पाठ होना चाहिए। अथवा—

खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशीव कलहंसः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि॥

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त 'इव' से जो प्रक्रम हुआ है उसी से उपसंहार भी होना चाहिए था, आकार शब्द से नहीं। इस प्रक्रमभेद के अनेक उपभेद होते हैं। उनमें सर्वनाम प्रक्रमभेद, विभक्ति प्रक्रमभेद, उपसर्ग प्रक्रमभेद, वचन प्रक्रमभेद, कारकशक्ति प्रक्रमभेद, शाब्द प्रक्रमभेद, आर्थ प्रक्रमभेद, क्रम प्रक्रमभेद एवं वस्तु प्रक्रमभेद आदि मुख्य हैं। इनका विस्तृत विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि जिस प्रक्रमभेद को यहाँ दोष के रूप में वर्णित किया है और उसे रस-प्रतीति के विघात का हेतु माना है, महाकवियों की कृतियों में ऐसे स्थलों की भरमार है फिर वे सभी दोषयुक्त कैसे हैं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है किंचित् मात्रा में दोष भी कहीं-कहीं अलंकार बन जाता है।

३. क्रम-भेद दोष का स्वरूप एवं लक्षण

जहाँ पर न्यायक्रम का उल्लंघन हो उसे क्रमभेद दोष कहते हैं। यथा—'नवजलधर-सन्नधोऽयं न दृप्तनिशाचरः' इसमें नवजलधर पद के पूर्व या पश्चात् 'इदम्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था। जैसे 'शुक्तिकेयं न रजतम्' इसमें 'इयम्' पद का प्रयोग हुआ है। अथवा—

कला च सा कान्तिमती कलावतः।
त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

यहाँ पर द्वितीय 'च' शब्द का प्रयोग भिन्न क्रम से हुआ है। उसे प्रथम च के समान 'त्वम्' के अनन्तर ही प्रयुक्त होना चाहिए था। इस प्रकार इसके अनेक उदाहरण प्रत्युदाहरण दिये हैं, जिनमें प्रायः अव्ययों का प्रयोग उचित क्रम से नहीं हुआ है। संग्रहकारिकाओं में क्रमभेद के विषयविवेचन में कहा है कि—जहाँ पर वक्तव्य वस्तु के स्वरूप का अवच्छेदक इति शब्द इष्ट होता है उस स्थल में इति शब्दके पहले वक्तव्य वस्तु से भिन्न अन्य किसी शब्द का कथन नहीं

---

१. यद्यपि महीधर हिमवान् पुत्रवान् थे तथापि उनकी दृष्टि अपनी गौरी रूप सन्तान के प्रति (स्नेहातिरेक से) तृप्ति को नहीं प्राप्त होती थी। अर्थात् गौरी के प्रति उनकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार का ही वात्सल्य था। ठीक ही है बसन्त में नाना प्रकार के पुष्प खिले रहते हैं फिर भी भ्रमरोंकी पंक्ति आम्रमञ्जरी पर ही विशेष रूप से आसक्त रहती है।

होना चाहिए।[1] जिस प्रकार उपाधि का धर्म, धर्मी में ही स्वत्व का आधान करता है और स्वयं उसके उत्तर में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार इति प्रभृति शब्द हैं जो जिसके उत्तर में प्रयुक्त होते हैं उसमें ही अपनी अवच्छेदना रूप शक्ति का आधान कर जाते हैं। इसलिए इनका निर्देश यथास्थान ही करना चाहिए। क्योंकि ऐसा न होने से जिसका अवच्छेदन अपेक्षित है उसका न होकर अनपेक्षित का ही अवच्छेदन होने से अर्थ में असंगति होगी। इत्थं, एवं इत्यादि तज्जातीय अर्थ का बोध कराने वाले अव्ययों की गति भी इति के समान ही समझना चाहिए। चादि अव्यय जिसके अनन्तर प्रयुक्त होते हैं उसी के अर्थ का अवच्छेदन करते हैं अन्यथा असामंजस्य उपस्थित होता है। यदि यह कहें कि अर्थ में औचित्य के लिए ही इति प्रभृति शब्दों के आनन्तर्य-नियम का विधान है; तो यह इसलिए व्यर्थ है कि अर्थ के औचित्यवश ही यह प्रयोजन निष्पन्न होता है। औचित्य काव्य का प्राण है। अतः औचित्य ही पदार्थों के संगम का नियामक क्यों नहीं हो सकता? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि--यह बात ठीक है कि औचित्य से ही पदार्थों का आनन्तर्य नियम हो सकता है, किन्तु औचित्य के माध्यम से कुछ व्युत्पन्न लोगों को ही तथा किन्हीं थोड़े से प्रयोगों की ही प्रतीति हो सकती है, सबको नहीं[2] और न सभी प्रयोगों से। अन्यथा सहृदया सहृदय विभाग ही नहीं बनेगा। इसलिए व्युत्पन्नाव्युत्पन्न सर्वसाधारण के लिए उक्त नियमों का विधान करना आवश्यक है।

४. पौनरुक्त्य में दोषादोष विचार

जहाँ पर शब्दार्थ का पुनर्वचन हो उसे पौनरुक्त्य दोष कहते हैं। पुनरुक्ति के दो भेद--शाब्द एवं आर्थ, होते हैं। शब्दकृत पौनरुक्त्य उसी शब्द के घटोघटः के समान अभिधान करने से होता है। अर्थकृत पौनरुक्त्य शब्द के पर्यायवाची पदान्तर के प्रयोग से होता है। ग्रंथकार को शब्द पौनरुक्त्य मान्य नहीं है। चूँकि अर्थ के बोध के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः अर्थ के जितने प्रकार होंगे शब्द भी उतने ही प्रकार का होगा। क्योंकि यह नियम है कि अर्थभद से शब्द भिन्न होते हैं। इसलिए अर्थ के भिन्न रहने पर शब्द की ससानता से कोई दोष नहीं। उदाहरणस्वरूप--

हसति हसति स्वामिन्युच्चैः रुदत्यपि रोदिति।
द्रविणकणिकाक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥[3]

---

१. उक्तिस्वरुपावच्छेदफलो यत्रेतिरिष्यते।
न तत्र तस्मात् प्राक् किञ्चिदुक्तेरन्यत् पदं वदेत् ॥३३॥ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श।

२. यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम्।
तदर्थमेवावच्छिन्द्युरासमञ्जस्यमन्यथा ॥३६॥
अथानन्तर्यनियमस्तेषामर्थौचितीवशात्।
अन्यतस्तर्हि तत्कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्थकाः ॥३७॥
कैश्चिदेव हि केषांचिद् दूरस्थैरपि सङ्गतिः।
न जातु सर्वैः सर्वेषामित्यतेतदभिधास्यते ॥३८॥ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श।

३. स्वामी के हंसने पर जोरों से हंसता है तथा उसके रोने पर जोरों से रोता भी है। यहीनहीं उसके नाचने पर भृत्य भी नाच उठता है क्योंकि वह चाँदी के टुकड़ों से खरीदे हुए यंत्र के समान है।

यहाँ पर 'हसति, रोदिति, नृत्यति' आदि पदों की पुनरुक्ति हुई है किन्तु उनके अर्थ भिन्न होने से दोष नहीं है। कहीं-कहीं तो ऐसी पुनरुक्ति गुण भी माना गया है। जैसे—

वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसंकाश काशाः।
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रीनदीहंस ! हंसाः ॥[1]

इत्यादि में लाटानुप्रसा के प्रयोग से रचना में चमत्कार का ही आधान होता है। इनसे विपरीत स्थल में ही दोष होता है। ग्रंथकार ने पौनरुक्त्य दोष का बहुत ही विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और नाना प्रकार से उन्हें उदाहृत किया है। इस सम्बन्ध में अनेक विषयों पर वाद-प्रतिवाद उठाकर उनका समाधान भी किया है। संग्रहकारिकाओं में विस्तृत विवेचन का समाहार करते हुए कहते हैं कि पौनरुक्त्य दो प्रकार का होता है—शाब्द एवं आर्थ। सामर्थ्यसिद्ध अर्थ की पुनरुक्ति आर्थ ही कही जाती है तथा तात्पर्य भेद से शब्द की दो बार उक्ति, शाब्द पौनरुक्तय है। एक दूसरे प्रकार से पौनरुक्त्य के दो भेद होते हैं—गौण एवं मुख्य। गौण पुनरुक्ति ही दूषण है। जहाँ पर मुख्यतया पुनरुक्ति होती है वह भूषण मानी गयी है। उसका उदाहरण लाटानुप्रास संज्ञक शब्दालंकार पहले ही दिया जा चुका है। पौनरुक्त्य दूषण अनेक प्रकार का होता है—प्रकृति पौनरुक्त्य, प्रत्यय पौनरुक्त्य तथा दूसरे प्रकार से पद पौनरुक्त्य एवं वाक्य पौनरुक्त्य। जहाँ पर प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ अभिन्न हो ऐसे पद का वाक्य के आदि में प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी तरह बहुब्रीहि समास के अनन्तर विहित मत्वर्थीय आदि शब्द की कर्मधारय की आशंका से पुनरुक्तता स्पष्ट ही है। अतः पद में जिस तद्धित की उत्पत्ति हो उसी तद्धित से अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। कभी भी ऐसे तद्धितान्त के साथ समास नहीं होना चाहिए। विशेषण के स्थलों में ही जहाँ पर विशेष्य का उत्कर्षापकर्ष बताना अभीष्ट हो वहीं पर विशेषण का प्रयोग करना चाहिए। अन्यत्र वह पुनरुक्तिदोष ग्रस्त माना जायगा।[2] जहाँ पर उपमावाचक शब्द के एक बार के प्रयोग से ही तत्सदृश अन्य पदों में उपमानत्व की प्रतीति होगी वहाँ पर सादृश्यवाचक पद का पुनः पुनः प्रयोग दोष ही है जिस प्रकार नियत कारक की विशेषण-शून्य उक्ति, पुनरुक्ति ही होती है उसी प्रकार अनुमित अर्थ की उक्ति भी पुनरुक्ति है। अतः जिसके वश से जिस वस्तु की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है उसका शब्दतः उपादान करना दोष ही है।[3] जो पदार्थ, जिस पदार्थनिष्ठ धर्म के उपचार से उपलक्षित होता है अथवा जिस पदार्थ का जिस पदार्थ के साथ अन्वय होता है उसका निरूपण आर्थं माना गया है अर्थात्

---

१. हे राजन् ! आप इन्द्र के समान हैं। श्वेत पुष्प धारण किये हुए काश नदियों के वस्त्र के रूप में प्रतीत हो रहे हैं। हे क्षीर रूपी नदी के हंस ! उन नदियों के तट पर बालू में बैठे हुए हंस काश के समान शोभित हो रहे हैं।

२. विशेषणवशादिच्छेद्विशिष्टं यत्र संज्ञिनम्।
युक्ता तत्र विशेषोक्तिरन्यथा पौनरुक्त्यकृत् ॥५३॥ व्यक्तिविवेक, द्वि० विमर्श

३. सकृदेव प्रयुक्तेन यत्र साम्याभिधायिना।
अन्येषामुपमानत्वं सामर्थ्यादवगम्यते ॥५४॥
तत्रासकृत् प्रयोगोऽस्य पौनरुक्त्याय कल्पते।
यद्वदव्यभिचारस्य कारकस्याविशेषणा ॥५५॥ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श

अर्थतः ही उसकी प्रतीति हो जाती है। वहाँ धर्म का शब्दतः उपादान करना दोष है।[1] प्रयुक्त पदों के अन्तर्गत ही जिन पदों का अर्थ प्रतीत हो जाता है उनका प्रयोग भी पौनरुक्त्य दोष है।[2] कर्ता के प्रधान एवं उसकी क्रिया के रूढ़ होने पर उसके साधकतम अंगों की शब्दतः उक्ति इष्ट नहीं है क्योंकि औचित्य के बल से ही उनकी प्रतीति हो जाती है।[3] उपर्युक्त दोनों दोष प्रायः समासविषयक हैं। लक्षण-कुशल विद्वानों ने समासवृत्ति को ही प्रयोग की कसौटी माना है। इसलिए समास एवं समासाभाव में असाधारण विशेषण का कथन होने पर विशेष्य की उक्ति अनुचित ही होती है। क्योंकि जहाँ असाधारण विशेषण का कथन होता है वहाँ विशेष्य का बलात् ग्रहण हो जाता है।[५] किसी पदार्थ का जो स्वरूप है यदि उस स्वरूप की उक्ति से ही उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है तो अर्थज्ञान के लिए बिना प्रयोजन के ही दोनों की उक्ति करना पुनरुक्ति है।४ जो धर्म धर्मी का अव्यभिचारी है उस धर्म के साथ धर्मी का समास ठीक नहीं होता, क्योंकि प्रधान के ज्ञान से ही तद्गत धर्म की प्रतीति स्वतः हो जाती है।[६] यदि क्रिया की प्रतीति, कारण के ज्ञान के साथ नियत हो तो कारण की अप्रतीति से ही अभेद के कारण उस क्रिया की भी प्रतीति नहीं होगी। जैसे चन्द्र और आलोक में अभेद होने से आलोक की प्रतीति के अभाव में चन्द्र की प्रतीति नहीं होती। चूंकि कारण ही त्यागपाकादि क्रिया के स्थलों में क्रिया की प्रवृत्ति का निमित्त होता है अतः पूर्वोक्त कथन के अनुसार कारण की ही उक्ति होनी चाहिए।[७] किसी शब्द के प्रयोग करने या न करने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता तो कवियों

---

१. अर्थस्यानुमितस्योक्तिर्नात्येति पुनरुक्तताम् ।
यद्वशाद्यदभिव्यक्तिस्तदुक्तौ नाददीत तत् ॥५६॥ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।

२. यो यद्धर्मोपचारेण यत्सम्बन्धान्वितोऽपि वा ।
तस्य तद्रूपणार्थोष्टा न शाब्दी पौनरुक्त्यतः ॥५७॥ वही

३. कर्त्तर्योगिनि रूढायां तत् क्रियायां च नेष्यते ।
वाक्साधकतमांगानामौचित्यादेव तद्गतेः ॥५८॥ वही

४. दोषद्वयमिदं प्रायः समासविषयं मतम् ।
यतोऽवकरभूयिष्ठा लक्षणैकपरायणैः ॥६०॥ वही
कृताः प्रतीतिविमुखैर्दृश्यन्तेऽनेकधा हि ते ।
समासमत एवाहुः कवीनां निकषं परम् ॥६१॥ वही
वृत्तावितरथा चोक्ते नान्यभाजि विशेषणे ।
विशेष्योक्तिरयुक्तैव स्यात् तदव्यभिचारतः ॥६२॥ वही

५. यो यदात्मा तदुक्त्यैव तस्यार्थस्य गतिर्यतः ।
तेन प्रयोजनाभावे द्वयोक्तिः पुनरुक्तिकृत् ॥६३॥ वही

६. यो यस्य नियतो धर्मस्तस्य तेन न धर्मिणा ।
समासः शस्यतेऽन्यार्थस्तत एव हि तद्गतेः ॥६४॥ वही

७. क्रियाप्रतीतिः करणप्रत्ययाव्यभिचारिणी ।
तदप्रतीतौ तादात्म्यात् सैवानवसिता भवेत् ॥६५॥ वही
यदेतत् त्यागपाकादौ क्रियेत्युक्तेर्निबन्धनम् ।
तद्व्यक्तिर्यद्वशाद्यस्य तदुक्तौ नाददीत तत् ॥६६॥ वही

को उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि उसे दुष्ट माना गया है।[१] अन्योन्य का आक्षेपक होने से अन्वय व्यतिरेक दोनों का कथन पुनरुक्ति का अतिक्रमण नहीं करता।[२] अन्त में पौनरुक्त्य दोष के विषय विवेचन का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि पुनरुक्ति के प्रकारों का यह दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। उनका विस्तृत विवेचन कौन कर सकता है?[३]

५. वाच्यावचन दोष

अब क्रम-प्राप्त पंचम एवं अन्तिम दोष वाच्यावचन का निरूपण करते हैं। वाच्यावचन शब्द में नञर्थक अकार का योग दो प्रकार से विहित है--वाच्य का अवचन तथा अवाच्य का वचन। दोनों प्रकार से जो दोष पड़ता है उसे वाच्यावचन दोष कहते हैं। यथा--

'कमलमनम्भसि कमले कुवलये तानि कनकलतिकायाम्
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥'

यहाँ पर द्वितीय कमल शब्द के स्थान पर सर्वनाम का प्रयोग होना चाहिए था। उसका जो स्वशब्द से कथन हुआ है, उससे वाच्यावचन दोष होता है। इसलिए यहाँ पर 'तस्मिंश्चकुवलये' यह पाठ होना चाहिए था। संग्रहश्लोक में एतद्विषयक नियम का विधान करते हुए कहते हैं कि सर्वनाम के द्वारा जिसका परामर्श सम्भव हो उसका स्वशब्द से अभिधान करने पर वाच्या वचन नामक दोष होता है।[४]

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'

इत्यादि कालिदास के प्रसिद्ध पद्य में वाच्यावचन का परामर्श करते हुए कहते हैं कि यहाँ पर कपाली शब्द या तो धर्मी शिव एवं उनका विशेषण रूप धर्म कपाल से युक्त होना, दोनों का बोधक है अथवा विशेष्यमात्र शिव का? अथवा कपाल सम्बन्ध से रहित विशेषणमात्र का? ये तीन पक्ष हैं। पहले पक्ष में विशेष के ज्ञान के लिए एक और कपाली शब्द का ग्रहण करना चाहिए जिससे निन्दा व्यक्त हो। द्वितीय पक्ष में धर्म के आश्रय की प्रतीति के लिए उसी तात्पर्य से अथवा सर्वनाम के द्वारा विशेष्य का अवश्य कथन होना चाहिए। जैसा कि--

'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये।'

इत्यादि कालिदास की उक्ति में ही 'हर' शब्द का पिनाक-पाणि के पर्याय के रूप में कथन हुआ है। अतएव तृतीय पक्ष भी यहाँ सम्भव नहीं। क्योंकि आवृत्ति के बिना एक ही शब्द अनेक अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ नहीं होता। इसीलिए यहाँ पर वाच्या वचन दोष है। और पाठ में

'द्वयं गतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'

इस प्रकार का परिवर्तन, अल्पदोष होने से पूर्वापेक्षा उत्तम है। अन्तरश्लोक में इसी

---

१. प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्नर्थगतिः समा।
न तत् पदमुपादेयं कविनावकरो हि सः ॥६७॥ --व्यक्तिविवेक, द्वि० विमर्श।

२. अन्योन्याक्षेपकत्वे सत्यन्वयव्यतिरेकयोः।
उभयोरुक्तिरेकस्य नात्येति पुनरुक्तताम् ॥६८॥ --वही

३. पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिङ्मात्रमीरितम्।
विवेक्तुं को हि कार्त्स्न्येन शक्नोत्यवकरोत्करम् ॥६९॥ --वही

४. सर्वनामपरामर्शविषये योऽर्थवस्तुनि।
स्वशब्दवाच्यतादोषः स वाच्यावचनाभिधः ॥७०॥ --वही

नियम का विधान करते हुए कहा है कि यद्यपि अर्थभेद से शब्दके भिन्न होने का सिद्धान्त है, किन्तु यह आवृत्ति व्यवहार केवल सादृश्य जन्य है। इसके मूल में एकता का भ्रम होने से प्रतिपाद्य अर्थ में संगति नहीं बैठती। अतः उसका पृथक् उपादान करना ही उचित है। इसलिए उसी तात्पर्य के द्वारा अथवा सर्वनाम के द्वारा उसका निर्देश अवश्य होना चाहिए। अर्थ की निष्पत्ति के लिए धर्मी और धर्म दोनों का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है।[1] इनके अतिरिक्त जहाँ पर एक अलंकार के विषय में अलंकारान्तर का निबन्धन हो वहाँ भी वाच्यावचन दोष होता है। समासोक्ति के विषय में श्लेष का उपनिबन्धन होने से दोष का उदाहरण देते हैं—

"अलकालिकुलाकीर्णमारक्तच्छदसुन्दरम् ।
आमोदिकर्णिकाकान्तं भाति तेऽब्जमिवाननम् ।।"

यहाँ पर समुचित विशेषण अब्ज के उपादान के सामर्थ्य से गम्य उसका उपमानभाव. समासोक्ति का ही विषय है, श्लेष का नहीं। क्योंकि समासोक्ति में ही उपमानभाव की अनुमीयमानता से सचेतनको चमत्कार की प्रतीति होती है। श्लेष में उसके वाच्य होने से चमत्कार का अभाव होता है। अतः यहाँ वाच्यावचन दोष है। श्लेष के विषय में उपमा का निबन्धन होने से वाच्यावचन का उदाहरण बाण के हर्षचरित से देते हैं—

'भैरवाचार्यस्तु दूरादेव दृष्ट्वा राजानं शशिनमिव जलनिधिश्चचाल'

यहाँ पर राजन् शब्द उभयार्थक होने से शशि का भीबोधक है। अतः वहीं श्लेष का विषय है। अतः शशि शब्द का अलग उपादान कर के राजन् और शशिन् शब्द में जो उपमेयोपमानभाव का जो निबन्धन हुआ है वह भी वाच्यावचन दोष का विषय है।

इस प्रकार और कई अलंकारों का उदाहरण देते हुए अलंकारों के उपनिबन्धन में वाच्यावचन दोष के नियम का विधान करते हुए कहते हैं कि—शलेषोपमादि अलंकारों की अभिव्यक्ति के लिए जो शब्द उनसे भिन्न, अलंकार के विषय हैं और उन्हीं शब्दों से यदि उनकी व्यंजना होती है तो यहाँ पर दूसरे अलंकार ही ग्राह्य होते हैं, श्लेषोपमादि नहीं। क्योंकि इसी में लाधव है। कवि की अपनी कृति में अलंकारों का कोई अपना विशेष स्थान नहीं होता जिससे एक का विधान और दूसरे का निषेध किया जाय।[2] रस के बन्धन में उद्यत कवि अलंकार की निष्पत्ति के प्रति चेष्टमान नहीं होता। क्योंकि रस की निष्पत्ति हो जाने पर अलंकारों का उपनिबन्धन

---

१. **अर्थभेदाद्विभिन्नेऽपि शब्दे सादृश्यमात्रजः ।**
आवृत्तिव्यवहारोऽयं मूलमस्यैकताभ्रमः ।।७१।।
अतश्च—
तत्पर्यायेण तेनैव सर्वनाम्ना विनिर्दिशेत् ।
आर्थहेतुत्वनिष्पत्तौ धर्मिधर्मोभयात्मकम् ।।७२।। **व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।**

२. **यदलंकारव्यक्त्यै ये शब्दास्तदितरोऽपि तैरेव ।**
व्यज्येताल्पतरैर्यदि तदसौ गृह्येत लाघवान्नान्यः ।।७३।।
न ह्यस्ति निजे कर्मण्यलंकृतीनाँ स कश्चनातिशयः ।
येन विधीयेतैकापरा निषिध्येत वा कविभिः ।।७४।।

—वही

स्वतः हो जाता है। विभावादि ही साक्षात् निष्पादित होने से रस के अंग हैं। विभावादि रूप शरीर में वैचित्र्य का आधान करने से अलंकार तदाश्रय होते हैं। अनन्तर नाना प्रकार के उदाहरण देकर वाच्यावचन दोष की विशद व्याख्या ग्रंथकार ने की है। इस दोष से रचना को बचाने के लिए अनेक प्रकार के नियमों का प्रतिपादन भी किया है जिनका संकलन निम्नलिखित अन्तर-श्लोकों एवं संग्रहकारिकाओं में हुआ है।

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित्प्रतितिष्ठति ॥२।९४॥

वाक्य में उद्देश्य और विधेय में से उद्देश्य का कथन किये बिना विधेय का कथन नहीं करना चाहिए। क्योंकि कोई भी विधेय वस्तु अपेक्षित आधार पाए बिना कहीं भी प्रतिष्ठित नहीं होती (उचित नहीं प्रतीत होती।)।

विधेयोद्देश्यभावोऽयं रूप्यरूपकतात्मकः।
न च तत्र विधेयोक्तिरुद्देश्यात् पूर्वमिष्यते ॥२।९५॥

यह जो उद्देश्य विधेयभाव है वह रूप्य-रूपक भाव के समान होता है जिसमें 'मुखं चन्द्रः' की तरह रूप्य का पहले एवं रूपक का बाद में कथन किया जाता है। यहाँ पर भी उद्देश्य से पहले विधेय का कथन ठीक नहीं समझा जाता।

पदानामभिसम्बन्धस्यान्यथाभावमात्रतः।
यत्रानिष्टप्रतीतिः स्याद् रचनाँ ताँ परित्यजेत् ॥२।९६॥

जहाँ पर पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के वैपरीत्य के कारण अभिलषित अर्थ की प्रतीति न होकर ऐसे अर्थ की प्रतीति होती हो जो इष्ट नहीं, उस रचना का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।

येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन सः
पदानामसमासानामानन्तर्यमकारणम् ॥२।९७॥

इति प्रतीत्यो वैंचित्र्यमनालोच्यैव चर्चितम्।
गुणदोषमपश्यद्भिर्दूरादूरोत्थयोस्तयोः ॥२।९८॥

जिस पद से जिसका सम्बन्ध है, वाक्य में भिन्न स्थल पर प्रयुक्त होने पर भी वह उसके साथ सम्बन्धित होकर ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उन पदों में जिनमें समास नहीं हुआ होता आनन्तर्य अर्थात् एक पद के तुरन्त बाद दूसरे का होना अनिवार्य नहीं समझा जाता। क्योंकि वहाँ आनन्तर्यके अभाव में अर्थ की प्रतीति में बाधा नहीं होती।

यह बात उन लोगों के द्वारा कही गई है जिन्होंने पदों के दूर और समीप में प्रयुक्त होने पर होने वाली प्रतीति में गुण और दोष को ठीक तरह से समझा नहीं है।

स्वरूपेऽवस्थितिर्येषां शब्दानामिति नेष्यते।
न तानन्यव्यवहितान् प्रयुञ्जीत विचक्षणः ॥२।९९॥

जिन शब्दों की स्थिति उसी रूप में इष्ट नहीं है विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि उनका प्रयोग दूसरे पदों के व्यवधानपूर्वक नहीं करें।

सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य या पुनः।
स्वशब्देनाभिधा दोषः स वाच्यावचनाभिधः ॥२।१००॥

ऐसे अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जिसका परामर्श किसी सर्वनाम के प्रयोग से ही सम्भव हो, स्वशब्द का प्रयोग करना वाच्यवाचन नामक दोष ही है।

पर्यायमात्रभिन्नस्य यदेकस्यैव वस्तुनः ।
उपमानोपमेयत्वमवाच्यवचनं च तत् ॥२।१०१॥

एक ही अर्थ के अभिधायक विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का उपमानोपमेय भाव से कथन अवाच्यवचन नामक दोष है ।[1]

(ग) महिमभट्ट के दोष-विवेचन की विशेषता

व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने पाँच दोषों का विवेचन बहुत ही विस्तारपूर्वक किया है । इनके विषय इतने व्यापक हैं कि काव्य-रचना सम्बन्धी किसी भी प्रकार का दोष इनसे छूट नहीं गया है । ग्रंथकार का काव्यविषयक यह अध्ययन बहुत ही व्यापक एवं अति गहन है । कालिदास, भारवि, माघ, बाण, भवभूति, श्रीहर्ष, भट्टनारायण प्रभृति प्रख्याताप्रख्यात कवियों में से कोई भी ऐसा नहीं बचा है जिसकी रचनाओं का उद्धरण देकर उनमें दोष न दिखाया हो। यही नहीं दोष का निराकरण कर निर्दुष्ट पाठ का विधान भी साथ में ही हुआ है । व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श का अध्ययन कर प्रत्येक विद्वान् इस उक्ति से सर्वथा सहमत होगा कि अलंकारशास्त्र के समूचे इतिहास में ऐसा कोई भी आलोचक नहीं हुआ है जिसे संस्कृत भाषा, उसके साहित्य एवं काव्यात्मक समालोचना पर उतना अधिकार प्राप्त हो जितना महिमभट्ट का है । इसी दोष-प्रकरण में ध्वनिकार आनन्दवर्धन की ध्वनिकारिकाओं में भाषा एवं भाव गत उभयविध दोषों का विवेचन अनेकत्र हुआ है । कालिदास प्रभृति कवियों की उत्कृष्ट उन रचनाओं में भी, जिनकी उत्तमता पर अंगुल्यानिर्देश दुस्साहस ही कहा जायेगा, महिमभट्ट ने दोषों का ऐसा युक्तियुक्त निरूपण किया है कि विचारशील अध्येता उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। श्री के० कृष्ण ने अपने एक निबन्ध में महिमभट्ट के दोष-विवेचन के विषय में लिखा है कि—जहाँ तक हम जानते हैं संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य-दोषों का विवेचन सर्वथा मौलिक रूप से वर्गीकरण करके अत्यन्त विशद रूप से किया है। उन्होंने वर्गीकृत दोषों का जो लक्षण एवं स्वरूप निरूपित किया है वह काव्य-दोष के रूप में अत्यन्त ही युक्तिसंगत है ।[2] वास्तव में महिमभट्ट का दोष-विवेचन स्वतंत्र रूप से एक प्रबन्ध का विषय है जिसमें संस्कृत भाषा एवं साहित्य के सौष्ठव के रहस्य का प्रतिपादन बड़ी ही मार्मिकता के साथ हुआ है । कवियों के लिए तो ग्रंथ का यह विमर्श इसलिए परम उपादेय है कि इस समूची सामग्री को हृदयंगम कर लेने पर एक ऐसा विवेक जागृत हो सकता है कि उससे काव्य-रचना में किसी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना रहती नहीं । उत्तरकालीन मम्मट आदि आलंकारिकों की कृतियों पर महिमभट्ट के दोष-विवेचन का जो प्रभाव पड़ा है वह अक्षुण्ण है जिसका विवेचन हम आगे करेंगे । काव्य-दोष के सम्बन्ध में यहाँ पर हम यही कह सकते हैं कि—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।

---

१. व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।

२. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टली, बीसवाँ अंक, पृ० २१७ ।

तृतीय-विमर्श

उत्तरवर्ती आचार्यों के दोष-विवेचन पर महिमभट्ट का प्रभाव

महिमभट्ट के उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी अपनी कृतियों में दोष का विवेचन किया है। प्रत्युत यह कहना उचित है कि महिमभट्ट के अनन्तर ही साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में काव्य-दोषों का सम्यक् एवं शास्त्रीय विवेचन हुआ है। दोष का सामान्य लक्षण देकर उनके भेद प्रभेदों का साँगोपाँग विवेचन करने तथा कवियों के विविध काव्यों से उनका उदाहरण प्रस्तुत करने की जिस परम्परा का श्रीगणेश महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में हुआ, परवर्ती आचार्यों में उस परम्परा ने इतना अधिक विकास किया कि आज 'संस्कृत-साहित्यशास्त्र में दोष-सिद्धान्त' पर स्वतंत्र रूप से शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा सकता है। महिम के परवर्ती आचार्यों में दोष-सिद्धान्त के निरूपण में जिनको पर्याप्त सफलता मिली है वह हैं—काव्यप्रकाशकार मम्मट तथा साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ। प्रकृतविमर्श में हम इन्हीं दोनों के दोष-विवेचनों का संक्षेपतः निरूपण करते हुए उन पर महिमभट्ट के प्रभाव का मूल्यांकन करेंगे।

(अ) मम्मट

महिम के उत्तरवर्ती आचार्यों में मम्मट का स्थान प्रत्येक दृष्टि से सर्वप्रथम है। काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में इन्होंने दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इनके विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की दोषविषयक सामग्री का पूरा पूरा उपयोग किया है तथा काव्यप्रकाश में जिस सुव्यवस्था के अनुसार उसका उपस्थापन हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रन्थकार की इसी में मौलिकता है।

दोष का सामान्य लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है कि—दोष वही है जिससे काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ का अपकर्ष होता हो।[1] यहाँ पर ग्रन्थकार ने मुख्यार्थ शब्द का वह अर्थ नहीं लिया है जो प्रचलित है तथा द्वितीय उल्लास में अभिधा के निरूपण के अवसर पर स्वयं इन्होंने ही जिसे मुख्यार्थ कहा है।[2] प्रत्युत यहाँ मुख्यार्थ से इनका तात्पर्य काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व रस से है। अतएव भ्रान्ति को दूर करने के लिए वहीं पर स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि रस ही वह मुख्य अर्थ है। वाच्य के लिए भी मुख्य पद का अभिधान इसीलिए हुआ है कि वही रस की व्यंजना का आश्रय होता है। अतः रस के आश्रय वाच्य का अपकर्ष होने से भी काव्य में दोष उपस्थित होता है। शब्द एवं वर्णरचना आदि रस एवं वाच्य दोनों के लिए

---

१. मुख्यार्थहतिर्दोषः। —काव्यप्रकाश ७।१।

२. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। —काव्यप्रकाश २।८

उपयोगी होते हैं अतः इनका अपकर्ष भी दोष माना गया है।[१] मम्मट में दोषों का स्वरूप वामन की परम्परा में गुणविपर्ययात्मक न होकर नाट्यशास्त्र की परम्परा में भावात्मक है। पर केवल गुणों के अभाव को भी वह दोष नहीं मानते। अतः भरत के इस कथन से मम्मट सहमत नहीं हैं कि गुण दोषविपर्ययस्वरूप होते हैं। इनके अनुसार दोष-रहित रचना, गुणादि के अभाव में भी यत्किंचित् आह्लादकर अवश्य होती है। अतएव काव्य-लक्षण में शब्दार्थ का प्रथम विशेषण अदोषौ दिया है। अनन्तर सगुणौ की उक्ति इस बात का प्रमाण है कि मम्मट दोष तथा गुण इनमें से किसी को किसी का विपर्यय नहीं मानते। आचार्य मम्मट के अनुसार दोषों के मूलतः दो भेद होते हैं—नित्य एवं अनित्य। इन दोनों प्रकार के दोषों के प्रकारान्तर से तीन भेद होते हैं—१. शब्ददोष, २. अर्थदोष एवं ३. रसदोष। शब्ददोष वह हैं जिनकी प्रतीति वाक्यार्थ-बोध के पूर्व ही होने लगती है। वाक्यबोध के अनन्तर प्रतीयमान दोष अर्थदोष कहे जाते हैं। ये दोनों प्रकार के दोष परम्परया ही रस के अपकर्षक होते हैं साक्षात् नहीं। तीसरे प्रकार के दोष वह हैं जो रस के साक्षात् अपकर्षक हैं। अतएव इन्हें रसदोष की संज्ञा दी गई है। काव्य में शब्द, अर्थ एवं रस की यथापूर्व उपस्थिति होती है। अतः यहाँ पर दोषों का निरूपण भी इसी क्रम से हुआ है। शब्द तीन प्रकार का होता है। पद, पदांश एवं वाक्य। अतः तदाश्रित शब्ददोष भी तीन प्रकार के होते हैं—पददोष, पदांशदोष, एवं वाक्यदोष। वाक्य की रचना में पदों की प्रथमता के कारण ही काव्यप्रकाश में सबसे पहले पद-दोषों का निरूपण किया है। तदनन्तर पदैकदेश पदांशदोष और फिर वाक्यदोषों का।

पद-दोषों की संख्या सोलह है जिनके नाम श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, तथा अप्रयुक्त आदि हैं। महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ में सबसे पहले जिस विधेयाविमर्श दोष का निरूपण किया है वह सामान्यतः शब्ददोष ही है। आगे च्युतसंस्कृति, असमर्थ एवं निरर्थक इनको छोड़कर शेष वही तेरह पददोष, वाक्य एवं पदांश दोष कहे गये हैं। इनके उदाहरण प्रत्युदाहरण अवश्य भिन्न हैं। वाक्यमात्र में घटित होने वाले दोषों की संख्या इक्कीस है। उनमें भग्न-प्रक्रम एवं अक्रम नामक दो दोष ऐसे हैं जिनका उल्लेख महिमभट्ट ने प्रक्रमभेद एवं क्रमभेद के नाम से ही किया है। व्यक्तिविवेक में उदाहृत पद्यों को ही यहाँ पर भी उद्धृत किया है। अतः इनका सारूप्य या तद्वत्ता परिलक्षणीय है। अर्थ-दोषों की संख्या तेईस है जिनमें से पुनरुक्ति का इसी नाम से उल्लेख व्यक्तिविवेक में हुआ है। इसके पश्चात् काव्यप्रकाश में यह वर्णन उपलब्ध होता है कि कौन दोष कहाँ दोषाभाव हैं तथा कहाँ गुण रूप। अनन्तर तेरह रस-दोषों का वर्णन किया गया है। इन सबका समाहार महिमभट्ट के द्वारा विवेचित वाच्यावचन दोष में सुतरां किया जा सकता है। अन्य दोषों का भी महिम के पूर्वोक्त पाँच दोषों में अन्तर्भाव उक्त रीति से विचारणीय हैं।

इसके अतिरिक्त नञ् के प्रयोग को लेकर दोषादोष की जो समस्या होती है, यत्तद् पदों के सापेक्षिक प्रयोग में दोष का जो विमर्श हुआ है, तथा समासासमास में विध्यनुवादभाव का विचार, आदि ऐसे विषय हैं जिनके विवेचन में काव्य-प्रकाशकार निःसन्देह व्यक्तिविवेककार

---

२. रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि ॥ —काव्यप्रकाश ७।१ ।

के ऋणी हैं। यदि दोषों के विभाजन की प्रक्रिया पर ध्यान दिया जाय तो हम यह बलपूर्वक कह सकते हैं कि मम्मट ने आनन्दवर्धन के रस से सम्बन्वित अनौचित्य विवेचन, जिसे महिमभट्ट ने अन्तरंग की संज्ञा दी है और यह कह कर छोड़ दिया था कि इसका विवेचन आद्य आचार्यों ने बहुत किया है, तथा महिम के बहिरंग दोषों के विवेचन को समन्वित कर नये ढंग से व्यवस्थित कर देने मात्र में ही काव्यप्रकाशकार की मौलिकता है। जहाँ तक इस प्रकरण के विवेच्य उक्त विषयों के विवेचन का सम्बन्ध है मम्मट पूर्णरूपेण महिमभट्ट से प्रभावित हैं। इन्होंने महिम के उस विस्तृत एवं दुरूह विवेचन को ही जो अस्तव्यस्त रूप से बिखरा पड़ा था, सुलझा कर व्यवस्थित मात्र कर दिया है। इनके विवेचन में उस मौलिकता का सर्वथा अभाव है जिसकी प्रतीति व्यक्तिविवेक में हमें प्रतिपृष्ठ पर होती है।

(इ) विश्वनाथ कविराज

मम्मट तथा भोज के पश्चात् साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ के सप्तम परिच्छेद में दोषों की विस्तारपूर्वक मीमांसा की है। आनन्द एवं महिम की सरणि पर ही इन्होंने भी दोषों को एकमात्र रसापकर्षक कहा है।[1] रस-भंग के द्वारा ही वह काव्य के अपकर्षक होते हैं। अतएव काव्यलक्षण-निरूपण के अवसर पर दोषों को काव्य का अपकर्षक कहा है।[2] दोष-लक्षण की व्याख्या करते हुए दर्पणकार कहते हैं कि--जिस प्रकार काणत्व, खंजत्व आदि दोष शरीर के द्वारा आत्मा के अपकर्षक होते हैं एवं मूर्खत्व आदि दोष आत्मा के साक्षात् अपकर्षक माने गये हैं, ठीक उसी प्रकार श्रुतिदुष्ट एवं अपुष्टार्थ आदि दोष शब्दार्थ के द्वारा परम्परया काव्यात्मा रस के अपकर्षक हैं तो शब्दादि से अभिहित व्यभिचारिभाव आदि के अयथातथ्य विनिमय से उत्पन्न दोष रस के साक्षात् अपकर्षक हैं।[3] अनन्तर ग्रन्थकार ने काव्य-प्रकाश की सरणिपर ही दोषों के पाँच भेद किये हैं--पददोष, पदांश दोष, वाक्यदोष, अर्थदोष तथा रस-दोष।[4] पश्चात् इसी क्रम से उनके भेदोपभेद एवं उनके लक्षणोदाहरण का सम्यक् निरूपण हुआ है। दोष विशेषों के नाम एवं उनकी परिभाषायें काव्यप्रकाश के सर्वथा अनुरूप हैं। उदाहरण प्रत्युदाहरणों में अन्तर अवश्य है। इस सम्बन्ध में इन्होंने महिमभट्ट की सामग्री का अधिक उपयोग किया है।

महिमभट्ट के उत्तरवर्ती आचार्यों में मम्मट, तथा विश्वनाथ दो ही प्रमुख हैं जिन्होंने दोष का शास्त्रीय रीति से विवेचन किया है। संस्कृत साहित्य के अलंकारशास्त्र के इतिहास में व्यक्तिविवेक, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण इन तीनों ग्रंथों में जितनी विशद रूप से दोषों की मीमांसा हुई है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं। इन तीनों के विवेचनों की परस्पर तुलना करने

---

१. रसापकर्षका: दोषाः। --साहित्यदर्पण ७।१।

२. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। दोषास्तस्यापकर्षकाः। --साहित्यदर्पण १।३।

३. श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयःकाणत्वखञ्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात् काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षकाः इति उच्यन्ते। --साहित्यदर्पण वृ० १।२।

४. ते पुनः पञ्चधा मताः।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्। --साहित्यदर्पण ७।२।

पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मम्मट और विश्वनाथ का दोष-निरूपण इतने विस्तार में सम्भव नहीं था यदि इनके पूर्व महिमभट्ट ने दोषों की इतनी विस्तृत मीमाँसा न की होती। अभी भी इनका दोष-विवेचन महिमकृत दोष-विवेचन का अर्द्धांश भी नहीं है। कारण स्पष्ट है कि काव्यदोष-विवेचन के लिए जिस बहुमुखी प्रतिभा एवं शास्त्रान्तरों की गहन व्युत्पत्ति की अपेक्षा है महिमभट्ट में वह सबसे बढ़कर थी। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य के आधायक अन्य तत्त्वों के समान ही काव्यदोष-विवेचन के विषय में भी उत्तरकालीन प्रायः सभी आचार्य महिमभट्ट के बहुत ऋणी हैं। विशेष रूप से दोष के सामान्य लक्षण, नञ् समास के प्रसंगवश प्रसज्यप्रतिषेध का निरूपण, नित्यानित्यदोष-विवेक, दोषगुणालंकारों का शब्दार्थगत नियमन, यत्तद् शब्द के प्रयोग का विमर्श तथा समास में विध्यनुवाद भाव आदि समस्याएँ ऐसी हैं जिनको सर्वप्रथम व्यक्तिविवेककार ने ही उठाया एवं उनका समुचित समाधान भी किया। अनन्तर सभी आलंकारिकों ने अपनी कृतियों में दोष-विवेचन के अवसर पर इनमें से ही कतिपय समस्याओं को उठाकर उनका समाधान अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। काव्य-दोष के निरूपण के प्रसंग में महिमभट्ट का यह अनुदान अलंकारशास्त्र के इतिहास में चिर-स्थायी है।

सप्तम अध्याय

प्रथम विमर्श

अलंकार का लक्षण एवं स्वरूप

अलंकार संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के प्राचीनतम तत्त्वों में से मुख्य है। नाट्यशास्त्र में यद्यपि अलंकार को परिभाषित नहीं किया गया है फिर भी उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक-इन चार अलंकारों का विवेचन हुआ है। निरुक्त में उपमा के श्रौती आदि भेदों तथा बाल्मीकि रामायण में अलंकारों के विविध प्रयोगों को देखते हुए काव्य में अलंकारों के ज्ञान एवं उनके प्रयोग की प्राचीनता का अपलाप कौन कर सकता है ?

अलंकार पद की तीन व्युत्पत्तियाँ दी जाती हैं—अलंकरोतिति, अलंक्रियते अनेन इति, अलंकृतिः अलंकरणं वा अलंकारः। एस० एन० दास गुप्त ने अलंकार पद को ग्रीक ऑरुम शब्द से व्युत्पन्न किया है ? जिसका अर्थ सुवर्ण होता है। इस प्रकार अलंकार पद का शब्दार्थ सुवर्णीकरण है। प्राचीन समय में किसी भी वस्तु की महिमा सुवर्ण से ही आँकी जाती थी। सुवर्ण शब्द ही इस बात का प्रमाण है कि वह कीमती धातु होने के साथ-साथ अपने सुन्दर वर्ण (रंग) की दृष्टि से भी कम महत्व का नहीं होता। अपने इसी वर्ण की सुन्दरता के गुण के कारण सुवर्ण दूसरों की शोभा का आधायक माना जाता है जब अलंकार अर्थात् आभूषण के रूप में वह धारण कर लिया जाता है। इसलिए काव्य की शोभा के आधायक तत्व को भी आरम्भ में अलंकार की संज्ञा दी गई।[२] भामह के विवरण के अनुसार काव्य में अलंकार की पहली संज्ञा सौशब्य है[३] जो सुवर्ण की भांति ही उसी सरणि पर की गई प्रतीत होती है। तथा इसका सम्बन्ध केवल शब्द से ही माना गया अर्थात् शाब्दिक चमत्कार ही काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व है। वही काव्य को वाङमय की अन्य विधाओं से पृथक् करने वाला तत्त्व है जिसे उसका साधारण धर्म कहा जा सकता है। क्योंकि जहाँ तक अर्थ की व्युत्पत्ति (ज्ञानार्जन) होने का प्रश्न है उसके लिए काव्य की सृष्टि नहीं हुई है।[४] अतः अर्थविशेष को लक्ष्य कर की गई अभिव्यक्तियां काव्य ही नहीं हैं उनका अलंकार होना तो दूर की बात है। पर भामह ने स्वयं इस मत का उपन्यास खण्डन करने के लिए ही किया है और कहा है कि हमें तो काव्य की शोभा के आधायक-तत्त्व के रूप में शब्द और अर्थ दोनों ही अभीष्ट हैं।[५] इसीलिए भामह, उद्भट, दण्डी से ही अलंकारों के दो भेदों शब्दालंकार और अर्थालंकार के पृथक्

---

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, क्लासिकल पीरियड पृ० ३१३

२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते —दण्डी, काव्या० २।१।

३. तदेतदाहुः सौशब्द्यम्। —भामह, काव्यालंकार १।१५।

४. नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥ —भामह, काव्या० १।१५।

५. शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥ —काव्यालं० १।१५।

पृथक् निरुपण की प्रथा चली जिसका निर्वाह जयदेव एवं पण्डितराज जगन्नाथ तक के ग्रंथों में पाया जाता है। ध्यान देने की बात है कि अलंकारों के विभाजन का यह आधार नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः इसलिए भी कि वहाँ केवल चार अलंकार निरूपित हुए हैं। उनमें से एक अन्तिम यमक शब्दालंकार तथा पूर्व के शेष तीन उपमा, रूपक एवं दीपक अर्थालंकार हैं।

अलंकार के स्वरूप-निरूपण के लिए तीसरे युग का समारम्भ वामन से होता है। वे अलंकारों के शब्द एवं अर्थ उभयविध आश्रय को तो स्वीकार करते हैं पर उन्हें काव्य की शोभा के स्वरूप का आधायक न मानकर उसके अतिशय का आधायक मानते हैं। काव्य की शोभा का सृजन तो गुणों से होता है।[1] उन्हीं में यह क्षमता है कि किसी उक्ति को काव्य की पदवी प्राप्त करा दें। अलंकार तो गुणों के द्वारा कृत (सृष्ट) काव्य की शोभा में उत्कर्ष का आधान करते हैं। अतः अलंकार काव्य-शोभा के स्वरूपधायक न होकर उत्कर्षाधायक हैं। गुणों के लिए हम अलंकार पद का प्रयोग कर सकते हैं। पर उस समय उसकी व्युत्पत्ति 'अलंकृतिः अलंकारः' होगी जिसका अभिप्राय यह है कि अलंकरण की प्रक्रिया अर्थात् पदसंघटनात्मक व्यापार ही, जिसे रीति भी कहते हैं अलंकार पद की प्रवृत्ति का निमित्त होगा। उपमा रूपक तथा दीपक आदि के लिए जिस अलंकार पद का प्रयोग किया गया है वह इससे भिन्न है तथा उसकी व्युत्पत्ति 'अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः' है। जो अलंकरण अर्थात् शोभा की वृद्धि के साधक तत्वों का बोध कराता है न कि उनकी सृष्टि का जिन्हें गुण या रीति कहा जाता है। इस प्रकार गुण काव्य की शोभा के आधायक उपादान कारण है तो अलंकार निमित्त। उपादानों को ही दृष्टि में रखकर अलंकार को काव्य का सौन्दर्य घोषित किया है।[2]

रुद्रट और आनन्दवर्धन के विवेचनों से ज्ञात होता है कि वामन के द्वारा की गई अलंकार की परिभाषा को बाद में बहुत महत्व मिला और काव्य में अलंकारों की महत्ता पहले की अपेक्षा अवश्य कम हो गयी। ध्वनि और रस-सिद्धान्त के उद्भव से काव्य में अलंकारों का स्थान यथार्थ में गौण हो गया। वामन ने काव्य की शोभा के कारक और उसके उत्कर्ष के आधायक होने की जो बात कही थी वह बहुत ही पसन्द की गई। यद्यपि इसके आगे चलकर उनका गुण या रीतिवाद भी उनके ही द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की लपेट में आ गया तथापि उससे काव्य के तत्त्वों का उसके स्वरूपधायक एवं उत्कर्षाधायक के रूप में वर्गीकरण बड़ी सुगमता के साथ होने लगा जो बहुत रोचक भी था। इसका प्रभाव यह पड़ा कि ध्वनि एवं रस के काव्य के स्वरूपाधायक सिद्ध हो जाने पर अलंकारों के लिए उसके उत्कर्षाधान के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रह गया। और इस प्रकार अलंकार काव्य के स्वरूप या प्राण होने से तो वञ्चित ही हो गये, उत्कर्षाधायक के रूप में भी वे काव्य के शरीर शब्द एवं अर्थ पर आश्रित चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गये। यही नहीं काव्य में उनकी स्थिति अनिवार्य न होकर वैकल्पिक भी हो गई।[3]

---

१. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।
—वामन, का० सू० ३।१।१,२।

२. सौन्दर्यमलंकारः। —वामन, का० सू० १।१।२।

३. अनलंकृती पुनः क्वापि। —का० प्र० १।४।

अतएव आनन्दवर्धन ने इनके रस-परक होने में ही इनकी अलंकारता मानी है।[1] अन्यथा ये चित्र मात्र हैं, जैसे पहेलियाँ आदि हुआ करती हैं। जिनका काव्य के भेदों में परिगणन भी नहीं किया है।[2]

आनन्दवर्धन ने काव्य और अलंकार में अंगी और अंग का सम्बन्ध माना है। उनका कहना है कि अलंकार का काव्य के अङ्गी के रूप में निबन्धन कभी नहीं करना चाहिए। अङ्गी रस आदि ध्वनि ही हो सकते हैं।[3] इसलिए काव्य में अलंकारों की रचना के लिए अलग से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं। अलंकार वही हैं जो स्वाभाविक रूप से रसादि के निबन्धन के साथ ही बिना किसी विशेष प्रयास के रस से आक्षिप्त होकर स्वतः उपनिबद्ध हो जायँ।[4] ध्वनिकार ने तो काव्य में रूपक आदि सभी अलंकारों की अङ्गता (अप्रधानता) की सिद्धि के लिये एक विधान भी प्रस्तुत किया है जिसमें पाँच नियम होते हैं।[5]

१. अलंकारों की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर रस-परक हो।
२. उनका विनिवेश अङ्गी (प्रधान) रूप में किसी भी दशा में नहीं होना चाहिए।
३. कविता में अलंकार का ग्रहण एवं त्याग उचित अवसर पर हो जाना चाहिए।
४. कवि में आरब्ध अलंकार के अन्त तक निर्वाह का दुराग्रह नहीं होना चाहिए।
५. यदि किसी अंलकार का अन्त तक निर्वाह हो ही जाय तो इस बात के लिये सदा सचेत रहना चाहिए कि वह अङ्ग रूप में ही बना रहे कहीं अङ्गी न हो जाय।

महाकवि के एक ही प्रयास से काव्य में रस का आधान और अलंकारों का उपनिबन्धन दोनों कार्य हो जाते हैं। वस्तुतः कवि का प्रयास काव्य के अङ्गीभूत तत्त्व रस की निष्पत्ति के लिये ही होना चाहिए। साथ ही अलंकारों की रचना भी यदि स्वतः हो जाय तो ठीक है, अन्यथा यह आवश्यक नहीं कि काव्य में अलंकार भी रहे। अलंकारों के बिना कामिनी की शोभा में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। उनका तो यहाँ तक कहना है कि जिस प्रकार नारियों में भी सौन्दर्य का आधायक मुख्य तत्व उनका लज्जाभाव ही है न कि कटक कुण्डल आदि आभूषण, उसी प्रकार महाकवियों की अलंकार युक्त रचनाओं में भी चारुत्व का आधायक मुख्यतत्व उनकी व्यंजनीयता ही है।[6] प्रतीयमान की छाया अर्थात् स्पर्श के बिना काव्य काव्य नहीं हो सकता चाहे वह अलंकारों के सभी प्रकारों से मण्डित ही क्यों न हो। अलंकारों का कविता में वही स्थान है जो नायिका के शरीर पर। अर्थात् उभयत्र इनका आश्रय अंग ही होता है अङ्गी

---

१. रसादिपरता यत्र सोऽलंकारो ध्वनेर्मतः। ध्वनिकारिका २।८
२. काव्ये उभे तोऽन्यद्यत् तच्चित्रमित्यभिधीयते। ध्वनिकारिका ३।४२
३. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। ध्वनिका० २।१८
४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य-क्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वत्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः। ध्वनिका० २।१६
५. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन। काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्बहणैषिता।
निर्व्यूढापि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्। रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्।
—ध्वनि कारि० २।१८,१९
६. मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्। —ध्वनिकारिका०–३।३८

नहीं । शब्द और अर्थ ही काव्य के शरीर अर्थात् अङ्ग हैं । अतः अलंकारों के आश्रय ये ही माने गये हैं । गुण और अलंकार में यही भेद है कि गुणों का विनिवेश काव्यात्मा रस के आश्रय होता है तो अलंकार शब्द और अर्थ पर आश्रित होते हैं जो काव्य के अंग माने गये हैं।[१] यही नहीं रसादि भी जहाँ वाच्य या व्यंग्य अर्थ के आश्रित किसी अन्य रस की अभिव्यक्ति में गौणभाव सेविनियोजित होकर अङ्गरूप में आते हैं वहाँ 'रसवत्' आदि अलंकार ही कहे जाते हैं । कोईभी ध्वनि काव्य की आत्मा वहीं होता है जहाँ उसका निरूपण अङ्गी के रूप में होता है । इसके विपरीत अङ्ग-रूप में विनिविष्ट होकर तो वह भी अलंकार हो जाता है । रूपकादि अलंकार तो केवल अङ्गरूप में ही उपनिबद्ध हो सकते हैं अङ्गीरूप में नहीं । जहाँ कहीं भी इन्हें अङ्गीरूप में रखा जायगा वह काव्य न होकर चित्र कहा जायगा जो शब्द-चित्र और अर्थचित्र भेद से दो प्रकार का होता है ।[२]

आचार्य महिमभट्ट के पूर्व अलंकार के स्वरूप एवं महत्व का एक इतिहास बन गया है । भामह से पूर्व काव्य-जन्म जिस चारुता को सौशब्द्य कहा गया था भामह और दण्डी ने उसे अलंकार के रूप में काव्य की शोभा का एकमात्र आधायक तत्त्व माना । उनके अनुसार काव्य का सौन्दर्य और अलंकार पर्याय थे । इसी अर्थ में अलंकार काव्य के सर्वस्व कहे गये । पर वामन ने उन्हें काव्य की शोभा के अतिशय का आधायक कहकर उनके मूल्य को जो कम किया था आनन्दवर्धन ने उसको और भी कम इसलिये कर दिया कि उनके अनुसार अलंकार काव्य के बाह्यतत्त्व ही सिद्ध कर दिये गये । उन्होंने काव्य में उनकी स्थिति अनिवार्य न मानते हुए उन्हें गौणभाव से व्यवस्थित होने का ही विधान किया है । काव्य के सर्वस्व होने का जहाँ तक प्रश्न है वह स्थान अलंकार्य ध्वनि ने ले लिया । और रस को उस ध्वनि का भी आत्मा कहकर काव्य के अङ्गीरूप में उसे ही व्यवस्थित किया। विशुद्ध या स्वतन्त्ररूपसे अलंकार परक रचना को काव्य ही न मानना अलंकारों की महत्ता का सर्वथा अपलाप ही करना है जो ध्वनि-सिद्धान्त में आकर हुआ है । मम्मट ने काव्य-लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' पद के सन्निवेश से ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार काव्य में अलंकारों के स्थान का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर दिया है जो उस समय तक के अलंकार शास्त्रीय-तत्त्वों के विकास के क्रम का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता है ।

महिमभट्ट ने अलंकारों के विषय में ध्वनिकार के पक्ष का प्रकारान्तर से समर्थन ही किया है । उनका कहना है कि काव्य-विषयक व्यापार (काव्य रचना) में कवि की प्रवृत्ति विवेच्य-वस्तु में सौन्दर्य के अतिरेक का आधान करने के लिए होती है न कि अलंकरों का प्रदर्शन करने के लिए । वे तो उसमें स्वतः निष्पन्न हो जाते हैं । क्योंकि किसी वस्तु की भंकिमा

---

१. अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् । —ध्वनिकारिका २।६।

२. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्गयस्यैवं व्यवस्थिते ।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥ —ध्वनिका० ४।४२।
चित्रंशब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमथापरम् ॥ —ध्वनिका० ४।४२, ४३।

लिए हुए अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति ही तो अलंकार है ।[1] इस प्रकार उनके अनुसार अलंकारत्व काव्य के विवेच्य-विषय में न होकर उसके कहने के प्रकार (भणिति) में ही निहित होता है । किसी रसात्मक वस्तु का काव्य में उपनिबन्धन दो प्रकार से किया जाता है--सरलतया तथा विचित्र ढंग से । विचित्र ढंग से प्रतिपादन होने पर उसमें शोभा का अतिरेक और हो जाता है । इसीलिए इस दूसरे मार्ग को अलंकार कहते हैं । इस तरह विवेच्य-वस्तु की वचित्र ढंग से अभिव्यक्ति ही अलंकार है । जैसे किसी नायिका का अपने प्रियतम के पास अभिसरण ही उसकी प्रवृत्ति का मुख्य प्रयोजन है। साथ ही यदि वह देशकाल के अनुरुप वस्त्राभूषण धारण कर आती है तो उससे दोनों की प्रीति में एक विलक्षण योग हो जाता है । प्रीतम के पास जाना तो उसे है ही यदि वह सजधज कर जाती है तो उसकी अपनी विशेष चारुता है । अन्यथा वह सरलतया बिना किसी विशेष शृङ्गार के भी जा सकती है और प्रियतम की प्रीति का भाजन भी हो ही सकती है । इसके विपरीत बिना किसी प्रयोजन के वस्त्रालंकार से सुसज्जित होकर कहीं निकलना जैसे प्रदर्शनमात्र होने से व्यर्थ है उसी प्रकार रसादि विवेच्य-वस्तु की व्यपेक्षा किये बिना स्वतन्त्र रूप से केवल अलंकारों की रचना मात्र-प्रदर्शन के और कुछ नहीं है । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ध्वनिकार ने जिस बात को 'अपृथग् यत्न निर्वर्त्य' पद से अभिहित किया था उसी के लिए व्यक्तिविवेककार ने 'नान्तरीयक सिद्धि' पद का प्रयोग किया है । आशय दोनों का प्रायः एक ही है । अलंकारों के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता का निराकरण ही उनका 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' होना है जो उनकी 'नान्तरीयकसिद्धि' का ही निरूपण करता है । जिसके बिना कोई कार्य सिद्ध न हो उसे नान्तरीय कहते हैं । अथवा एक कार्य के होने से दूसरे कार्य का स्वतः हो जाना ही उसकी नान्तरीयकता है । रसादि के उपनिबन्धन के लिए भङ्गीभणिति का मार्ग अपनाने से चूंकि अलंकारों की निष्पत्ति स्वतः हो जाती है अतः काव्य में उनकी स्थिति को नान्तरीयकता से ही निष्पन्न हुई माना है । कहा भी है कि रस के उपनिबन्धन के लिए उद्यत कवि अलंकार की रचना के लिए प्रयत्न नहीं करता क्योंकि रस की निष्पत्ति होने पर अलंकारों की निष्पत्ति स्वतः हो जाती है ।[2] व्यक्तिविवेक व्याख्यानकार रुय्यक ने रसादिरूप सौन्दर्य-निष्पादन की क्रिया को काव्य का प्रयोजक तथा अलंकार की निष्पत्ति को उसके पीछे स्वतः होनेवाली क्रिया कहते हुए भात की पाक क्रिया और उसके बाद निष्पादनीय आचमन की क्रिया का दृष्टान्त दिया है ।[3] अलंकार के सामान्य लक्षण एवं स्वरूप के विषय में महिमभट्ट के विवचन का यही सारांश है ।

आनन्दवर्धन और महिमभट्ट के अलंकार-विवेचनों में थोड़ा सा अन्तर भी है जो अत्यन्त सूक्ष्म है । आनन्दवर्धन काव्य में अलंकार की स्थिति को अनिवार्य नहीं मानते । उनका कहना

१. किञ्च सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेः नत्वलंकारनिष्पत्तये तेषां नान्तरीयक तयैव निष्पत्तिसिद्धेः भङ्गीभणितिभेदानामेवालंकारत्वोपगमात् ।
--व्यक्तिविवेक पृ० ३४१,२ ।

२. न चालंकारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः ।
यतते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धयः ॥ --व्य० वि०, सं० का० २।७५ ।

३. किञ्चेत्यादिना काव्यक्रियायां सौन्दर्यनिष्पत्तेः प्रयोजकत्वमलंकारनिष्पत्तेश्च अनुनिष्पादित्वं यथा पक्तावोदनाचामयोरित्याह । --व्य० वि० कारिका २।७५ पर व्याख्यान ।

है कि रसादि के बन्धन के साथ-साथ वे स्वतः निष्पन्न हो जायँ तो ठीक है अन्यथा यदि उनका उपनिबन्धन काव्य में नहीं हो पाता तो उससे काव्य की शोभा या सौन्दर्य को कोई ठेस नहीं पहुँचती है। उनके 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' होने का यही अभिप्राय है। इसीलिए ध्वनिकार ने एक स्थल पर कहा है कि रस से युक्त विषय-वस्तु यदि कहीं अलंकारों से भी युक्त हो तो वहाँ उनकी रचना के लिए अलग से प्रयास अपेक्षित नहीं होता। रस-निष्पादन के एक ही प्रयत्न में दोनों निष्पन्न हो जाते हैं।[1] इसका तात्पर्य यह है कि रसवान् वस्तु सर्वथा अलंकार सहित ही नहीं होता, कहीं उससे रहित भी हो सकता है। इसके विपरीत महिमभट्ट की उक्ति 'नान्तरीयकसिद्धि' काव्य में अलंकारों की स्थिति की अनिवार्यता का संकेत करती है। ध्वनिकार के अनुसार अलंकार काव्य-शरीर शब्दार्थ के धर्म-मात्र हैं जबकि महिमभट्ट अलंकारों को अभिव्यक्ति का एक ऐसा प्रकार मानते हैं जिसका आश्रय लिये बिना रसादि की निष्पत्ति में चमत्कार का आधान नहीं हो सकता। जिसके बिना जो सिद्ध न हो पाता हो उस (साध्य) से उस (साधक) का आक्षेप करना ही नान्तरीयकता है।[2] यदि अलंकारों की सिद्धि नान्तरीयक है तो उसका तात्पर्य यही है कि अलंकारों के बिना काव्य में सौन्दर्यातिरेक की निष्पत्ति सुतरां नहीं हो पाती। अतः उसके लिए उनका आश्रयण नान्तरीयक अर्थात् अनिवार्य रूप से अपेक्षित हो जाता है। व्यक्ति-विवेक के टीकाकार रुय्यक ने भी इसका यही अर्थ समझा है। वह 'नान्तरीयकसिद्धि' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि रस-बन्ध की सिद्धि होने पर अलंकारों की सिद्धि अवश्यम्भाविनी है।[3] इसीलिए व्याख्यानकार ने रसादि और अलंकार की निष्पत्तियों के सम्बन्ध का दृष्टान्त भात और आचमन की क्रियाओं का दिया है। जो यद्यपि स्पष्ट नहीं होता कि पकने की क्रिया में भात और आचमन का क्या सम्बन्ध है पर अनुनिष्पादन पद के प्रयोग से यही ज्ञात होता है कि जिस प्रकार पकने पर भात की क्रिया (भोजन) के अनन्तर आचमन की क्रिया का अनिवार्य रूप से होना सर्वथा स्वाभाविक है उसी प्रकार रस-बन्धन के साथ अलंकार की निष्पत्ति का होना भी अनिवार्यरूप से स्वाभाविक है।

अलंकारों और रसों के अंगांगिभाव का विवेचन भी व्यक्तिविवेककार ने ध्वनिकार से भिन्न रूप में ही किया है। उनका कहना है कि रस का साक्षात् निष्पादक होने से विभाव आदि उसके अंग माने गये हैं। विभावादि की उक्ति में विचित्रता रूपी चमत्कार का आधान चूँकि अलंकारों से होता है अतः वे परम्परया ही रस के आश्रय सिद्ध होते हैं, साक्षात् नहीं। रस के साक्षात् आश्रय विभावादि हैं। अलंकारों के उनके भी आश्रय होने से वे भी विभावादि के द्वारा परम्परया रस के आश्रय सिद्ध हो जाते हैं।[4] अलंकार और रसों का यह आश्रया-

---

१. रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकारीणि यानि च।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः॥ —ध्व० का० २।१६ पर सं० श्लोक।

२. येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते।

३. ते हि तत्सिद्धीति–रसबन्धसिद्धावलंकारा अवश्यं सिद्ध्यन्तीत्यर्थः।
—व्या० वि० सं० का० २।७५ पर व्याख्यान।

४. रसस्याङ्गं विभावाद्याः साक्षान्निष्पादकत्वतः।
तद्वैचित्र्योक्तिवपुषोऽलंकारास्तु तदाश्रयाः॥ —व्य० वि० सं० का० २।७६।

श्रयी भाव भी रस के स्थल में अलंकारों की अनिवार्यरूप से स्थिति का ही बोधक है जो ध्वनिकार को मान्य नहीं है ।

व्यक्ति विवेककार ध्वनिकार के इस कथन से सहमत हैं कि काव्य में अलंकारों की स्थिति अप्रधान है जिसकी पुष्टि काव्य के अंगीभूत तत्त्व रस की उनमें साक्षात् स्थिति न होने की बात से भी हो जाती है । अतः काव्य के विवेच्य-वस्तु की चारुता का ध्यान रखते हुए अलंकारों का कहाँ किस रूप में ग्रहण एवं परित्याग करना चाहिए यह सब उत्तम कवि की स्वयं की कल्पना के विषय हैं ।[1] इसका इदमित्थं रूप से विधान नहीं किया जा सकता । आनन्दवर्धन ने जिसे ग्रहण और त्याग शब्दों से कहा था यहाँ उसी अभिप्राय को आधान एवं उद्धरण पदों से व्यक्त किया गया है । कवि का कवित्व इसीमें ही है कि वह भंगी-भणिति रूप अलंकार के सृजन की पद्धति अपनाने और न अपनाने या छोड़ने के अवसर को पहचानने में निपुण हो । व्याख्यानकार ने यहाँ टीका करते हुए कहा है कि 'आधान' एवं 'उद्धरण' पदों के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि अलंकारों के द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति में परस्पर वैशिष्ट्य भी होता है । किसी विशेष प्रकार के चारुत्व की निष्पत्ति किसी विशिष्ट अलंकार से ही सम्भव है । अतः उस अवसर के अनुरूप अलंकार-विशेष का ग्रहण और पूर्वगृहीत अलंकार के अवसर के अनुरूप न होने से उसका परित्याग ही अलंकारों का आधान एवं उद्धरण है ।[2]

महिमभट्ट के उत्तरवर्ती आचार्यों में मम्मट ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुयायी हैं । इन्होंने भी काव्य में अलंकारों की स्थिति को अनिवार्य न मानते हुए ध्वनिकार की सरणि पर ही अलंकार का लक्षण किया है कि अलंकार वे हैं जो शब्द एवं अर्थ रूपी काव्य के अंगों के द्वारा काव्य-शोभा का उत्कर्ष उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार हार आदि अलंकारों के शरीर के अंग-प्रत्ययों में धारण किये जाने पर व्यक्ति के सौन्दर्य की वृद्धि होती है ।[3] अलंकारों के विवेचन के लिए मम्मट के बाद रुय्यक तथा जयदेव विशेषरूप से प्रसिद्ध हुए हैं । ये दोनों ही महिमभट्ट से प्रभावित प्रतीत होते हैं । रुय्यक ने अपने अलंकार-सर्वस्व में अलंकार-सामान्य का अपना विशेष लक्षण तो नहीं किया है पर पूर्ववर्ती आलंकारिकों के मतों का अत्यन्त संक्षेप में निरूपण करते हुए अलंकारत्व को अभिधान का एक प्रकार माना है । व्यंजनावादी होते हुए भी रुय्यक ने रसवदादि की अलंकारता और चित्र की काव्यता स्वीकार की है जो ध्वनि-सिद्धान्त के विपरीत है । चित्र की अधमकाव्यता तो मम्मट ने भी मानी है पर सर्वस्वकार ने तो उसे ही आधार बनाकर 'अलंकारसर्वस्व' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया है । जयदेव ने अपनी कृति

---

१. तेनैषामप्रधानत्वादाधानोद्धरणादयः ।
चारुतापेक्षयार्थस्य कल्प्यन्ते कविना स्वयम् ॥ ——व्य० वि०, सं० का०, २।७७ ।

२. अतश्चारुत्वं यथा निष्पद्यते तथा तेषामुपनिबन्धः कार्यः । तत्प्रयोजनाच्चाधानोद्धरणादयः इत्युक्त्या अलंकाराणां परस्परं चारुत्वनिष्पादने विशेषः प्रतिपादितः ।
——व्यं० वि०, सं० का० २।७७ पर व्याख्यान ।

३. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ——काव्यप्रकाश, ८।२ ।

'चन्द्रालोक' के आरम्भ में ही मम्मट के द्वारा काव्य में अलंकार की स्थिति को वैकल्पिक कर देने पर अपना क्षोभ व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार उष्णता से रहित अग्नि की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार अलंकार से रहित काव्य कथमपि सम्भव नहीं।[1] यही पक्ष महिमभट्ट का था जिसका प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है।

१. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥ —जयदेव, चन्द्रालोक १।८ ।

द्वितीय-विमर्श

अलंकारों के प्रयोगाप्रयोग का विवेक

१--अलंकार-दोष

आचार्य महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में अलंकारों का विवेचन स्वतन्त्र रूप से उस प्रकार नहीं किया है जिस प्रकार भामह, दण्डी, वामन या मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डित-राज जगन्नाथ ने अपनी कृतियों में किया है। उन्होंने दोषों के विवेचन के प्रसंग में गौणरूप से यत्र-तत्र कुछ अलंकारों का निरूपण भी किया है। वस्तुतः उनका यह विवेचन अलंकार-दोषों का निरुपण करता है किन्तु उनके इस उल्लेख से ही तत्तद् अलंकारों के स्वरूप के विषय में उनकी मान्यता का ज्ञान हमें होता है। महिमभट्ट का कहना है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन की इस उक्ति का कोई विरोध नहीं है कि कवियों की अलंकारपरक रचनाओं में भी सौन्दर्य का आधायक मुख्य तत्त्व प्रतीयमानता ही है।[1] अतएव कवि नाना प्रकार के अलंकारों की रचना में समर्थ होते हुए भी उनमें से कुछ का ही समावेश अपनी कृतियों में करता है[2] सबका नहीं। वह काव्य में अलंकारों को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहता। क्योंकि अलंकार-बहुल रचनाओं में काव्य के मुख्य प्रतिपाद्यवस्तु एवं रसादि को व्याघात पहुँचाता है। चूंकि सभी अलंकारों का प्राणभूत उपमा ही हैऔर वह प्रतीयमान (अनुमेय) होकर ही वह सहृदयों के अधिकाधिक आस्वाद का विषय होती है इसलिए इस रहस्य के ज्ञाता आलंकारिकों ने रुपक आदि अलंकारों के समूह तथा यमक का भी निरूपण उपमा के ही प्रपञ्च के रूप में किया है।[3] यहाँ उनका उसी रूप में निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) उपमा एवं रूपकादि

व्यक्तिविवेककार का कहना है कि विदग्ध को वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अधिक चमत्कारशाली लगता है। रूपक आदि उन सभी अलंकारों में जहाँ किसी न किसी रूप में उपमानोपमेयभाव विद्यमान रहता है, उपमा प्रतीयमान होती है, इसीलिए कवियों की अलंकारपरक रचनाओं में उपमा की अपेक्षा रूपक आदि उन अलंकारों को विशेष महत्त्व

---

१. यदाहुः--मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैव भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ इति ।

२. अतएव बहुष्वन्येष्वलंकारेषु सत्स्वपि ।
कश्चिदेव निबध्नाति शक्तिमानपि सत्कविः । --व्य० वि०, सं० का० २७८ ।

३. यतः सर्वेष्वलंकारेषूपमा जीवितायते । सा च प्रतीयमानैव तद्विदां स्वदतेतराम् ॥
रूपकादिरलंकारवर्गो यमक एव हि । तत्प्रपञ्चतया प्रोक्तः कैश्चित्तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥
--व्य० वि०, सं० का० २।७९, ८० ।

दिया जाता है जिनमें उपमानोपमेय भाव के रूप में उपमा प्रतीयमान होती है।[1] उपमान, उपमेय, साधारणधर्म एवं उपमावाचक पद ये चार तत्व ही उपमा के आधायक होते हैं। इनमें उपमावाचक पद 'इव' व, आदि कहे जाते हैं। इनका साक्षात् प्रयोग होने पर उपमा वाच्य कही जाती है अन्यथा वह प्रतीयमान ही होती है। लेकिन 'इव' आदि शब्दो के प्रयोग के बिना ही यदि उपमानोपमेयभाव की प्रतीति हो जाय तो उसके लिए किया गया इव आदि का प्रयोग पुनरुक्त दोष को आमन्त्रित करता है। उदाहरणस्वरूप 'निर्मोकमुक्तमिव गगनोरगस्य लीलाललाटिकामिव त्रिविष्टपविटस्य' (आकाशरूपी सर्प की अलग हुई केंचुल तथा स्वर्ग रूपी विट के ललाट पर धारण की जाने वाली पट्टी के समान। इन वाक्यों में उपमावाचक इव पदों का प्रयोग इसलिए व्यर्थ है कि उनके बिना रूपक अलंकार से भी उपमानोपमेयभाव की प्रतीति सुतराँ हो जाती है। क्योंकि उसके बिना आकाश पर सर्प एवं स्वर्ग पर विट के आरोप बन नहीं सकते।

रूपक के द्वारा उपमानोपमेयभाव की प्रतीयमानता का उदाहरण दिया है—

आलानं जयलक्षणस्य करिणः सेतुर्विपद्वारिधेः,
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन् राजति वीरवैरिवनिता वैधव्यदस्ते भुजः॥

हे राजन्! शत्रु के योद्धाओं की पत्नियों को वैधव्य प्रदान करनेवाली आपकी यह भुजा ही विजयरूपी हाथी को बाँध रखने का स्तम्भ, विपत्ति रूपी समुद्र को पार करने का सेतु, कृपाण रूपी प्रचण्ड सूर्य के उदय होने का आश्रय उदयाचल नामक पर्वत, गृहिणी रूपी लक्ष्मी के साथ विविध प्रकार की कामक्रीड़ाओं के लिए तकिया तथा संग्रामरूपी अमृतसागर के मन्थन के लिए मन्दराचल है।

यहाँ विजय पर हाथी, विपत्ति पर समुद्र, कृपाण पर सूर्य, गृहिणी पर लक्ष्मी, तथा संग्रम पर अमृतसागर का आरोप उनमें निहित सादृश्यभाव के कारण ही हुआ है जो व्यंग्य है। क्योंकि सादृश्य के विद्यमान न रहने पर कोई भी सुबुद्ध व्यक्ति एक वस्तु पर दूसरी का आरोप नहीं करता।

उत्प्रेक्षा के द्वारा उपमानोपमेयभाव की प्रतीयमानता का उदाहरण है—

अङ्गुलिभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

चन्द्रमा अपनी किरणरूपी अङ्गुलियों से रात्रि रूपी नायिका के अंधकाररूपी केश-समूह को पकड़कर उसके मुख (सम्भवतः पूर्वदिशा) को मानो चूम रहा है अतएव (मारे लज्जा के) उस (रात्रि रुपी नायिका) ने भी अपने कमलरूप नेत्रों को संकुचित कर कली कर लिया है।

इस पद्य में 'चुम्बतीव' में प्रयुक्त उत्प्रेक्षा का वाचक 'इव' पद व्यर्थ होकर इसे पुनरुक्त दोष का भाजन बना देता है क्योंकि चन्द्रमा के द्वारा रजनी के मुखचुम्बन वर्णन में मुख्यार्थ का

---

१. **वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम्।**
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा॥ —व्यक्तिविवेक, का० २।३९।

बाध होने से उसकी परिणति स्वतः सादृश्य अर्थ में हो जाती है। जिस अभिप्राय की प्रतीति अन्य प्रकार से हो जाय उसके लिए वाचक शब्द का प्रयोग दोषावह ही होता है। इसका दोष-रहित उदाहरण दिया है--

स्मरहुताशनमुर्मुरचूर्णतां दधुरिवाम्रवनस्य रजःकणाः ।
निपतिता परितः पथिकव्रजानुपरि ते परितेपुरतो भृशम् ॥

आम्रवन के धूलिकण पथिकों के ऊपर पड़कर उन्हें ऐसा पीड़ित कर रहे हैं मानों काम को जलानेवाला अग्नि ही चूर-चूर होकर उन पर बिखर रहा हो। यहाँ धूलिकण के अग्नि-चूर्ण होने की सम्भावना उत्प्रेक्षा अलंकार है जो उनमें निहित सादृश्यभाव के बिना बन नहीं सकता। अतः सादृश्यवाचक पद का प्रयोग न होने में ही उत्प्रेक्षा का भी चमत्कार है क्योंकि इससे सादृश्यभाव प्रतीयमान बना रहता है वाच्य कोटि में नहीं आने पाता। इस प्रसंग में एक और उदाहरण प्रतिवस्तूपमा का दिया है--

तृप्तियोगः परेणापि न महिम्ना महीयसाम् ।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकांक्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥

बहुत अधिक महिमा पाकर भी बड़ों को तोष नहीं होता। जल से परिपूर्ण होते हुए भी समुद्र चन्द्रोदय की जो आकांक्षा किया करता है वही इसका दृष्टान्त है। यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार से ही महापुरुष एवं समुद्र में सादृश्यभाव की प्रतीति हो जाती है उसके लिए दृष्टान्त पद का प्रयोग उक्ति को पुनरुक्ति-दोष से ग्रस्त कर देता है। यही यदि प्रतीयमान होता तो सहृदयों के अधिक आस्वाद का विषय बनता, अतएव महाकवि कालिदास के रघुवंश के निम्न पद्य में सादृश्यवाचक पद का प्रयोग नहीं हुआ है--

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतंगस्य मुनेश्च धेनुः ॥

दिन भर दिग्दिगन्तरालों को अपने सञ्चार से पवित्र करके अन्त में सन्ध्या समय नये निकले पत्ते के समान ताम्रवर्ण वाली सूर्य की प्रभा और मुनि की धेनु दोनों अपने अपने निवास-स्थान की ओर चल दीं। यहाँ पर कवि 'प्रभेव भानोः सुरभिर्महर्षेः) के द्वारा इन दोनों में निहित सादृश्यभाव की वाच्य-मुख से अभिव्यक्ति कर सकता था किन्तु ऐसा न करके दीपक अलंकार के माध्यम से उपमानोपमेय-भाव का निरूपण किया है। इसी प्रकार समासोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अन्य अलंकारों में भी समझना चाहिए।

आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि शब्द एवं अर्थ की पुनरुक्ति के समान अलंकार की पुनरुक्ति भी दोष है। जहाँ पर एक ही अलंकार शब्द और अर्थ भेद से दो बार आता है वह स्थल स्पष्टरूप से पुनरुक्ति का ही है।[1] इसका उदाहरण कालिदासकृत रघुवंश का निम्न पद्य है--

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा, यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥

---

१. **एकैवालंकृतिर्यत्र शाब्दत्वार्थत्वभेदतः ।**
द्विरुच्यते तां मन्यन्ते पुनरुक्तिमतिस्फुटाम् ॥। --व्य० वि० सं० का० २।४०, ३४

पुत्र रघु के जन्म लेने से दिलीप और सुदक्षिणा उसी प्रकार आह्लादित हुए जिस प्रकार कुमार कार्तिकेय के जन्म से शिव-पार्वती और जयन्त के जन्म से इन्द्र और शची। यहाँ दिलीप, शिव तथा इन्द्र एवं उनकी पत्नी सुदक्षिणा, पार्वती और इन्द्राणी तथा कुमार एवं जयन्त के साथ नवजात शिशु रघु का उपमानोपमेय-भाव स्पष्ट है अर्थात् अर्थतः ज्ञात है। वह यह है कि जिस प्रकार वे दोनों पुत्र प्रभावशाली हुए उसी प्रकार कुमार रघु भी था या होगा। उसकी प्रतीति के लिए यथा आदि सादृश्यवाचक पदों का प्रयोग यहाँ उक्त रीति से पुनरुक्ति-दोष की ही सृष्टि करता है। इसी प्रकार किसी वस्तु या विषय का कोई रूप स्वतः ज्ञात हो जाता हो तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए उपमा या रूपक का आश्रय लेना भी पुनरुक्ति-दोष ही है।[1] उदाहरणतः --

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम्॥

चमकते तथा चंचल विद्युत रूपी नेत्र तथा पीनपयोधर से युक्त मेघ-मालाएँ अपने निर्धारित (ऋतु) काल का ध्यान न रखते हुए समय से पूर्व ही अपने प्रियतम के समान उस पर्वत पर घिर आईं।

यहाँ पर जगतीधर (पर्वत) एवं जलधारावलियाँ प्रेमी और प्रेमिका के समान वर्णित है। उनके उपमानोपमेय भाव रूप सादृश्य की प्रतीति समासोक्ति अलंकार से ही हो जाती है फिर भी उसकी प्रतीति के लिए 'प्रियमिव' में सादृश्यवाचक पद 'इव' का प्रयोग अर्थतः प्रतीत होने वाले भाव की पुनरुक्ति होने से दोष ही हैं। क्योंकि जब तक प्रस्तुत पर्वत और मेघमाला पर प्रेमी-प्रेमिकाभाव रूप अप्रस्तुत व्यवहार का समारोप नहीं होता तब तक नयन के स्फुरत् और अधीर तथा पयोधर के अगलित एवं उरु (विशाल) विशेषण, समय वर्षा-ऋतु तथा संकेत-काल के प्रतिपालन के अर्थ ठीक बैठ नहीं सकते। यह समारोप ही जगतीधर (पर्वत) और प्रिय (प्रेमी) में निहित सादृश्य-भाव का बोध कराने में पूर्ण समर्थ है अतः उसके लिए पद्य में हुआ 'इव' का शब्दतः प्रयोग निश्चित ही पुनरुक्ति-दोष है।

यही नहीं किसी वस्तु के उस धर्म का जो केवल उसी में पाया[2] जाता हो, आरोप किसी अन्य वस्तु पर हो तो उन दोनों के बीच स्थित उपमानोपमेय-भाव की अभिव्यक्ति के लिए शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती? उदाहरणतः--

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः।
तरुवत् सुकरः सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि॥

अपराग-समीर--प्रजा के विरोध की आँधी से झकझोरे जाने के कारण जिसकी जड़ें अमात्यवर्ग क्रमशः शीर्ण होकर जिसे प्रायः छोड़ चुके होते हैं ऐसा महान् शत्रु को भी किसी

---

१. **यस्य यद्रूपताव्यक्तिः सामर्थ्यादेव जायते।**
तस्योपमा रूपकं वा तदर्थं पौनरुक्त्यकृत्॥ --व्य० वि० सं० का० २।४१।

२. **यदर्थैकाश्रयो धर्मो यत्र स्यादधिरोपिता।**
उपमानोपमेयत्वं न तयोः शाब्दमिष्यते॥ --व्य० वि०, सं० का० २।४२।

धैर्यशाली के द्वारा वृक्ष की तरह उखाड़ फेंकना आसान होता है। इस पद्य में उन्मूलन के मात्र तरुधर्म होने से राजा पर उसका आरोप होकर ही वाच्य की विश्रान्ति होती है। अतः उसके सामर्थ्य से ही दोनों का उपमानोपमेय-भाव सिद्ध हो जाता है। उसके लिए अलग से सादृश्य-वाचक पद के प्रयोग की आवश्यकता यहाँ नहीं है। इस प्रकार रूपक एवं पर्य्यायोक्ति आदि अनेक अलंकारों का दृष्टान्त देकर आचार्य ने यह बताया है कि अलंकारों के प्रयोग में भी तद्वाचक पदों का प्रयोग तब नहीं करना चाहिए जब उनसे अभिलषित उपमानोपमेय आदि भावों की प्रतीति किसी अन्य सामर्थ्य से स्वतः हो जाती है।

(ख) पुनरुक्ति एवं अनुप्रास

जहाँ तक शब्दालंकारों का प्रश्न है महिमभट्ट का कहना है कि चाहे समास-बहुल-रचना हो या (समास) विहीन, अनुप्रास के सभी भेदों में से वह भेद जिसमें प्रायः प्रत्येक पद के प्रथमवर्ण एक ही होते हैं, कवियों को बहुत प्रिय होता है।[1] समास-बहुल-रचना का उदाहरण है—

त्वत्कीर्तिकेतकीक्लृप्तकान्तकर्णावतंसकः।
दिगङ्गनागणो राजन् राजत्यामोदनिर्भरः॥

हे राजन्! आपकी कीर्ति रूपी केतकी पुष्प का कर्णावतंस (कनफूल) पहनकर आमोद (सुगन्ध, प्रसन्नता) से परिपूर्ण दिशारूपी स्त्रियों का समूह कितना अच्छा लग रहा है। यहाँ कीर्ति, केतकी, क्लृप्त, कान्त तथा कर्णावतंस पदों के आदि में प्रयुक्त ककार छेकानुप्रास की सृष्टि करता है। असमास में भी ककार की ही छटा का उदाहरण है—

कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कलभाषिणि।
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे॥

मधुरालापिनि प्रिये! कानों में नीलकमल को क्यों पहनती हो? क्या तुम ऐसा समझती हो कि तुम्हारे अपाङ्ग (नेत्रप्रान्त) उस काम में समर्थ नहीं है? यहाँ पर भी कुतः, कुवलयं, कर्णे, करोषि एवं कलभाषिणि पदों के आदि में ककार का प्रयोग अनुप्रास की सृष्टि करता है। पूर्व से इसमें अन्तर इतना ही है कि वहाँ पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त सभी पदों का समास हुआ है जबकि उत्तरपद्य में पूर्वार्द्ध के प्रत्येक शब्द अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

संक्षेप में पुनरुक्ति दो प्रकार की होती है—आर्थी और शाब्दी। अभीष्ट अर्थ की प्रतीति जब किसी अन्य सामर्थ्य से सिद्ध हो तो उसके लिए शब्द का प्रयोग आर्थी-पुनरुक्ति है। शाब्दी पुनरुक्ति वह है जहाँ किसी तात्पर्य-विशेष से किसी शब्द की पुनरुक्ति करनी पड़ती है। इनमें प्रथम प्रकार गौण तथा द्वितीय मुख्य होता है। तथा प्रथम आर्थी-पुनरुक्ति ही दोष है। शाब्दी तो अलंकार की सृष्टि करती है। शब्दालंकार के प्रयोग में पटु विद्वान या कवि

---

१. **समासे चासमासे चानुप्रासेष्वखिलेष्वपि।**
पदादिवर्णानुप्रासः कवीनामधिकं प्रियः॥ —व्य० वि० सं० का० २।४४।

इसे ही लाटानुप्रास कहते हैं।[1] इस प्रकार लाटानुप्रास का बीज पुनरुक्ति ही है जो दोष और गुण दोनों ही होती है।

(ग) श्लेष में पद की आवृत्ति

श्लेष दो प्रकार का प्रसिद्ध है––शब्दविषयक और अर्थविषयक। इन भेदों के विनिया-मक तत्त्वों के विषय में आलंकारिकों में मतभेद भी है। दण्डी आदि ने श्लेष के आधायक अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन किया है तथा उसके शब्द, अर्थ एवं सभङ्ग, अभङ्ग नामक भेदों का विवेचन प्रायः सबने किया है। सभङ्ग को शब्द एवं अभङ्ग को ही अर्थश्लेष की भी संज्ञा दी गई है। पर महिमभट्ट का कथन है कि श्लेष के शब्द एवं अर्थ विषयक भेद अविनाभाव से नियमित होते हैं। उसी शब्द के प्रयोग के बिना यदि श्लेष नहीं रहता तो वह शब्दश्लेष है और यदि उसके किसी अन्य पटर्याय के प्रयुक्त होने पर भी यदि श्लेष बना रहता है तो वह निश्चित रूप से अर्थश्लेष है। इसके लिए शब्द को तोड़ना पड़े चाहे न। शब्द-श्लेष का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है––जहाँ पर केवल शब्द के प्रयोग से दो वस्तुओं के ऐसे सादृश्य का निरूपण किया जाय जो किसी में कम हो न अधिक वह शब्द-श्लेष अलंकार है। यह कर्ता कर्म आदि प्रधान अर्थों के साथ नित्य-सम्बद्ध धर्मी और धर्मवाचक शब्दों में प्रयोग से ही दो प्रकार का होता है।[2] व्यक्तिविवेककार ने अर्थश्लेष के लक्षण आदि का विवेचन नहीं किया है। किन्तु उनका कहना है कि श्लेष के दोनों प्रकारों में अर्थद्वय की अभिव्यक्ति का कोई कारण अवश्य बताया जाना चाहिए अन्यथा कवि का श्लेष की रचना का श्रम व्यर्थ हो जायगा।[3] कहने का आशय यह है कि श्लेष में भी दूसरे अर्थ की प्रतीति वाच्य ही होती है। पर वह वाच्य तब तक नहीं होगी जबतक रचना में कोई ऐसा प्रयोग न किया गया हो जिससे बाध्य होकर पाठक को दूसरे अर्थ की ओर उन्मुख होना पड़े। अन्यथा या तो उसकी प्रतीति नहीं होगी या यदि होगी भी तो प्रतीयमान के रूप में होने से रचना में श्लेष का चमत्कार नहीं रह पायेगा।

धर्मी अर्थवाले शब्द की श्लेष से अभिन्नता का उदाहरण है––

> अत्रान्तरे फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासः कुसुमसमययुगमुपसंहरन्न-
> जृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः॥

---

१. सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथार्थीपुनरुक्तता।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शाब्द्यपीष्यते ॥४६॥
पौनरुक्त्यमिति द्वेधा गौणमुख्यतया स्थितम्।
तत्र दूषणमेवाद्यमपरं भूषणं स्मृतम् ॥४७॥
शब्दालंकारनिपुणैर्लाटानुप्राससंज्ञया।
तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्यते ॥४८॥ ––व्यक्तिविवेक, द्वितीय-विमर्स।

२. यत्रान्यूनातिरिक्तेन सादृश्यं वस्तुनोर्द्वयोः। शब्दमात्रेण कथ्येत स शब्दश्लेष इष्यते ॥
स शब्दैः कर्तृकर्मादिप्रधानार्थाविनाकृतैः। निबद्धो धर्मिधर्मार्थैर्द्विविधः परिकीर्तितः ॥
––व्य० वि० सं०। का०, २।८१, ८२।

३. उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किञ्चिन्निबन्धनम्।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषबन्धोद्यमः कवेः॥ ––व्य० वि० सं० का० २।८४।

इसके बाद ग्रीष्म नामक ऋतु का आगमन ऐसे हुआ मानो महाकाल ने जम्हाई ली। मल्लिका के श्वेत पुष्पों की राशि की राशि क्या झरने लगी ऐसा लगता था कि महाकाल ने अट्टहास ही किया है और फलस्वरूप वृक्षों एवं लताओं के फूलने की ऋतु समाप्त होने पर आई मानो युग का ही संहार समीप हो। यहाँ पर 'महासमय' या 'ग्रीष्मकाल' इस विशेष्य के प्रयोग से ही लम्बे समय तक रहने वाली ग्रीष्म ऋतु एवं देवता-विशेष महाकाल की प्रतीति 'धवलाट्टहासः' तथा 'युगमुपसंहरन्' पदों के प्रयोग के सामर्थ्य से ही हो जाती उसके लिए 'महाकाल' पद का प्रयोग आवृत्तिमात्र है जो समासोक्ति के लिए हुई है। जहाँ पर इस प्रकार की पुनरुक्ति के लिए कोई कारण न हो वहाँ पद की आवृत्ति व्यर्थ होती है। उदाहरणतः—

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गामाक्रम्य च स्थितमुदग्रविशाल शृङ्गम्।
मूर्ध्निस्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेनमुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते गिरीशम्॥

इस पृथ्वी-तल पर ऐसा कौन है जो इस गिरीश को देखकर विस्मित न हो जाय। यहाँ 'गिरीश' विशेष्य के दो अर्थ हैं—गिरिराज हिमालय, तथा कैलाश पर्वत पर सोने वाले शिव। प्रयुक्त सभी विशेषण द्वयर्थक हैं। हिमालय पक्ष में इनका अर्थ है जिसने अपनी विपुलता से दिशाओं एवं अम्बर (आकाश) दोनों को ढँक लिया है, जो जोरों से पृथ्वी को दबाकर बहुत ऊँचाई लिए स्थित है, जिसके शिखर ऊँचे तथा विशाल हैं, जिसके ऊपरी भाग पर बर्फ की अनेक पर्तें चमक रही है। शिव पक्ष में—जिसने दिशा रूपी लम्बे चौड़े वस्त्र से अपने अंगों को ढंक रखा है, जो नन्दी नामक ऐसे बैल पर सवार है जिसकी सींगें विशाल एवं ऊपर को उठी हैं तथा जिसके ललाट पर चन्द्र की कला छिटक रही है। यहाँ पर 'गिरीश' पद की आवृत्ति का कोई कारण नहीं। जिसका कथन होना चाहिए था, न होने से वाच्य का अवचन अर्थात् न कहा जाना वाच्या वचन दोष है।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार प्रदीप जिस वस्तु को देखने के लिए जलाया जाता है उसके आस-पास रखी हुई अन्य वस्तुओं का भी ज्ञान करा देता है उसी प्रकार यहाँ 'गिरीश' शब्द मुख्यतः हिमालय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है साथ ही प्रसंगवश उससे शिव अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है तो इसमें क्या क्षति है? इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि बात ऐसी है नहीं। प्रदीप के प्रकाशन एवं शब्द के अर्थ-प्रत्यायन व्यापारों में भेद है। शब्द को किसी अर्थ की प्रतीति के लिए जिस प्रकार पहले अपना परिचय देना पड़ता है अर्थात् उसे संकेतग्रह आदि पर निर्भर होना पड़ता है, प्रदीप को उसी प्रकार स्वयं के प्रकाशन के लिए किसी अन्य की सहायता अनपेक्षित नहीं होती। इसलिए प्रदीप अन्य वस्तु का प्रकाशन अकारण कर सकता है पर शब्द अन्य अर्थ का बोध बिना किसी उपयुक्त कारण के अनायास नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त शब्द अपने बोद्धा का परामर्श करके ही अर्थान्तर की अभिव्यक्ति कराता है। प्रदीप के द्वारा अन्य वस्तु के प्रकाशन में उसके देखनेवाले की अपेक्षा नहीं होती। चाहे कोई देखे या न देखे मुख्य वस्तु के समीप में स्थित अन्य वस्तु प्रकाशित होगी ही। प्रकृत पद्य में शिव परक अर्थ-प्रतीति की अनिवार्यता का ऐसा कोई भी कारण बताया नहीं गया है अतः यहाँ श्लेष के द्वारा अन्य अर्थ के अनुसन्धान का प्रयास व्यर्थ है।

एक शब्द से अनेक अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में नियमों का विधान करते हुए कहा है कि जहाँ पर एक ही शब्द दीपक के समान स्वभाव से ही संकेत-स्मरण आदि की अपेक्षा किये बिना ही अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है वह तन्त्र का विषय है। अर्थात् उससे अभिव्यक्त अर्थ समान कोटि के होते हैं, प्रधान एवं गौण नहीं। ऐसे स्थलों में शब्द स्वरूपतः एक होते हुए भी वस्तुतः एक नहीं रहता बल्कि जितने अर्थ उतने शब्द होते हैं। उनके ध्वन्यात्मक स्वरूप की समानता से लोग ठग जाते हैं और उन्हें एक ही शब्द समझने लगते हैं। इसलिए केवल ध्वनि-साम्य से उन्हें अनेक अर्थ का प्रतिपादन एक शब्द नहीं मानना चाहिए। अतएव शब्द प्रसंग का भी आस्पद नहीं होता। एक ही शब्द द्वारा प्रतिपादित अनेक अर्थों में प्रधान गुण भाव का होना ही उसका प्रसंग का आस्पद होना है। फलतः किसी शब्द के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन बिना किसी कारण के युक्तियुक्त नहीं। वह कारण अव्यय तथा उससे भिन्न भी अनेक प्रकार का कहा गया है।[1] इसलिए एक शब्द से उसके वाच्य से अतिरिक्त अन्य अर्थ की भी यदि अभिव्यक्ति होती है और उसका कोई निमित्त विद्यमान नहीं है तो श्लेषमयी रचना का आग्रह कवि के लिये क्लेशप्रद ही होता है। उससे चमत्कार का आधान होना तो दूर की बात है।[2] क्योंकि शब्द संयोगादि से नियंत्रित होकर संकेतित किसी एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति स्वभावतः या अभिधा-शक्ति से कराता है। अन्य अर्थ की प्रतीति सर्वथा अनुमेय ही होगी जिसे हेतु-साध्य-भाव से ही व्यवस्थित मानना होगा। बिना किसी हेतु के उससे अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।

(घ) अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रस्तुताप्रस्तुत की उक्ति का विधान––

जहाँ अप्रस्तुत से ही प्रतिबिम्ब से बिम्ब के समान प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ प्रस्तुत का कथन नहीं होना चाहिये क्योंकि उस अप्रस्तुत के कथन से ही वहाँ प्रस्तुत का बोध हो जाता है। अतः ऐसे स्थलों में प्रस्तुत का कथन दोषयुक्त होता है जिसका उदाहरण निम्न पद्य है––

द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये निशि दीपकः ।
बहुविधार्थ्युपकारभरक्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः ॥

धन केवल आपत्ति में काम आता है, आभूषण उत्सवों में ही धारण किये जाते हैं,

---

१. एकोऽनेकार्थकृद्यत्र स्वभावेनैव दीपवत् ।
समयस्मृत्यनाकाङ्क्षस्तन्त्रस्य विषयो हि सः ॥
शब्दे त्वसिद्धमेकत्वं प्रत्यर्थं तस्य भेदतः ।
सादृश्यविप्रलब्धस्तु लोकस्तत्त्वमवस्यति ॥
नैतावतावगन्तव्या तस्यानेकार्थवृत्तिता ।
नातएव प्रसङ्गस्य पदं शब्दोऽवकल्पते ॥
न चानिबन्धना युक्ता शब्दस्यार्थान्तरे मतिः ।
तच्चानेकविधं प्रोक्तमव्ययानव्ययात्मकम् ॥ व्य० वि० सं० श्लो० ८५-८८ ।

२. तस्मादर्थान्तरव्यक्तिहेतौ कस्मिंश्चनासति। यः श्लेषबन्ध निर्बन्धः क्लेशायैव कवेरसौ॥
—वही, ८९

रक्षक प्राणों का संकट आने पर तथा दीपक रात्रि में ही अपेक्षित होता है। आपके समान पुरुष-रत्न तो (सहस्रों में) कोई ही होता है जो प्रार्थी का बहुमुखी उपकार करने में समर्थ हो। यहाँ पर 'भवानिव' शब्द से सज्जनपुरुष का उपमान होना विहित है जिसकी प्रतीति उपमेय रूप से उल्लिखित द्रविण आदि अप्रस्तुत पदार्थों के निरूपण से ही हो जाती है। अतः यहाँ इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए था। उसके विपरीत की स्थिति प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रीति बिना किसी कारण विशेष के सम्मव नहीं होती। अतः उसके लिए उस अप्रस्तुत का शब्दतः कथन दोष नहीं है। उदाहरणतः--

निम्नमुन्नतमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङमहत्त्वमसतां हतान्तरम्॥

नीचा, ऊँचा, स्थिर, चंचल, टेढ़ा तथा सरलता से युक्त जो भी है उसे अन्धकार ने बराबर कर रखा है। (गुण दोष के) भेद को न समझने वाले दुष्टों की प्रभुता को धिक्कार है। यहाँ तम प्रस्तुत है अतः उसके कथन में असत्पुरुष की प्रतीति कराने की क्षमता नहीं है। इसलिए उसका शब्दतः उपादान होना ही चाहिए। इस विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि प्रतिबिम्ब से उसके बिम्ब की प्रतीति के समान अप्रस्तुत के कथन के सामर्थ्य से ही जहाँ पर प्रस्तुत की प्रतीति सम्भव हो वहाँ प्रस्तुत का शब्दतः कथन उचित नहीं होता। इसके विपरीत प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति चूंकि अकारण नहीं होती अतः ऐसे स्थलों में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का कथन अभ्यर्हित ही होता है।[१]

(ङ) समासोक्ति एवं उत्प्रेक्षा

जहाँ पर किसी अर्थ की उपमानता समासोक्ति अलंकार से ही ज्ञात हो जाय वहाँ उसका कथन नहीं होना चाहिए और यदि कथन करना ही पड़े तो वह शब्दतः होना चाहिए अन्यथा अन्य पदार्थ के धर्मों से अन्यवस्तु का सम्बन्ध क्या होगा? इसलिए उपमान का वाच्य या आर्थ (व्यंग्य) होना दोनों ही अवसर-भेद से सदोष है।[२]

इसी प्रकार जहाँ पर एक स्थान की उत्प्रेक्षा से बहुत से अर्थों का बोध होता हो वहाँ उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि पदों का प्रयोग उनमें से प्रधान के साथ ही करना चाहिए किसी अन्य के साथ नहीं।[3] उदाहरणतः--

---

१. अप्रस्तुतोक्तिसामर्थ्यात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते।
प्रतिबिम्बाद् यथा बिम्बं तस्योक्तिस्तत्र शस्यते॥
प्रस्तुतात्तु तदन्यस्य प्रतीतिरनिबन्धना।
न सम्भवत्येव ततस्तदुक्तिस्तत्र शस्यते॥ --व्य० वि० सं० का० १०६, १०७।

२. यत्रार्थस्योपमानत्वं समासोक्त्यैव गम्यते।
न तत्तत्र पुनर्वाच्यमुक्तौ वा शाब्दमस्तु तत्।
अन्यथा त्वन्यधर्मैः कः सम्बन्धोऽन्यस्यवस्तुनः।
तेन वाच्यत्वमार्थत्वं चेत्यस्य द्वयमप्यसत्॥--व्य० वि० स० का० १।१०८, १०९।

३. एकत्रोत्प्रेक्षितत्वेन यत्रार्था बहवो मताः।
तत्रेवादिः प्रयोक्तव्यः प्रधानादेव नान्यतः॥ --व्य० वि० स० का० २।११०

पत्ता णिअंब फंसं ह्णाणुतिण्णाए सामलङ्गीए ।
विहुरा रुअन्ति जलबिन्दुएहिं बन्धस्स व भएण ॥[1]

श्यामा नायिका स्नानकर बाहर निकली है । उसके केश नितम्ब तक लटक रहे हैं । उनसे जलबिन्दु टपक रहे हैं मानों अभी बाँधे जायेंगे इसके भय से वे रो रहे हों । यहाँ पर केशों का बन्धन से डरना और रोना—दोनों अर्थ उत्प्रेक्षित हैं । उनमें रोदनकी ही प्रधानता है। अतः उसी के बाद उत्प्रेक्षावाचक 'इव' का प्रयोग होना चाहिए था न कि जैसा हुआ है बन्धन के साथ । क्योंकि प्रधान के साथ उत्प्रेक्षावाचक पद का प्रयोग हो जाने पर उसके सामर्थ्य से ही अन्य अर्थ भी उत्प्रेक्षित हो जाते हैं ।

२. एक अलंकार के विषय में अन्य अलंकार का प्रयोग

वाच्यावचन-दोष के निरूपण के प्रसंग में ही महिमभट्ट ने अलंकार-दोष का गहन विवेचन किया है । उनका कहना है कि जहाँ पर किसी अलंकार का निबन्धन एक दूसरे अलं-कार के विषय में हुआ हो वह भी वाच्यावचन-दोष ही है । इस प्रसंग में कई अलंकारों का उदाहरण प्रस्तुत कर उसकी गहन-मीमांसा भी की है । यहाँ पर उनका दिङमात्र दर्शित किया जाता है ।

(क) समासोक्ति के विषय में श्लेष का उपनिबन्धन

ऐसे अनेक स्थलों की सम्भावना है जहाँ समासोक्ति होने से ही चमत्कार की सृष्टि होती । पर उसके स्थान पर श्लेष अलंकार की रचना यदि की जाय तो वह वाच्यावचन-दोष की श्रेणी में आता है । उदाहरणतः—

अलकालिकुलाकीर्णमारक्तच्छदसुन्दरम् ।
आमोदिकर्णिकाकान्तं भाति तेऽब्जमिवाननम् ॥

केशरूपी भौरों के समूह से घिरा तथा (हाल के ही निकले होने से) किञ्चित् रक्त वर्ण के पत्ते रूपी अधरों से सुन्दर एवं सुगन्धिरूप प्रसन्नता से युक्त बीजरूप कर्णफूल से मनोहर तुम्हारा मुख कमल के समान अच्छा लग रहा है । यहाँ पर समुचित विशेषणों के ग्रहण के सामर्थ्य से आक्षिप्त कमल के उपमान होने का बोध वस्तुतः प्रस्तुत में अप्रस्तुत के समारोप रूप समासोक्ति का ही विषय होना उचित था क्लिष्ट पदों के द्वारा अनेक अर्थों के अभिधान रूप श्लेष का नहीं। क्योंकि समासोक्ति अलंकार में ही आरोप्यमाण अर्थ की अनुमीयमानता (प्रतीयमानता) के द्वारा सहृदय को चमत्कार की अनुभूति होती है । श्लेष में तो दोनों अर्थों के वाच्य होने से वह चमत्कार नहीं हो पाता । इस पर यह कहा जा सकता है कि उपमान एवं उपमेय के लिए प्रयुक्त विशेषणों की समानता (एकता) से यहाँ भी अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीत हो ही जाती है । तथा उद्भट आदि अलंकारिकों ने भी समासोक्ति का लक्षण यहीं किया है कि प्रस्तुत अर्थ के बोधक वाक्य से उसके समान विशेषणों के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का

---

१. प्राप्ता नितम्बस्पर्शं स्नानोत्तीर्णायाः श्यामलाङ्ग्याः ।
चिकुरा रुदन्ति जलबिन्दुभिर्बन्धस्येव भयेन ॥ (संस्कृत-छाया)

कथन ही समासोक्ति है।[1] महिमभट्ट ने उद्भट कृत समासोक्ति के इस लक्षण को उद्धृत कर इसका खण्डन करते हुए कहा है कि केवल विशेषणों की समानता ही अप्रस्तुत अर्थ का बोध कराने के लिए पर्याप्त नहीं होती अपितु प्रस्तुत के ऊपर अप्रस्तुत के कार्य (व्यवहार) का समारोप होना अत्यावश्यक है। समान विशेषणों का प्रयोग तो श्लेष आदि अनेक अलंकारों में भी होता है जहाँ दोनों अर्थ वाच्य ही होते हैं।

(ख) श्लेष के विषय में उपमा

श्लेषालंकार के विषय-स्थलों में उपमा की सम्भावनाएँ इसलिए हो जाती है कि उपमा में साधर्म्य की प्रतीति के लिए कभी-कभी साधारणवाचक ऐसे पदों का प्रयोग हो जाता है जो श्लिष्ट होते हैं और उपमान एवं उपमेय में समानधर्मता केवल शाब्दी ही रह जाती है। अथवा उपमान और उपमेय वाचक पदों में से किसी एक ही से दोनों की प्रतीति सम्भव होती है। उदाहरणतः—

"भैरवाचार्यस्तु दूरादेव दृष्ट्वा राजानं शशिनमिवजलनिधिश्चचाल।"

भैरवाचार्य दूर से ही राजा को देखकर उसी प्रकार चल पड़े जैसे चन्द्रमा को देख कर समुद्र। यहाँ केवल 'राजा' पद से ही श्लेष के द्वारा उपमान चन्द्रमा और उपमेय राजा दोनों का ग्रहण हो सकता था क्योंकि राजा शब्द दोनों अर्थों में संकेतित है। अतः दोनों में उपमानोपमेयभाव की प्रतीति के लिए 'शशिनमिव' पद के प्रयोग से उपमा का जो आश्रय लिया गया है वह श्लेष के विषय में होने से सदोष है। केवल 'राजा' पद के रहने से उपमानोपमेयभाव प्रतीयमान होता जिसके अर्थ से निकलने में ही चमत्कार था। शब्द से प्रतिपादित होकर तो वह वाच्य हो गया। फलतः इसमें वह चमत्कार नहीं रहा जो प्रतीयमानता के संस्पर्श से होता। उक्त वाक्य महाकवि बाण के हर्षचरित का था। कवि-कुल-गुरु कालिदास भी इस प्रकार के दोष से सर्वथा मुक्त नहीं है। रघुवंश का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दु क्षीरनिधाविव ॥

मनु के वंश में संकरता नहीं आई। उसी विशुद्धवंश में दिलीप नाम का राजा हुआ जो सात्विकता में बढ़कर ही निकला। इक्ष्वाकु-कुल के राजाओं में चन्द्रमा की तरह देदीप्यमान राजा दिलीप पर उस कुल को उसी प्रकार गर्व था जिस प्रकार समुद्र का चन्द्रमा पर। इस पद्य में भी श्लेष के विषय में रूपक के उपनिबन्धन का तिरस्कार कर उपमानुरागी कवि ने उपमा की ही रचना की है। किन्तु उपमा, श्लेष एवं रूपकके साथ स्पर्धा नहीं कर सकती क्योंकि उन दोनों में प्रतीयमानता का संस्पर्श नियत रूप से रहता है जबकि उपमा उससे रहित होती है। यहाँ पर वाच्य रूपक का कथन न करना वाच्यावचन-दोष है।

(ग) रूपक के विषय में उपमा

रूपक के विषय में उपमा के प्रयोग का दृष्टान्त पूर्व उदाहरण में यद्यपि दिया जा

१— **प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।**
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ॥ —उद्भट, का० सा० सं० २।१०।

चुका है पर वह श्लेष के साथ संकीर्ण था। विशुद्धरूप से रूपक के स्थल में उपमा का उदाहरण निम्नलिखित है—

ततो द्रुतं वैरमदाभितप्तः सोऽतीवरम्यात् भवनाद्रिकुञ्जात् ।
विनिर्ययौ दानवगन्धहस्ती महाद्रिकुञ्जादिव गन्धहस्ती ॥

उसके अनन्तर गन्धगजरूपी वह दानव शत्रुता और मद से उत्तेजित होकर अपने परम रमणीक भवन से उसी प्रकार तेजी से बाहर निकला जिस प्रकार अपनी मद-गन्ध से उन्मत्त हाथी विशाल पर्वत के कुञ्ज से निकलता है। यहाँ 'दानवगन्धहस्ती' के रहते हुए भी 'गन्धहस्ती इव' शब्द का प्रयोग दानव और गन्धहस्ती में उपमानोपमेयभाव की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। पर वह तो द्वितीय गन्धहस्ती एवं उसके साथ उपमावाचक 'इव' के प्रयोग के बिना भी प्रतीत हो सकता था। जो रूपक अलंकार का विषय है। यहाँ रूपक अलंकार के विषय में उपमा का प्रयोग दोषयुक्त ही हुआ है क्योंकि उससे दानव एवं हस्ती में प्रतीयमान उपमानोपमेयभाव वाच्य होगया है। फलतः अलंकार की चारुता उतनी नहीं रह गई है जितनी रूपक के द्वारा उसके अनुमेय होने पर होती। यदि यह कहें कि यहाँ प्रयुक्त प्रथम 'गन्धहस्ती' पद प्रशंसा एवं द्वितीय उपमानवाचक है तो वह इसलिए ठीक नहीं कि प्रथम प्रयोग से ही प्रशंसा एवं उपमान दोनों अर्थों की अभिव्यक्ति वाच्य एवं प्रतीयमान के रूप में सम्भव है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसी बात है तब तो उपमा या श्लेष आदि ऐसे अलंकारों के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहेगा जहाँ सब कुछ वाच्य ही रहता है। और इस प्रकार निम्न पद्य में श्लेष का उपनिबन्धन भी दोष-युक्त ही माना जायगा।

अनिराकृततापसं पदं फलहीनां सुमनोभिरुज्झिताम् ।
खलतां खलतामिवासतीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः ॥

विज्ञजन तपस्विता के लक्ष्य को छोड़े बिना आकाशलता के समान असत् उस खलता (दुष्टता) को कैसे अपनाएँ जो निष्फल है अतएव सुमनों से उज्झित (सज्जनों से परित्यक्त या पुष्पों से रहित) है। यहाँ उक्त कथन इसलिए ठीक नहीं है कि आकाशलता की उपमानता कवि को वाच्यरूप में ही विवक्षित है अन्यथा 'फलहीनां' और 'सुमनोज्झितां' जैसे विशेषणों के प्रयोग की यहाँ अपेक्षा नहीं थी जो उभयार्थक होते हुए भी आपाततः लता का ही बोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त उपमा, अतिशयोक्ति,समासोक्ति आदि अनेक अलंकारों की सृष्टि में श्लेष का योग होता है। इसलिए जहाँ किसी अलंकार की प्रतीति कराने के लिए श्लिष्ट पदावली का प्रयोग किया गया होता है वहाँ उसकी वाच्यता से ही श्लेष की अभिव्यक्ति होती है। वह सृष्ट अलंकार श्लेष के विषय को अपना नहीं बना लेता। अतः किसी अन्य प्रयोजन के न रहने पर अकारण ही एक बार पठित शब्द का उसी पद्य में उपमान के रूप में जो पुनः पाठ होता है वह श्लेष की ही अभिव्यक्ति है। वहाँ किसी अन्य अलंकार का स्पर्श भी नहीं होता। उक्त पद्य में तो यह आशंका ही नहीं उठती कि यहाँ उपमा है या श्लेष। फिर उक्त दोनों दोषों का योग न होने से यह काव्य सदोष या असत् कैसे कहा जा सकता है ?

इस सम्बन्ध में नियम का विधान करते हुए व्यक्तिविवेककार ने कहा है कि जिन शब्दों को किसी अलंकार विशेष की रचना के लिए प्रयुक्त किया गया हो केवल उन्हीं या उनसे

भी कम से यदि किसी अन्य अलंकार की अभिव्यक्ति हो जाती हो तो लाघव के कारण वहाँ वही दूसरा अलंकार ही ग्रहण करना चाहिए अन्य नहीं। वस्तु-स्थिति तो यह है कि कवि का व्यापार काव्य-विषयक शोभा के चमत्कार की सृष्टि करना है इसलिए उसमें अलंकारों के प्रयोग से कोई आतिशय्य नहीं हो जाता जिससे वह किसी अलंकार का विशेष रूप से विधान तथा दूसरे का निषेध करें।[२] चमत्कार का आधायक मुख्य तत्त्व तो प्रतीयमानता है जिसे महिमभट्ट ने अनुमेय कहा है और जो पूर्णरूप से केवल रस में ही निहित होता है। अलंकारों के उचित प्रयोग से उसका उत्कर्षमात्र हो जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि महिमभट्ट के द्वारा अलंकारों के स्वरूप का यह विवेचन अलंकार-दोष के रूप में हुआ है। महिमभट्ट के पूर्व आनन्दवर्धन ने अलंकारों के अंगी रूप में विवेचन का निषेध किया है तथा अवसर के अनुरूप उनके ग्रहण एवं त्याग का भी विधान किया है। पर कौन अलंकार कहाँ पर सदोष होगा इसका विचार किसी भी आलंकारिक को नहीं सूझा था। पद, पदांश, वाक्य, अर्थ एवं रस-दोषों तक का तो विवेचन मम्मट प्रभृति उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी किया है किन्तु अलंकार-दोष का निरूपण उनसे भी नहीं बन पाया है। महिमभट्ट के द्वारा 'स्थालीपुलाक' न्याय से ही कृत इस विवेचन से कवि और भावक दोनों की आँखे खुल जाती है और अलंकारों का विशेषस्वरूप एवं विषय भी स्पष्ट हो जाता है। इसके साथ ही महिमभट्ट के द्वारा प्रस्थापित काव्यानुमिति पक्षका भी इससे समर्थन होता है। अलंकार की प्रतीयमानता के स्थलों में अर्थान्तर या अलंकारान्तर की प्रतीति शब्द से ही नहीं होती अपितु उसका कोई न कोई अन्य हेतु अवश्य होता है। फलतः उस प्रतीति में हेतु-साध्य-भाव के विद्यमान होने से वह अनुमेय ही है व्यंग्य नहीं।

१. यदलंकारव्यक्तयै ये शब्दास्तदितरोऽपि तैरेव।
व्यज्येतात्पतरैर्यदि तदसौ गृह्यते लाघवान्नान्यः॥ —व्य० वि० का० २।७३।

२. न ह्यस्ति निजे कर्मण्यलंकृतीनां स कश्चनातिशयः।
येन विधीयेतैकापरानिषिध्येत वा कविभिः॥ —व्य० वि० का० २।७४।

तृतीय-विमर्श

स्वभावोक्ति की अलंकारता

(क) भामह, दण्डी एवं उद्‍भट

स्वभावोक्ति की अलंकारता पर आरंभ से ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा मिलता है। संस्कृत-अलंकार-शास्त्र के आद्य आचार्य भामह का कथन है कि स्वभावोक्ति को भी कुछ लोग अलंकार मानते हैं, जो किसी अर्थ अर्थात् वस्तु, विषय या व्यक्ति के स्वभाव के यथार्थ कथन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[1] यहाँ 'केचित्प्रचक्षते' से यह ध्वनित होता है कि भामह के पूर्ववर्ती किसी आलंकारिक ने स्वभावोक्ति को अलंकार माना था जिसका संभवतः विरोध भी हुआ। इसीलिये भामह ने सभी अलंकारों का निरूपण करने के बाद अन्तमें स्वभावोक्ति का लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसके ठीक विपरीत दण्डी ने स्वभावोक्ति का निरूपण प्रथम अलंकार के रूप में ही किया है। स्वभावोक्ति का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है कि स्वभावोक्ति और जाति उस एक ही अलंकार के दो नाम हैं जो जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य नामक पदार्थों के विविध रूपों का वर्णन प्रत्यक्ष के समान प्रस्तुत करता है।[2] आचार्य दण्डी का मत है कि शास्त्रों में तो स्वभावोक्ति का ही साम्राज्य है क्योंकि वहाँ विवेच्य-विषय के स्वरूप का ही यथार्थ निरूपण किया जाता है। पर काव्य में भी इसका निरूपण इसलिये अभीष्ट है कि इससे भी चमत्कार का आधान होता है।[3] दण्डी के उत्तरवर्ती आचार्यों में वामन ने स्वभावोक्ति का उल्लेख तक अपनी कृति में नहीं किया है जो इस बातका स्पष्ट प्रमाण है वे स्वभावोक्ति को अलंकार मानने को प्रस्तुत नहीं। किन्तु उनके ही समसामयिक भट्टोद्‍भट ने स्वभावोक्ति का लक्षण किया है।

उद्‍भट, रुय्यक और जयदेव—ये तीन आचार्य अलंकार-तत्त्व के निरूपण के विषय में प्रामाणिक माने जाते हैं क्योंकि इन्होंने अपनी पूर्ववर्ती पूरी परम्परा को अपने विवेचन में समेट लिया है और उसके मर्म का उद्‍घाटन अपनी अपनी कृतियों में किया है। अलंकारों के लिए उनके मन में विशेष आस्था है। इनमें प्रथम दो-उद्‍भट एवं रुय्यक ने तो स्वतन्त्ररूप से

---

१. स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते। अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यदा॥
—भामह, काव्यालंकार २।९३।

२. नानावस्था पदार्थानाँ रूपं साक्षाद् विवृण्वती। स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥
—दण्डी, काव्यादर्श २।८।

३. जातिगुणक्रियाद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्। शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्॥
—वही—२।१३।

अलंकारों का ही विवेचन किया है पर तीसरे जयदेव ने भी अपनी कृति 'चन्द्रालोक' का अधिकाँश अलंकारों के विवेचन में ही लगाया है। इन तीनों ने ही स्वभावोक्ति को अलंकार के रूप में स्वीकार कर उसके लक्षण उदाहरण का सविध विवेचन किया है। स्वभावोक्ति का लक्षण करते हुए उद्भट ने कहा है कि किसी पशु, पक्षी या बालक की अपनी जाति के अनुसार नाना प्रकार की क्रियाओं में प्रवृत्ति का उपनिबन्धन ही समासोक्ति है।[1] उद्भट का समासोक्ति-लक्षण भामह एवं दण्डी की ही सरणि पर हुआ है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ भामह दण्डी ने किसी भी पदार्थ के स्वरूपमात्र का वर्णन स्वभावोक्ति माना है वहाँ उद्भट ने पशु एवं डिम्भ (बालक) आदि की अपनी जाति के अनुरूप क्रियाओं का ही।

(ख) रुद्रट

रुद्रट ने अपनी कृति काव्यालंकार के सप्तम अध्याय में अर्थालंकारों के निरूपण का समारम्भ किया है। आरम्भ में ही इन अलंकारों के आधार अर्थ अर्थात् पदार्थ के होने का प्रतिपादन हुआ है। चूंकि पदार्थ के द्रव्य, गुण, क्रिया एवं जाति–ये चार ही प्रकार होते हैं[2] अतः ये ही देश एवं काल से नियमित होकर क्रमशः, वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष के रूप में उपमा रूपक दीपक आदि अर्थालंकारों के सभी भेद-प्रभेदों की सृष्टि के मूल आधार है।[3] उपमानोपमेयभाव, अतिशयोक्ति एवं श्लेष से रहित वह वर्णन जो वस्तु के स्वरूप का प्रामाणिक एवं यथार्थ हो, वास्तव कहलाता है। जो सहोक्ति, यही समुच्चय, पर्याय, दीपक एवं व्यतिरेक आदि तेईस अर्थालंकारों का उपादान है। स्वभावोक्ति इन्हीं में से एक है जिसको यहाँ जाति की संज्ञा दी है।

जाति का लक्षण करते हुये आचार्य रुद्रट ने कहा है कि किसी पदार्थ के स्वाभाविक रूप, मुद्रायें, क्रियाकलाप एवं विभव वेश आदि का ठीक वैसा ही निरूपण जैसा लोक में बहुत दिनों से प्रचलित होता है जाति अलंकार है।[4] टीकाकार नमिसाधु ने वास्तव एवं जाति के परस्पर के भेद का विवेचन करते हुए कहा है कि वास्तव से जाति की विशेषता यह है कि वास्तव वृक्ष और जाति उसकी शाखा के समान होता है। वास्तव में वस्तु के सामान्य रूप का निरूपण किया जाता है जो उसके सहोक्ति आदि सभी भेदों में सामान्य रूप से पाया जाता है। जब कि जाति उसके स्वरूप का ऐसा वर्णन है जो श्रोता को उस अप्रत्यक्ष वस्तु का भी साक्षात् अनुभव करा दे।[5] स्वभावोक्ति का वह प्रकार विशेषरूप से रमणीक हो जाता है जिसमें शिशु, मुग्धा

---

१. क्रियायाँ सप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्। कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥
—उद्भट, काव्या० सा० सं० ३।५।

२. अर्थः पुनरभिधावान्प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः। तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ॥
—रुद्रट, काव्यालंकार ७।१।

३. सर्वः स्वं स्वं रूपं धत्तेऽर्थो देशकालनियमं च। तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथा-तिरसात् ॥ अर्थस्यालंकरा वास्तवपौपम्यमतिशयः श्लेषः। ऐषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥
—वही ७।९।

४. संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥
—रुद्रट, काव्यालंकार–७।३०।

५. वास्तवं हि वस्तुस्वरूपकथनं तच्च सर्वेष्वपि तद्भेदेषु सहोक्त्यादिषु स्थितम्। जातिस्त्वनुभवं जनयति यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवैतीति स्थितम्। वही, का० ७।३० पर नमिसाधु का टिप्पण।

नायिका, कातर पक्षी, संभ्रान्त एवं हीन पात्रों के द्वारा अवसर एवं अवस्था के अनुरूप की गई चेष्टाओं का यथार्थ निरूपण किया गया होता है।[1] इस प्रकार रुद्रट ने जाति के नाम से स्वभावोक्ति का अलंकार के रूप में जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह साधार है। उसमें अलंकारता का आधायक तत्त्व वस्तु स्वरूप या स्वभाव नहीं अपितु उसके वर्णन की सजीवता है जो श्रोता की अनुभव कोटि में आकर विशिष्ट हो जाता है। वस्तु का सामान्य के अतिरिक्त एक विशिष्ट स्वभाव भी होता है जो कवि के वर्णन में ही आ सकता है। उसी ओर नमिसाधु का निर्देश है। इनके स्वभावोक्ति के विवेचन से एक अन्य तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि वस्तु या व्यक्ति के स्वभाव का निरूपण केवल जाति या स्वभावोक्ति को ही नहीं अपितु सहोक्ति प्रभृति अनेक अलंकारों को जन्म देता है। स्वभाव का निरूपण और निरूपण की स्वाभाविकता भिन्न भिन्न अलंकारों की सृष्टि करते हैं।

(ग) कुन्तक द्वारा स्वभावोक्ति कीअलंकारता का खण्डन

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन करते हुए वक्रोक्ति को ही सर्वत्र अलंकारता का आधायक माना है। उनका कहना है कि जो आलंकारिक स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानते हैं उनके यहाँ अलंकार्य क्या है यह बात विचारणीय है। क्योंकि वस्तु या पदार्थ के स्वभाव के अतिरिक्त कहीं भी कुछ कहा नहीं जा सकता। उससे रहित वस्तु का निरूपण ही क्या होगा ? इस प्रकार वस्तु का स्वभाव ही अलंकार्य होता है। वही काव्य का शरीर है। यदि शरीर ही अलंकार हो जाय तो वह अपने से भिन्न किस तत्त्व को अलंकृत करेगा ? अलंकार से अलंकार्य भिन्न होना ही चाहिये। कोई भी व्यक्ति जिस प्रकार स्वयं अपने ही कन्धे पर बैठ नहीं सकता उसी प्रकार वस्तु का स्वभाव अलंकार और अलंकार्य दोनों नहीं हो सकता। वस्तु-स्वभाव को ही अलंकार मान लेने पर प्रश्न यह उठता है कि भूषित और भूषण के बीच भेद की प्रतीति किस रूप में होगी ? यदि दोनों के भेद की प्रतीति स्पष्ट अर्थात् वाच्य होगी तो अवश्य ही उन सब स्थलों में संसृष्टि होगी और वह अस्पष्ट अर्थात् प्रतीयमान रूप से होगी तो संकर होगा। और फलतः इन दोनों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के लिये कोई अवकाश नहीं होगा।[2]

आचार्य कुन्तक के उक्त विवेचन का आशय यह है कि स्वभावोक्ति वस्तु के स्वरूप का यथार्थ कथन मात्र नहीं अपितु उसका स्वभाव ही है जो काव्य का अलंकार्य तत्त्व है। अन्य अलंकारों से उसका ही अलंकरण होता है। यहाँ स्वभाव और उसकी उक्ति को एक कहकर स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन करना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। आनन्दवर्धन प्रभृति

---

१. शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम् ।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥ —कुन्तक, व० जी० ७।३१ ।

२. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः । अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ।
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते । वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम् । आत्मैव नात्मनःस्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥
भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे । भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे संकरस्ततः । अलंकारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित का० १।११–१५ ।

आचार्यों ने जिसे अलंकार्य कहा है वह वस्तु का अपना स्वभाव ही हो यह आवश्यक नहीं। क्योंकि वस्तु का एक ही स्वभाव एक साथ ही वाच्य और व्यंग्य दोनों नहीं हो सकता। ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार किसी तत्त्व का अंगभाव ही उसकी अलंकारता है चाहे वह वस्तु, अलंकार या रस ही क्यों न हो। जब काव्य का मुख्य-प्रतिपाद्य तत्त्व रस अलंकार हो सकता है यदि वह गौण (अंग) रूप से विनिवेशित हुआ हो[1] तो वस्तु के स्वभाव का अंगरूप में वर्णन अलंकार क्यों नहीं हो सकता? इसलिये वक्रोक्तिजीवितकार की यह उक्ति कि अलंकार्य वस्तु का स्वभाव ही होता है, प्रमाण-पुष्ट नहीं प्रतीत होती। अन्यथा रसवत् आदि अलंकार होने से वंचित रह जायेंगे। ध्वनिकार का यह कथन कि रूपकादि की अलंकारता उनके द्वारा रसादि कृत काव्य की शोभा के उत्कर्षाधान में ही है। उन्हें रस-परक ही होना चाहिये अन्यथा वे चित्र मात्र हैं।[2] वस्तु के स्वरूप वर्णन में भी रसपरता रहती है, यदि वह अंगभूत हो। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार भी स्वभावोक्ति की अलंकारता का निषेध नहीं किया जा सकता।

(घ) महिमभट्ट द्वारा स्वभावोक्ति की अलंकारता का विधान

अवाच्यवचन दोष के विवेचन के प्रसंग में महिमभट्ट ने विशेष्य-विशेषण-भाव का विधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वाक्य में उस विशेषण का प्रयोग नहीं करना चाहिये जो विशेष्य के स्वरूप मात्र का बोधक हो। काव्य में प्रयुक्त जिस पद का अपना विशेष प्रयोजन न हो उसे कवि की प्रतिभा से उत्पन्न नहीं समझा जाता बल्कि वह छन्द की पूर्तिमात्र करता है। न ही उससे कविता में किसी प्रकार के चमत्कार का आधान होता है।[3] उदाहरण के लिये शिशुपालवध का एक पद्य है—

ककुभां मुखानि सहसोज्ज्वलयन् दददाकुलत्वमधिकं रतये।
अदिदीपदिन्दुरपरो दहनः कुसुमेषुमत्रिनयनप्रभवः ॥४।४२॥

चन्द्रमा रूपी एक अन्य प्रकार का अग्नि जो त्रिनयन शिव से नहीं प्रत्युत अत्रि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न था, सहसा दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ रति को अधिक आकुल तथा काम को अत्यन्त उद्दीप्त कर दिया जिसने पुष्पों का बाण ले रखा था। इस पद्य में 'अत्रिनयन-प्रभव' पद इन्दु का विशेषण है जिसका प्रयोग उसके अत्रि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न होने के स्वरूप का अनुवाद मात्र करता है। वह इसलिये अवाच्य है कि चन्द्र में उसका अभाव कभी भी नहीं रहेगा। विशेषण वही सार्थक होता है जिसमें संभव और व्यभिचार दोनों सत्तायें हों। इसमें

---

१. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥ —ध्वनिकारिका २।५।

२. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्। अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥
—ध्व० का० २।५ पर परिकरश्लोक।

३. यत्स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम्। अप्रत्यक्षायमाणार्थं कृतमप्रतिभोद्भवम्॥
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम्। तद्वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते॥
—व्य० वि० का० २।१११, ११२।

तो केवल संभव सत्ता ही है। अतः इसका प्रयोग उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार अग्नि के विशेषण के रूप में 'उष्ण' पद का प्रयोग। यही नहीं इन्दु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'अपर' शब्द भी निरर्थक होने से अवाच्य ही है क्योंकि 'अत्रिनयन' पद में प्रयुक्त नञ् से ही उसके शिव से उत्पन्न अग्नि से भिन्न (अपर) होने की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार व्यक्तिविवेककार ने विशेषण के व्यर्थ प्रयोग का एक दूसरा उदाहरण भी दिया है—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि !
अभिवाञ्छितं प्रसिद्धयतु भगवति युष्मत्प्रसादेन ॥

पूर्ण विकसित कमल के केसर के पराग की तरह शुभ्र कान्ति से युक्त हे देवि गौरी ! आपकी कृपा से मेरा अभिलषित कार्य सिद्ध हो जाय। इस पद्य में उत्फुल्ल, पराग तथा गौर पदों की एक प्रकार से पुनरुक्ति ही हुई है क्योंकि चूंकि विकसित कमल में ही केसर एवं उसी के बाद पराग आता है अतः कमल-केसर कहना ही पर्याप्त था। तथा पराग की कान्ति शुभ्र ही होती है अतः द्युति के विशेषण के रूप में गौर पद का प्रयोग व्यर्थ ही हुआ है। जो कही हुई बात की पुनरुक्ति मात्र करता है।

इस पर प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी वस्तु के विवेचन में उसके स्वरूप का निरूपण करनेवाले पदों का प्रयोग नहीं होगा तो स्वभावोक्ति नामक अलंकार की सृष्टि कैसे हो सकती है ? क्योंकि जहाँ तक किसी वस्तु के स्वभाव के कथन का संबन्ध है वह प्रायः ऐसे ही विशेषणों से होता है जिन्हें व्यर्थ कहा गया है। ऊपर के पद्य इसके उदाहरण हैं। इनमें तथा स्वभावोक्ति अलंकार में कोई अन्तर नहीं।[1] इसी का उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार ने स्वभावोक्ति के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया है। उनका कहना है कि किसी भी वस्तु के दो रूप होते हैं–सामान्य एवं विशेष। सामान्य रूप वह है जिसके विषय में अनेक विकल्प संभव हों अर्थात् वह सविकल्पक प्रत्यक्ष का विषय होता है। वस्तु का यह सामान्य रूप ही प्रायः सभी शब्दों का विषय कहा गया है। अतएव कोई भी शब्द मूलतः सामान्य अर्थ का ही बोधक होता है। वस्तु का जो विशिष्ट रूप है वह विशेष प्रकार की बुद्धि अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय है। क्योंकि एकाग्रचित्त से उसका साक्षात्कार होता है, प्रतीति नहीं। वस्तु का वही विशिष्टरूप नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से प्रोद्भूत सत्कवि की वाणी का विषय होता है।[2] कवि का चित्त जब रस के अनुरूप शब्द और अर्थ के चिन्तन में क्षण-भर के लिए निश्चल अर्थात् एकाग्र हो जाता है उसी समय वस्तु के उस विशिष्ट स्वरूप की झलक उसे

---

१. **कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलंकारत्वमिष्यते ।**
न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः ॥ —व्या० वि० २।११३।

२. **उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरुप्यमिह विद्यते ।**
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः ॥
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः ।
अतएवाभिधेयं सामान्यते बोधयन्त्यलम् ॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः ।
स एव सत्कविगिराँ गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥ —व्य० वि० का० २।११४,११५, ११६।

हो जाती है। उस विशिष्ट स्वरूप के स्पर्श से उत्पन्न प्रज्ञा ही कवि की (नवनवोन्मेषशालिनी) प्रतिभा ही कही गई है। जो भगवान् शिव के तृतीय नेत्र के समान होती है। क्योंकि उससे कवि तीनों काल के पदार्थों के विशिष्ट स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।[1] वस्तु के उसी विशिष्ट स्वभाव की उक्ति स्वभावोक्ति अलंकार है। जहाँ कवि की उक्त प्रकार की प्रतिभा से चित्रित पदार्थ ऐसे लगते हैं मानो उनका साक्षात्कार हो रहा हो।[2]

(ङ) निष्कर्ष

इस प्रकार दण्डी और रुद्रट के द्वारा विशेषरूप से विहित स्वभावोक्ति की अलंकारता का वक्रोक्तिजीवितकार ने जो खण्डन कर दिया था, महिमभट्ट के उक्त विवेचन से उसका पुनः मण्डन हो गया। दण्डी और उद्भट ने तो उसका सोदाहरण लक्षण मात्र प्रस्तुत किया था। रुद्रट ने वास्तव के एक भेद के रूप में जाति के नाम से स्वभावोक्ति की अलंकारता का प्रतिपादन प्रामाणिक तौर पर सबसे पहले किया। कुन्तक के आक्षेप का विषय मुख्य रूप से वही विवेचन है जिसमें उन्होंने वस्तु के स्वभाव के सजीव वर्णन को जाति कहा है। रुद्रट से महिमभट्ट की स्वभावोक्ति विषयक-धारणा का पार्थक्य भी है। महिम वस्तु के सर्वसामान्य द्वारा ग्राह्य स्वरूप के वर्णन को स्वभावोक्ति नहीं मानते। वे उसके उस विशिष्ट स्वरूप का निरूपण करते हैं जो कवि की प्रतिभा का ही विषय होता है। वस्तु का सामान्य स्वभाव ही अन्य अलंकारों का विषय है। अन्यथा जो अर्थ विस्पष्ट नहीं हैं उसे अलंकृत करने में कौन समर्थ है? कहने का आशय है कि अन्य अलंकारों में वस्तु के स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ विशेष होता है। जो उसके निरूपण के प्रकार में निहित होता है जिससे उसके स्वरूप का आच्छादन सा ही हो जाता है। वस्तु का विशिष्ट स्वरूप जो मात्र अनुभव का विषय है उसे अन्य अलंकारों से अलंकृत किया नहीं जा सकता। यदि किया जाय तो वह और भी रहस्य हो जायगा। फलतः चमत्कार की सृष्टि न होकर काव्य में अस्पष्टता दोष आ जायेगा। महिमभट्ट के दूसरे ग्रंथ तत्त्वोक्ति कोश में संभवतः इन विषयों का विशद विवेचन किया गया था किन्तु दुर्भाग्यवश वह ग्रंथरत्न उपलब्ध नहीं हो सका है।

आचार्य महिमभट्ट के स्वभावोक्ति विषयक विवेचन का सारांश यह निकला कि वस्तु के स्वरूप का यथार्थनिरूपण स्वभावोक्ति नहीं है अपितु कवि की नवनवोन्मेषशालिनी कारयित्री प्रतिभा द्वारा रस-बन्धन के प्रभाव में अवलोकित वस्तु का वह विशेष स्वरूप है जिसका साक्षात्कार सर्वसामान्य को नहीं हो पाता। अलंकार विषयक मान्यताओं के सर्वस्व के प्रतिपादन के लिए विख्यात राजानक रुय्यक ने अपनी कृति 'अलंकारसर्वस्व' में स्वभावोक्ति के लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा है कि वस्तु के स्वभावमात्र का वर्णन अलंकार नहीं है। ऐसा होने

१. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमित चेतसः। क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमितिगीयते। येन साक्षात्करोत्येष भावाँस्त्रैकाल्यवर्तिनः॥
—व्य० वि० सं० का० २।११७।११८

२. अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालंकारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्था प्रतिभार्पिताः॥ —व्य० वि० का० २।१२०

३. सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालंकारगोचरः।
श्लिष्टमर्थमलंकर्त्तुमन्यथा को हि शक्नुयात्॥ —व्य०वि० का० २।१२१

पर तो जो कुछ भी लिखा जायगा स्वभावउक्ति होने से अलंकार से युक्त ही माना जायगा। क्योंकि ऐसा कोई काव्य ही नहीं है जहाँ वस्तु के स्वभाव का वर्णन नहीं है। इसी भाव कीअभिव्यक्ति के लिए सूत्र में 'सूक्ष्म' पद का ग्रहण किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि यहाँ वस्तु का वही स्वभाव अभिप्रेत है जो केवल कवि की प्रतिभा से दृष्ट होता है इसलिए कवि की उस प्रतिभा से अवलोकित वस्तु के उस स्वभावविशेष का ऐसा वर्णन कि वह न उससे अधिक हो न कम, स्वभावोक्ति अलंकार की सृष्टि करता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वभावोक्ति अलंकार विषयक महिमभट्ट का विवेचन ही रुय्यक के इस विवेचन का स्रोत है। आचार्य महिमभट्ट ने स्वभावोक्ति की अलंकारता का विधान करते हुए हुए कवि की प्रतिभा का जो निरूपण किया है वह कोई कवि ही कर सकता है जिसे वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का साक्षात्कार हो चुका हो। जयदेव, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति उत्तरवर्ती प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वभावोक्ति की अलंकारता तो निर्विवादरूप से स्वीकार कर ली है पर उसके वर्ण्यविषय वस्तु के विशिष्ट स्वभाव की ओर सम्भवतः उनका ध्यान नहीं गया है। स्वभावोक्ति कि अलंकारता का विवेचन यहाँ अत्यन्त संक्षेप में हुआ है जो निर्गलित मात्र है।

---

१. सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः। का० सू० ८७

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालंकारः तत्त्वे सति सर्वकाव्यमलंकारि स्यात्। नहि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम्। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्। सूक्ष्मः कवयितृमात्रस्य गम्यः। अतएव तन्निमित्त इव यो वतुस्वभावस्तस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः।

--(रुय्यक, अलंकार-सर्वस्व सू०) ७८ पर वृत्ति।

उपसंहार

अन्तिम-विमर्श

उपलब्धियाँ

इस अन्तिम अध्याय में ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए हम काव्यशास्त्र के प्रमुख विवेच्य विषयों पर महिमभट्ट के अनुदान का निरूपण करेंगे। यह सही है कि व्यक्तिविवेककार ने साहित्यशास्त्र के विवेच्य सभी विषयों का विवेचन नहीं किया है अपितु कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐसे विषयों को ही लिया है जिनका विवेचन साक्षात् रूपसे या परम्परया ध्वनि का विषय रहा हो तथा पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा उनके निरूपण में कोई विशेष प्रकार की कमी रह गयी हो। अथवा महिमभट्ट जिस विषय पर कुछ नयी बात कहना चाहते थे उसे भी उन्होंने अपनी विवेचना का विषय बनाया है। वैसे तो आचार्य ने अपनी ओर से काव्य-शास्त्र का कोई भी विषय अछूता नहीं छोड़ा है, और सबके विवेचन के अवसर पर कुछ न कुछ नयी बात अवश्य कही है, जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों में उपलभ्य नहीं। परन्तु कतिपय परिगणित विषय ऐसे हैं जिनका आचार्य ने खुलकर एवं विशद विवेचन किया है। उनके विषय में जो कुछ कहा है वह सर्वातिशायी एवं साहित्य-शास्त्र के लिए परम महनीय वस्तु है। मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों की कृतियों पर उनके विवेचन का प्रभाव सुतरां परिलक्षणीय है। जिन विषयों पर महिमभट्ट का विवेचन विशेष रूप से हुआ है, तथा जिन तत्वों पर कुछ नयी युक्ति एवं नई उद्भावना के लिए वह अमर हैं वह हैं—

१. काव्य का प्रयोजन
२. काव्यलक्षण
३. शब्दार्थ-सम्बन्ध
४. शब्दशक्ति
५. रसनिष्पत्ति
६. अनौचित्य (काव्य दोष)
७. अलंकार का स्वरूप

प्रकृत विमर्श में हम क्रमशः इनके विवेचन में महिमभट्ट की मौलिकता का निरूपण करते हुए उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन करेंगे।

१. काव्य-प्रयोजन

काव्य-प्रयोजन का विवेचन करते हुए महिमभट्ट ने स्पष्टतया कहा है कि वेदादि शास्त्र एवं काव्य के प्रयोजन में कोई अन्तर नहीं है। वेदादिशास्त्रों का जो प्रसिद्ध प्रयोजन है, काव्य का भी वही। कृत्याकृत्य विवेकार्थ विधिनिषेधमय व्युत्पत्तिमूलक उपदेश ही वह प्रयोजन या फल

है।[1] बल्कि एक स्थल पर तो उन्होंने काव्य को भी शास्त्र ही कहा है। शास्त्र के तीन भेद किये हैं--शब्दप्रधान, अर्थप्रधान एवं उभयप्रधान। शब्दप्रधान शास्त्र वेदादि हैं, जिनके पारायण अर्थात् पाठमात्र से अभ्युदय की प्राप्ति होती है। वहाँ थोड़े से भी पाठपरिवर्तन से प्रत्यवाय लगता है। अर्थप्रधानशास्त्र इतिहासपुराणादि हैं। क्योंकि ये केवल अर्थवादरूप हैं। जिसमें शब्द एवं अर्थ दोनों की प्रधानता होती है वह सर्गबन्धरूप काव्य ही है। उसमें शब्द अर्थ दोनों की प्रधानता इसलिए होती है कि काव्य रसात्मक ही होता है तथा रस का परिपोष शब्दार्थ के औचित्य से ही देखा जाता है। अतः काव्य को भी शास्त्र कहना उपयुक्त ही है।[2] वेदादिशास्त्र से काव्य-नाटचरूप शास्त्र के भेद का निरूपण करते हुए आचार्य ने व्यवस्था दी है कि--वेदादिशास्त्र से काव्यरूपी शास्त्र में भेद केवल उपायमात्र का है फल का नहीं। वेदादिशास्त्रों में जिन विषयों का विधिनिषेधात्मक उपदेश के रूप में साक्षात् प्रतिपादन होता है, काव्य में उन्हीं का रस सम्पृक्त ऐसा वर्णन किया जाता है कि गुडजिह्विकया कटु औषधपान की तरह साधारण बोद्धा भी अनायास उनका ग्रहण कर सकें।[3] विशेषरूप से काव्य उन लोगों के लिए है जो शास्त्र के श्रवणआदि से विमुख सुकुमारमति सुखी राजपुत्र आदि हैं अथवा उन लोगों के लिए जो अत्यन्त जड़-बुद्धि हैं और वेदादि शास्त्रों के दुरूह मार्ग से उन्हें कृत्याकृत्य का विवेक कदापि नहीं कराया जा सकता। इसके विपरीत वह स्त्री, नृत्य, संगीत आदि में ही निरन्तर प्रसक्त रहते हैं। काव्य के द्वारा रसास्वाद के सुख का अनुभव कराकर उन्हें भी सत्कार्यों में उसी प्रकार प्रवृत्त किया जाता है जिस प्रकार बालक के मुंह में शहद आदि कोई मीठी वस्तु देकर साथ कड़वी औषध खिला दी जाती है। अन्यथा बालक की कटुऔषधि के पान की ओर स्वतः प्रवृत्ति न होने की तरह, उनकी भी शास्त्र की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होगी, उससे व्युत्पत्ति की बात तो दूर की है। इसीलिए काव्य में पूर्णरूप से सफल होने की कामना करने वाले कवि को चाहिए कि वह अपनी कृति को ऐसी बनावे कि उसमें अन्तर्निहित उपदेश के साथ-साथ वह रसात्मकता भी अवश्य हो।[4]

---

१. कविव्यापारो हि--काव्यमुच्यते। तच्च--द्विविधम्। सामान्येनोभयमपि च तच्छास्त्रव-द्विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम्। --व्यक्तिविवेक, पृ० ९५-९६।

२. त्रिविधं हि शास्त्रं शब्दप्रधानमर्थप्रधानमुभयप्रधानं चेति। तत्र शब्दप्रधानं वेदादि, अध्ययनादेवाभ्युदयश्रवणात् मनागपि पाठविपर्यासे प्रत्यवायश्रवणाच्च। अर्थप्रधानमितिहासपुराणादि तस्यार्थवादमात्ररूपत्वात्। उभयप्रधानं सर्गबन्धादि काव्यं तस्य रसात्मकत्वाद् रसस्य चोभयौचित्येन परितोषदर्शनात्। काव्यस्यापि शास्त्रत्वमुपपादितमेव।--वही, पृ० ४२२।

३. केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाटचशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः। --व्यक्तिविवेक, पृ० ९६।

४. एवंच ये सुकुमारमतयः शास्त्रश्रवणादिविमुखाः सुखिनो राजपुत्रप्रभृतयः पूर्वत्राधिकृताः ये चात्यन्ततोऽपि जडमतयस्तावता व्युत्पादयितुमशक्याः स्त्रीनृत्यातोद्यादिप्रसक्ता उभयेऽपि तेऽभिमतवस्तुपुरस्कारेण गुडजिह्विकया रसास्वादसुखं मुखे दत्वा तत्र कटुकौषधपानादाविव प्रवर्तयितव्याः। अन्यथा प्रवृत्तिरेवैषां न स्यात्, किमुत व्युत्पत्तिः। काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्य रसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम्। --व्यक्तिविवेक, पृ० ९६-९७।

महिमभट्ट के पूर्व के अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में काव्य के चतुर्वर्ग मनोविनोद इत्यादि अनेक प्रयोजनों का प्रतिपादन किया जाता रहा। आनन्दवर्धन एवं विशेषरूप से अभिनवगुप्त ने इन सब प्रयोजनों का एकमात्र आनन्द में समाहार कर दिया[1] और मम्मट ने उसे ही काव्य का परम-प्रयोजन, प्रधान प्रयोजन अथवा सकल प्रयोजन मूलभूत कहा।[2] महिमभट्ट ने आनन्द के काव्य का प्रयोजन होने के पक्ष का खण्डन कर एक प्रकार से काव्य के पूर्वोक्त सभी प्रयोजनों की मान्यता का एक साथ ही अपलाप कर दिया है। साथ ही उपदेश को काव्य का एकमात्र प्रयोजन कहकर अर्थ आदि प्रयोजनवश लिखे गये काव्यों की महत्ता को समाप्त सा कर दिया है। रस काव्य की आत्मा है इसमें विसम्वाद न करते हुए भी रस की आनन्दस्वरूप अनुभूति को काव्य का प्रयोजन न कहकर उसे उपदेश रूप प्रयोजन की प्राप्ति के उपाय होने का जो विधान किया है वह सर्वथा युक्तियुक्त ही नहीं यथार्थ भी है। क्योंकि जो साधन है वहीं उसका फल या प्रयोजन कैसे हो सकता है? अलंकारशास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट का काव्यप्रयोजनविषयक यह पक्ष, उपस्थापन की दृष्टि से सर्वथा नवीन है और एकमात्र महिमभट्ट की नव नवोन्मेषिणी प्रतिभा एवं बहुश्रुत व्युत्पत्ति की देन है। उत्तरकालीन मम्मट, विश्वनाथ कविराज प्रभृति आचार्यों ने भी महिमभट्ट की इस देन का मूल्य समझा और अपनी कृतियों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपदेश को काव्य के प्रयोजनों में परिगणन करने की परम आवश्यकता का अनुभव किया। इस सम्बन्ध में साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद का काव्यलक्षणविषयक समूचा विवेचन उद्धरणीय है, जिसका उल्लेख पूर्वत्र काव्य प्रयोजन का विवेचन करते हुए द्वितीय परिच्छेद में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।

काव्य के प्रयोजन का प्रश्न काव्य के स्वरूप एवं उसमें रचना की प्रवृत्ति के साथ साक्षात् सम्बन्धित है। कार्यानुरूप ही कर्ता की प्रवृत्ति होती है। पाठकों में भी अनेक स्तर होते हैं। काव्य का उद्देश्य एवं तदनुरूप उसका स्वरूप ही उस स्तर की उत्तमता के आधायक होते हैं। महिमभट्ट का काव्यप्रयोजन या काव्यरचना का उद्देश्य ऐसा है जो भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से भी संगत एवं अभ्यर्हणीय है। अतएव भी उसका मूल्य अधिक है।

२. काव्य-लक्षण

किसी भी विषय का लक्षण उसके शास्त्र का महत्वपूर्ण विवेचनीय तत्व होता है। काव्य के समीक्षक सभी शास्त्रीय ग्रंथों में काव्य-लक्षण का निरूपण हुआ है। किन्तु महिमभट्ट का काव्य-लक्षण साहित्य-शास्त्र के इतिहास में अपना विशेष महत्व इसलिए रखता है कि सबसे पहले इन्होंने ही काव्य का एक ऐसा सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव नामक लक्षण के दोषों से रहित होने के साथ ही काव्य के असाधारण धर्म रस से भी समन्वित है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षण रीतिगुणालंकार वक्रोक्तिध्वनि आदि काव्य-विशेष के लक्षण थे, अतएव एकाँगी थे। व्यक्तिविवेककार ने पहले ध्वनिकार के काव्यलक्षण

---

१. तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्, प्राधान्येन आनन्द एवोक्तः ॥

—लोचन, ध्वन्यालोक टीका, पृ० १२।

२. सकलप्रयोजनमौलिभूतं—विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।

—काव्यप्रकाश, वृत्ति। १।२।

की विशद मीमाँसा की और उसमें भाषा एवं भावसम्बन्धी दशाधिक दोषों की उद्भावना करते हुए निर्दुष्ट काव्य-लक्षण का निरूपण किया। इस प्रकार उन्होंने शास्त्र के इतिहास में आचार्यों द्वारा पूर्ववर्ती काव्य-लक्षणों की परीक्षात्मक समालोचना करके काव्य का निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करने की एक सर्वथा नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया।

कवि-व्यापार को ही इन्होंने सामान्य रूप से काव्य कहा तथा उसे स्पष्ट करने के लिए उसमें दो और विशेषण लगा दिये—विभावादि संयोजनात्मा एवं रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी। कवि की उक्ति ही काव्य है ऐसा कथन तो अनेकत्र उपलब्ध होता है 'तथा कवेःकर्म काव्यम्' काव्य का ऐसा सुलभ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तो आपामर प्रसिद्ध था। महिमभट्ट के काव्य-लक्षण की विशेषता उसका रसोपेत होना है। अलंकार-शास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट ने सर्वप्रथम काव्य-लक्षण में रसपद के उपादान का प्रश्न उठाया। चूँकि काव्य का असाधारण धर्म रस है और लक्षण सदा वस्तु का असाधारण धर्म ही होता है, अतः काव्य-लक्षण में रस का शब्दतः उपादान होना परमावश्यक है। विश्वनाथ कविराज प्रभृति उत्तरकालीन आलंकारिकों के काव्य-लक्षण में रसपद का साक्षात् प्रयोग इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि महिमभट्ट की काव्य-लक्षण विषयक धारणा का पर्याप्त आदर हुआ।

काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में महिमभट्ट की एक और महत्वपूर्ण देन यह है कि सबसे पहले इन्होंने ही पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों की शास्त्रीय रीति से समीक्षा कर अपने निर्दुष्ट लक्षण के प्रतिपादन की परम्परा का आरम्भ किया, अनन्तर प्रायः सभी आचार्यों ने यही किया। विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के काव्य-लक्षण का गुण-दोषविवेचन कर अपना काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनों के काव्य लक्षणों की विस्तृत मीमाँसा करके ही अपना निष्कृष्ट काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया। महिमभट्ट ने ध्वनि-काव्य-लक्षण का विशद विवेचन कर उसमें जो दोषों की उद्भावनाएँ कीं उसका भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा और उत्तरकालीन प्रत्येक आचार्य ने अपने काव्य-लक्षण का उपस्थापन बहुत ही सोच विचार करके किया।

महिमभट्ट के पूर्व काव्य का लक्षण करने की जो प्रथा थी वह काव्यविशेष को लेकर ही थी। रीति, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि किसी न किसी सिद्धान्त के अनुसार ही वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन प्रभृति तत्तद् आचार्यों ने रीतिकाव्य, वक्रोक्तिकाव्य तथा ध्वनिकाव्य के लक्षण अपने-अपने ग्रन्थों में किये। काव्य-का कोई ऐसा सामान्य लक्षण किसी ने प्रस्तुत नहीं किया जो सर्वमान्य हो। इसका परिणाम यह होता था कि उस सिद्धान्त विशेष का खण्डन हो जाने पर उसके आधार पर किया हुआ काव्य-विशेष का लक्षण भी खटाई में पड़ जाता था। महिमभट्ट ने बहुत जोर देकर कहा कि आलंकारिक आचार्य को चाहिए कि वह पहले काव्यसामान्य का लक्षण प्रस्तुत करें। काव्य-विशेष के स्वरूप का ज्ञान तो उसके सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या से स्वतः हो जाता है। स्वयं व्यक्तिविवेककार ने यथावसर काव्य के सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार के लक्षण किये हैं। सामान्यलक्षण का कथन ऊपर हो चुका है। उनके अनुसार काव्यानुमिति ही विशेष काव्य है। उसका लक्षण करते हुए कहा है कि—जहाँ पर वाच्य या उससे अनुमित अर्थ किसी भी सम्बन्ध से अर्थान्तर का प्रकाशन करें उसे काव्यानुमिति कहते हैं।

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥ व्य० वि० १।२५

महिमभट्ट यद्यपि काव्यानुमितिवादी थे और पूर्वप्रचलित परम्परा के अनुसार इन्हें काव्यानुमिति या अनुमितिकाव्य का ही लक्षण करना चाहिए था तथापि इन्होंने काव्य के ऐसे सामान्य लक्षण का विधान किया है जिसमें अनुमान के लिए कोई स्थान नहीं है। काव्यविषयक सर्वमान्य मान्यता के अनुसार रस को काव्य का असाधारण धर्म मानकर, काव्य का सामान्य-लक्षण रसात्मक ही किया है। काव्यलक्षण के विषय में महिमभट्ट की यही देन है जिसका प्रभाव संस्कृत-साहित्य-शास्त्र पर अभी भी अक्षुण्ण है।

३. शब्दार्थ सम्बन्ध—साध्यसाधनभाव

साहित्य-शास्त्र की समीक्षा के सम्बन्ध में महिमभट्ट का शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक अनुदान कम महत्व का नहीं है। शब्द का अर्थ से क्या सम्बन्ध है, इस पर विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कतिपय विद्वान् शब्द और अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध में विश्वास करते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि शब्द नित्य है, अर्थ नित्य है एवं शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। दूसरे प्रकार के विद्वान् शब्द की नित्यता में विश्वास नहीं करते। अतः उन्होंने शब्दार्थ-सम्बन्ध को सामयिक माना है। साहित्य-शास्त्र के विद्वानों ने भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर पर्याप्त विचार किया है और वाचक, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक शब्दों के वाच्य लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थों के साथ विविध प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना की है। महिमभट्ट साहित्यिकों की इन मान्यताओं से सहमत नहीं। उन्होंने शब्द एवं अर्थ में साध्यसाधनभाव नामक सम्बन्ध का विधान किया है। उनका कहना है कि किसी व्यक्ति को शब्द से अर्थ का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उसे उनमें अन्तर्निहित युक्ति अर्थात् अनुमान की प्रक्रिया का ज्ञान न हो।[1] अतः शब्द से अर्थ का अनुमान होता है। शब्द, अर्थ का अभिधान साक्षात् नहीं कर सकता। अनुमान, साध्य-साधन भाव के बिना बन ही नहीं सकता। अतः अखिल शब्द-व्यवहार साध्यसाधनभाव गर्भित होता है। सामान्यतः अर्थ की प्रतीति में अनुमान की पूरी प्रक्रिया का स्पष्टरूप से बोध इसलिए नहीं होता कि निरन्तर के अभ्यास से उस प्रक्रिया में लाघव हो जाता है और शतपत्र कमल के भेदन के समान वहाँ भी क्रम लक्षित नहीं होता।

शब्दार्थ के सम्बन्ध में साध्यसाधनभाव की यह विशेषता है कि वहाँ दोनों के नियमतः उपादान की आवश्यकता नहीं होती तथा दृष्टान्त एवं व्याप्तिसाधक प्रमाण की अपेक्षा के बिना ही अनुमान की प्रक्रिया काम करती है। क्योंकि वहाँ ऐसे साधन का उपादान किया जाता है जिसकी शक्ति सर्वविदित होती है। अतः साधन से ही साध्य एवं व्याप्ति आदि का आक्षेप हो जाता है। इस सम्बन्ध में प्राचीन उक्ति का उद्धरण देते हुए कहा है कि—अनुमान की प्रक्रिया में साध्य-साधनभाव, व्याप्ति-साधक-प्रमाण एवं दृष्टान्त आदि की अपेक्षा केवल मन्दमति जन को ही होती है। विद्वान् तो हेतुमात्र से कार्य का बोध कर लेता है।[2] अतः शब्दार्थ के बीच साध्य-साधनभाव सम्बन्ध ही मानना चाहिए। साध्यसाधनभाव मानने के सम्बन्ध में ग्रंथकार ने एक

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० १७० कारिका ३७-३८।

२. तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ६५।

युक्ति यह भी दी है कि शब्द का प्रयोग मुख्यतया दूसरे के लिये होता है। क्योंकि शब्द के बिना दूसरे को किसी कार्य में प्रवृत्त या उससे निवृत्त किया जाना सम्भव नहीं। दूसरा व्यक्ति युक्ति के बिना प्रवृत्त या निवृत्त नहीं हो सकता और युक्ति अनुमानरूपा ही होती है। अतः निखिल शाब्दव्यवहार साध्यसाधनभाव गर्भित होता है।

साध्यसाधनभाव का निश्चय अविनाभाव सम्बन्ध से ही होता है, तथा वह लोक, वेद एवं अध्यात्म तीन प्रकार का होता है––लोकप्रमाणमूलक, वेदप्रमाणमूलक तथा अध्यात्मप्रमाणमूलक। कहने का अभिप्राय यह है कि––किसी भी शब्द से उसके अर्थ-विशेष का निर्धारण अनायास नहीं हो जाता अपितु किसी न किसी प्रमाण के आधार पर ही होता है। वह प्रमाण या तो प्रत्यक्ष हो सकता है या आगम। अध्यात्म प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा लोक एवं वेद आगम प्रमाण हैं। लोक वह आगम प्रमाण है जिसका उपनिबन्धन नहीं हुआ है अपितु कर्ण-परम्परा से समाज में चला आ रहा है। वेद उपनिबद्ध आगम प्रमाण है। वेद का ग्रहण इतिहास पुराणादि का उपलक्षण है। यह साध्यसाधनभाव एक दूसरे प्रकार से दो तरह का होता है—शाब्द और आर्थ। उनके भी पदार्थ, वाक्यार्थरूप से तथा पदार्थ के भी जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य आदि भेद से अनेक भेद-प्रभेद होते हैं, जिनके द्वारा ही शब्दार्थ का नियमन होता है। यही साध्यसाधनभाव अनुमान के रूप में पर्यवसित हो जाता है। क्योंकि साधन अर्थात् हेतु से साध्य का ज्ञान ही मोटे तौर पर अनुमान है। साध्यसाधनभाव से केवल अभिधेयार्थ की प्रतीति होती है। अर्थान्तर की प्रतीति के विषय में शब्द की हेतुता काम नहीं करती अपितु वाक्यार्थ ही उसका हेतु होता है, अतः वहाँ अनुमान की प्रक्रिया साक्षात् काम करती है।

साध्यसाधनभाव का विधान व्यक्तिविवेककार ने संकेतग्रह के साथ किया है। केवल संकेतग्रह मानने से इसलिए काम नहीं चलता कि अर्थान्तर की प्रतीति कराने में वह समर्थ नहीं। तथा उससे शब्द से अर्थ-बोध होने के बीच की प्रक्रिया का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। शब्दार्थ सम्बन्ध के प्रसंग में साध्यसाधनभाव रूप अनुमान की प्रक्रिया का विधान केवल काव्यानुमितिवाद-पक्ष की सिद्धि के लिए मनगढ़न्त मात्र नहीं है अपितु अन्विताभिधानवादी मीमांसक आचार्यों ने भी अनुमान के द्वारा शब्द से अर्थ के निर्धारण होने का संकेत किया है। उनके मत से व्युत्पित्सु बालक प्रत्यक्ष, अनुमान एवं अर्थापत्ति तीनों प्रमाणों से ही 'गाम् आनय' आदि वाक्यों में 'गो' आदि पदों के वास्तविक अर्थ का बोध करता है। महिमभट्ट की विशेषता इतने में ही है कि इन्होंने प्रत्यक्ष और अर्थापत्ति का अपवाद कर केवल अनुमान को ही माना है और उसके गर्भ में साध्यसाधनभाव का विधान किया है। शब्दार्थावबोध के सम्बन्ध में महिमभट्ट के द्वारा उक्त साध्यसाधनभाव के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से सबसे बड़ा लाघव यह है कि हम नाना प्रकार की शब्द-शक्तियों एवं उनसे अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के बीच विविध सम्बन्धों की मान्यता के गौरव से बच जाते हैं। साथ ही दर्शन एवं व्याकरण के सिद्धान्तों से साहित्य-शास्त्र की भी संगति बन जाती है। दुर्भाग्य की बात है कि उत्तरकालीन किसी भी आचार्य ने साक्षात् तौर पर महिमभट्ट के इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया। फलतः यह सिद्धान्त लोकप्रिय न हो सका। अप्रत्यक्ष रूप से शब्द से अर्थ की प्रतीति में अनुमान का सहारा सब ने लिया है। उदाहरणतः 'गो' शब्द का जाति में संकेतग्रह मानने पर

जाति से व्यक्ति का बोध लक्षणा से होता है, मीमांसकों के इस कथन का मम्मट ने खण्डन करते हुए कहा है कि जाति से व्यक्ति का बोध अनुमान से ही होता है।[१]

४. शब्दशक्ति

शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक अनेक शक्तियों के विषय में महिमभट्ट का जो मत है वह यद्यपि साहित्यशास्त्र की परम्परा के सर्वथा विपरीत है, फिर भी शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से कम महत्व का नहीं। इन्होंने बड़े ही साहस पूर्ण ढंग से इस तथ्य की घोषणा की है कि शब्द की एकमात्र अभिधा ही शक्ति सम्भव है। तात्पर्या, लक्षणा, व्यञ्जना आदि शब्द की शक्तियाँ नहीं हो सकतीं। क्योंकि तात्पर्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ नामक अर्थान्तरों की प्रतीति का हेतु शब्द न होकर अर्थ ही होता है।[२]

शब्द रूपी आश्रय में अनेक शक्तियों का समाश्रय सिद्ध भी नहीं होता। एक आश्रय में अनेक शक्तियों के होने सिद्धान्त का विवेचन करते हुए महिमभट्ट ने कहा है कि—अनेक शक्तियाँ जब एक ही वस्तु या विषय का समाश्रयण करती हैं तो वहाँ कुछ नियम देखे जाते हैं। पहली बात तो यह है कि वह अपनी प्रवृत्ति में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करतीं, दूसरी बात उनमें पौर्वापर्य नियम नहीं होता तथा तीसरी बात यह कि वह एक साथ भी काम करती हुई पायी जाती हैं। जैसे अग्नि की दाहिका और प्रकाशिका शक्तियाँ। शब्द की तथाकथित अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना एवं तात्पर्या नामक शक्तियाँ उपर्युक्त क्रम से काम करती हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। न किसी आचार्य ने यह स्वीकार ही किया है। अपितु इसके विपरीत इनमें पौर्वापर्य का नियम अवश्यम्भावी है। अभिधा पहले काम करती है, लक्षणा और व्यञ्जना तदनन्तर। तथा कभी भी ये युगपत् कार्य नहीं कर सकतीं। अपितु 'शब्द-बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' के सिद्धान्त के अनुसार एक के विरत होने पर ही दूसरी शक्ति प्रवृत्त होती है। इस प्रकार शक्तियों का एकाश्रयत्व नहीं बनता अपितु वे भिन्नाश्रय ही हैं और उनका भिन्न भिन्न आश्रय यह है कि अभिधाशक्ति तो शब्दाश्रित होती है शेष लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्या सभी तथाकथित शक्तियों का आश्रय एकमात्र अर्थ ही होता है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में किसी भी आचार्य ने शक्तियों के एक या भिन्न आश्रय के सम्बन्ध में इतना गहन विचार नहीं किया है। न मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों ने ही शब्द-शक्ति विवेचन के प्रकरण में महिमभट्ट के उक्त विवेचन की टीका-टिप्पणी की है। व्यञ्जना के अनुमान में अन्तर्भाव के पक्ष का यद्यपि सभी ने खण्डन करने का प्रयास किया है किन्तु जब तक शक्तियों का शब्द में एकाश्रयत्व सिद्ध नहीं हो जाता तब तक उनके अनुमान में अन्तर्भाव का खण्डन तुषावघात मात्र है। महिमभट्ट ने अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जनादि सभी शक्तियों का जो अनुमान में अन्तर्भाव माना है उसका बहुत बड़ा आधार उन शक्तियों

---

१. न च गौरनुबन्ध्यः······आक्षिप्यते। —काव्यप्रकाश द्वि० उल्लास की टीका करते हुए बालबोधिनीकार ने आक्षिप्यते का अर्थ अनुमीयते किया है।—वही, बालबोधिनी टीका।

२. अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः —व्यक्तिविवेक, ॥१।७१॥

में एकाश्रयत्व का सिद्ध न होना ही है । अतः जब तक शक्तियों के एकमात्र शब्दाश्रयत्व पक्ष की युक्ति एवं तर्क से सिद्धि न कर दी जाय, उनकी अनुमानरूपता का खण्डन असफल प्रयास मात्र है ।

शक्तियों के एकाश्रयत्व का खण्डन कर उक्त रीति से व्यक्तिविवेककार ने यह दिखा दिया कि उनका आश्रय शब्द और अर्थ दोनों ही हो सकते हैं एकमात्र शब्द नहीं । जिसका आश्रय शब्द है वह शक्ति अभिधा ही है । अर्थान्तर की प्रतीति शब्द से नहीं हो सकती, यह बात महिमभट्ट ने बहुत ही महत्वपूर्ण कही है, जिसका विस्तृत विवेचन तृतीय परिच्छेद में शब्द-शक्ति-विमर्श के अवसर पर किया गया है । अतः अर्थ ही अर्थान्तर की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है । इस प्रकार अभिधा के अतिरिक्त शेष शक्तियों को अर्थ का व्यापार कह सकते हैं । किन्तु एक अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति का प्रतिपादन जब अनुमान से ही हो जाता है तो उसके लिए लक्षणा व्यञ्जना आदि विविध शक्तियों का मानना गौरवास्पद नहीं तो और क्या है? अथवा अनुमान की मान्यता पूर्वतः विद्यमान होने से तथा उसके इनकी अपेक्षा महाविषय अर्थात् अधिक व्यापक होने से अनुमान में ही इनका अन्तर्भाव उचित है । कहा भी है 'यश्चासौ आश्रयो भिन्नः सोऽर्थस्यैवेति तद्व्यापारस्य अनुमानान्तर्भावो अभ्युपगन्तव्य एव ।'

वाच्यार्थ से अर्थान्तर के साथ अविनाभाव सम्बन्ध की उपपत्ति के विषय में लोक को ही उन्होंने प्रमाण माना है और कहा है कि––लोक में लम्बी गर्दनवालें या विकटकाय व्यक्ति को देखकर उसे ऊँट या हाथी कहने से दूसरों को अर्थबोध होने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं होती । इसके अतिरिक्त लक्षणा तथा व्यञ्जना के स्थलों में भी कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य स्वीकार किया जाता है चाहे वह सम्बन्ध संयोग हो, समवाय हो, सामीप्य या वैपरीत्य कुछ भी हो । वह सम्बन्ध ही लिंग अर्थात् निमित्त का काम करता है । इस प्रकार सम्बन्ध रूप निमित्त से साध्य रूप अर्थान्तर की प्रतीति अनुमान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति नहीं होती । इस सम्बन्ध में एक अकाट्य युक्ति देते हुए महिमभट्ट ने कहा है कि––शब्द का अर्थान्तर के साथ न तो स्वाभाविक सम्बन्ध होता है न सामयिक । फिर वह अर्थान्तर की अभिव्यक्ति कैसे करा सकता है । जहाँ तक स्वाभाविक सम्बन्ध का प्रश्न है शब्द का अपने अभिधेय अर्थ के साथ ही जब स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है तब अर्थान्तर के साथ कैसे हो सकता है । स्वाभाविक सम्बन्ध तब माना जाता है जब कि शब्द से भी व्युत्पन्नाव्युत्पन्न सबको अर्थ या अर्थान्तर की प्रतीति उसी प्रकार होती जिस प्रकार मधुर-संगीत से आपामरतिर्यक् सबको आनन्द की अनुभूति होती है । शब्द का सामयिक सम्बन्ध तो एकमात्र संकेतित अर्थ से ही होता है । अर्थान्तर से इसलिए नहीं कि एक शब्द के तत्तद् अनेक अर्थान्तरों के साथ संकेतग्रह का विधान किसी भी शब्दशास्त्र के सामर्थ्य की बात नहीं । इस प्रकार साध्यसाधनभाव के अनुसार शब्दोच्चारण से जिस अर्थ का बोध होता है वह वाच्यार्थ है उसकी प्रतीति में अभिधा-व्यापार काम करता है शेष जितने भी अर्थों की प्रतीति होती है उन सबमें अनुमान की प्रक्रिया ही काम करती है ।

महिमभट्ट का शब्द शक्ति विषयक उपर्युक्त मत अत्यन्त ही स्पष्ट एवं युक्तिसंगत है । इन्होंने लक्षणा व्यञ्जना आदि शब्द-शक्तियों के खण्डन में जो युक्तियाँ एवं तर्क उपस्थित किये हैं, प्रमाण की कसौटी पर सब खरे उतरते हैं । ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने तार्किकों की

जिन विप्रतिपत्तियों का उल्लेख करके उनका समाधान किया है और व्यञ्जना नामक व्यापार की सिद्धि की है, महिमभट्ट ने उन सभी युक्तियों का उत्तर देकर उनके खण्डन में जो तर्क उपस्थित किये हैं उनका समाधान उत्तरकालीन किसी भी ध्वनिवादी आचार्य से नहीं बन पड़ा है। आज तक दार्शनिक ग्रंथों में किसी ने भी व्यञ्जना की मान्यता स्वीकार नहीं की। लक्षणा की मान्यता मीमांसादि दर्शनों में अवश्य है किन्तु महिमभट्ट ने उनकी प्रसिद्ध कारिका **'अभिधेयेन सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः । वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता'** का विवेचन करते हुए उसके आधार पर ही लक्षणा की अनुमानरूपता का प्रतिपादन किया है। अतः इन सब स्थलों में जब लक्षणा एवं व्यञ्जना के बिना काम चल जाता है तो साहित्य-शास्त्र में ही उनकी मान्यता का क्या कारण है ? जब कि वहाँ भी अनुमान की प्रक्रिया का यथावत् सन्निवेश हो सकता है। शब्दशक्ति के सम्बन्ध में यह विचार ही साहित्यशास्त्र को महिमभट्ट की मौलिक देन है।

५. रसनिष्पत्ति

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में महिमभट्ट रसानुमितिवाद के समर्थक हैं। इस सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय श्रीशंकुक को है। उन्होंने ही नाटचशास्त्र की व्याख्या के अवसर पर रस के अनुमेय होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले किया जिसका खण्डन अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उद्धरण देकर किया है। यद्यपि महिमभट्ट रसानुमिति सिद्धान्त की उद्भावना में सर्वथा मौलिक नहीं हैं तथापि इनका रसविवेचन एकमात्र श्रीशंकुक के पद-चिह्नों पर ही नहीं हुआ है। श्री शंकुक के विवेचन में जो कमी रह गई थी महिमभट्ट ने उसे पूरा किया और अभिनव गुप्त के द्वारा उद्भावित विप्रतिपत्तियों का भी यथावसर निकारण किया है।

रस अनुमेय है यह कहना महिमभट्ट के लिए नई बात नहीं थी। अपितु उसकी अनुमेयता का निरोधक सबसे बड़ा तर्क यह था कि जब विभावादि से रत्यादि की प्रतीति घटप्रदीप-न्याय से सहभावेन अर्थात् एककालावच्छेदेन होती है तो पूर्वापर के अभाव में उनमें साध्यसाधन-भाव नहीं बन सकता। साध्यसाधनभाव के न बनने से रस की अनुमेयता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए महिमभट्ट ने सबसे पहले घटप्रदीपन्याय से विहित विभावादि एवं रत्यादि की सहभावेन प्रतीति का खण्डन किया और अपने पक्ष के समर्थन में ध्वनिकार आनन्दवर्धन की उक्ति का उद्धरण देते हुए यह सिद्ध किया कि रसादि की प्रतीति विभावादि की प्रतीति से अबिना-भाविनी नहीं होती अपितु उन दोनों के बोध में कार्यकारण भाव के रूप में क्रम अवश्य रहता है। जो लाघववश लक्षित नहीं होता। इस प्रकार विभावादि से रत्यादि तथा रस की प्रतीति में सहभाव का खण्डन हो जाने से रस की अनुमेयरूपता का आधार बन जाता है और परार्थानुमान में रस-ध्वनि का अन्तर्भाव सुतराँ सिद्ध हो जाता है। रसानुभूति के अवसर पर साध्यसाधनभाव के नियमतः उपादान तथा व्याप्तिसाधक प्रमाण के प्रतिपादन की दुर्निवार्यता का निराकरण करते हुए महिमभट्ट कहते हैं कि—जिस प्रकार असंलक्ष्यक्रम ध्वनि में भी क्रम होता है पर लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार रसानुमिति के अवसर पर साध्यसाधनभाव एवं व्याप्तिग्राहक प्रमाण आदि आवश्यक तत्वों का अभाव नहीं होता। किन्तु वह पूर्ववत् ही परिलक्षित नहीं होते। इसके

अतिरिक्त रसानुमितिपक्ष की एक और विशेषता यह है कि वहाँ इतने शक्तिशाली एवं प्रसिद्ध हेतु का विन्यास किया जाता है कि एकमात्र साधन से ही साध्य की सुतरां प्रतीति होने लगती है। इस सम्बन्ध में किसी प्राचीन आचार्य की उक्ति का उद्धरण देते हुए कहा है कि कवि की शक्ति से अर्पित भावों में इतनी तन्मयता होती है कि काव्य में उनसे रत्यादि भावों का जितना शीघ्र एवं घना स्फुरण होता है उतना प्रत्यक्षतः नहीं हो पाता।

कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः ।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ॥[1]

रसानुमिति के खण्डन में जो सबसे प्रबल युक्ति दी जाती है वह यह है कि अनुमान प्रमाण है, उससे होनेवाला ज्ञान प्रामाण्य ज्ञान ही होना चाहिए। रसानुमिति तो प्रामाण्य ज्ञान नहीं। अतः वह अनुमेय कैसे हो सकती है? महिमभट्ट ने इसका उत्तर बहुत ही युक्तिपूर्ण दिया है। उनका कहना है कि भ्रान्ति भी समम्बन्धतः प्रमाण हो जाती है। भ्रमात्मक ज्ञान में भी सम्बन्धविशेष से कार्यकारित्व आ जाता है। इस सम्बन्ध में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की एक कारिका को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है।

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणि बुद्धयाभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियाँ प्रति ॥[2]

यहाँ पर महिमभट्ट ने स्पष्ट तौर पर कह दिया है कि काव्य-विशेष में या रसानुमिति में सत्यासत्य के विचारका कोई उपयोग नहीं। इसलिए रस को अनुमेय कहने पर जो उसे प्रमाण की कसौटी पर कसकर परखना चाहते हैं, उनका प्रयास उपहासास्पद ही है। रसज्ञान भ्रान्ति-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि उसके हेतु विभावादि सर्वथा कृत्रिम होते हैं तथा रत्यादि वे स्थायिभाव जो अनुभूति का विषय होने पर रस कहे जाते हैं, एकमात्र प्रतिबिम्ब-कल्प होते हैं। उनसे यथार्थज्ञान हो ही कैसे सकता है? रसाभिव्यक्ति पक्ष में भी रसानुभूति को प्रमाण्यज्ञान नहीं माना गया है। तथा उसे कार्य, ज्ञाप्य, प्रमेय इत्यादि सब प्रकार के ज्ञान से परे कहा गया है। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि––अभिव्यक्ति पक्ष में रस, कार्य, ज्ञाप्य, प्रत्येय आदि से भिन्न होता हुआ भी चर्वणा की निष्पत्ति के कारण कार्यज्ञाप्यादि पद से व्यपदिष्ट हो सकता है तो यथार्थ ज्ञान न होते हुए भी साध्यसाधनभाव के द्वारा अनुमान की प्रक्रिया के ठीक-ठीक बैठ जाने से वह अनुमेय क्यों नहीं कहा जा सकता? अन्यानुमीयमान विल-क्षणता ही उसकी अलौकिकता है। जिस प्रकार कुहराव्याप्त प्रदेश में हेतु धूम की भ्रान्त प्रतीति से वहाँ अविद्यमान भी वह्नि की साध्य रूप में अनुमिति होने में कोई बाधा नहीं पड़ती, तथा उसका प्रामाण्यज्ञान कि वास्तव में वह अग्नि है कि नहीं, परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान-ग्राहक अनुमान से भिन्न प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा ही सम्भव है, ठीक उसी प्रकार काव्य में भी कृत्रिम विभावादि से रस की अनुमेयता सर्वथा युक्तियुक्त एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मात्र है जो उक्त रीति से शास्त्र सम्मत भी है। महिमभट्ट के रसानुमिति पक्ष के प्रतिपादन में उनके आशय को यथावत् न समझने से ही दोष दिखाई देते हैं। अतएव उत्तरकालीन

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ७३।
२. वही पृ० ७४।

किसी भी आचार्य ने महिमभट्ट की मान्यता के साथ न्याय नहीं किया है और ध्वनि के प्रबल प्रवाह में लोगों के प्रवाहित होने से उनके रसानुमिति सिद्धान्त की उपेक्षा होती रही है।

रस तत्व के विषय में आचार्य महिमभट्ट की अपनी यह विशेष मान्यता है कि रस में ही काव्य की आत्मा होने की क्षमता है। इसमें किसी को विसम्वाद नहीं होना चाहिए कि रस ही काव्य की आत्मा है। उनका उद्घोष है --

'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः'

अर्थात् रस ही काव्य की आत्मा है, रस के कारण ही किसी रचना को काव्य की संज्ञा मिलती है इसमें किसी को विसम्वाद नहीं होना चाहिए। किन्तु महिमभट्ट रस को उपेय अर्थात् काव्य के द्वारा संसाध्य प्रयोजन या काव्य का फल नहीं मानते। अपितु वे रस को कृत्याकृत्य व्युत्पत्ति का सर्वोत्तम उपाय मानते हैं। इस प्रकार रस उपेय नहीं अपितु उपाय है, साध्य नहीं अपितु साधन है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि नाटचशास्त्रकार भरत ने रस का हर्ष या आनन्द के पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से रस को नाटच का उपेय या उपाय कुछ भी नहीं कहा है। आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार रस काव्य के द्वारा व्यंग्य है। वस्तु अलंकारादि अन्य तत्त्वों की योजना रस-परक ही होनी चाहिए, ऐसी उनकी मान्यता है। अभिनवगुप्त ने रस को काव्य का परम प्रयोजन मानते हुए उसे स्पष्ट रूप से उपेय ही माना है जिसकी अनुभूति का उपाय काव्य होता है। आचार्य महिमभट्ट रस और काव्य को अपरपर्याप्य मानते हैं। उनका कहना है कि काव्यार्थ ही जब आस्वादनात्मक अनुभव का विषय हो जाता है तो रस कहलाता है--

आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्चते।

इसीलिए आचार्य महिमभट्ट ने रस को ब्रह्मानन्द सहोदर आदि नहीं कहा है। वह रस की आध्यात्मिकता के पक्ष के समर्थक नहीं प्रतीत होते। किन्तु काव्यार्थ के आनन्द रूप में अनुभूयमान होने के कारण का निरूपण करते हुए वे हमारा ध्यान वस्तु सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। उनका कहना यह है कि वस्तु का यह स्वभाव है कि जब उसका उपयोग लोक व्यवहार में किया जाता है तो उससे तत्तत् प्रकार के सुख दुःख मोहादि की अनुभूति होती है। किन्तु वही वस्तु जब काव्य में वर्णित होती है तो उससे एकमात्र आनन्द की ही अनुभूति होती है जो एक विशेष प्रकार का चम कार है।

इस प्रकार आचार्य महिमभट्ट के अनुमार रस वह तत्व है जिसके माध्यम से कवि कृत्याकृत्यविवेक रूप दुरूह शास्त्रीय व्युत्पत्ति को साधारण पाठक की सरल बुद्धि में भी उसी प्रकार उतार देता है जिस प्रकार कोई कुशल वैद्य शहद में मिलाकर गुणकारी कड़्वी औषधि बच्चों तक को खिला देता है।

श्रीशंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त के रस-निरूपण से महिमभट्ट की एक विशेषता यह भी है कि रसवादी होते हुए तथा रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी वे उसे काव्य का प्रयोजन न मानकर उसकी सिद्धि कर उपाय ही मानते हैं जिसका उपयोग सामाजिकों को शास्त्रादि की व्युत्पत्ति की ओर उन्मुख करना है। अतएव महिमभट्ट ने काव्य को भी शास्त्र का ही एक प्रकार माना है।

६. अनौचित्य (काव्यदोष)

आनन्दवर्धन के कटु आलोचक होते हुए भी महिमभट्ट इस बात से सहमत हैं कि काव्य की आत्मा रस ही है। अतः आनन्दवर्धन की सरणि पर ही उन्होंने दोष को अनौचित्य ही कहा है और 'अनौचित्य से बढ़कर रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं होता ध्वनिकार की इस उक्ति का समर्थन ही किया है। दोष के सम्बन्ध में इनका वैशिष्ट्य इसलिए है कि आनन्दवर्धन ने जिस अनौचित्य को सहृदयों के अनुभव का विषय मानकर इसलिए छोड़ दिया था कि ऐसा करने से बड़े-बड़े कवियों की रचनाओं में दोष देखना पड़ता है। महिमभट्ट ने उसे उचित नहीं समझा। लोगों को अनौचित्य अर्था्‌ काव्य-दोषों की अच्छी जानकारी हो इसलिए उन्होंने उनका विस्तृत विवेचन किया है। दोषों के स्वरूप एवं लक्षण के अतिरिक्त महिमभट्ट ने उनकी जो शास्त्रीय विवेचना की वह समूचे अलंकारशास्त्र के इतिहास में अद्वितीय है। महिमभट्ट कृत दोषसामान्य का लक्षण कि—'विवक्षितरसादि प्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम दोषस्य सामान्यलक्षणम्' अत्यन्त ही वैज्ञानिक हैं। इसमें केवल रसभंग की ही बात नहीं है किन्तु उससे भी अधिक कुछ है।

महिमभट्ट के दोष-विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता दोषों की संज्ञा एवं उनके वर्गीकरण में है। यहाँ आचार्य ने शास्त्र की अखिल परम्परा का तिरस्कार कर सर्वथा मौलिक विवेचन किया है। इन्होंने दोषों की बढ़ती हुई संख्या पर रोक लगा दी और नाट्यशास्त्र के भी आधे केवल पाँच दोषों में ही सबका समाहार कर दिया। इनके ये पाँच दोष वैशेषिक के सप्तपदार्थ के समान हैं जिनका अन्तर्भाव कहीं भी नहीं किया जा सकता। दोषों का यह वर्गीकरण महिमभट्ट की अपनी मौलिक सूझ है।

दोष-विवेचन के प्रसंग में महिमभट्ट की विशेषता इस बात में भी है कि उन्होंने ऐसी समस्याओं की उद्भावना की जिनके प्रयोग में बड़े-बड़े कवि भी प्रायः स्खलन किया करते हैं। उदाहरणस्वरूप समासासमास में नञ् के विधान में प्रायः लोग गलती करते पाये जाते हैं। विधेयाविमर्श दोष के अवसर पर उन्होंने नञ् समास के प्रश्न को उठाकर उसकी पूरी मीमांसा की है तथा नाना प्रकार के उदाहरण देकर उसे अच्छी तरह से समझाया है। दूसरी समस्या यत्तद्शब्दों के विधान में है। यत् शब्द के साथ तत् शब्द का प्रयोग कहाँ होता है कहाँ नहीं, आदि विचार बहुत सूक्ष्म हैं। किन्तु महिमभट्ट ने शास्त्रान्तरों से उद्धरण दे देकर उसे अच्छी तरह से सुलझा दिया है। इनके अतिरिक्त समासादि वृत्तियों में विधेय का विमर्श कैसे होता है, तथा वहाँ विशेषणांश की विधेयता में वृत्ति क्यों नहीं होती, इन सबका विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। सभी दोषों के विवेचन के अवसर पर केवल उनका लक्षण एवं उदाहरण देना पर्याप्त नहीं माना अपितु औचित्य की सीमा को लेकर उठने वाली सारी विप्रतिपत्तियों का समाधान भी किया है।

महिमभट्ट के दोष-विवेचन की महत्ता उदाहृत पद्यों को लेकर भी है। कोई भी ऐसा कवि नहीं बचा है जिसकी रचना में अनौचित्य का विवेचन कर उसका शुद्ध रूप में पाठ-परिवर्तन न किया गया हो। संक्षेप में महिमभट्ट का दोष-विवेचन अनौचित्य विषयक सामग्री का एक विश्वकोश है। मम्मट एवं विश्वनाथ प्रभृति उत्तरकालीन सभी आचार्यों ने अपने दोष-विवेचन

में व्यक्तिविवेककार का अनुसरण पर्याप्त मात्रा में किया है। इन्होंने दोष के प्रकरण में जिन समस्याओं को उठाया है उनकी मान्यता सार्वजनीन है।

महिमभट्ट के पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने अलंकार सामान्य के निबन्धन में दोष का विवेचन नहीं किया है। इन्होंने ही कहा है कि समासोक्ति आदि अलंकारों के स्थल में श्लेषादि का उपनिबन्धन होने से दोष होता है। इसके अनेक उदाहरण दिये हैं और इसका विधान भी किया है कि एक अलंकार के विषय में दूसरे अलंकार का निबन्धन नहीं होना चाहिए। क्योंकि उससे भी रचना में उत्कर्ष की हानि होती है। फलतः कविता का पर्यवसान रसभंग में होता है। महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के समान ही दोषोद्भावन के प्रसंग में गद्य का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है अन्यथा प्रबन्धों से पद्य ही उदाहृत किये जाते थे। संक्षेप में महिमभट्ट का काव्यविषयक दोष के विवेचन में यही अनुदान है।

महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में कहीं भी गुणों का विवेचन किसी भी रूप में नहीं किया है। यद्यपि ग्रंथ के आरम्भ में विहित प्रतिज्ञा के अनुसार उनका उद्देश्य ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन कर उसका अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध करना ही था तथापि प्रसंगवश यथावसर काव्य के आधायक सभी तत्वों के स्वरूप एवं लक्षण का भी निरूपण इनके ग्रंथ में उपलब्ध होता है। किन्तु गुणों का कहीं भी निरूपण न होने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि महिम भी दोषों को भावरूप मानते थे एवं गुणों को अभावात्मक। भरतनाटचशास्त्र में यही माना गया है तथा रुद्रट ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है। महिमभट्ट ने समूचे ग्रंथ में भरत के सिद्धान्त का विरोध कहीं भी नहीं किया है। अपितु स्थान-स्थान पर अपने पक्ष की पुष्टि के लिए भरतनाटचशास्त्र से प्रमाण उद्धृत किये हैं। गुणों के सम्बन्ध में भी वह भरतमत के अनुयायी प्रतीत होते हैं और संभावतः दोषाभाव रूप में ही उन्हें स्वीकार करते हैं।

७. अंलकार का स्वरूप

अलंकारों के विषय में भी महिमभट्ट की धारणा कोई उत्तम नहीं है। उनका कहना है कि काव्य-क्रिया का आरम्भ सौन्दर्यातिरेक की निष्पत्ति के लिए ही करना चाहिए केवल अलंकार निरूपण के लिए नहीं। अलंकारों की निष्पत्ति तो स्वतः हो जाती है, क्योंकि भंगी-भणिति रूप अभिधा के ही भेद सभी अलंकार हैं। कहा भी है—

न चालंकारनिष्पत्यै रसबन्धोद्यतः कविः।
यतते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धयः॥ २।७५॥

अलंकार का लक्षण करते हुए महिमभट्ट ने कहा है कि—विभावादि रस के अंग हैं जो आक्षात् रस के निष्पादक है। विभावादि की वैचित्र्योक्ति अर्थात् भंगीभणिति ही अलंकारों का स्वरूप है, अतः ये भी परम्परया रस पर ही आश्रित होते हैं।[1] चूंकि रस पर आश्रित होने से काव्य में अलंकारों का स्थान गौण हैं, इसलिए चारुता की अपेक्षा से कवियों के द्वारा इसकी कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए कि अलंकारों का कहाँ विधान और कहाँ निषेध करें।[2]

१. रसस्याङ्गं विभावाद्याः साक्षान्निष्पादकत्वतः।
तद्वैचित्र्योक्तिवपुषोऽलंकारास्तु तदाश्रयाः॥ —व्यक्तिविवेक, २।७६।

२. यक्तिविवेक, कारिका २।७८, ७९, ८०, पृ० ३४३।

ध्वनिकार की कारिका का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा है कि––अलंकारवादी महाकवियों की कविता में भी प्रतीयमान की छाया ही मुख्यरूप से काव्यत्व का आधायक होती है। जैसे नाना प्रकार के आभूषणों से लदी हुई नायिका में लज्जा का भाव ही मुख्य सौन्दर्य है। अतएव इतने अलंकारों के होते हुए भी शक्तिमान् कवि उनमें से कुछ का ही निबन्धन करता है, सबका नहीं। चूँकि सभी अलंकारों का प्राणभूत उपमा ही है, इसलिए उसके प्रतीयमान होने पर ही उससे चमत्कार का आधान होता है। रूपकादि समूचा अलंकार-वर्ग यमक ही है। कुछ तत्वार्थदर्शियों ने उसी यमक का विस्तारपूर्वक विविध अलंकारों में वर्णन किया है।

अनन्तर ग्रंथकार ने श्लेषालंकार के शब्द एवं अर्थ विषयक दो भेद का विवेचन किया है। शब्दश्लेष की परिभाषा करते हुए कहा है कि जहाँ पर दो वस्तुओं में अन्यूनानतिरिक्तत्वेन सादृश्य हो और उसका शब्दमात्र से कथन हो वह शब्दश्लेष है। अर्थश्लेष का लक्षण तो स्वतः प्रसिद्ध है, इसलिए प्रकृतस्थल में उसका लक्षण नहीं किया है। किन्तु दोनों के सम्बन्ध में एक आवश्यक नियम का विधान करते हुए कहा है कि––शब्द एवं अर्थ उभयविध श्लेष की अभिव्यक्ति के लिए रचना में किसी न किसी कारण का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। अन्यथा कारण के अभाव में श्लेष की रचना के लिए कवि का प्रयास निष्फल होगा।[1]

गुणालंकार के विषय में महिमभट्ट का वही पक्ष है जो आनन्दवर्धन का था। काव्य में औचित्य का आधान ही गुण है तथा अनौचित्य दोष है। अलंकार की सत्ता एवं उसका महत्व स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं है। वह जब अलंकारान्तर या वस्तुमात्र अथवा रस की अभिव्यक्ति का हेतु होता है तभी उससे चमत्कार का आधान होता है। केवल अलंकार के लिए अलंकार का पक्ष कथमपि मान्य नहीं। अतएव महिमभट्ट जब काव्य में गुणालंकार को अधिक महत्व देते ही नहीं तो उनके विषय में इनका विशेष अनुदान हो ही क्या सकता है? इस सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि काव्य में गुणालंकार के अपेक्षित महत्व को वास्तविक रूप में पहचान कर इन्होंने जो उन्हें बहुत अधिक महत्व न देने की बात कही है यही इनकी विशेषता है।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र को महिमभट्ट की देन का विवेचन ऊपर के पृष्ठों में अत्यन्त ही सूक्ष्म पर स्पष्ट रूप में हुआ है जो समूचे ग्रन्थ में विन्यस्त सामग्री का निर्गलित सार है। साथ ही परवर्ती आचार्यों पर महिमभट्ट के प्रभाव का निर्देश करते हुए उनकी इन मान्यताओं का मूल्यांकन भी कर दिया गया है। इस प्रकार इस विवेचन के साथ ही ग्रन्थ का उपसंहार हो जाता है।

१. व्यक्तिविवेक, कारिका २।८१, ८२, ८३, ८४, पृ० ३४४।

परिशिष्ट

- व्यक्तिविवेकसंग्रहकारिकाः
- संग्रन्थावली

व्यक्तिविवेक-संग्रहकारिकाः
भाषानुवादसहिताः

--०⊂०--

अथ प्रथमो विमर्शः

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्ति-विवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१॥

अनुमान में (ही) ध्वनि के सभी प्रकारों का अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के लिये (ग्रन्थ-कार) महिमभट्ट परावाक् को प्रणाम कर व्यक्तिविवेक (नामक ग्रन्थ) की रचना करते हैं ।

१. अनुमान--'लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्' लिंग हेतु से लिंगी साध्य का ज्ञान ही अनुमान कहा जाता है । 'पर्वतो बह्निमान् धूमात्' वाक्य में धूम हेतु से साध्य बह्नि का अनुमान होता है । अनुमान को एक प्रमाण माना गया है जिसका स्थान प्रत्यक्ष से दूसरा है । अनुमान के मुख्यतः दो प्रकार होते हैं--स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान । हेतु साध्य एवं पक्ष तथा व्याप्ति, अनुमान के साधक तत्वों के पारिभाषिक नाम हैं । महिमभट्ट का कहना है कि ध्वनि के सर्वस्व व्यंजना का अन्तर्भाव अनुमान में संभव है ।

२. ध्वनि--महिमभट्ट के पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा उद्भावित एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि की पाँच प्रकार की व्युत्पत्तियाँ प्रदर्शित करते हुए उसके पाँच अर्थ किये हैं--

१--ध्वन्यते व्यज्यते अनेन इति व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः ।

२--ध्वन्यते व्यज्यते अनेन इति व्यञ्जकः अर्थः ध्वनि ।

३--ध्वन्यते व्यज्यते अनया इति व्यञ्जना वृत्तिः ध्वनिः ।

४--ध्वन्यते इति व्यङ्ग्यार्थः ध्वनिः ।

५--ध्वन्यते वाच्यापेक्षया प्राधान्येनाभिव्यज्यते अस्मिन्निति काव्यं ध्वनिः ।

३. व्यक्तिविवेक--यह नाम उस ग्रन्थ का है जिसकी रचना महिमभट्ट ने की है । व्यक्ति व्यंजना को कहते हैं, उसका विवेक अर्थात् उसके युक्तायुक्त होने का विचार । यह सब जिस ग्रन्थ में हो उसका नाम व्यक्तिविवेक ठीक ही है --व्यक्तेः व्यञ्जनायाः विवेको-युक्तायुक्तविचारो यस्मिन् ग्रन्थे स व्यक्तिविवेकः । वह ग्रन्थ जिसमें व्यंजना के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया गया हो ।

४. महिमा--यह व्यक्ति का नाम है जो ग्रन्थकार के लिये प्रयुक्त हुआ है तथा महिमन् प्रातिपदिक के प्रथमा एक वचन का रूप है । ग्रन्थकार ने अपने नाम का उल्लेख अपनी इस एकमात्र उपलब्ध कृति में अनेक प्रकार से किया है--महिमभट्ट, राजानक महिमक,

महिमा इत्यादि । यह एक काश्मीरी ब्राह्मण थे जो १००० ई० के लगभग विद्यमान थे ।

५. परावाक्--सामान्यतः वाक् (वाणी) के चार भेद उसकी उद्भूति के क्रम के अनुसार किये गये हैं--परा 'पश्यन्ती' मध्यमा और वैखरी । नाभि के पास में अवस्थित मूल-चक्रस्थ सर्वथा अव्यक्त ध्वनि को उसकी परा अवस्था कहा गया है । विद्वानों में इस विषय को लेकर बड़ा मतभेद है । वैयाकरणों का एक वर्ग जिसके नेता भर्तृहरि हैं परावाक् को शब्दब्रह्म के रूप में निखिल ब्रह्मांड का मूलस्रोत आत्मतत्व मानता है ।[1] यहाँ पर ग्रन्थकार को संभवतः भर्तृहरि प्रोक्त परावाक् ही अभीष्ट है । प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के द्वितीय विमर्श में इसका विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया है ।

युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नो
नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत् ।
केचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निमील-
न्त्यन्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥२॥

अनुमान में ध्वनि के अन्तर्भाव करने का मेरा यह ग्रन्थ रूप प्रयास सर्व साधारण के लिये नहीं अपितु मुझ जैसे कुछ ही लोगों के लिये है । क्योंकि वे ही इसे उपयुक्त समझेंगे, सभी नहीं । उचित भी यही है क्योंकि इस संसार में वह वस्तु है ही नहीं जो सबको भा जाय । और तो और जगत् को प्रदीप की तरह प्रकाश देने वाला सूर्य भी जब उदित होता है तो सूर्यकान्त मणि जैसे कुछ तत्व ईर्ष्या भाव से जलने लगते हैं, और कुमुदिनी जैसे कुछ और नहीं तो अपनी आँखें ही मूंद लेते हैं । कमल सदृश कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो प्रफुल्लित हो उठते हैं । सर्व मनोहर का अर्थ है सब प्रकार से सुन्दर, सभी व्यक्तियों को भा जाने वाला तथा सभी काल में सुन्दर लगने वाला ।

इह सम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचो विवेचनं नः ।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय ॥३॥

किसी भी कृति की समीक्षा दो प्रकार से की जाती है--सौजन्य-मूलक एवं उसके विपरीत अर्थात् खण्डनात्मक । ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन की उक्ति ध्वनिसिद्धान्त का यह विवेचन जिसे मैंने अपने इस ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है चाहे यह सम्प्रतिपत्तितः--सौजन्य-मूलक परीक्षा के ढंग से अथवा इसके विपरीत खण्डकनात्मक रीति से ही क्यों न किया गया हो मुझे यश का भागी अवश्य बना देगा । क्योंकि महान् लोगों का परिचय ही गौरवास्पद होता है । बड़े लोगों से किसी रूप में सम्बन्धित होने वाला व्यक्ति भी गौरव शाली हो जाता है ।

१--संप्रतिपत्ति--अनुकूल अर्थात् समर्थनात्मक समीक्षा ।

२--विप्रतिपत्ति--विपरीत अर्थात खण्डनात्मक समीक्षा ।

३--संस्तव--स्तुति, प्रशंसा, परिचय या सम्बन्ध ।

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः ।
स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम् ॥४॥

यश रूपी प्रियतम से मिलने के लिये मेरी बुद्धि आज अकस्मात् अभिसार करने पर

---

१. **अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।**
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

--वाक्यपदीय १।१

उद्यत हो गई। यहाँ तक कि दर्पण देखने तक की उसे सुध न रही। अतः अपने वेश-विन्यास रूप शृंगार में आभूषणों के धारण सम्बन्धी दोष को कैसे जान सकती है ?

'यह समालोचना सर्वथा मौलिक है' इस प्रकार के यश की सहसा प्राप्ति के लिये ही मेरी बुद्धि ने भट्टनायक प्रभृति ध्वनि-विरोधी अन्य विद्वानों की 'हृदयदर्पण' आदि कृतियों को एकबार देख लेना भी जो स्वीकार नहीं किया उसके परिणाम स्वरूप अलंकार शास्त्र पर लिखित अपने इस ग्रन्थ के दोषों के ज्ञान से उसका वंचित रहना भी सर्वथा वाभाविक है।

स्वालंकार से तात्पर्य अलंकार-शास्त्र सम्बन्धी अपना जो विकल्प अर्थात् पक्ष है उसकी प्रकल्पना अर्थात् निरूपण में क्या दोष है यह कैसे जान सकती है अर्थात् उसी प्रकार नहीं जान सकती जिस प्रकार अपने प्रियतम से मिलने के लिये उतावली नायिका शीशे में अपनी साज-सज्जा ठीक तरह से देखे बिना ही यदि अभिसरण कर देती है तो तत्तद् अंगों में धारण किये हुए वस्त्राभूषण विषयक त्रुटियों को नहीं जान पाती। यहाँ समासोक्ति अलंकार के माध्यम से ग्रन्थकार ने आत्मसमीक्षण किया है।

१. दर्पण—भट्टनायक की अनुपलब्ध प्रख्यात कृति हृदय दर्पण।

२. अलंकार—साहित्य शास्त्र–काव्य की समीक्षा विषयक ग्रन्थ।

तथापि अपनी कठिनाइयों एवं दोषों का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहता है—

ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं वाण्याः पदे पदे सुलभम्।
रभसेन यत्प्रवृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिकाद्यदृष्ट्वैव ॥५॥

एक तो ध्वनि-सिद्धान्त स्वयं ही इतना गहन है उस पर चन्द्रिका आदि प्रकाशों की उपेक्षा करके मेरी वाणी जो अत्यन्त शीघ्रता वश उस मार्ग पर प्रवृत्त हुई है उसके परिणाम स्वरूप उसका पग-पग लड़खड़ाना अत्यन्त स्वभाविक है।

चन्द्रिका संभवतः ध्वन्यालोक की टीका थी। उसकी सहायता से ध्वन्यालोक को अच्छी तरह समझा जा सकता था। अधिक संभव है यह टीका मूलग्रन्थ की विरोधिनी रही हो। पर व्यक्ति-विवेक कार ने ध्वन्यालोक को समझने में उसकी भी सहायता नहीं ली।

ध्वनि मार्ग को अतिगहन कहने का तात्पर्य यह है कि वह अन्धकाराच्छन्न है। उसमें प्रमेय वस्तु का यथातथ्य निर्णय नहीं किया गया है। अतः जिस प्रकार अन्धेरे मार्ग पर चलने में पैरों का लड़खड़ाना स्वाभाविक है उसी प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के विवेचन में प्रवृत्त मेरी वाणी में भी स्खलन का होना सर्वथा स्वाभाविक है।

इस पद्य में प्रयुक्त अतिगहन, स्खलित, रभस एवं चन्द्रिका पद श्लिष्ट हैं।

१—अतिगहन का एक अर्थ है सिद्धान्तों से भरपूर अतएव क्लिष्ट दूसरा अन्धकाराच्छन्न।

२—स्खलित–पैर का लड़खड़ाना तथा शब्द जन्य पदभंग दोष।

३—रभस–आवेग और वेग

४—चन्द्रिका–चाँदनी तथा ध्वनि-सिद्धान्त-विवेचक कृति-विशेष।

फिर भी आचार्य को अपनी कृति पर गर्व है और उसकी परीक्षा के लिये वह विद्वानों से निवेदन करते हैं—

किन्तु, तदवधीर्यार्यैर्गुणलेशे सततमवहितैर्भाव्यम्।
परिपक्वनवदथवा ते न शिक्षितास्तुषग्रहणम् ॥६॥

यद्यपि मेरी कृति में अनेक दोष संभावित हैं तथापि श्रेष्ठ पुरुषों को चाहिये कि वे

दोषों की अवहेलना कर गुणों को ग्रहण करने में ही सदा तत्पर रहें। अथवा उन के लिये इस तरह के सुझाव की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि शूर्प की तरह ही उनका भी यह जन्म-जात स्वभाव है कि वे भूसी को ग्रहण करना नहीं जानते। मेरी कृति की वे परीक्षा करें और यदि उसमें ग्राह्य सामग्री हो तो इसकी महत्ता स्वीकार करें अन्यथा इसका स्वतः तिरस्कार हो जायेगा।

परिपवन——सूप को कहते हैं जो निःसत्व अन्न या भूसी को फटक कर बाहर कर देता है। गरिष्ठ सामग्री ही उसमें टिक पाती है। यहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त पर आधारित व्यतिरेक अलंकार की सृष्टि हो गई है।

उपर्युक्त छः श्लोक भूमिकात्मक हैं। आगे की कारिकाओं में यथास्थान विषय का विवेचन होगा।

ध्वनिकार द्वारा किये गये ध्वनि के लक्षण में दोष की उद्भावना सबसे पहले आवश्यक है उसी का विवेचन करते हुए कहते हैं——

उक्तं गुणीकृतात्मत्वं यदर्थस्य विशेषणम्।
गमकत्वान्न तत् तस्य युक्तमव्यभिचारतः ॥७॥

ध्वन्यालोक की ध्वनिलक्षण कारिका 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यादि में 'उपसर्जनी कृतस्वर्थौ' की उक्ति से जो कहा गया है कि 'जहाँ अर्थ अपने को गौण करते हुए अर्थान्तर को व्यक्त करे, और इस प्रकार गुणीकृतात्मत्व को अर्थ का जो विशेषण बनाया गया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ एक अर्थ से दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वहाँ पहला अर्थ दूसरे का गमक होता है। दूसरा अर्थ गम्य होता है। गमक, गम्य की अपेक्षा सर्वदा गौण ही होता है कभी भी तुल्य या मुख्य नहीं। कोई भी विशेषण तभी प्रयुक्त होता है जब वह कहीं संभव हो तो कहीं असंभव। जहाँ केवल संभव सत्ता ही हो व्यभिचार सत्ता न हो वहाँ विशेषण का प्रयोग व्यर्थ माना जाता है। उक्त ध्वनिकारिका में अर्थ के गुणीकृतात्मत्व (उपसर्जनी कृतात्मत्व) विशेषण का ऐसा ही प्रयोग हुआ है। अतः वह ठीक नहीं है।

'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' न्याय से कोई भी विशेषण सार्थक तभी माना जाता है जब उसमें सम्भव एवं व्यभिचार दोनों सत्तायें विद्यमान हों। उदाहरणतः 'कृष्णा गौः' में गाय का कृष्णा विशेषण इसलिये सार्थक है कि गाय काली भी होती है और काली नहीं भी होती। किन्तु 'उष्णः अग्निः' में अग्नि का विशेषण 'उष्णः' निरर्थक है क्योंकि अग्नि सदा उष्ण ही होता है। यहाँ केवल संभवसत्ता है। 'शीतो वह्निः' के शीत विशेषण में भी केवल व्यभिचार सत्ता के होने से निरर्थकता है। ध्वनिलक्षण में प्रथम प्रकार का दोष है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ अर्थ अर्थान्तर की अभिव्यक्ति कराता है वहाँ व्यभिचार सत्ता के अभाव के कारण उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण का प्रयोग निरर्थक होगा। व्यक्तिविवेक के टीकाकार रुय्यक ने उक्त संग्रहकारिका पर टीका करते हुए लिखा है कि अर्थ के गुणीकृतात्मत्व विशेषण में व्यभिचार सत्ता भी है। प्रतीयमान के साथ वाच्य अर्थ के सम्बन्ध को देखते हुए उसकी तीन दशायें संभव हैं। १——वह वाच्य प्रतीयमान का व्यंजक होने से उपेय प्रतीयमान की अपेक्षा उपायभूत वाच्य गौण ही रहेगा। २——प्रतीयमान की अपेक्षा उसमें चारुत्व कम होने से भी वह गौण ही रहेगा। ३——जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति

तो होती है पर वाक्य की विश्रान्ति वाच्य में ही होती है वहाँ उपकारक होने से वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान गौण हो जाता है। यही वाच्य अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण की 'व्यभिचार दशा' है। इस प्रकार संभव एवं व्यभिचार दोनों दशाओं के विद्यमान होने के कारण ध्वनि लक्षण पर किया गया उक्त आक्षेप निर्वीर्य है। अतएव समासोक्ति आदि अलंकार ध्वनि के उदाहरण नहीं हो सकते यद्यपि वहाँ प्रतीयमानता है। शब्द से व्यंजित अर्थ के वाच्य का उपकरण होने से उसमें वाच्य के प्रति गौणता का विद्यमान होना युक्ति एवं तर्क से असंगत भी नहीं प्रतीत होता। उदाहरणतः—

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥

इस पद्य में अनुरागवती, पुरस्सरः तथा समागमः पदों से नायक नायिका व्यवहार व्यंग्य है तथा उससे समारोपित सन्ध्यादिवस व्यवहार के ही वाच्य होने से प्रतीयमान के प्रति उसकी मुख्यता या प्रधानता सुस्पष्ट है। अतः उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण सव्यभिचार ही है। इसका खण्डन प्रकृत ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है।

व्यंजना खण्डन के प्रसंग में शब्दों के क्रियामूलक होने का विधान करते हुए कहते हैं:—

घटतीति घटो ज्ञेयो नाघटन् घटतामियात्।
अघटत्वाविशेषेण पटोऽपि स्याद् घटोऽन्यथा ॥८॥

घड़े को घड़ा इसलिये समझना चाहिये कि उसमें घटन क्रिया सम्पन्न हुई होती है। यदि उसमें घटन (होने की) क्रिया नहीं होती तो वह घटत्व को ही नहीं प्राप्त होता। और यदि बिना घटन (गढ़े जाने की) क्रिया के ही उसे घट कह दिया जाय तो पट को भी घट कहे जाने में क्या हानि है। पट भी घट पद से व्यवहृत हो सकता है

घटनञ्च तदात्मत्वापत्तिरूपा क्रिया मता।
मूलञ्च तस्याश्चित्रार्थाभासाविष्कृतिरीशितुः ॥९॥

घटन (होना) उस क्रिया को कहते हैं जो वस्तुओं को आत्मत्व (जीवन) प्रदान करती है। इसका हेतु परमेश्वर की वह रचना है जो नाना प्रकार की विचित्र वस्तुओं को नूतन आविष्कार के रूप में प्रतिभासित करती रहती है। कहने का आशय यह है कि घटन अर्थात् होना सृष्टि का स्वभाव है। प्रतिभासित (आविष्कृत) होने के पूर्व प्रत्येक वस्तु या पदार्थ को घटन (होने) की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है। अतः किसी वस्तु को स्वरूप की प्राप्ति उसके होने में है। अनन्तर ही उसमें जाति, गुण एवं संज्ञा का समावेश सम्भव है।

यः कश्चिदर्थः शब्दानां व्युत्पत्तौ स्यान्निबन्धनम्।
प्रवृत्तौ तु क्रियैवैका सत्तासादनलक्षणा ॥१०॥

अतः शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त जाति, गुण, क्रिया अथवा संज्ञा कोई भी पदार्थ भले ही हो उसकी प्रवृत्ति का निमित्त तो एकमात्र क्रिया ही हो सकती है। क्योंकि उसी से ही वस्तु को उसकी सत्ता प्राप्त होती है। एवं वस्तु या पदार्थ की सत्ता प्राप्ति रूप क्रिया ही तत्तद् अर्थों में शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होती है।

१—सत्ता का अभिप्राय यहाँ जाति है। वस्तु का प्राणप्रद धर्म होने से ही इसे सत्ता कहते हैं। उसका आसादन प्राप्ति ही है लक्षण कार्य जिसका उसे सत्तासादन लक्षण (क्रिया) कहा है।

तस्यामेव क्विबाद्याश्च विधेयाः कर्तृमात्रतः।
न तूपमानादाचारे तयोरर्थात् प्रतीतितः ॥११॥

इसलिये क्विप् आदि कृत् प्रत्ययों को जो साधारणतः कर्ता में होते हैं क्रिया में ही हुआ समझना चाहिये। अर्थात् कर्तृ वाचक क्विप् आदि प्रत्यय क्रिया में ही किये जाने चाहिएँ। यहाँ तक कि उपमान से आचार अर्थ में जो क्विप् आदि प्रत्यय होते हैं उन्हें भी क्रिया में ही हुआ समझना चाहिये। उपमान एवं आचार अर्थों की प्रतीति तो उससे अर्थात् हो जाती है।

यथा ह्यश्वति बालेय इत्यतोऽर्थः प्रतीयते ।
अश्वत्वमासादयति खर इत्यर्थतः पुनः ॥२॥
अश्व-तुल्य-समाचारः खर इत्यवसीयते ॥

जैसे 'बालेयः अश्वति'—गधा घोड़े की तरह आचरण करता है—इस वाक्य से इस अर्थ की प्रतीति होती है कि गधा अश्वत्व को प्राप्त हो रहा है। अनन्तर इस अर्थ से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गदहे का आचार (क्रिया कलाप) घोड़े जैसा है।

न तत्त्वासादनं युक्तं तदतुल्यक्रियस्य हि ॥१३॥
सत्तायां व्यापृतिश्चैषा चित्रत्वपरिनिष्ठितेः ।
संगच्छते जडस्यापि घटादेर्घटनादिवत् ॥१४॥

यदि क्रिया अर्थवस्तु के अनुरूप नहीं है तो उस पदार्थ को तत्व अर्थात् पदार्थत्व (जाति) की प्राप्ति बन नहीं पाती। अर्थात् किसी पदार्थ को पदार्थत्व की प्राप्ति सिद्धान्ततः अनुपयुक्त है यदि उसमें उसके स्वरूप की प्राप्ति के अनुरूप क्रिया न होती हो। सत्ता की प्राप्ति रूप इस व्यापार का आधार (मूलकारण) चित्रत्व अर्थात् वस्तुगत वैचित्र्य है जो घट आदि में होने वाली घटन क्रिया के समान जड़ वस्तुओं के सम्बन्ध में भी ठीक बैठ जाता है। कहने का आशय यह है कि पदार्थ की सत्ता में व्यापार अर्थात् क्रिया का होना उसका अपना वस्तुगत स्वभाव है।

नाम्नः सत्त्वप्रधानस्य धातुकारोऽतएव हि ।
शब्दवक्त्रैकदेशादेर्धात्वर्थत्वमबोचत ॥१५॥

अतः धातुकार (पाणिनि) ने घटपटादि नाम पदों को भी धात्वर्थपरक ही कहा है, यद्यपि उनमें सिद्धवस्तुधर्म (सत्व) की ही प्रधानता होती है। क्योंकि इनकी अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द एवं मुख का एक भाग होता है।

एवं विपच्य घटो भवतीति क्त्वोऽस्य पूर्वकालत्वम् ।
घटनापेक्षं ज्ञेयं भवनापेक्षन्तु नासमन्वयतः ॥१६॥

इस प्रकार 'विपच्य घटो भवति—घड़ा पककर तैयार होता है'—इस वाक्य के (विपच्य) पद में प्रयुक्त 'क्त्वा' में जो पूर्वकाल का बोधक है, घटन क्रिया की अपेक्षा ही पूर्वकालिकता है न कि भवन क्रिया की अपेक्षा। भवन क्रिया की अपेक्षा पचन क्रिया की पूर्वकालिकता इसलिये नहीं बन पाती कि पचन भी एक प्रकार का भवन ही होता है। पचन भवन में व्याप्त है। अतः पचन को उससे सर्वथा पृथक् कर समझने में संगति कैसे बैठ सकती है।

बहिरङ्गत्वाच्च, यथा भवत्यधिश्रित्य पाचकोऽयमिति ।
अत्र हि पाकापेक्षाधिश्रयतेः पूर्वकालतावगतिः ॥१७॥

इसके अतिरिक्त वह बहिरंग भी है। जिस प्रकार 'अधिश्रित्य पचति—चूल्हे पर रख कर पकाता है', इस वाक्य में पचन क्रिया की अपेक्षा अधिश्रयण क्रिया के पूर्वकालिकता की प्रतीति स्वतः होती है वैसी पूर्वत्र नहीं होती।

तस्मान्नामपदेभ्यो यः कश्चिदर्थः प्रतीयते ।
न स सत्तामनासाद्य शब्दवाच्यत्वमर्हति ॥१८॥

इसलिये संज्ञा पदों से भी जिस विशेष अर्थ की प्रतीति होती है उसमें उनकी सत्ता को प्राप्त हुए बिना वाच्य होने की सामर्थ्य नहीं होती। अर्थात् संज्ञापदों में भी उनका अर्थ वस्तु के अस्तित्व (होने) की क्रिया से सम्बन्धित है जो उसका वाच्य कहलाता है। यदि अर्थ वस्तु की सत्ता से उस अर्थ का सम्बन्ध न हो तो उसके लिये प्रयुक्त शब्द का वाच्य वह कदापि नहीं हो सकता।

इत्थञ्चास्तिभवत्यादि क्रियासामान्यमुच्यते ।
नान्तरङ्गतयावश्यं वक्तारस्तत्प्रयुञ्जते ॥१९॥

इस प्रकार अस्ति, भवति (होता है) आदि क्रियायें सामान्य रूप से सभी पदार्थों में होने वाली क्रिया के बोधक हैं। अतएव इन्हें सामान्य-क्रिया कहा जाता है। वाक्य में इनका प्रयोग करना वक्ता के लिये इसलिये आवश्यक नहीं है कि ये अन्तरंग हैं। इनको यों ही समझ लिया जाता है।

क्रियाविशेषो यस्त्वन्यः पाकादिर्व्यभिचारिभाक् ।
बहिरङ्गतया तस्य प्रयोगोऽवश्यमिष्यते ॥२०॥

इनके अतिरिक्त पाकादि जो अन्य क्रियायें हैं उन्हें विशेष क्रिया कहा जाता है क्योंकि वे कहीं होने तथा कहीं न होने से व्यभिचरित रूप में प्रयुक्त होती हैं। बहिरंग होने से वाक्य में उनका प्रयोग अनिवार्यतः अपेक्षित होता है।

शब्द के स्वरूप का निरूपण कर अब पुनः ध्वनि-लक्षण-कारिका का विवेचन आरंभ करते हैं--

यद्यर्थ इति वाच्योऽर्थोऽभिमतोऽव्याप्तिरेव सा ।
येनैवंवादिनीत्यादावर्थस्यार्थान्तरागतिः ॥ २१ ॥

यदि 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यादि ध्वनि लक्षण कारिका में अर्थ शब्द से वाच्य अर्थ का ग्रहण अभीष्ट है तो कालिदास कृत कुमार संभव का 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादि पद्य, जहाँ व्यंग्य अर्थ से ही अन्य अर्थ का बोध होता है, ध्वनि का उदाहरण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य होने पर भी जब उक्त पद्य में ध्वनि काव्यता नहीं रहेगी तो ध्वनि के लक्षण के अव्याप्ति दोष ग्रस्त होने में सन्देह का अवसर कहाँ !? क्योंकि लक्ष्य में लक्षण का न घटना ही अव्याप्ति है।

अथोभौ तर्ह्यतिव्याप्तिर्द्वित्ववस्तुव्यवायिनि ।
प्रहेलिकादिरूपेऽपि काव्ये ध्वन्यात्मता यतः ॥२२॥

और यदि ध्वनि-लक्षण-कारिका में प्रयुक्त अर्थ पद से वाच्य एवं प्रतीयमान दोनों प्रकार के अर्थों का ग्रहण करना अभीष्ट है तो लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जाता है क्योंकि पहेली आदि प्रकारों में भी जहाँ दो-दो तीन-तीन अर्थों के व्यवधान के बाद व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है, ध्वनि का लक्षण घटने लगेगा और वे भी ध्वनि के उदाहरण हो जायेंगे। किन्तु ऐसा होता नहीं। पहेलियों में भी एक अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति ही अन्तर्निहित होती है।

इस प्रकार अर्थ पद से केवल वाच्य या वाच्य एवं प्रतीयमान दोनों में से किसी भी पक्ष का ग्रहण करने पर दोष बना ही रहता है। इसलिये ध्वनिकार कृत ध्वनि का लक्षण निष्कृष्ट नहीं अपितु सदोष ही है।

अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषणस्तदः पुंस्त्वम् ।
द्विवचनवाशब्दौ च, व्यक्तिर्ध्वनिर्नाम काव्यवैशिष्ट्यम् ॥२३॥
वचनञ्च कथनकर्त्तुः कथिता ध्वनिलक्ष्मणीति दशदोषाः ।
ये त्वन्ये तद्भेदप्रभेदलक्षणगता न ते गणिताः ॥२४॥

अर्थ की विशिष्टता, शब्द का (प्रयोग एवं उसका) विशेषण होना, तत्पद का पुल्लिग 'सः' के रूप में प्रयोग, व्यङ्क्तः में द्विवचन, शब्द पद का पृथक् प्रयोग, व्यक्ति अर्थात् व्यंजना, ध्वनिसंज्ञा, काव्य की वशेषता, कर्त्ता 'सूरभिः' में बहुवचन का प्रयोग, ये दश दोष आनन्दवर्धन कृत ध्वनिलक्षण में पाये जाते हैं । इनके अतिरिक्त अन्य दोष भी सम्भव हैं जिनका विवेचन व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ में अन्यत्र हुआ है पर यहाँ उनकी गणना नहीं की गई है । इन दश दोषों का स्पष्ट रूप निम्न प्रकार से बनता है ।

१. अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्वरूप विशेषण का विफल प्रयोग ।
२. शब्द पद के उपादान की अनुपादेयता (अनर्थकता) ।
३. अर्थ पद का अनिश्चित अभिप्राय ।
४. 'तमर्थं' में तत्पद का पुल्लिग में अभिधान ।
५. विकल्पार्थ में वा शब्द का असम्भव प्रयोग ।
६. व्यङ्क्तः में द्विवचन की अनुपपत्ति ।
७. व्यक्ति (व्यंजना) की सिद्धि में दोष ।
८. काव्यविशेष पद का पाठ ।
९. ध्वनिपद का प्रयोग ।
१०. सूरिभिः में बहुवचन का निर्देश ।

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥२५॥

जहाँ पर वाच्य या उससे अनुमित अर्थ किसी भी सम्बन्ध से अन्य अर्थ को प्रकाशित करता है उसे ही काव्यानुमिति कहते हैं ।

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।
संज्ञायां सा, केवलमेषापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुतः ॥२६॥

आत्मभूत जिस तत्त्व को लेकर काव्य का व्यपदेश हुआ है वह रस ही है इसमें किसी को विसम्बाद नहीं । अर्थात् ध्वनिकार को भी यही अभीष्ट है कि काव्य की आत्मा रस है और वही काव्य का संज्ञी है । फिर ध्वनिसिद्धान्त से हमारा मतभेद संज्ञामात्र का है । जिसे वह ध्वनि कहते हैं हम उसे अनुमिति । और यदि व्यक्ति अर्थात् व्यंञ्जना का हठ छोड़ दिया जाय तो काव्यानुमिति को ध्वनि के नाम से व्यवहृत करने में विप्रतिपत्ति क्यों होगी । क्योंकि––

शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैवलिङ्गता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥२७॥

शब्द की शक्ति एक मात्र अमिधा ही संभव है । अर्थ में भी केवल एक ही शक्ति है लिंगता अर्थात् दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति का हेतु होना । इस प्रकार शब्द और अर्थ, अर्थान्तर के व्यंजक नहीं हो सकते, यह बात सिद्ध हो गई ।

अर्थात् अन्य अर्थ की प्रतीति अर्थ से होती है शब्द से नहीं । अन्य अर्थ का बोधक अर्थ व्यंजक न होकर अन्यार्थ की प्रतीति का हेतु होता है । अतः व्यंजना नाम की शक्ति संभव नहीं । अनुमान से ही अन्यार्थ का बोध होता है ।

उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः ।
न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः ॥२८॥

ध्वनि के लक्षण में शब्द पद का ग्रहण व्यर्थ ही किया । क्योंकि अर्थान्तर के बोध की प्रक्रिया में शब्द शक्ति की गति इष्ट नहीं ।

न चोपसर्जनत्वेन तयोर्युक्तं विशेषणम् ।
यतः काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टैव चारुता ॥२९॥

चूंकि काव्य में गुणीभूत व्यंग्य को लेकर भी चारुता होने का विधान ध्वनि सिद्धान्त सम्मत है अतः शब्द और अर्थ के विशेषण उपसर्जनीकृतात्मत्व का प्रतिपादन भी उपयुक्त नहीं हुआ है । गुणीभूतव्यंग्य के स्थल में जहाँ वाच्य का ही चमत्कार विशेष होता है अपने को गौण बनाने के अभाव में वहाँ ध्वनिकाव्यता उपपन्न नहीं होगी ।

अतएव विशेषस्योपादानमपि नार्थवत् ।
संज्ञासम्बन्धमात्रैकफलं तदिति गम्यते ॥३०॥

अतएव (उपर्युक्त कारण से) ध्वनिलक्षण कारिका में 'काव्यविशेषः' पद में विशेष शब्द का कथन भी सार्थक नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि उसका एकमात्र प्रयोजन ध्वनि-संज्ञा से सम्बन्धमात्र की प्रतीति कराना है न कि ध्वनि की ।

तदा चातिप्रसङ्गः स्यात्संज्ञायां यस्य कस्यचित् ।
यद्वाक्यवर्तिनोऽन्यस्य विशेषस्य तदाप्तितः ॥३१॥

यदि ऐसी ही बात है तो ध्वनिसंज्ञा में अतिव्याप्ति दोष प्रसक्त होगा । क्योंकि प्रहेलिका आदि जिस किसी जगह से सम्बन्धित विशेष का ध्वनि से ग्रहण होने लगेगा अर्थात् किसी भी काव्य में स्थित विशेष का ध्वनिपद से ग्रहण होने लगेगा ।

तस्मात्स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा ।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत्काव्यमुच्यते ॥३२॥

इसलिये जब ध्वनिकार आनन्दवर्धन कृत ध्वनि काव्य का लक्षण सदोष है तो काव्य का निर्दोष या निष्कृष्ट लक्षण यही होना चाहिये कि जहाँ पर वाच्य अर्थ की शक्ति से अन्य अर्थ का अनुमान हो वही काव्य है चाहे वहाँ वाच्य अनुमेय अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो या गौण ।

ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार व्यंग्यार्थ को वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होना चाहिये तभी उस की प्रधानता रहेगी । किन्तु अनुमति-सिद्धान्त के अनुसार अनुमेय अर्थकी स्पष्टतः प्रतीति भर होनी चाहिये । चाहे वह मुख्य रूप से हो या गौण रूप से । कहने का आशय यह है कि काव्य में चमत्कार का आधान अर्थों के मुख्य गौण भाव पर निर्भर नहीं करता अपितु अर्थान्तर की प्रतीति पर निर्भर करता है ।

वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यङ्ग्यव्यञ्जकतार्थयोः ।
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात् ॥३३॥

वाच्य एवं प्रत्येय (व्यंग्य) अर्थों में व्यंग्यव्यंजकभाव नहीं बन सकता अर्थात् वाच

प्रतीयमान अर्थ का व्यंजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रकाशक प्रदीप एवं उससे प्रकाशित घट दोनों जिस प्रकार एक साथ ही प्रकाशित होते रहते हैं उसी प्रकार वाच्य एवं प्रतीयमान युगपत् प्रतीति के विषय नहीं हो सकते ।।

पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात् ।
वृक्षत्वाम्रत्वयोर्यद्वद् यद्वच्चानलधूमयोः ।।३४।।
अनुमानत्वमेवात्र युक्तं तल्लक्षणान्वयात् ।

अतः पक्षधर्मता (हेतु धर्म की पक्ष आश्रय में उपलब्धि) के सम्बन्ध से व्याप्ति की सिद्धि की अपेक्षा नहीं रह जाती और वृक्षत्व एवं आम्रत्व के समान अथवा अग्नि एवं धूम के समान यहाँ भी अनुमेयता ही स्वीकार करना युक्तियुक्त है । इसी में व्यक्ति (व्यंजना) के लक्षण का ठीक-ठीक अन्वय बन पाता है*।

असतश्चेन्द्रचापादेः का व्यक्तिः कृतिरेव सा ।।३५।।
कार्यत्वं ह्यसतोऽपीष्टं हेतुत्वं न विरुध्यते ।
सर्वसामर्थ्यविगमाद् गगनेन्दीवरादिवत् ।।३६।।

इन्द्रधनुष आदि के समान सत् से असत् की प्रतीति को व्यक्ति (व्यंजना) नहीं कहा जा सकता अपितु इसके विपरीति उसे उत्पत्ति ही माना जाता है । असत् वस्तु भी कार्य होने की क्षमता रखती है किन्तु वहाँ हेतुता नहीं बन सकती । क्योंकि उसमें हेतु होने की शक्ति कथमपि नहीं है जैसे आकाश-कुसुम । यह कुसुम असत् होते हुए भी कार्य तो है ही, कमी उसमें इतनी ही है कि वह कारण भाव से व्यवस्थित नहीं हो सकता ।

शब्दप्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते ।
नहि तेन विना शक्यों व्यवहारयितुं परः ।।३७।।

व्यवहार में वाणी का प्रयोग प्रायः दूसरे के लिये ही होता है, क्योंकि शब्द के प्रयोग के बिना दूसरे के साथ व्यवहार करना सम्भव नहीं ।

दूसरे के साथ व्यवहार करने के लिये जिन उपादानों का हम उपयोग करते हैं, वाणी उनमें प्रमुख है । इसके साथ यह भी समझना चाहिए कि वाणी या शब्द के प्रयोग की उपा-देयता व्यक्ति को स्वयं के लिये न होकर दूसरों को समझाने के लिये हैं । किसी भी तथ्य को विना शब्द निकाले ही स्वयं समझा जा सकता है पर उसे ही जब दूसरों को बताना होता है तो वाणी का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है । क्योंकि दूसरों के साथ व्यवहार करते समय बाणी के प्रयोग के विना हमारा काम नहीं चल सकता ।

नच युक्तिनिराशंसात् ततः कश्चित्प्रवर्तते ।
निवर्तते वेत्यस्येष्टा साध्यसाधनगर्भता ।।३८।।

युक्ति अर्थात् अनुमान की प्रक्रिया के प्रयोग के बिना कोई व्यक्ति (बोद्धा) किसी कार्य में न तो प्रवृत्त होता है न उससे निवृत्त ही (यदि पहले से उसमें लगा हो) । अतः वाग्व्य-वहार साध्य-साधन-भाव गर्भित होता है यह मानना ही युक्ति-युक्त है ।

केवल शब्द सुन कर ही कोई किसी काम को करने नहीं लग जाता या करते हुए काम को सहसा छोड़ नहीं देता । अपितु शब्द के अर्थ और कार्य में अपनी प्रवृत्ति या उससे निवृत्ति के सम्बन्ध को 'कि इस काम को क्यों करना चाहिये या क्यों छोड़ देना चाहिये' समझ कर

ही उसे करता है या छोड़ देता है। इसी को यहाँ युक्ति कहा है। वही शब्द और अर्थ के बीच में स्थित साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है।

ते प्रत्येकं द्विधा ज्ञेये शाब्दत्वार्थत्वभेदतः ।
पदार्थवाक्यार्थतया ते अपि द्विविधे मते ॥३६॥

साध्य साधन भाव के साध्य एवं साधन दोनों तत्वों में से प्रत्येक शब्दगत एवं अर्थगत भेद से दो दो प्रकार का होता है। ये भी चारों प्रकार पदार्थगत एवं वाक्यार्थगत भेदों से पुनः दो दो प्रकार के होते हैं।

तत्र साध्यो वस्तुमात्रमलंकाराः रसादयः ।
इति त्रिधैव, तत्राद्यौ पदं शब्दानुमानयोः ॥४०॥
अन्त्योऽनुमेयो भक्त्या तु तस्य व्यङ्ग्यत्वमुच्यते ।

साध्य-साधन-भाव के उक्त भेद-प्रभेदों में से साध्य अर्थ के तीन प्रकार होते हैं—वस्तुमात्र, अलंकार एवं रसादि। इनमें आरम्भ के दो—वस्तुमात्र तथा अलंकार यथास्थान शब्द शक्ति अभिधा एवं अनुमान दोनों के विषय होते हैं। अन्तिम रसादि भेद केवल अनुमान का ही विषय होता है। भक्ति अर्थात् लक्षणा के कारण ही उसे व्यंग्य कहा है।

भक्तेः प्रयोजनांशो यश्चमत्कारित्वलक्षणः ॥४१॥
सतत्रास्तीतिऽ. . . . .

क्योंकि रसादि में जो चमत्कार है वही लक्षणा का प्रयोजन है। अतः लक्षणा के प्रयोजन के रूप में रसादि वहाँ रहते हैं जिनकी अनुभूति सामाजिक को चमत्कार के रूप में होती है। अथवा रसादि को अनुमेय इसलिये कहते हैं कि लक्षणा में प्रयोजन रूप चमत्कार की जिस प्रतीति को व्यंग्य माना गया है, चमत्कार की वह अनुभूति रसादि के अनुमेय होने में भी होती है। अनुमेयता में भी वही चमत्कार रहता है।

. . . . .सोऽप्यस्य विभावाद्येकहेतुकः ।
अतएव न लोकेऽपि चमत्कारः प्रसज्यते ॥४२॥
तत्र हेत्वादयः सन्ति न विभावादयो यतः ।

अनुमेय के इस चमत्कार का कारण एकमात्र विभावादि हैं। अर्थात् विभावादि के द्वारा अनुमेय अर्थ में जिस चमत्कार का आधान होता है वही रसादि है। चूंकि रसादि रूप अनुमेय अर्थ में चमत्कार के आधान के हेतु विभावादि हैं अतएव लौकिक अनुमेय अर्थों में चमत्कार की अनुभूति नहीं होती इस प्रकार 'काव्यानुमिति के समान ही लौकिक अनुमिति में भी चमत्कार की अनुभूति होनी चाहिये' यह दोष प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि लोक में विभावादि न होकर अनुमेय के कारण आदि ही विद्यमान होते हैं।

न चैकार्थत्वमाशंक्यमेषां लक्षणभेदतः ॥४३॥
स्वभावश्चायमर्थानां यन्न साक्षादमी तथा ॥
स्वदन्ते सत्कविगिरां गता गोचरतां यथा ॥४४॥

लौकिक हेतु एवं काव्यगत विभावादि को एक अर्थात् अभिन्न नहीं समझना चाहिए क्योंकि इनके लक्षण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यह वस्तुओं का स्वभाव है कि इनकी साक्षात् उपलब्धि से उस चमत्कार का आस्वाद नहीं होता जो इनके किसी उत्तम कवि की रचना का

विषय होने से होता है । कहने का आशय यह है कि यही लौकिक विषय लोक में सुखदुःखमोहादि नाना प्रकार की अनुभूतियाँ कराते हैं किन्तु इनका ही जब काव्य में निरूपण होता है तो इनसे एक मात्र सुखास्वाद रूप चमत्कार की अनुभूति होती है ।

गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते ।
को ह्यतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशेद् बुधः ॥४५॥

'गौर्वाहीकः' (वाहीक बैल है) इस वाक्य में 'वाहीक' के ऊपर गोत्व का आरोप होने से वाहीक बैल के समान है इस रूप में साम्य की अनुमिति होती है । अन्यथा अतिदेश प्रकार को जानने वाला ऐसा कौन विद्वान् है जो किसी वस्तु से किसी ऐसी वस्तु का व्यवहार करे जो न तो वही वस्तु है और न तो उसके समान ही ।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर कि लक्षणा नामक वृत्ति शब्दवृत्ति नहीं अपितु अर्थ का ही व्यापार है उसका अन्तर्भाव अनुमान में इसलिये साधित हो जायेगा कि अनुमान एक व्यापक विषय है जिसमें गुणवृत्ति जैसे उन सभी तत्वों का अन्तर्भाव हो जाता है जो अल्प-विषय होते हैं । अतः जब लक्षणा नामक शब्द-व्यापार का खण्डन हो गया जिसकी सत्ता मीमांसादि दर्शनों में भी स्वीकृत की गई है तो व्यंजना नामक शब्द-व्यापार की सिद्धि तो इसलिये भी और दूरापेत है कि व्याकरण एवं दर्शन के किसी भी सिद्धान्त में उसकी मान्यता नहीं है इसी उपर्युक्त विवेचन को ग्रन्थाकार ने निम्नलिखित कारिकाओं में संगृहीत कर दिया है : —

यः सतत्त्वसमारोपस्तत्सम्बन्धनिबन्धनः ।
मुख्यार्थ बाधे सोऽप्यार्थ सम्बन्धमनुपापयेत् ॥४६॥

किसी वस्तु पर दूसरी वस्तु का जो आरोप है उसका आधार उन दोनों वस्तुओं का परस्पर का सम्बन्ध ही होता है । मुख्यार्थ का बोध होने पर तत्वारोप के द्वारा उसी सम्बन्ध की अनुमिति होती है ।

तत्साम्यतत्सम्बन्धौ हि ततवारोपैककारणम् ।
गुणवृत्तेर्द्विरूपायास्तत्प्रतीतिरतोऽनुमा ॥४७॥

किसी वस्तु पर दूसरी के आरोप का एकमात्र कारण किन्हीं दोनों वस्तुओं का साम्य या उनका परस्पर का सम्बन्ध होता है । क्योंकि गुणवृत्ति के ये दो प्रकार होते हैं अतः उससे होने वाली प्रतीति को अनुमिति ही कहना चाहिए ।

मुख्यवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते ।
विहितोऽर्थान्तरे ह्यर्थः स्वसाम्यमनुमापयेत् ॥४८॥

इसका एक कारण यह भी है कि शब्द के लिये यह सम्भव नहीं कि वह अपने मुख्य व्यापार अभिधा का सर्वथा परित्याग करदे । फिर एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति का विधान उस अर्थ के द्वारा अर्थान्तर से अपने सादृश्य की अनुमिति करा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

तुल्यादिषु हि लोकोऽर्थेष्वर्थं तद्दर्शनं स्मृतम् ।
आरोपयेन्न शब्दस्तु स्वार्थमात्रानुयायिनम् ॥४९॥

किसी वस्तु को देख कर लोगों को उसके समान ही किसी अन्य वस्तु की स्मृति स्वतः हो आती है । फिर लोग उस दृष्ट वस्तु में तत्सदृश वस्त्वन्तर का अरोप करने लगते हैं । अर्थात् आरोप एक वस्तु में अन्य वस्तु का होता है, किसी अर्थ में अर्थान्तर का होता है, न कि

शब्द का अर्थ में। क्योंकि शब्द तो अपने प्रतिपाद्य अर्थ का अनुगमन मात्र करता है। वह केवल अपने संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकता है, अन्य का नहीं !

इत्थमर्थान्तरे शब्दवृत्तेरनुपपत्तितः ।
फले लिङ्गैकगम्ये स्यात् कुतः शब्दः स्खलद्गति ॥५०॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से अर्थान्तर के बोध के विषय में शब्द-शक्ति असमर्थ है अर्थात् शब्द शक्ति के द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति नहीं कराई जा सकती। पर लिंग लिंगिभाव (हेतुसाध्यभाव) से वही शब्द अपने वाच्य अर्थ के माध्यम से उस प्रयोजन की प्रतीति करा सकता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए तत्वारोप का आश्रय लिया गया होता है। कहने का आशय यह है कि प्रयोजन रूप जिस फल को ध्यान में रख कर लक्षणा का आश्रयण किया जाता है उसकी प्रतीति कराने में शब्द की गति स्खलित नहीं होती। क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति तो शब्द के तत्वारोपात्मक उस विशेष प्रकार के प्रयोग के कारण ही होती है।

व्यापारोऽर्थे ध्वनेः साक्षान्मुख्या वृत्तिरुदाहृता ।
अर्थारोपानुगस्त्वेष गौणी तद्व्यवधानतः ॥५१॥

ध्वनि अर्थात् शब्द का अर्थ की अभिव्यक्ति में जो साक्षात् व्यापार है उसे ही मुख्यवृत्ति कहा गया है। एक अर्थ पर दूसरे के आरोप के बाद के व्यापार को गौणी वृत्ति के नाम से कहा जाता है। क्योंकि उसके और शब्द के बीच में अर्थ का व्यवधान बढ़ जाता है।

आशुभावादनालक्ष्यं किन्त्वर्थारोपमन्तरा ।
लोको गौश्चैत्र इत्यादौ शब्दारोपमवस्यति ॥५२॥

किन्तु एक अर्थ पर दूसरे अर्थ के आरोप की प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म है कि साधारणतया लक्षित नहीं होती। अतएव लोग 'गौश्चेत्रः' (चेत्र बैल है) इत्यादि स्थलों में अर्थ पर शब्द का ही आरोप समझने लगते हैं।

प्रधानतेरभावेनावस्थानादर्थशब्दयोः ।
समशीर्षिकयारोपो न तयोरुपपद्यते ॥५३॥

अर्थ में शब्द का आरोप हो भी नहीं सकता। क्योंकि अर्थ प्रधान और शब्द सर्वदा गौण होता है। आरोप तो सर्वदा समभाव में होता है मुख्य गौण भाव में कदापि नहीं।

आरोपविषये यत्र विशेषः सम्प्रतीयते ।
अर्थादारोपितात् तत्र गुणवृत्तिरुदाहृता ॥५४॥

गुणवृत्ति का स्थल वही माना गया है जहाँ आरोपित अर्थ से आरोप विषय अधिक गुणशाली हो या उसमें अधिक वैशिष्ट्य की प्रतीति होती हो।

गुणवृत्तौ गिरां यावत् सामग्रीष्टा निबन्धनम् ।
सैव लिङ्गतयास्माभिरिष्यतेऽर्थान्तरं प्रति ॥५५॥

गुणवृत्ति लक्षणा में जिसे शब्दवाणी या शब्द का व्यापार कहा जाता है, मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध एवं रुढ़ि प्रयोजनान्यतर रूप जिस सामग्री का होना अनिवार्य माना जाता है, हम उसी सामग्री को अर्थान्तर की प्रतीति के प्रति लिंग (साधक हेतु) मानते हैं।

न हि तत्समयाभावाद्वाच्यं शब्दस्य कल्प्यते ।
प्रतीयमानतायां च व्यक्तमस्यानुमेयता ॥५६॥

उस अर्थान्तर को शब्द का वाच्य इसलिये नहीं कह सकते कि वह संकेतित नहीं होता।

यदि उसे प्रतीयमान कहते हैं तो वह स्पष्टतया अनुमेय ही है। क्योंकि जिसे प्रतीयमान (व्यंग्य) की संज्ञा दी जाती है उसकी अनुमेयता सिद्ध हो चुकी है ।

तस्मात्स्वार्थातिरेकेण गतिर्नार्थान्तरे गिराम् ।
वाचकत्वाश्रयेणातो गुणवृत्तेरसम्भवः ॥५७॥

इसलिये शब्दों में अपने संकेतित अर्थ की अभिव्यक्ति कराने के अतिरिक्त और कोई शक्ति होती ही नहीं । अतः तथाकथित गुण-वृत्ति लक्षणा का आश्रय वाचक शब्द कथमपि नहीं हो सकता ।

भक्त्या विभर्ति चैकत्वं रूपाभेदादयं ध्वनिः ।
न च नाव्याप्त्यतिव्याप्त्योरभावाल्लक्ष्यते तया ॥५८॥

इस प्रकार ध्वनि और भक्ति एक ही ठहरते हैं क्योंकि इन दोनों के स्वरूप में भेद अर्थात् कोई अन्तर नहीं होता । इसलिये अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों के कारण ध्वनि के लक्षण होने का खण्डन जो ध्वनिकार ने किया है वह ठीक नहीं है ।

सुवर्णपुष्पामित्यादौ न चाव्याप्तिः प्रसज्यते ।
यतः पदार्थवाक्यार्थभेदाद् भक्तिर्द्विधोदिता ॥५९॥

अभिधापुच्छभूता होने से लक्षणा को पदनिष्ठ तथा ध्वनि को वाक्यनिष्ठ कह कर इन दोनों में जो भेद बताया गया है वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि भक्ति अर्थात् लक्षणा भी पदार्थ एवं वाक्यार्थ भेद से दो प्रकार की कही गई है और इस प्रकार 'सुवर्णपुष्प' इत्यादि पद्यों में जो लक्षणा है उसके वाक्यार्थनिष्ठ होने से भक्ति के ध्वनि का लक्षण होने में अव्याप्तिदोष नहीं हो सकता ।

यदि वाक्य में लक्षणा नहीं स्वीकार करेंगे तो लक्षणामूल ध्वनि की सिद्धि कैसे होगी ? अतः वाक्य में भी लक्षणा माननी ही चाहिए । एवं लक्षणा के वाक्यगत भेद को स्वीकर कर लेने पर ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव सुतराँ सिद्ध हो जाता है ।

अतस्मिंस्तत्समारोपो भक्तेर्लक्षणमिष्यते ।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थः प्रकारः सोऽपि शस्यते ॥६०॥

जो वस्तु जो नहीं है उसमें उसका आरोप ही भक्ति का लक्षण माना गया है जो वाक्य से अन्य अर्थ की प्रतीति कराने का एक प्रशस्त प्रकार है । उदाहरणतः 'गौर्वाहीकः' वाक्य में गो से वहीक अर्थ की प्रतीति कराना लक्षणा का ही कार्य है ।

रूढ़ा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रसक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वने ॥६१॥

इस प्रकार ध्वनिकार ने जो कहा है कि 'आराम' आदि शब्द जो अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से भिन्न अर्थ में रूढ़ हो गये हैं ध्वनि के आस्पद नहीं होते, वह ठीक नहीं है क्योंकि मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय के विद्यमान होने से ये स्थल भी लक्षणा के ही हैं और उक्त रीति से ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव होने के कारण ये ध्वनि के भी आस्पद हैं ।

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥६२॥

क्योंकि मुख्यवृत्ति अभिधा का परित्याग करके गुणवृत्ति लक्षणा के द्वारा अन्य अर्थ का

बोध जिस प्रयोजन के लये होता है उसकी प्रतीति कराने में मूलशब्द असमर्थ नहीं होता, अपितु प्रयोजन रूप उस उद्देश्य की प्रतीति साक्षात् शब्द से ही हो जाती है।

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिरसंगता ।
गमकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याद् विषयो न किम् ॥६३॥

गुणवृत्ति लक्षणा की संगति वाचकत्व अर्थात् शब्द के आश्रय से नहीं बनती, यह सिद्ध हो चुका है। तो फिर वह (लक्षणा) ध्वनि का विषय क्यों न मान लिया जाय जिसका एकमात्र आधार गमकत्व है। अर्थात् गम्यगमकभाव सम्बन्ध से ही लक्षणा और व्यंजना दोनों वृत्तियाँ व्यवस्थित हैं और इस प्रकार इनका विषय भी एक ही है।

व्यञ्जकत्वैकमूलत्वमसिद्धं च ध्वनेर्यतः ॥
गमकत्वाश्रयापीष्टा गुणवृत्तिस्तदाश्रया ॥६४॥

प्रदीप से घट के समान वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति युगपत् न होने के कारण 'ध्वनि का आश्रय व्यंजकत्व है', यह बात असिद्ध हो जाती है। इसके विपरीत गमकत्व ही लक्षणा के समान ध्वनि का एकमात्र आश्रय हो सकता है। इस प्रकार भी भक्ति और ध्वनि एक हैं।

समिदिध्मादयः शब्दाः प्रसिद्धा गुणवृत्तयः ।
ध्वनेः पदादिव्यङ्ग्यस्य येनोदाहरणीकृताः ॥६५॥

समित् (ईंधन) और 'इध्म' आदि शब्द गुणवृत्ति लक्षणा के आश्रय से प्रयुक्त होते हैं यह सर्वविदित है। किन्तु ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव नामक भेद के उदाहरण के रूप में इनका प्रयोग ध्वनिकार ने ही किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ध्वनि और गुणवृत्ति लक्षणा एक ही हैं।

तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमानविषयोऽन्यवत् ॥६६॥

इसलिये व्युत्पत्ति अर्थात् लोक, शास्त्र एवं काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता तथा कवित्व-बीज रूप शक्ति के द्वारा ऐसे शब्द का उपनिबंधन भी, जिस की गति स्खलित नहीं है, उसी प्रकार अनुमान का विषय है जैसे अन्य शास्त्रीय विषय।

मीमांसकों के तात्पर्य का अनुमान में अन्तर्भाव—

विषभक्षणादपि परामेतद् गृहे भोजनस्य दारुणताम् ।
वाच्यादतोऽनुमिमते प्रकरणवक्तृस्वरूपज्ञाः ॥६७॥

प्रकरण एवं वक्ता के स्वरूप को जानने वाले विषभक्षणात्मक वाक्य के वाच्यार्थ से ही अनुमान कर लेते हैं कि वक्ता का अभिप्राय है—इसके घर भोजन करना विषखाने से भी बुरा है।

विषभक्षणमनुमनुते नहि कश्चिदकाण्ड एव सुहृदि सुधीः ।
तेनात्रार्थान्तरगतिरार्थी तात्पर्यशक्तिजा न पुनः ॥६८॥

विषभक्षणात्मक वाक्य से अन्य अर्थ की अनुमिति इसलिये भी कर लेते हैं कि कोई भला मित्र बिना किसी उचित प्रसंग के विषभक्षण की सलाह नहीं दे सकता। इसलिये विषभक्षणात्मक इस वाक्य में एक अर्थ (वाच्य) से अर्थान्तर (व्यंग्य) की प्रतीति आर्थी ही है तात्पर्य शक्ति से प्रतिपादित शाब्दी नहीं। यहाँ भी अर्थ ही दूसरे अर्थ की प्रतीति का हेतु

होता है न कि मीमांसकों की तात्पर्य शक्ति जिसका कार्य शब्दार्थों के परस्पर अन्वय द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराना है ।

वक्रोक्ति एवं अनुमान --

प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्य सिद्धये ।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥६९॥

काव्य में चमत्कार के आधान के लिये (शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति के) प्रसिद्ध मार्ग (अभिधा) को छोड़ कर एक अन्य (वक्र) प्रकार से ही जो अर्थ का प्रतिपादन होता है वही वक्रोक्ति है ।

पदवाक्यादिगम्यत्वात् सचार्थो बहुधा मतः ।
तेन तद्वक्रतापीष्टा बहुधैवेति तद्विदः ॥७०॥

कहीं शब्द, कहीं वाक्य तो कहीं प्रकृति-प्रत्यय आदि अन्य तत्व से गम्य होने के कारण वह अर्थ अनेक प्रकार का माना गया है । उसी के आधार पर वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादक उस विद्वान् को व्यापार की वक्रता के भी अनेक प्रकार अभीष्ट हैं ।

सिद्धान्त--

अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने ।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः ॥७१॥

इस पर यही कहना है कि शब्द से अर्थ के प्रकाशन का व्यापार एक मात्र अभिधा ही मान्य है । इससे भिन्न लक्षणा, व्यंजना तात्पर्य एवं वक्रोक्ति आदि जितने भी व्यापारों की कल्पना की जाती है वह सब अर्थ के हैं ।

वाच्यादर्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्गमस्य सः ।
तन्नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम् ॥७२॥

यदि वाच्य से अन्य अर्थ सर्वथा भिन्न है तो वाच्य ही उसकी प्रतीति का निमित्त होता है । क्योंकि यह लक्षण लिंग (हेतु) का ही है जो लिंगी (साध्य) के साथ अबिनाभाव सम्बन्ध से व्यवस्थित होता है । ऐसे सभी स्थलों में अन्य अर्थ के साथ वाच्य का उपनिबन्धन अबिना-भाव सम्बन्ध से ही किया गया होता है । उस (वाच्य) के लिंग होने की यही पहचान है ।

अविनाभाव सम्बन्ध से वाच्य के व्यवस्थित होने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कहीं भी बाच्य से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है उन सब स्थलों में पहले वाच्य की प्रतीति अवश्यं-भाविनी है । ऐसा कोई भी स्थल नहीं जहाँ अर्थान्तर की प्रतीति वाच्य की प्रतीति के बिना ही हो जाती हो । यही वाच्य और अर्थान्तर के बीच नान्तरीयकता अर्थात् अविनाभाव सम्बन्ध है । अन्तरेण तेन बिना न संभवति इति नान्तरीयः, स एव नान्तरियकः, तस्य भावः नान्तरीयक-ता तया नान्तरीयकतया अर्थात् उसके बिना अकेले सम्पन्न न होने से ।

अभेदे बहुता नस्यादुक्तेर्मार्गान्तराग्रहात् ।
तेन ध्वनिवदेषापि वक्रोक्तिरनुमा न किम् ॥७३॥

यदि इन वाक्य एवं अन्य अर्थों में लिंग-लिंगि-भाव न मानकर इन्हें एक दूसरे से अभिन्न मानते हैं तो अर्थान्तर की वाच्य से भिन्नता या अर्थों की अनेकता नहीं बनेगी । क्योंकि शब्द से अभिव्यक्ति का अभिधा के अतिरिक्त और कोई मार्ग स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

अतः पूर्वोक्त प्रकार से ध्वनि के समान कवि का यह वक्र व्यापार रूपा वक्रोक्ति भी क्या अनुमान नहीं है ? अपितु अवश्य ही इसका भी अन्तर्भाव अनुमान में ही उसी प्रकार साधित हो जाता है जैसे ध्वनि का सिद्ध किया जा चुका है ।

स्वाभाविकं ध्वनेर्युक्तं व्यञ्जकत्वं न दीपवत् ।
धूमवत् किन्तु कृतकं सम्बन्धादेरपेक्षणात् ।।७४।।

दीपक से घट के प्रकाशन के समान ध्वनि में व्यंजकता स्वाभाविक नहीं है अपितु धूम से अग्नि के अनुमान के समान सम्बन्ध आदि की अपेक्षा करके ही व्यंग्य-व्यंजक भाव व्यवस्थित होता है ।

प्रादीनां द्योतकत्वं यत् कैश्चिदभ्युपगम्यते ।
तद्भाक्तमेव तत्रेष्टं न मुख्यं तदसम्भवात् ।।७५।।

कुछ लोगों ने प्रादि उपसर्गों को द्योतक माना है किन्तु उनका यह कथन सामान्यतया गौण है मुख्य नहीं । क्योंकि प्रादि में मुख्य-वृत्ति से द्योतकता सम्भव नहीं ।

तथा हि यस्य शब्दस्य भावाभावानुसारिणी ।
यदर्थबुद्धिस्तस्यासौ वाच्योऽर्थ इति कथ्यते ।।७६।।
गोशब्दस्येव गौरर्थः सान्यथात्वव्यवस्थिता ।।
वाच्यत्वव्यवहारश्च न स्यादर्थस्य कस्यचिद् ।।७७।।

अतः अन्वय एवं व्यतिरेक के अनुसार शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अर्थ शब्द का वाच्य ही कहा जाता है जैसे गो शब्द का अन्वय व्यतिरेक से प्रतीत होने वाला गाय रूप अर्थ गोपद का वाच्य ही होता है । अन्यथा नियत रूप से किसी अर्थ के बोधक होने पर भी यदि उस शब्द में व्यंजकत्व या द्योतकत्व मानेंगे तो वाच्यवाचकभाव से होने वाली प्रतीति अव्यवस्थित हो जायगी । और किसी भी अर्थ को वाच्य कहना कठिन हो जायेगा ।

प्रादिप्रयोगानुगमव्यतिरेकानुसारिणी ।।
प्रकर्षादौ मतिस्तेन तस्य तद्वाच्यता न किम् ।।७८।।

प्रआदि उपसर्गों के प्रयोग से क्रियाओं में प्रकर्ष आदि विशिष्ट अर्थ की प्रतीति अन्वय-व्यतिरेक के अनुसार ही होती है।अतः वह प्रकृष्ट अर्थ वाच्य नहीं तो और क्या है ? अर्थात् वह वाच्य ही है ।

विशेषाविगमस्याशुभावादनुपलक्षणात् ।।
क्रमस्य सहभावित्वं भ्रमो भक्तेर्निबन्धनम् ।।७९।।

भक्ति अर्थात् लक्षणा के स्थलों में भी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति इतनी शीघ्र होती है कि वाच्य से लक्ष्य की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता । अतएव उसमें सहभाव (एक साथ ही प्रतीत होने के भाव) का भ्रम उत्पन्न होने लगता है ।

विशेषणं तु द्विविधमान्तरं बाह्यमेव च ।।
तत्राव्यहितं सद्यदर्थकारि तदान्तरम् ।।८०।।

विशेषण दो प्रकार का होता है--आन्तरिक और बाह्य । आन्तरिक वह है जहाँ अर्थ की प्रतीति में कोई व्यवधान नहीं होता ।

स्फटिकस्येव लाक्षादि द्वितीयमुभयात्मकम् ॥
आयसस्येव तत्कान्तं तदपि द्विविधं मतम् ॥८१॥
असमानासमानाधिकरणत्वविभेदतः ॥

उक्त आन्तरिक वैशिष्ट्य स्फटिक मणि में लाक्षा आदि की प्रतीति के समान होता है। द्वितीय बाह्य विशेषण व्यवहित एवं अव्यवहित उभयरूप होता है--जैसे स्फटिक का लाक्षादि एवं लोहे का अयस्कान्त मणि विशेषण होता है। दोनों प्रकार के बाह्यविशेषण व्यधिकरण एवं समानाधिकरण भेद से पुनः दो दो प्रकार के होते हैं।

विशेष्योऽपि द्विधा ज्ञेयो धातुनामार्थभेदतः ॥८२॥
शब्दत्वार्थत्वभेदेन नामार्थोऽपि द्विधा मतः ॥
तत्रोपसर्गाणां प्रायो धात्वर्थो विषयो मतः ॥८३॥

विशेष भी धातु और नामार्थ भेदों से दो प्रकार का होता है--शब्दत्व और अर्थत्व भेद से नामार्थ के भी दो प्रकार होते हैं। इनमें धातु अर्थ वह है जो प्रायः उपसर्गों का विषय होता है।

चादीनां तु निपातानामुभयं परिकीर्तितम् ।
केवलं तु विशेष्यात् स्युः पूर्वं पश्चाच्च ते क्रमात् ॥८४॥
विशेषणानामन्येषां पौर्वापर्यमयन्त्रितम् ।

च आदि निपात संज्ञक अव्ययों के विषय धात्वर्थ एवं नामार्थ दोनों ही कहे गये हैं। इनमें भेद इतना ही है कि जहाँ धात्वर्थ बोधक चादि विशेष्य से पूर्व में प्रयुक्त होते हैं वहाँ नामार्थ बोधक विशेष्य के बाद। अन्य विशेषणों में पूर्वपश्चात् भाव का कोई क्रम नहीं होता। कभी पूर्व तो कभी विशेष्य के अनन्तर भी उनका प्रयोग होता है।

इत्थं स्थिते स्वरूपेऽस्मिन् विशेषणविशेष्ययोः ॥८५॥
यदन्तरङ्गमुद्दिष्टमुभयात्मा विशेषणम् ।
विशष्ये मग्नमिव तद्गवि गोत्वमिव स्थितम् ॥८६॥

विशेषण एवं विशेष्य के स्वरूप के इस प्रकार निश्चित हो जाने पर जो विशेषण अन्तरंग है वह विशेष्य से व्यवहित एवं अव्यवहित उभयात्मक नहीं होता अपितु गो में अव्यवहित रूप से मग्न गोत्व के समान अन्तर्हित सा रहता है।

अतएवाशुभावित्वात् तत्प्रतीत्योः क्रमाग्रहः ।
यन्मूलश्चायमनयोर्द्योत्यद्योतकताभ्रमः ॥८७॥

इसलिये शीघ्रता से होने के कारण उनकी प्रतीति में पूर्वापर भाव का क्रम लक्षित नहीं होता, पर होता अवश्य है। यही कारण है कि प्रादि एवं उनके विशेष्य मूल धात्वर्थ में द्योत्य-द्योतक-भाव का भ्रम हो जाता है।

प्रादीनां धातुगर्भत्वोपगमाच्च यदुक्तवान् ॥
अडादीनां व्यवस्थार्थमित्यादि विदुषां वरः ॥८८॥

प्र आदि के धातु के गर्भ में समा जाने से ही विद्वानों में श्रेष्ठ भर्तृहरि ने 'अडादीनां व्यवस्थार्थम्' इत्यादि कहा है।

'अडादीनां व्यवस्थार्थं' इत्यादि वाक्यपदीय की कारिका है। जिसका अभिप्राय यह है कि धातु ही एकमात्र अर्थ का अभिधायक होता है। प्रकृति प्रत्यय का विभाग तो

समझने के लिये बाद में किया हुआ अतएव कृत्रिम है।

अतएव व्यवहितैर्बुधा नेच्छन्ति चादिभिः ।
सम्बन्धं ते हि शक्तिं स्वामुपदध्युरनन्तरे ॥८९॥

अतएव विद्वान् लोग वाक्य में व्यवहित अर्थात् दूरस्थ 'च' आदि के द्वारा विशेष्य विशेषण में सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहते अपितु वे अपनी सम्बन्ध बोधिनी शक्ति को अव्यवहित पद के अर्थ में ही निहित रखते हैं।

सान्तरत्वे तु तां शक्तिमन्यत्रैवादधत्यमी ।
ततश्चार्थासामञ्जस्यादनौचित्यं प्रसज्यते ॥९०॥

ये चादि विशेष्य से व्यवहित होने पर अपनी अर्थ प्रत्यायिका शक्ति का आधान अन्यत्र ही करने लगते हैं उससे वाक्य के अर्थ में असामंजस्य पैदा होता है जिससे अनौचित्य (दोष) की प्रसक्ति होने लगती है ।

बहिरङ्गान्तरङ्गत्वभेदात् तद्द्विविधं मतम् ।
तत्र शब्दैकविषयं बहिरङ्गं प्रचक्षते ॥९१॥
द्वितीयमर्थविषयं तत् त्वाद्यैरेव प्रदर्शितम् ।
तत्स्वरूपमतोऽस्माभिरिह नातिप्रतन्यते ॥९२॥

वह अनौचित्य (दोष) बहिरंग और अन्तरंग भेद से दो प्रकार का होता है। बहिरंग दोष वह होता है जिसका विषय एकमात्र शब्द है। दूसरा अन्तरंग नामक जो भेद है उसका विषय अर्थ होता है। चूंकि पूर्ववर्ती आचार्यों ने अन्तरंग-दोष का निरूपण पहले ही बहुत कर दिया है इसलिये हम यहाँ पर उसका विवेचन विस्तारपूर्वक नहीं करेंगे ।

पारम्पर्येण साक्षाच्च तदेतत् प्रतिपद्यते ।
कवेरजारुकस्य रसभङ्गनिमित्तताम् ॥९३॥

दोषों के अन्तरंग और बहिरंग भेद का विनियामक हेतु उनके द्वारा रस के भंग की प्रक्रिया है। जिनसे रस का साक्षात् भंग होता है वे अन्तरंग तथा जिनसे परम्परया रस-भंग होता है वे बहिरंग दोष कहे गये हैं। ये दोनों ही कवि के प्रमाद के कारण सम्भव होते हैं। जागरूक कवि की कृति में रसभंग रूप दोष के लिये चाहे वह साक्षात् हो या परम्परिक कोई स्थान नहीं होता ।

यत् त्वेतच्छब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते ।
तस्य प्रक्रमभेदाद्या दोषाः पञ्चैव योनयः ॥९४॥

शब्दविषयक अनौचित्य के जो नाना प्रकार उपलब्ध होते हैं उन सबका मूल प्रक्रम-भेद आदि पाँच ही दोष हैं। वे पाँच नाम इस प्रकार हैं—

१—विधेयाविमर्श । २—प्रक्रमभेद । ३—क्रमभेद । ४—पौनरुक्त्य ।
५—वाच्यावचन ।

तेषां संक्षेपतोऽस्माभिः स्वरूपमभिधास्यते ।
यस्तु प्रपञ्चः पञ्चानां स्वयं तमवधारयेत् ॥९५॥

शब्द विषयक बहिरंग अनौचित्य के उक्त पाँच भेदों का निरूपण हम अग्रिम विमर्श में संक्षेप में ही करेंगे। इन पाँचों के जो अन्य भेद-प्रभेद होते हैं, विद्वानों को चाहिए कि

उस विवेचन के आधार पर स्वयं उनका निर्धारण कर लें।

ध्वनिलक्षणदूषण का उपसंहार करते हैं :—

यदि काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽप्यीष्टैव चारुता ।
प्रकर्षशालिनि तर्हि व्यर्थ एवादरो ध्वनौ ॥९६॥

यदि गुणीभूत व्यंग्य नामक भेद में भी काव्य का उत्कर्ष रूपी सौन्दर्य अभीष्ट है तो ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रति इतना आदर 'कि वही काव्य की आत्मा हो सकता है' व्यर्थ ही में प्रदर्शित किया। क्योंकि बिना आत्मा के जिस प्रकार व्यक्ति की सत्ता असम्भव है उसी प्रकार काव्यात्मा ध्वनि के बिना काव्य का कोई भी प्रकार सम्भव नहीं होगा।

नहि काव्यात्मभूतस्य ध्वनेस्तत्रास्ति सम्भवः
तेन निर्जीवतैवास्य स्यात् प्रकर्षकथैव का ॥९७॥

वहाँ (गुणीभूत व्यंग्य के स्थलों में) काव्य के आत्मभूत तत्व ध्वनि की सत्ता कथमपि सम्भव नहीं। अतः गुणीभूतव्यंग्य काव्य अपनी आत्मा ध्वनि के अभाव में सर्वथा निर्जीव ही ठहरता है। उसके उत्तम या मध्यम काव्य होने की तो बात ही क्या? कहने का आशय यह है कि काव्य का कोई भी भेद पहले काव्य होना चाहिए अनन्तर उसका उत्तम, मध्यम या अधम भेद। काव्यात्मा ध्वनि के अभाव में कोई भी रचना ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार काव्य ही नहीं कही जा सकती फिर उसके एक भेद होने की तो बात ही क्या?

अतोऽतदात्मभूतस्य येऽभावं जगदुर्ध्वनेः ।
ते मुधैव प्रतिक्षिप्ताः स्वोक्तिभावमपश्यता ॥९८॥

अतः जिन लोगों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा होने का विधान किया गया है उन्होंने ही अपनी उक्ति के भाव को न देखते हुए अपनी ही दूसरी उक्ति का खण्डन कर दिया है। अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य को काव्य का एक भेद कहने से ध्वनि की काव्यात्मता का स्वतः अपलाप हो जाता है।

अथेष्यते स तत्रापि रसादिव्यक्त्यपेक्षया ।
काव्यमेवान्यथा न स्याद्रसात्मकमिदं यतः ॥९९॥

सिद्धान्त पक्ष तो यह है कि यदि गुणीभूतव्यंग्य आदि स्थलों में भी काव्यत्व अभीष्ट है तो वह रसादि की अभिव्यक्ति को लेकर ही बन सकता है। क्योंकि काव्य सदा रसात्मक ही होता है।

इत्थं च गम्यमानार्थस्पर्शमात्रमलंकृतिः ।
वाच्यस्येत्येतदुक्तं स्यान्मता सैवानुमा ततः ॥१००॥

इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्धन के ध्वनि का अभिप्राय यदि यही है कि प्रतीयमान के संस्पर्श मात्र से वाच्य अलंकृत हो उठता है, तो वह अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

नाविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्युक्ता प्रकारता ।
न हि प्रकारस्तस्यैव स एवेत्युपपद्यते ॥१०१॥

अविवाक्षित वाच्य ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेद ठीक नहीं है क्योंकि कोई वस्तु स्वयं अपना ही प्रकार नहीं हो सकती।

भक्तिः पदार्थवाक्यार्थ रूपत्वात् द्विविधा मता ।
तद्बुद्धिश्चानुमानान्तर्भूता यदुपपादिता ॥१०२॥

पदार्थ एवं वाक्यार्थ रूप दो प्रकार की जो भक्ति कही गई है उसमें उक्त दोनों भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। भक्ति (गुणवृत्ति) के अनुमान में अन्तर्भाव का निरूपण हो चुका है।

तत्तिरस्कृतवाच्यस्य ध्वनेर्भक्तेश्च का भिदा ।
द्वितीयोऽपि प्रकारो यः सोऽपि संगच्छते कथम् ॥१०३॥
परस्परविरुद्धत्वाद् विवक्षातत्परत्वयोः ।

अतः अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि और भक्ति (लक्षणा) में क्या अन्तर है ? विवक्षितान्यापर वाच्य संज्ञक ध्वनि का जो दूसरा (अभिधामूल) भेद है वह भी विवक्षा और अन्यपरता के परस्परविरुद्ध होने से कैसे संभव हो सकता है ?

यः शब्दशक्तिमूलोऽन्यः प्रभेदो वर्णितो ध्वनेः ॥१०४॥
सोऽयुक्तोऽन्यत एवासौ तत्रेष्टार्थान्तरे मतिः ।
शब्दे शक्त्यन्तराभावस्यासकृत् प्रतिपादनात् ॥१०५॥

इति श्री राजानकमहिमभट्टविरचितायां व्यक्ति-विवेक संग्रह-कारिकायां
ध्वनिलक्षणाक्षेपो नाम
प्रथमोविमर्शः ।

शब्द-शक्ति-मूल विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो दूसरा भेद संलक्ष्य एवं अलक्ष्य क्रम नाम से वर्णित किया गया है वह भी युक्त नहीं क्योंकि विवक्षित अन्य अर्थ का बोध दूसरे प्रकार से ही होता है तथा शब्द में अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्ति के संभव न होने का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में अनेक बार किया जा चुका है ।

इति श्री व्रजमोहन चतुर्वेदी द्वारा कृत महिमभट्ट के
व्यक्ति-विवेक की संग्रह-कारिकाओं के
भाषानुवाद का प्रथम-विमर्श पूर्ण

अथ द्वितीयो विमर्शः

मुग्धः किं किमसभ्य एष भजते मात्सर्यमौनं नु किं
पृष्टो न प्रतिवक्ति यः किल जनस्तत्रेति सम्भावयेत् ।
छात्राभ्यर्थनया ततोऽद्य सहसैवोत्सृज्य मार्गं सतां
पौरोभाग्यमभाग्यभाजनजनासेव्यं मयाङ्गीकृतम् ॥१॥

जो व्यक्ति कुछ पूछे जाने पर उसका उत्तर नहीं देता, उसके बारे में संभावनायें की जाती हैं कि क्या यह मूढ़ तो नहीं है या असभ्य है अथवा दूसरे विद्वानों के प्रति ईर्ष्याभाव के कारण चुप है । इसलिये छात्रों के अनुनय से मैंने आज सहसा सज्जनों का मार्ग छोड़कर उस मार्ग को अपनाया है जिस पर अभागे लोग ही चलते हैं या जिस का सेवन कोई भला आदमी नहीं करता । इस प्रकार आज मैं रंगे हाथ पकड़ा गया । कहने का आशय यह है कि किसी में दोष देखना सज्जन पुरुषों का नहीं अपितु दुष्ट लोगों का काम है । ग्रन्थकार इस प्रकरण में काव्य दोषों का विवेचन करना चाहता है यद्यपि काव्य-दोष किसी व्यक्ति के नहीं होते तथापि दोष के विवेचन मात्र से ग्रन्थकार अपने को दोष का भागी समझता है ।

स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम् ।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत् ॥२॥

कोई कह सकता है कि जो व्यक्ति अपनी कृति में ही नियन्त्रित नहीं हैं अर्थात् जिसकी स्वयं की कृति दोषयुक्त है वह दोषगुण के विषय में दूसरे का अनुशासन कैसे कर सकता है ? किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि एक वैद्य स्वयं कुपथ्य का सेवन करते हुए भी दूसरों को उसका सेवन करने से मना करता है । इसलिये जो स्वयं उत्तम कवि नहीं है वह उत्तम आलोचक नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं ।

विधेयाविमर्श दोष—

क्रियाकर्त्रंशभागर्थो वाक्येऽपोह्यो नञा यदि ।
क्रियांश एवापोह्यः स्यान्नेष्टवानितिवत् तदा ॥३॥

वाक्य में नञा के प्रयोग के द्वारा जहाँ ऐसे अर्थ का निषेध किया जा रहा हो जिसका एक अंश क्रिया हो तथा दूसरा कर्त्ता, तो वहाँ क्रिया के अंश का ही निषेध होना चाहिए कर्ता के अंश का नहीं जसा कि 'नेष्टवान्' में होता है । यहाँ 'नेष्टवान्' इस प्रयोग में नञ् का सम्बन्ध 'ईष्टवान्' से है जिसमें यज् क्रिया और उसका कर्त्ता दोनों अन्तर्निहित हैं। किन्तु निषेध केवल क्रिया का होता है कर्त्ता का नहीं । अटः नेष्टवान् कहने से 'उसने यज्ञ नहीं किया' के द्वारा क्रिया का ही निषेध हुआ उस व्यक्ति का निराकरण नहीं ।

अकुम्भकार इतिवद् वृत्तौ तु स्याद् विपर्ययः ।
इत्येष नियमोऽर्थस्य शब्दशक्तिस्वभावतः ॥४॥

किन्तु समाज में उक्त नियम उलट जाता है अर्थात् नञ् के द्वारा क्रियांश का नहीं कर्त्ता के अंश का ही निराकारण होता है। इसका उदाहरण है अकुम्भकार :—यहाँ नञ् से घट के कर्तृत्व का ही निषेध होता है, कृ धातु का नहीं। अर्थ के सम्बन्ध में विधि और निषेध का यह नियम शब्दशक्ति के स्वभाव के कारण है।

नञर्थस्य विधेयत्वे निषेध्यस्य विपर्यये ।
समासो नेष्यतेऽर्थस्य विपर्यासप्रसंगतः ।।५।।

वाक्य में यदि नञ् का अर्थ प्रधान हो तथा उससे जिसका निषेध किया जा रहा हो उसका अर्थ अप्रधान हो तो वहाँ उस शब्द का नञ् के साथ समास करना ठीक नहीं होता। क्योंकि ऐसा करने से वाक्यार्थ में उलट फेर की सम्भावना होने लगती है।

यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिः ।
तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते ।।६।।

एक ही वाक्य में जिस अर्थ का कर्त्ता के रूप में कथन हो अथवा जो इदम् आदि सर्वनाम पदों से अभिहित किया गया हो उसके परामर्श के लिये तत्पद का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं होता क्योंकि तत्पद् से उसका परामर्श नहीं हो पाता।

यतोऽध्यक्षायमाणोऽर्थः स तेभ्यः प्रतिपद्यते ।
न चासौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात् ।।७।।

क्योंकि उनके द्वारा जिस अर्थ का निषेध होता है वह प्रत्यक्ष होता है अतः वह अर्थ तत् शब्द के परामर्श का विषय इसलिए नहीं बन सकता कि तत् शब्द से परोक्ष का ही परामर्श होता है, प्रत्यक्ष का नहीं, और इस प्रकार उस अर्थ का तत् पदार्थ के साथ कोई समन्वय नहीं बनता। इसलिये यही कहना ठीक है कि वह अर्थ तत् पद के परामर्श को सहन नहीं कर सकता।

अनुक्त्वैव परामृश्यं प्रयोगो यत्र यत्तदोः ।
निरन्तरः पुनस्तत्र तयोरुक्तिर्न दुष्यति ।।८।।

'यत्तदूर्जित' आदि स्थलों में जहाँ सर्वनाम से परामर्श किये जाने योग्य अर्थ को बिना कहे यत् और तत् का प्रयोग बिना किसी व्यवधान के कर दिया जाता है वहाँ उनका पुनः कथन सदोष नहीं होता।

तयोर्निरन्तरोपात्तेष्विदमेतददस्सु च ।
तयोस्तेषां च नापेक्षा तेष्वसत्स्विव शाम्यति ।।९।।

इसी प्रकार 'इद्म एतद्, और अदस् सर्वनामों का यत् और तद् के साथ बिना किसी व्यवधान के मिला कर प्रयोग किया गया हो तो भी यत् से तत् और तत् से यत् की आकाँक्षा उसी प्रकार शान्त नहीं होती जैसे उनके न रहने पर अर्थात् यत् तत् के प्रसंग में अन्य सर्वनामों के योग से आकाँक्षा की पूर्ति नहीं हो पाती।

उदाहरणजातं यत् तत्सांकर्यसमुद्भवम् ।
तस्य दिङमात्रमस्माभिरुक्तं विस्तरभीरुभिः ।।१०।।

यत् और तत् के इद्म आदि की मिलावट के अलग-अलग तथा दोनों को मिलाकर अर्थात् यत् शब्द के स्वतंत्र रूप से इदम् आदि शब्दों के साहचर्य से, तद् शब्द के स्वतंत्र रूप से इदम् आदि के साहचर्य से, तथा दोनों के सम्मिलित रूप से इदम् आदि के साहचर्य से जितने

उदाहरण सम्भव होते हैं मैंने उनका दिग्दर्शनमात्र कराया है। क्योंकि हम यहाँ इसका बहुत विस्तार नहीं करना चाहते ।

पदमेकमनेकं वा यद् विधेयार्थतां गतम् ।
न तत्समासमन्येन न चाप्यन्योन्यमर्हति ॥११॥

वाक्य में प्राधान्य की विवक्षा से जिस पद का अर्थ विधेय है चाहे वह एक हो या अनेक, अन्य विधेयार्थक पद के साथ उसका समास नहीं हो सकता। वाक्य में प्रयुक्त विधेयार्थक अनेक पदों में भी परस्पर समास नहीं हो सकता ।

लोहितस्तक्षक इति समासोऽत्रापि नेष्यते ।
लौहित्यस्य विधावुक्तन्यायात्तस्याप्रवृत्तितः ॥१२॥
स्वरूपमात्रस्योक्तौ तु लौहित्याव्यभिचारतः ।
उष्णोऽग्निरितिवत् पक्षो न चास्त्यन्यस्तदत्यये ॥१३॥

'लोहितस्तक्षकः (रक्त वर्ण का तक्षक सर्प) यहाँ भी समास इष्ट नहीं है। उक्त न्याय से तक्षक के साथ लोहित भी विधेय ही है क्योंकि जिस प्रकार तक्षक शब्द से सर्पत्व जाति की प्रतीति होती है उसी प्रकार लोहित से गुण-विशेष की। इस प्रकार दोनों पद विधेयार्थक ही हैं। इनमें परस्पर समास नहीं हो सकता। यदि तक्षक पद स्वरूप मात्र का बोध कराता है ऐसा मानें तो भी लोहितपद से गुण की अभिव्यक्ति होने से वहाँ उष्णोऽग्नि की तरह समास इष्ट नहीं। यहाँ पर उल्लिखित इन दोनों पक्षों के अतिरिक्त समास-विधायक कोई तीसरा पक्ष भी संभव नहीं। तदत्यये से अभिप्राय 'उक्त दोनों पक्षों के अस्वीकार करने पर' से है।

बिनोत्कर्षापकर्षभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित् ।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥१४॥

अर्थ का यदि उत्कर्ष और अपकर्ष न हो तो रचना में रस नहीं आता अर्थात् कोई भी रचना सहृदय के अस्वाद का विषय तभी होती है जब वहाँ अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है। इसीलिये अर्थात् अर्थ के उत्कर्ष और अपकर्ष के लिये ही कविगण अलंकारों की योजना करते हैं।

तौ विधेयानुवाद्यत्वविवक्षैकनिबन्धनौ ।
सा समासेऽस्तमायातीत्यसकृत् प्रतिपादितम् ॥१५॥

रचना में उत्कर्ष और अपकर्ष के आधान का एक मात्र निमित्त विधेय और अनुवाद्य के विशेष्य विशेषणों में प्रधान गौण भाव की विवक्षा है। पदों को विधेय या अनुवाद्य बनाने की यह विवक्षा समासयुक्त पदावली में लुप्त हो जाती है, बनी नहीं रहती। इस बात को मैंने बार बार कहा है।

अतएव च वैदर्भी रीतिरेकैव शस्यते ।
यतः समाससंस्पर्शस्तत्र नैवोपपद्यते ॥१६॥

इसीलिये काव्य में एकमात्र वैदर्भी रीति को ही प्रशस्त माना गया है क्योंकि उसमें समास का स्पर्श तक ठीक नहीं समझा जाता।

सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत् ।
नोत्कर्षमपकर्षं वा वाक्यात्तूभयमप्यदः ॥१७॥

समास से अर्थ-वस्तुओं के अन्वयरूप सम्बन्ध मात्र का बोध होता है। उनके उत्कर्ष और अपकर्ष का नहीं। वाक्य से तो सम्बन्ध रूप अन्वय एवं उत्कर्षापकर्ष दोनों का बोध होता है।

समास के विषय में एक दूसरे प्रकार के नियम का प्रतिपादन करते हैं :—

किन्तु प्रवृत्तिरेतस्य रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
शान्तश्रृङ्गारकरुणानन्तरेण प्रशस्यते ॥१८॥

रचना में समास का प्रयोग रसों की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही होता है। यदि समास करना ही है तो शान्त श्रृंगार एवं करुण रस सम्बन्धी रचनाओं को छोड़कर शेष में समास का प्रयोग किया जा सकता है।

रसाभिव्यक्ति के हेतुओं का कथन करते हैं :—

यतः समासो वृत्तं च वृत्तयः काकवस्तथा।
वाचिकाभिनयात्मत्वाद्रसाभिव्यक्तिहेतवः ॥१९॥

क्योंकि तत्पुरुषादि समास, वसन्ततिलकादि छन्द, कैशिकी आदि वृत्तियाँ, तथा ध्वनि-विकार रूप काकूत्तियाँ, ये वाचिकाभिनय के अंग होने के कारण अनुभाव के रूप में रसाभि-व्यक्ति के हेतु माने गये हैं। इस प्रकार समास भी कथानक और वृत्तियों के समान रसनिष्पत्ति का साधक तत्व है। किन्तु सर्वत्र नहीं अपितु शान्त श्रृंगार और करुण को छोड़ कर ही।

स चार्धान्तावधिः कार्यो नाधिको गद्यताप्तितः।
गद्ये हि वृत्तिवैकल्ये न्यूना तद्व्यक्तिहेतुता ॥२०॥

रचना में समास अधिक से अधिक श्लोक के आधे भाग तक होना चाहिए इससे अधिक नहीं। क्योंकि उससे अधिक होने पर रचना गद्य प्रतीत होने लगती है। गद्य में छन्द के अभाव के कारण रस की अभिव्यक्ति कराने की क्षमता पद्य की अपेक्षा कम होती है।

समास के विषय में एक अन्य नियम का निरूपण करते हैं :—

तस्याच्छिन्नः पदार्थानां सम्बन्धश्चेत् परस्परम्।
न विच्छेदोऽन्तरा कार्यो रसभङ्गकरो हि सः ॥२१॥

यदि पदों के समास करने से उनके पदार्थों का सम्बन्ध परस्पर नियत रूप से बना रहता है तो उनमें हठात् समास का विच्छेद नहीं करना चाहिए अर्थात् ऐसे पदों में समास अवश्य कर देना चाहिए। अन्यथा उससे रसभंग होता है।

अब क्रिया के विषय में व्यवस्था देते हैं :—

यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया।
तत्राख्यातेन वाच्याद्या शत्राद्यैरपरा पुनः ॥२२॥

जहाँ पर अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध एक ही कर्त्ता से हो तो उनमें से एक प्रधान और अन्य गौण होती हैं। वहाँ पर प्रधान क्रिया का उल्लेख अलंकारों में तथा अन्य क्रियाओं का शतृ आदि कृदन्त प्रत्ययों के द्वारा ही होना चाहिए।

कारणद्वयमेवेष्टं बहुलग्रहणं न तु।
अशक्यनियमो ह्यर्थो विषयस्तस्य नेतरः ॥२४॥

वाक्य में पदों के उद्देश्य विधेयभाव का कथन समासादि वृत्ति से सम्भव नहीं। अतः

पदों में समास न होने के दो ही कारण माने जाते हैं इनमें निहित परस्पर के प्रधान्य एवं अप्रधान्य का न कहा जाना तथा 'समर्थः पदविधिः' इस पाणीनीय सूत्र में समर्थपद का ग्रहण। 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस पणिनीय सूत्र में प्रयुक्त बहुल शब्द के ग्रहण को समासाभाव का कारण नहीं मानना चाहिए। क्योंकि बहुलग्रहण का अर्थ नियम की अशक्यता है, समास की विधि या निषेध नहीं।

प्रकरणकाक्वादिसखो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
इष्टार्थभङ्गभीतेः शब्दो न समासमर्हति सः ॥२५॥

जिस शब्द का अर्थ प्रकरण, ध्वनिविकार रूप काकु आदि की सहायता से अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है उसमें समास नहीं होता क्योंकि ऐसा करने से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति में बाधा होने का भय बना रहता है।

यत्रोत्कर्षोऽपकर्षो वा विशेष्यस्य विशेषणात्।
तदेव वा विधेयं स्यात् समासस्तत्र नेष्यते ॥२६॥

जहाँ पर वाक्य में विशेषण की अपेक्षा विशेष्य का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है वही विधेय होता है और वहाँ पर समास नहीं किया जाता।

अन्यत्र त्वर्थसम्बन्धमात्रे वक्तुमभीप्सिते।
कामचारस्तदर्थं हि समर्थग्रहणं मतम् ॥२७॥

अन्यत्र जहाँ पर शब्द का अर्थ के साथ केवल सम्बन्ध बताना ही अभीष्ट है उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं, वहाँ इच्छानुसार समास किया जा सकता है और नहीं भी। इसीलिए 'समर्थः पदविधिः' सूत्र में समर्थ पद का ग्रहण किया है।

न तु सापेक्षताद्यन्यदोषजातनिवृत्तये।
पित्रोः स्वतेव वन्द्यत्वे सा हि न्यायेन सिध्यति ॥२८॥

समर्थग्रहण, सापेक्षतादिरूप अन्य दोष समूहों की निवृत्ति के लिए नहीं हुआ है। माता-पिता स्वयं ही वन्द्य होते हैं किन्तु उसका विधान भी इस प्रकार से न्याय सिद्ध है। आशय यह है कि माता पिता की वन्दना करनी चाहिए इस वाक्य के कहने पर जिस प्रकार नित्य-साहचर्य के कारण अपने ही माता पिता का ग्रहण होता है। उसी प्रकार समर्थ होने पर ही शब्दों का परस्पर समास होता है, पुनः सूत्र में समर्थग्रहण क्यों किया। अतः नित्य साहचर्य होने पर भी माता पिता के उल्लेख के समान ही समर्थ सूत्र में समर्थ पद का ग्रहण भी न्यायोचित ही है।

काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निर्दाशितो मया ॥२९॥

वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने, अपने को काव्य रूपी सोने की कसौटी समझते हुए अपनी काव्य शास्त्रीय कृति वक्रोक्तिजीवित में 'संरम्भः करिकीट' आदि जिस श्लोक को काव्य का सर्वथा दोष रहित उदाहरण कहा है उसी श्लोक में दोष का निदर्शन मैंने उक्त रीति से किया है।

अर्थस्य तदतद्भावो विवक्षामात्रतो भवेत्।
यत्र प्रक्रमभेदोऽयं न तत्रोद्भाव्यते बुधैः ॥३०॥
यथा विशेषकालस्य शीलादिप्रत्ययेषु च।
कर्त्तुश्च फलवत्तायां तेन ते नोपदर्शिताः ॥३१॥

जहाँ पर अर्थवस्तु की सत्ता या उसका अभाव विवक्षाधीन हो वहाँ पर विद्वान् लोग प्रक्रमभेद दोष की उद्भावना नहीं करते। जैसे काल विशेष-भूत एवं भविष्यत् के अद्यतन, अनद्यतन, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष आदि भेद विवक्षाधीन होते हैं। तथा तच्छील एवं तत्साधुकारि आदि अर्थों में किये गये प्रत्ययों में एवं उन स्थलों में जहाँ क्रिया के फल का भागी कर्त्ता होता है, अर्थ की सत्ता या उसके अभाव के विवक्षाधीन होने के कारण प्रक्रमभेद दोष नहीं होता।

३—क्रम भेद दोष—

परामृश्यमनुक्त्वैव परामर्शोऽस्य यस्तदा।
स दोषो वक्ष्यमाणार्थसंविन्त्तावक्षमो हि सः ॥३२॥

जिसका परामर्श होना हो उसके पूर्वतः कथन के बिना ही तत् आदि सर्वनामों का जो प्रयोग कर दिया जाता है वह दोष ही है क्योंकि परामृश्य अर्थ के बाद में कहे जाने से तत् आदि सर्वनाम पद उसका बोध कराने में समर्थ नहीं होते।

उक्तिस्वरूपावच्छेदफलो यत्रेतिरिष्यते।
न तत्रतस्मात्प्राक् किंचिदुक्तेरन्यत् पदं वदेत् ॥३३॥
उपाधिभावात् स्वां शक्ति सः पूर्वत्रादधाति हि।
नच स्वरूपावच्छेदः पदस्यान्यस्य सम्मतः ॥३४॥

जहाँ पर इति पद का प्रयोग किसी उक्ति का अलग करके बोध कराने के लिए किया गया हो वहाँ इति शब्द के पूर्व उस वक्तव्य वस्तु के बोधक के अतिरक्त अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इति प्रभृति शब्दों के उपाधि होने से उनकी अपनी बोधकता-शक्ति पूर्व की उक्ति के बोध कराने में ही निहित रहती है। क्योंकि इनके द्वारा उससे अन्य पद के अर्थ का अलग करके बोध कराना संभव नहीं।

इतिनैवेतरेषामप्यव्ययानां गतिः समा।
ज्ञेयेत्थमेवमादीनां तज्जातीयार्थयोगिनाम् ॥३५॥
यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम्।
तदर्थमेवावच्छिन्द्युरसामञ्जस्यमन्यथा ॥३६॥

'इत्थम्' 'एवम्' आदि अन्य अव्यय भी चूंकि इति की ही जाति के हैं और उसी प्रकार के अर्थ से इनका सम्बन्ध होता है अतः वाक्य में इनकी स्थिति भी 'इति' के समान ही समझनी चाहिए। क्योंकि 'च' आदि अव्ययों के समान ही वे भी वाक्य में जिसके बाद प्रयुक्त होते हैं उसी के अर्थ का विशेष रूप से नियमन करते हैं। ऐसा नहीं होने से वाक्य में पदों का सामंजस्य नहीं बनता।

अथान्तर्यनियमस्तेषामथौं चितीवशात्।
अन्यतस्तर्हि तत् कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्थकाः ॥३७॥

वाक्य में 'च' आदि तथा 'इत्थम्' 'एवम्' आदि पदों के प्रयोग सम्बन्धी उक्त आनन्तर्य नियम को यदि अर्थ के औचित्य के आधार पर मानेंगे तो इस कार्य के दूसरे प्रकार से भी सिद्ध हो जाने के कारण इन अव्ययों का प्रयोग निरर्थक हो जायगा।

कैश्चिदेव हि केषांचिद् दूरस्थैरपि संगतिः।
न जातु सर्वैः सर्वेषामित्येतदभिधास्यते ॥३८॥

आगे चल कर हम इस बात को बताएँगे कि, वाक्य में (सभी शब्दों का सभी से सम्बन्ध नहीं होता अपितु) किन्हीं शब्दों का कुछ निश्चित शब्दों के साथ ही सम्बन्ध होता है चाहे उनका प्रयोग दूर दूर ही क्यों न हुआ हो ।

४—पौनरुक्त्य दोष—

वाच्यात्प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम् ।
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारषु नोपमा ॥३९॥

वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ उसके समझने वालों को अधिक अच्छा लगता है । अतएव अलंकारों में रूपक आदि जितने अच्छे समझे जाते हैं उतनी उपमा नहीं ।

एकैवालङ्कृतिर्यत्र शाब्दत्वार्थत्वभेदतः ।
द्विरुच्यते तां मन्यन्ते पुनरुक्तिमतिस्फुटाम् ॥४०॥

किसी रचना में एक ही अलंकार इव, यथा आदि पदों के द्वारा शाब्दरूप में तथा सदृश आदि पदों के प्रयोग से अर्थ रूप में अलग-अलग दो बार आता है । तो उस पुनरुक्ति को अति-स्फुट अर्थात् स्थूल दृष्टि से भी प्रतीत होने वाली मानते हैं ।

यस्य तद्रूपताव्यक्तिः सामर्थ्यादेव जायते ।
तस्योपमा रूपकं वा तदर्थं पौनरुक्त्यकृत् ॥४१॥

एक के ऊपर किसी अन्य पदार्थ के आरोप की प्रतीति यदि शब्द के सामर्थ्य से ही हो जाती हो तो उसके लिए उपमा या रूपक का आश्रयण पौनरुक्त्य-दोष की सृष्टि है ।

यदर्थैकाश्रयो धर्मो यत्र स्यादधिरोपितः ।
उपमानोपमेयत्वं न तयोः शाब्दमिष्यते ॥४२॥

जहाँ पर किसी एक ही पदार्थ पर आश्रित धर्म का कहीं पर आरोप हो तो उन दोनों में उपमानोपमेयभाव का शब्दतः कथन ठीक नहीं होता । कहने का आशय यह है कि उपमेय अम्बुनिधि आदि में नायक आदिरूप उपमान के धर्म हृदय आदि का आरोप लक्षणा के द्वारा होता है वहाँ नायक उपमान एवं अम्बुनिधि उपमेय में निहित उपमानोमेपभाव का कथन शब्दतः इष्ट नहीं है अपितु उसे गम्यमान ही होना चाहिए ।

समासे चासमासे चानुप्रासेष्वखिलेष्वपि ।
पदादिवर्णानुप्रासः कवीनामधिकं प्रियः ॥४३॥

क्योंकि समास तथा जहाँ समास नहीं होता अनुप्रास के ऐसे सभी प्रकारों में, शब्दों के प्रथम अक्षरों में अनुप्रास दिखाना कवियों को बहुत अधिक प्रिय होता है ।

धर्मस्तुल्यविभक्तीनामेकस्याप्युदितोऽखिलान् ।
तानन्वेतीति पर्यायैस्तदुक्तिः पौनरुक्त्यकृत् ॥४४॥

समान विभक्ति वाले शब्दों में से एक का भी धर्म प्रयुक्त होकर उन सभी में अन्वित हो जाता है । अतः पर्यायवाची पदों के द्वारा उस धर्म का पुनः पुनः कथन पुनरुक्ति दोष की ही सृष्टि करता है । यहाँ पर तुल्य विभक्ति नाम से उपमानोपमेय वाचक पदों का ग्रहण किया गया है तथा उसमें षष्ठी निर्धारण अर्थ में है ।

यद्वा किं बहुनोक्तेन क्रियाकारकयोरपि ।
यदौचित्यावगतिस्तत्रान्येषां कथैव का ॥४५॥

(कवियों को निर्देश देते हुए कहा है कि प्रस्तुत रस की अभिव्यक्ति में बाधक पद के प्रयोग के किसी भी प्रकार को महत्व नहीं देना चाहिए) अथवा अधिक कहने से क्या लाभ? औचित्य से जब क्रिया और कारक पदार्थों तक की प्रतीति हो सकती है तो अन्यों की बात ही क्या ?

सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथार्थो पुनरुक्तता ।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शाब्दपोष्यते ॥४६॥

अन्य पदार्थ के सामर्थ्य से यदि किसी अर्थ की प्रतीति स्वतः हो जाती हो तो उसके लिए अलग से शब्द का प्रयोग करना पुनरुक्ति दोष है। यही नहीं एक ही शब्द का तात्पर्य-भेद से पुनः कथन भी पुनरुक्ति-दोष ही माना जाता है।

पौनरुक्त्यमिति द्वेधा गौणमुख्यतया स्थितम् ।
तत्र दूषणमेवाद्यमपरं भूषणं स्मृतम् ॥४७॥

उक्त रीति से पुनरुक्ति के दो प्रकार होते हैं–आर्थी तथा शाब्दी। इनमें से प्रथम अर्थगत पौनरुक्त्य गौण तथा शब्द गत मुख्य होता है। इन दोनों में प्रथम आर्थी पुनरुक्ति को ही दोष माना गया है, द्वितीय शाब्दी पुनरुक्ति की गणना अलंकारों में की जाती है।

शब्दालंकारनिपुणैर्लाटानुप्राससंज्ञया ।
तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्यते ॥४८॥

शब्दालंकारों की रचना में पटु कवियों ने उस शाब्दी पुनरुक्ति को लाटानुप्रास नामक अलंकार की संज्ञा दी है जिसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है। यहाँ पर तो केवल पुनरुक्ति दोष का निरूपण किया जा रहा है।

प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाक्यार्थ एवच ।
विषयो बहुधा ज्ञेयः स क्रमेणोपदर्श्यते ॥४९॥

अर्थगत पौनरुक्त्य के भेद, उसके विषय प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ, पदार्थ, एवं वाक्यार्थ आदि के अनुसार अनेक होते हैं जिनका निरूपण यहाँ इसी क्रम से किया जाता है।

अभिन्न एव यत्रार्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।
तत्पौनरुक्त्योपहतं पदमादौ विवर्जयेत् ॥५०॥

जहाँ पर प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ अभिन्न अर्थात् एक हो वह शब्द पुनरुक्ति दोष से दूषित होता है। अतः रचना में से सबसे पहले इस प्रकार के पदों को निकाल देना चाहिए।

विहितस्य बहुव्रीहेः कर्मधारयशङ्कया ।
शब्दस्य मत्वर्थीयादेर्व्यक्तैव पुनरुक्तता ॥५१॥

ऐसे स्थलों में जहाँ वस्तुतः बहुव्रीहि समास हुआ हो किन्तु कर्मधारय की भी सम्भावना हो तो कर्मधारय की आशंका से उस समस्त पद में मत्वर्थीय प्रत्यय के प्रयोग से जो पुनरुक्ति होती है वह अत्यन्त स्पष्ट ही है। (क्योंकि वहाँ समास एवं प्रकृति दो वृत्तियों का गौरव होता है)

यस्मिन् यत्तद्धितोत्पत्तिरर्थस्तेनैव जातुचित्
न तदन्तः समस्येत तद्धितव्यर्थताभयात् ॥५२॥

जिस पद में एक अर्थ किसी तद्धित से निकल रहा हो तो उस पद का किसी तद्धितार्थ

वाचक प्रत्ययान्त के साथ समास कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से तद्धित प्रत्यय के व्यर्थ होने का भय रहता है।

विशेषणवशादिच्छेद्विशिष्टं यत्र संज्ञिनम् ।
युक्ता तत्र विशेषोक्तिरन्यथा पौनरुक्त्यकृत् ॥५३॥

जहाँ पर विशेषण का प्रयोग विशेष्य की किसी खास विशेषता को बताने के लिए होता है वहीं विशेष्य का शब्दतः उपादान ठीक होता है अन्यत्र नहीं। अन्यथा वह पुनरुक्ति दोष माना जाता है।

सकृदेव प्रयुक्तेन यत्र साम्याभिधायिनः ।
अन्येषामुपामानत्वं सामर्थ्यादवगम्यते ॥५४॥
तत्रासकृत् प्रयोगोऽस्य पौनरुक्त्याय कल्पते ।

वाक्य में जहाँ पर सादृश्यावाचक इव आदि शब्द के एक बार प्रयोग के सामर्थ्य से ही अन्य पदों की उपमानता का आक्षेप हो जाता है वहाँ प्रति उपमान के साथ बार बार इनका प्रयोग पौनरुक्त्य दोष की सृष्टि करता है।

यद्वदव्यभिचारस्य कारकस्याविशेषणा ॥५५॥
अर्थस्यानुमितस्योक्तिर्नात्येति पुनरुक्तताम् ।
यद्वशाद्यदभिव्यक्तिस्तदुक्तौ नाददीत तत् ॥५६॥

जिस प्रकार नित्य सम्बद्ध कारक का बिना विशेषण के कथन (विशेष रहित कथन) पुनरुक्ति दोष का आस्पद नहीं होता उसी प्रकार अनुमित अर्थ का शब्दतः कथन भी पुनरुक्ति दोष से रहित नही होता। यदि अर्थ की अभिव्यक्ति किसी दूसरे अर्थ के सामर्थ्य से सम्भव हो तो उस समर्थ अर्थ की उक्ति होने पर दूसरे का शब्दतः उपादान नहीं करना चाहिए।

यो यद्धर्मोपचारेण यत्सम्बन्धान्वितोऽपि वा
तस्य तद्रूपणार्थोष्टा न शाब्दी पौनरुक्त्यतः ॥५७॥

यदि कोई पदार्थ अपने धर्म के द्वारा या अन्य किसी सम्बन्ध से अन्यार्थ में आरोपित होता है तो उसके द्वारा अन्यार्थ का यह आरोपण अर्थगत पौनरुक्त्य का ही प्रकार है शब्दगत का नहीं।

प्रयुक्तान्तर्गतैरेव यत्र सोऽर्थः प्रतीयते ।
प्रयोगस्तत्र शेषाणां पदानां पौनरुक्त्यकृत् ॥५८॥

किसी वाक्य में अभिलषित या विशिष्ट अर्थ की प्रतीति उसमें प्रयुक्त शब्दोंके द्वारा ही हो जाती है तो उस अर्थ की प्रतीति के लिए अन्य शब्दों का प्रयोग पुनरुक्ति ही है।

कर्तर्यङ्गिनि रूढायां तत् क्रियायां च नेष्यते ।
वाक्यसाधकतमाङ्गानामौचित्यादेव तद्गतेः ॥५९॥

वाक्य के प्रधान कर्ता तथा उसकी क्रिया में साधकतम अंगों की उक्ति इष्ट नहीं होती क्योंकि उनकी प्रतीति का बोध औचित्य से ही हो जाता है।

दोषद्वयमिदं प्रायः समासविषयं मतम् ।
यतोऽवकरभूयिष्ठा लक्षणैकपरायणैः ॥६०॥
कृता प्रतीतिविमुखैर्दृश्यन्तेऽनेकधा हि ते ।
समासमत एवाहुः कवीनां निकषं परम् ॥६१॥

उक्त प्रकार के ये दोनों दोष प्रायः समास में ही होते हैं। क्योंकि एकमात्र लक्षणशास्त्रों की लीक पर चलने वाले कवि ही इनका प्रयोग अधिक करते पाये जाते हैं जिन्हें कविता के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। इसीलिए समास को कवियों की सबसे बड़ी कसौटी कहा गया है।

वृत्तावितरथा चोक्ते नान्यभाजि विशेषणे ।
विशेष्योक्तिरयुक्तैव स्यात् तदव्यभिचारतः ॥६२॥

समास या वाक्य में यदि ऐसे विशेषण का प्रयोग हो जो उस विशेष्य के अतिरिक्त और कहीं प्रयुक्त न होता हो तो वहाँ विशेष्य का कथन ठीक नहीं समझा जाता। क्योंकि विशेषण से ही उसकी नियमित रूप से प्रतीति हो जाती है।

यो यदात्मा तदुक्त्यैव तस्यार्थस्य गतिर्यतः ।
तेन प्रयोजनाभावे द्वयोक्तिः पुनरुक्तिकृत् ॥६३॥

एक वस्तु जिसका स्वरूप दूसरी के समान ही होता है, उसके अर्थ की प्रतीति दूसरी के कथन से ही हो जाता है। इसलिए यदि कोई विशेष प्रयोजन न हो तो दोनों का एक साथ कथन पुनरुक्ति दोष का विधायक होता है। अथवा चूंकि उसके कथन का कोई विशेष प्रयोजन नहीं अतः दोनों की एक साथ उक्ति दोष ही है।

यो यस्य नियतो धर्मस्तस्य तेन न धर्मिणा ।
समासः शस्यतेऽन्यार्थस्तत एव हि तद्गतेः ॥६४॥

धर्मीवाचक शब्द का उसके ही किसी नियत धर्म के वाचक पद के साथ समास ठीक नहीं समझा जाता। क्योंकि धर्म साधर्म्य आदि के लिए होता है और इस लिए धर्मी से ही धर्म का बोध हो जाता है। प्रधान के बोध होने पर उसके अनुयायी अप्रधान का ज्ञान तो अर्थात् हो जाता है।

क्रियाप्रतीतिः करणप्रत्ययाव्यभिचारिणी ।
तदप्रतीतौ तादात्म्यात् सैवानवसिता भवेत् ॥६५॥
यदेतत् त्यागपाकादौ क्रियेत्युक्तेर्निबन्धनम् ।
तद्व्यक्तिर्यद्वशाद्यस्य तदुक्तौ नाददीत तत् ॥६६॥

वाक्य में क्रिया की प्रतीति करण की प्रतीति से नियत रूप से सम्बन्धित होती है। इसलिए यदि करण की प्रतीति न हो तो उसके साथ क्रिया का अभेद सम्बन्ध होने से क्रिया पूर्ण नहीं हो सकती। चूंकि त्याग पाक आदि स्थलों में क्रिया की प्रवृत्ति का निमित्ति करण ही होता है इसलिए जिससे जिसकी अभिव्यक्ति अपने आप हो जाती है उसका कथन होने पर दूसरे का उपादान नहीं किया जाता। अर्थात् क्रिया और करण में से करण का कथन होने पर क्रिया का शब्दतः उपादान ठीक नहीं होता।

प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्नर्थगतिः समा ।
न तत् पदमुपादेयं कविनाऽवकरो हि सः ॥६७॥

जिस शब्द के प्रयोग होने या न होने पर वाक्यार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता कवि को अपनी रचना में ऐसे पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा पद दोष युक्त माना जाता है।

अन्योन्यादीपकत्वे सत्यन्वयव्यतिरेकयोः ।
उभयोरुक्तिरेकस्य नात्येति पुनरुक्तताम् ॥६८॥

अन्वय व्यतिरेक के नियम के अनुसार जिन दो पदार्थों का परस्पर आक्षेप हो जाता है उनमें से एक का कथन पुनरुक्ति का अतिक्रमण नहीं करता ।

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिङ्मात्रमीरितम् ।
विवेक्तुं कोहि कार्त्स्न्येन शक्नोत्यवकरोत्करम् ॥६९॥

पुनरुक्ति के प्रकारों का यहाँ दिग्दर्शनमात्र किया गया है क्योंकि यह दोषों का समूह है उसका विस्तार पूर्वक विवेचन कौन कर सकता है ।

५––वाच्यवचन दोष––

सर्वनामपरामर्शविषये योऽर्थवस्तुनि ।
स्वशब्दवाच्यतादोष सः वाच्यावचनाभिधः ॥७०॥

किसी अर्थ का सर्वनाम के द्वारा परामर्श सम्भव होने पर स्वशब्दतः कथन करने से जो दोष होता है उसको वाच्यावचन कहते हैं ।

अर्थभेदाद् विभिन्नोऽपि शब्दे सादृश्यमात्रजः ।
आवृत्तिव्यवहारोऽयं मूलमस्यैकताभ्रमः ॥७१॥

जहाँ पर अर्थ के भिन्न होने पर भी ध्वनिसाम्य के कारण एक ही शब्द की आवृत्ति मान ली जाती है उसके मूल में अर्थ की एकता का भ्रम बना रहता है ।

तत्पर्यायेण तेनैव सर्वनाम्ना विनिर्दिशेत् ।
अर्थहेतुत्वनिष्पत्तौ धर्मिधर्मोभयात्मकम् ॥७२॥

यदि धर्मी और धर्म दोनों प्रकार के अर्थों का बोध कराना हो तो उपर्युक्त स्थलों में जहाँ शब्द की आवृत्ति की जाती है उसके पर्यायवाची शब्द या उसी शब्द या सर्वनाम से उसका निर्देश करना चाहिए ।

यदलंकारव्यक्त्यै ये शब्दास्तदितरोऽपि तैरेव ।
व्यज्येताल्पतरैर्यदि तदसौ गुह्येत लाघवान्नान्यः ॥७३॥

किसी अलंकार की व्यंजना करने में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ होता है उनसे या उनमें से थोड़े से ही शब्दों से यदि किसी अन्य अलंकार की अभिव्यक्ति होती हो तो वहाँ प्रथम अलंकार को ही ग्रहण करना चाहिए द्वितीय को नहीं । अर्थात् उसे ही मुख्य मानना चाहिए क्योंकि दूसरा अलंकार थोड़े से शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति होने से पूर्णतया व्यक्त नहीं होगा ।

न ह्यस्ति निजे कर्मण्यलंकृतीनां स कश्चनातिशयः ।
येन विधीयेतकापरा निषिध्येत वा कविभिः ॥७४॥

अलंकारों के द्वारा काव्य की श्रीवृद्धि रूपी क्रिया में अपने आप कोई ऐसा वैशिष्टय नहीं होता जिससे एक अलंकार का विधान किया जाय और दूसरे का निषेध । कवि लोग उनका ग्रहण और परित्याग लाघव और गौरव के कारण ही किया करते हैं ।

न चालंकारनिष्पत्यै रसबन्धोद्यतः कविः ।
यतते तेहि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धयः ॥७५॥

काव्य में रस के उपनिबन्धन के लिए उद्यत कवि अलंकार की रचना के लिए प्रयास नहीं करता क्योंकि रस के उपनिबन्धन के साथ अलंकारों की रचना का अबिनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् उसके साथ अलंकार सहजभाव से संग्रथित हो जाते हैं। क्योंकि :—

रसस्याङ्गं विभावाद्याः साक्षान्निष्पादकत्वतः।
तद्वैचित्र्योक्तिवपुषोऽलंकारास्तु तदाश्रयाः ॥७६॥

विभावादि चूंकि रस की साक्षात् निष्पत्ति कराते हैं अतः उसके अंग माने गये हैं। अलंकारों का स्वरूप उन विभावादि की भंगी भणिति है अतः विभावादि के द्वारा अलंकार रस के आश्रय अर्थात् उसकी अनुमिति के हेतु हैं।

तेनैषामप्रधानत्वादाधानोद्धरणादयः।
चारुतापेक्षयार्थस्य कल्प्यन्ते कविना स्वयम् ॥७७॥

रसाश्रय होने से काव्य में अलंकारों का स्थान गौण है। अतः रचना में इनका ग्रहण या परित्याग अर्थ की चारुता के अनुरूप कवि के द्वारा स्वयं कर लिया जाता है।

अतएव बहुष्वन्येष्वलंकारेषु सत्स्वपि।
कांश्चिदेव निबध्नाति शक्तिमानपि सत्कविः ॥७८॥

चूंकि काव्य में अलंकारों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण नहीं है अतः नाना प्रकार के अलंकारों की रचना में समर्थ होने पर भी उत्तम कवि उनमें से कुछ की ही योजना अपने काव्य में करता है।

यतः सर्वेष्वलंकारेषूपमा जीवितायते।
सा च प्रतीयमानैव तद्विदां स्वदतेतराम् ॥७९॥

यद्यपि उपमा सभी अलंकारों में प्राणभूत अलंकार है तथापि वह भी जब वाच्य न होकर प्रतीयमान होती है तो सहृदयों को अधिक अच्छी लगती है।

रूपकादिरलंकारवर्गो यमक एवहि।
तत्प्रपञ्चतया प्रोक्तः कैश्चित्तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥८०॥

रूपक आदि अलंकारों का समूह वास्तव में यमक ही है अतः वामन प्रभृति कुछ आलंकारिक जो इनके वास्तविक स्वरूप को पहचानते हैं इनका निरूपण उसके भेद-प्रभेद के रूप में ही करते हैं।

यत्रान्यूनातिरिक्तेन सादृश्यं वस्तुनोर्द्वयोः।
शब्दमात्रेण कथ्येत स शब्दश्लेष इष्यते ॥८१॥

जहाँ पर दो ऐसी वस्तुओं में जो एक दूसरी से न कम हों न अधिक, सादृश्य का कथन शब्दमात्र से किया जाता है उसे शब्दश्लेष कहते हैं।

स शब्दैः कर्तृकर्मादिप्रधानार्थाबिनाकृतैः।
निबद्धो धर्मिधर्मार्थैर्द्विविधः परिकीर्तितः ॥८२॥

शब्दश्लेष की रचना कर्त्ता, कर्म, एवं क्रिया रूप प्रधान अर्थ को आत्मसात करने वाले शब्दों के द्वारा की जाती है। धर्मी और धर्म के वाचक शब्दों से उपनिबद्ध यह श्लेष दो प्रकार का कहा गया है।

इत्थं समासतो ज्ञेयं शब्दश्लेषस्य लक्षणम्।
अपरस्तु प्रसिद्धत्वादिहास्माभिर्न लक्षितः ॥८३॥

संक्षेप में शब्दश्लेष का यही लक्षण समझना चाहिए। दूसरा जो अर्थश्लेष है वह अत्यन्त प्रसिद्ध है इसलिये मैंने यहाँ पर उसका लक्षण नहीं किया।

उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किञ्चिन्निबन्धनम्।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषबन्धोद्यमः कवेः ॥८४॥

शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के श्लेषों की अभिव्यक्ति के लिये किसी न किसी निमित्त का आश्रयण करना चाहिए अन्यथा कवि का श्लेषालंकार की योजना का श्रम निरर्थक हो जायगा।

एकोऽनेकार्थकृद् यत्र स्वभावेनैव दीपवत्।
समयस्मृत्यनाकाङ्क्षस्तन्त्रस्य विषयो हि सः ॥८५॥

जिस प्रकार एक ही दीपक एक साथ अनेक वस्तुओं का प्रकाशन करता है उसी प्रकार एक ही शब्द जहाँ संकेत-ग्रह आदि की अपेक्षा न करते हुए स्वभाव से ही अनेक अर्थों का बोध कराता हुआ पाया जाता है वह स्थल तंत्र अर्थात् रहस्य का विषय है। अर्थात् एक शब्द से अनेक अर्थ के बोध की बात सिद्धान्ततः ठीक नहीं। अतः इन स्थलों की गवेषणा कर अनेकार्थ के बोध का वास्तविक कारण जानना चाहिए।

शब्दे त्वसिद्धमेकत्वं प्रत्यक्षं तस्य भेदतः।
सादृश्यविप्रलब्धस्तु लोकस्तत्त्वमवस्यति ॥८६॥

ऐसे स्थलों में शब्द एक ही है यह बात सिद्ध नहीं होती अपितु प्रत्येक अर्थ का बोधक शब्द भिन्न होता है। लोग वर्णसाम्य के कारण ही अनेक अर्थों में प्रयुक्त उन शब्दों को एक ही समझने लगते हैं।

नैतावतावगन्तव्या तस्यानेकार्थवृत्तिता।
नात एव प्रसङ्गस्य पदं शब्दोऽवकल्पते ॥८७॥

केवल इतने से अर्थात् वर्णसाम्य से ही यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शब्द में अनेक अर्थ बोध कराने की वृत्ति है। अतएव अनेकार्थ बोधक स्थलों में शब्द संकेतग्रह के बिना ही अनेकार्थ का बोध कराता है इस प्रकार के दोष का भागी नहीं होता।

न चानिबन्धना युक्ता शब्दस्यार्थान्तरे मतिः।
तच्चानेकविधं प्रोक्तमव्ययानव्ययात्मकम् ॥८८॥

संकेतग्रह आदि बिना किसी सम्बन्ध के अथवा बिना किसी अन्य निमित्त के शब्द अन्य अर्थ का बोध नहीं करा सकता। अन्यार्थ की प्रतीति के प्रयोजक पद दो प्रकार के होते हैं--कहीं इवादि अव्यय तो कहीं सदृशादि अनव्यय रूप।

तस्मादर्थान्तरव्यक्तिहेतौ कस्मिंश्चनासति।
यः श्लेषबन्धनिर्बन्धः क्लेशायैव कवेरसौ ॥८९॥

इसलिये अर्थान्तर की अभिव्यक्ति के किसी हेतु के विद्यमान न रहने पर कवि का श्लेष की योजना का आग्रह कष्ट कर ही होता है।

सा चेयमखिलस्यैव पदस्यावृत्तिरिष्यते।
निबन्धनबलोद्भूता न तदंशस्य जातुचित् ॥९०॥

रचना में आवृत्ति पूरे पद की ही अभीष्ट होती है पदांश की कदापि नहीं। तथा वह आवृत्ति किसी न किसी प्रयोजन-विशेष से ही की जाती है।

उपयुक्तार्थता ह्यस्य पदस्येव न विद्यते ।
अधुना तूपयोगेऽस्य पूर्वस्यार्थस्तिरोभवेत् ॥९१॥

पदांश की आवृत्ति इसलिये ठीक नहीं समझी जाती कि उसकी उपयोगिता पद की आवृत्ति के समान नहीं होती अथवा जिस प्रकार शब्द की आवृत्ति से अर्थ की संगति नहीं बैठायी जाती उसी प्रकार पदांश की आवृत्ति से अर्थ की संगति नहीं बैठायी जाती। क्योंकि वर्तमान में आवृत्त पदार्थ के अर्थ का उपयोग करने पर उसका पहला अर्थ लुप्त हो जाता है।

अर्थप्रयोगो युगपल्लाघवेनोभयोरपि ।
स्यादयं कामचारो यद्येकेनोक्तिर्द्वयोर्भवेत् ॥९२॥

दो अर्थों की एक साथ अभिव्यक्ति के लाघव के लिये इस प्रकार अर्थश्लेष के प्रयोग की छूट तब दे दी जाती जब एक शब्द से दोनों अर्थों का कथन सिद्धान्त सम्मत होता या सम्भव होता।

धर्मिसाम्यविवक्षायां धर्ममात्राभिधायिनाम् ।
नेष्टः प्रयोगः शब्दानां समासोपमितौ बुधैः ॥९३॥

धर्मी अर्थात् विशेष्यों के परस्पर के सादृश्य को बताने की इच्छा से उनके किसी धर्म के ही वाचक शब्दों का प्रयोग समास के लिये या उपमा के लिये भी विद्वानों को इष्ट नहीं होता।

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित्प्रतितिष्ठति ॥९४॥

वाक्य में उद्देश्य और विधेय में से उद्देश्य का कथन किये बिना विधेय का कथन नहीं करना चाहिए। क्योंकि कोई भी विधेय वस्तु अपेक्षित आधार के बिना कहीं भी प्रतिष्ठित नहीं होती (उचित नहीं प्रतीत होती।)।

विधेयोद्देश्यभावोऽयं रूप्यरूपकतात्मकः ।
न च तत्र विधेयोक्तिरुद्देश्यात् पूर्वमिष्यते ॥९५॥

यह जो उद्देश्य-विधेय-भाव है वह रूप्य-रूपक-भाव के समान होता है जिसमें मुख-चन्द्रः की तरह रूप्य का पहले एवं रूपक का बाद में कथन किया जाता है। यहाँ पर भी उद्देश्य से पहले विधेय का कथन ठीक नहीं समझा जाता।

पदानामभिसम्बन्धस्यान्यथाभावमात्रतः ।
यत्रानिष्टप्रतीतिः स्याद् रचनां तां परित्यजेत् ॥९६॥

जहाँ पर पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के वैपरीत्य के कारण अभिलषित अर्थ की प्रतीति न होकर ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जो इष्ट नहीं तो उस रचना का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।

येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन सः ।
पदानामसमासानामानन्तर्यमकारणम् ॥९७॥
इति प्रतीत्योर्वैचित्र्यमनालोच्यैव चर्चितम् ।
गुणदोषमपश्यद्भिर्दूरादूरोत्थयोस्तयोः ॥८९॥

जिस पद से जिसका सम्बन्ध है वाक्य में भिन्न स्थल पर प्रयुक्त होने पर भी वह उसके

साथ सम्बन्धित होकर ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उन पदों में जिसमें समास नहीं हुआ होता आनन्तर्य अर्थात् एक पद के तुरन्त बाद दूसरे का होना अनिवार्य नहीं समझा जाता। क्योंकि यहाँ आनन्तर्य के अभाव में अर्थ की प्रतीति में बाधा नहीं होती।

यह बात उन लोगों के द्वारा कही गई है जिन्होंने पदों के दूर और समीप प्रयुक्त होने पर होने वाली प्रतीति में गुण और दोष को ठीक तरह से नहीं समझा है।

स्वरूपेऽवस्थितिर्येषां शब्दानामिति नेष्यते।
न तानन्यव्यवहितान् प्रयुञ्जीत विचक्षणः ॥९९॥

जिन शब्दों की अवस्थिति उसी रूप में इष्ट नहीं है विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि उनका प्रयोग दूसरे पदों के व्यवधान पूर्वक नहीं करें।

सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य या पुनः।
स्वशब्देनाभिधा दोषः स वाच्यावचनाभिधः ॥१००॥

ऐसे अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये जिसका परामर्श किसी सर्वनाम के प्रयोग से ही संभव हो स्वशब्द का प्रयोग करना वाच्यावचन नामक दोष ही है।

पर्यायमात्रभिन्नस्य यदेकस्यैव वस्तुनः।
उपमानोपमेयत्वमवाच्यवचनं च तत् ॥१०१॥

एक ही अर्थ के अभिधायक विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का उपमानोपमेयभाव से कथन भी अवाच्यवचन नामक दोष है।

उपचारसहैकैव रूपकस्येष्यते क्रिया।
यथानलस्य दाहादिर्न कार्यादिरसम्भवात् ॥१०२॥

रूपक में जहाँ एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप होता है वहाँ उपचार अर्थात् साधर्म्य केवल क्रियारूपी धर्म में ही हो सकता है अन्य में नहीं। जैसे अग्नि का औपचारिकसम्बन्ध उसकी दाहिका क्रिया को लेकर ही हो सकता है उसके कार्य धूमादि को लेकर नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि आरोप के स्थलों में जहाँ तुल्य धर्म के द्वारा एक वस्तु का दूसरे पर आरोप किया जाता है वहाँ यह तुल्य धर्म धर्मी में होने वाली क्रिया ही हो सकती है उसका कार्य परिणाम या विकार नहीं। अतएव दाहकत्व के साधर्म्य से विरह आदि पर अग्नि का आरोप तो ठीक है पर अग्नि के कार्य धूम आदि के साधर्म्य से इस प्रकार का आरोप ठीक नहीं होता।

यद्यप्यर्थावुभौ शब्दः क्रमेणाभिदधात्ययम्।
स्वरूपञ्चार्थरूपं च तथाप्यस्याभिधा क्रिया ॥१०३॥
तत्परत्वाद्विवक्षाया विश्राम्यत्यर्थ एव हि।
भिन्नधर्मतया तेन भिन्नकक्षतयापि च ॥१०४॥
नार्हतो जातुचिदिमौ श्लिष्टमेकं विशेषणम्।
मा भूदेकात्मतापत्तिदोषोऽसावेतयोरिति ॥१०५॥

यद्यपि प्रयुक्त शब्द क्रम से अपने एवं अर्थ के स्वरूप को ही बतलाता है फिर भी अर्थ का अभिधान ही एक मात्र शब्द की क्रिया है। क्योंकि उसकी विवक्षा अर्थपरक ही होती है। अर्थात् किसी विशेष अर्थ के प्रतिपादन के लिये ही उस शब्द का कथन किया गया होता

है। अतः उस अर्थ के बोध कराने में ही शब्द की विश्रान्ति है। इसीलिये भिन्न धर्मी तथा भिन्न श्रेणी के होने के कारण दोनों का किसी एक श्लिष्ट विशेषण से कथन इसलिये सम्भव नहीं कि इन दोनों शब्द और अर्थ में एक स्वरूप होने का दोष न होने लगे। यही अवाच्यवचन दोष है।

अप्रस्तुतोक्तिसामर्थ्यात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते ।
प्रतिबिम्बाद्यथा बिम्बं तस्योक्तिस्तत्र नेष्यते ॥१०६॥

प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब के ज्ञान के समान जहाँ काव्य में अप्रस्तुत के कथन के सामर्थ्य से प्रस्तुत का बोध कराने की इच्छा हो वहाँ प्रस्तुत का कथन अभीष्ट नहीं होता।

प्रस्तुतात्तु तदन्यस्य प्रतीतिरनिबन्धना ।
न सम्भवत्येव ततस्तदुक्तिस्तत्र शस्यते ॥१०७॥

किन्तु प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति बिना किसी निमित्त के नहीं होती अतः वहाँ उस निमित्त का कथन आवश्यक समझा जाता है।

यत्रार्थस्योपमानत्वं समासोक्त्यैव गम्यते ।
न तत् तत्र पुनर्वाच्यमुक्तौ वा शाब्दमस्तु तत् ॥१०८॥
अन्यथा त्वन्यधर्मैः कः सम्बन्धोऽन्यस्य वस्तुनः ।
तेन वाच्यत्वमार्थत्वं चेत्यस्य द्वयमप्यसत् ॥१०९॥

जहाँ पर किसी अर्थ की उपमानता का ज्ञान समासोक्ति से ही हो जाता है वहाँ या तो उस उपमानता का कथन नहीं होना चाहिए या यदि कथन भी हो तो शब्दतः अर्थात् इवादि शब्द के द्वारा ही। अन्यथा एक वस्तु के धर्मों के साथ अन्य वस्तु का सम्बन्ध ही क्या ? इसलिये उपमानता की वाच्यता तथा उसका आर्थ अर्थ से ज्ञेय होना—दोनों ही दोषयुक्त हैं।

एकत्रोत्प्रेक्षितत्वेन यत्रार्था बहवो मताः ।
तत्रेवादिः प्रयोक्तव्यः प्रधानादेव नान्यतः ॥११०॥

जहाँ पर एक ही स्थल पर अनेक अर्थों की उत्प्रेक्षा करनी हो वहाँ पर इव आदि का प्रयोग प्रधान के साथ ही करना चाहिए अन्य के साथ नहीं।

यत्स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम् ।
अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम् ॥१११॥
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम् ।
तद्वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते ॥११२॥

जिस विशेषण का प्रयोजन विशेष्य के स्वरूप का पुनः कथनमात्र करना हो, अथवा जो व्यर्थ प्रयुक्त हुआ हो अथवा जिस से अर्थ का साक्षात्कार सा न हो जाता हो अथवा जिसका प्रयोग कवि की प्रतिभा की कमी के कारण हुआ हो, उसे अवाच्य समझना चाहिए। उस का कथन सर्वदा दोषयुक्त होता है। उससे छन्द की पूर्तिमात्र होती है, किसी का कवित्व सिद्ध नहीं होता।

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलंकारत्वमिष्यते ।
नहि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः ॥११३॥

इस पर प्रश्न यह उठता है कि फिर स्वाभावोक्ति को अलंकार कैसे माना जत है।

क्योंकि वस्तु के स्वभाव मात्र के कथन में और इनमें कोई अन्तर नहीं अर्थात् जहाँ तक वस्तु के स्वभावमात्र के कथन का सम्बन्ध है इन दोनों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः ॥११४॥

इसका उत्तर यह है कि जगत में वस्तुओं के दो रूप होते हैं सामान्य और विशिष्ट। इनमें से पहला जो सामान्य है उसकी प्रतीति एक मात्र विकल्पों से होती है अर्थात् वह अनेक विशिष्टों में ही अन्तर्निहित होता है।

स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्त्तितः।
अतएवभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम् ॥११५॥

वस्तु का वह सामान्य रूप ही सभी प्रकार के शब्दों का विषय कहा गया है। इसीलिये शब्द अपने अर्थ के रूप में सामान्य का ही बोध कराने में समर्थ होते हैं अर्थात् शब्द का अभिधेयार्थ वस्तु का सामान्य रूप ही होता है।

विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥११६॥

वस्तु का जो विशिष्ट रूप है वह प्रत्यक्ष का विषय है उसी का निरूपण उत्तम कवियों की प्रतिभा से प्रसूत वाणी के द्वारा होता है। अर्थात् उत्तम कवि अपनी जन्मजात प्रतिभा से वस्तु के जिस स्वरुप का निरूपण अपनी कविता में करते हैं वह उसका विशिष्ट स्वरुप ही होता है।

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥११७॥

कवि जब किसी विशेष रस की निष्पत्ति के लिये उसके अनुरूप शब्द और अर्थ के चिन्तन में मग्न हो जाता है तो बाह्य विषयों से विरत हो जाने के कारण उसका मन एक क्षण के लिये स्तिमित अर्थात् रुक जाता है और उस समय वस्तु के उस विशिष्ट स्वरूप के साक्षात्कार से एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा उत्पन्न हो जाती है अर्थात् उस वस्तु के विषय में उसे एक नये प्रकार का ज्ञान हो जाता है। वह प्रज्ञा ही कवि की प्रतिभा है।

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥११८॥

कवि की वह प्रतिभा भगवान् शिव के तृतीय नेत्र के समान कही गई है जिससे कवि शिव के ही समान तीनों लोकों में कहीं भी स्थित किसी भी भाव का साक्षात्कार कर लेता है।

इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम् ॥११९॥

उक्त प्रकार से प्रतिभातत्व का विशद विवेचन मैंने अपने 'तत्वोक्तिकोश' नामक ग्रन्थ में पहले ही कर दिया है अतः यहाँ पर इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालंकारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः ॥१२०॥

अर्थवस्तु के स्वभाव अर्थात् उक्त विशिष्ट स्वरूप का जो कथन है उसी को अलंकार

माना गया है। क्योंकि स्वभावोक्ति अलंकार कवि की प्रतिभा से पदार्थों का ऐसा चित्रण होता है कि वे साक्षात् विद्यमान से लगते हैं।

सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालंकार गोचरः ।
क्लिष्टमर्थमलंकर्तुमन्यथा को हि शक्नुयात् ॥१२१॥

वस्तु का जो सामान्य रूप है वही अन्य अलंकारों का विषय है अन्यथा अव्यक्त अर्थ को अलंकृत करने में कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् अन्य अलंकारों में अन्यान्य अर्थों की उद्भावना द्वारा जो चमत्कार होता है वह वस्तु के सामान्य स्वभाव का ही चित्रण है।

वस्तुमात्रानुवादस्तु पूरणैकफलोमतः ।
अनन्तरोक्तयोरेव यद्वान्तर्भावमर्हति ॥१२२॥
यथायोगमयं दोषस्तेन पञ्चैव ते मताः ।

रचना में अर्थवस्तु का केवल अनुवाद छन्द की पूर्ति मात्र के लिये किया जाता है जो निश्चित ही दोष है। और जिसका अन्तर्भाव यथावसर पूर्वोक्त पुनरुक्ति एवं वाच्यावचन नामक दोषों में हो सकता है। इस प्रकार काव्य दोषों की कुल संख्या केवल पाँच ही ठीक है।

इतिनार्थो व्यवछिन्नः शब्दमात्रेऽवतिष्ठते ॥१२३॥
सर्वनामपरामर्शयोग्योऽसौ न भवेत् ततः ।
यथा घटः कुट इति ज्ञेयो यस्स पृथूदरः ॥१२४॥

इतिपद के प्रयोग से जिस अर्थ का निर्धारण हो जाता है वह केवल उसी शब्द में ही निहित रहता है पूरे वाक्य में नहीं। अतः वह सर्वनाम के द्वारा परामर्श के योग्य नहीं रह जाता। जैसे, जो घट कुट ऐसा समझा जाता है उसका पेट बड़ा होता है' इस उक्ति में इति के द्वारा घट के वाक्य से विच्छिन्न हो जाने पर पुनः यत् और तत् से उसका परामर्श नहीं हो सकता। इसका दूसरा उदाहरण है—

यथा नृपो नृग इति ख्यातो यः स महामतिः ।

राजा नृग ऐसा प्रसिद्ध जो है वह बहुत बुद्धिमान था। इस वाक्य में इति के द्वारा नृप पद् वाक्य से अलग कर दिया जाता है फिर यः और सः से उसका पुनः परामर्श करना दोष ही है।

ततोऽर्थ एव काव्यात्मा तत्परामर्शनोचितः
न ध्वनिस्तदभावादिसम्बन्धोऽस्य कथं मतः ॥१२५॥

इसलिये आनन्दवर्धन कृत ध्वनिलक्षणकरिका में काव्यात्मा रूपी अर्थ ही उसमें प्रयुक्त इति के द्वारा व्यवच्छेद्य अर्थात् परामर्श के योग्य है ध्वनि नहीं। क्योंकि ध्वनि के साथ इति का सम्बन्ध होने पर फिर ध्वनि के साथ अभावादि का सम्बन्ध कैसे बन सकता है।

इदमद्यतनानां च भाविनां चानुशासनम् ।
लेशतः कृतमस्माभिः कविवर्त्मारुरुक्षताम् ॥१२६॥

अनौचित्य का यह विवेचन मैंने कविमार्ग पर आरुढ़ होने के इच्छुक आजकल के तथा आगे आने वाले व्यक्तियों के लिये शास्त्र के रूप में संक्षेपतः किया है। चूंकि व्यक्तिविवेक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह—अनौचित्य नहीं था इसलिये इसका विवेचन बहुत विस्तार

पूर्वक करना ठीक नहीं समझा गया। यहाँ यह विवेचन केवल दोष-दर्शन मात्र नहीं है अपितु कवियों के लिये मार्ग-दर्शक शास्त्र के रूप में हुआ है।

गमयन्त्यर्थमुखेन हि सुप्तिङवचनादयोऽपरानर्थान् ।
तेन ध्वनिलक्ष्मविधौ शब्दग्रहणं विफलमेव ॥१२७॥

इति श्री राजानक-महिमभट्टकृत-व्यक्ति-विवेक-संग्रह-कारिकायां
शब्दानौचित्यविचारो नाम द्वितीयो विमर्शः ॥

सुप् तिङ् और वचन आदि शब्द के अर्थ के द्वारा ही अन्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं। इसलिये ध्वनिकार कृत ध्वनिलक्षण कारिका में शब्दपद का ग्रहण व्यर्थ में ही किया गया। (क्योंकि शब्द अर्थान्तर की अभिव्यक्ति कदापि नहीं कर सकता)।

इति श्री ब्रजमोहन चतुर्वेदी द्वारा कृत व्यक्ति विवेक की-संग्रहकारिकाओं भाषानुवाद का द्वितीय-विमर्श पूर्ण ।

अथ तृतीयोविमर्शः

शब्दप्रयोगः कर्त्तव्यः प्रधानार्थव्यपेक्षया ।
तदन्यापेक्षया त्वर्थादिनं विपरिणामयेत् ॥१॥

वाक्य में शब्द का प्रयोग प्रधान अर्थ को ध्यान में रखकर करना चाहिए । अनन्तर यदि प्रधान की अपेक्षा अन्य अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध करना है तो उसे उसके वाच्य अर्थ से हटाकर अन्य अर्थ में परिवर्तित कर देना चाहिए ।

विपरीतमतो यत्स्यादपशब्दः स मां प्रति ।
हेतुर्ध्वनेश्चायमेव प्रयोगपरिणामयोः ॥२॥

यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो मैं उसे अपशब्द ही कहूंगा । ध्वनि के प्रयोग एवं नाना अर्थो में उसके विपरिणाम का हेतु यही तथ्य है ।

ध्वनिकाव्य में एक शब्द से अनेक अर्थों की जो प्रतीति मानते हैं वहाँ यह होता है कि शब्द को उसके वाच्य अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ में बदल देते हैं । और इस प्रकार उस अन्य अर्थ का शब्द के साथ साक्षात् सम्बन्ध मानने लगते हैं ।

परिणामो बहुविधो वाचो लिङ्गादिभेदतः ॥
सच प्रसिद्ध एवेति नास्माभिरिह दर्शितः ॥३॥

शब्द का यह विपरिणाम लिंग आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है जो व्याकरणआदि शास्त्रों में अत्यन्त प्रसिद्ध है और इसीलिये हमने उसका विवेचन यहाँ विस्तार पूर्वक नहीं किया है ।

असाधुश्चापशब्दश्च द्विधा शब्दः प्रकीर्तितः ।
तत्रासाधुर्न साध्यो यः प्रकृतिप्रत्ययादिभिः ॥४॥

शब्द के दो प्रकार होते हैं—असाधु और अपशब्द । असाधु शब्द वे हैं जो प्रकृति-प्रत्यय विभाग करके सिद्ध नहीं किये जा सकते । अथात् जिन शब्दों की प्रकृति-प्रत्यय-विभाग रूप व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती वे असाधु प्रकार के शब्द हैं ।

शब्दादपेतोऽपशब्दः शब्दनाकरणात्मनः ।
शब्दना हि परामर्शो वाच्यार्थविषयोऽस्य यः ॥५॥

शब्द का असाधारण कारण शब्दना अर्थात् उसमें निहित अर्थ-प्रत्यायिका शक्ति है । उससे जो रहित है वह अपशब्द है । शब्दना वह शक्ति है जिसके द्वारा शब्द से अर्थ का परामर्श होता है । कहने का आशय यह है कि ऐसा शब्द जिसमें अर्थ को प्रकट करने की शक्ति निहित नहीं है अपशब्द ही कहलाता है । इस प्रकार अपशब्द भी शब्द का एक प्रकार ही है ।

एवञ्चासाधुशब्दोऽपि नापशब्दत्वमर्हति ।
न सोऽप्यभ्येति साधुत्वं तयोर्विषयभेदतः ॥६॥

इस प्रकार असाधु शब्द भी अपशब्द नहीं कहा जा सकता। वह साधु भी नहीं है क्योंकि साधु और असाधु शब्दों के विषय भिन्न भिन्न होते हैं। अर्थात् साधु और असाधु शब्द के अर्थ एक से नहीं होते।

सामर्थ्यादेव शब्दस्य विषयेऽवगते सति।
न प्रयोगोस्य न ह्येष स्वनिष्पत्यै प्रवर्तते ॥७॥

यदि किसी शब्द के अर्थ का बोध उसके सामर्थ्य से ही हो जाता है तो उस शब्द के प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि ऐसी हालत में वह शब्द अपने प्रयोग के औचित्य की सिद्धि नहीं कर पाता।

अतएव प्रकृत्यर्थमात्रं तत्र प्रयुञ्जते।
संख्यासाधनकालादेरानुगुण्यानपेक्षिणः ॥८॥

इसीलिये उक्त स्थलों में शब्द की प्रकृति मात्र का प्रयोग होता है। वचन, कारक एवं काल आदि की अनुरूपता की अपेक्षा उसे नहीं होती।

इयता चापशब्दत्वं न तेषामवकल्पते।
अर्थेषु शब्दनाकर्मकरणत्वानपायतः ॥९॥

केवल इतने से ही उनके अपशब्द होने की कल्पना नहीं कर ली जाती। क्योंकि उनमें विविध अर्थों का बोध कराने की शक्ति का विनाश नहीं हो जाता। अपितु अर्थ के बोध कराने की सामर्थ्य उनमें विद्यमान होती है।

असाधूच्चारणाद्यस्तु तत्राधर्मः प्रवर्तते।
कूपखानकवद्भूतेः सोऽर्थज्ञानान्निवर्तते ॥१०॥

वाक्य में प्रयुक्त असाधु शब्दों के उच्चारण से जो अधर्म (पाप) होता है उसका प्रक्षालन उस शब्द के अर्थ का ज्ञान होने पर उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कुआँ खोदने वालों का मिट्टी और पंक से लिप्त शरीर उससे निकले हुए जल के प्रक्षालन से स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है।

अथवार्थपरिज्ञानमास्तां तत्पठनादपि।
धारणादपि वा पुंसां श्रूयतेऽभ्युदयः परः ॥११॥

अथवा उन अपशब्दों के पाठ से भी वाक्य या पद के अर्थ का बोध होता हो तो हो उसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं। क्योंकि किसी भी शब्द से अर्थ का ज्ञान होने पर मनुष्यों का अत्यन्त उत्कृष्ट अभ्युदय होता है।

यावद्भिरर्थैः सम्बन्धः प्राक्छब्दस्यावधारितः।
तावत्स्वन्यनिराशंसः श्रुतः सन् कुरुते गतिम् ॥१२॥

इस प्रकार शब्द का उसके अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध एक शब्द का जितने अर्थों के साथ होता है उच्चारण किये जाने पर वह शब्द उन सबका बोध कराने लगता है। अर्थों के बोध कराने की उसकी यह गति सम्बन्धित सभी अर्थों तक ही होती है अन्य असम्बन्धित अर्थों का बोध वह नहीं करा सकता।

ततो पदर्थानुगुणा सामग्रयस्योपलभ्यते।
स एवार्थो व्यवस्थाप्यः सत्स्वप्यन्येष्वबाधितः ॥१३॥

पूर्व निर्धारित सम्बन्ध से बोधित अनेक अर्थों में से जिस अर्थ के अनुरूप प्रकरण, वक्ता एवं बोद्धा आदि सामग्री (उपकरण) उपलब्ध होते हैं उस विशिष्ट स्थान पर उस शब्द का वही अर्थ होता है। अन्य सम्बन्धित अर्थों के विद्यमान होते हुए भी शब्द उसी अर्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ होता है अन्य की नहीं।

तेनोभयार्थानुगुणे व्यनक्त्यर्थावुभावपि ।
ययोः सामर्थ्यतः सिध्येदुपमानोपमेयता ॥१४॥

प्रकरणादि वैशिष्ट्य से यदि कोई शब्द एक साथ ही दो अर्थों को व्यक्त करता है तो उन दोनों अर्थों में उपमानोपमेयभाव उसी शब्द के सामर्थ्य से सिद्ध हो जाता है। कहने का आशय यह है कि अपने सम्बन्ध के द्वारा कोई शब्द दो अर्थों की प्रतीति युगपत् कराने लगता है। उस स्थल पर ये दोनों अर्थ वाच्य ही होते हैं और शब्द की दो अर्थों को एक साथ अभिव्यक्त करने की शक्ति से उन दोनों अर्थों में परस्पर उपमानोपमेयभाव स्वतः बन जाता है।

इत्थमर्थान्तरे बुद्धिं ध्वनिरेवादधात्ययम् ।
तन्निबन्धननिर्बन्धो निर्निबन्धन एव सः ॥१५॥

इस प्रकार काव्य में जहाँ कहीं भी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है ध्वनि अर्थात् व्यंजना से ही होती हैं। उसके निबन्धन अर्थात् आधार के प्रति आग्रह निराधार ही है आशय यह है कि एक ही शब्द जब अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति कराता है तो उसमें से एक जो संकेतग्रह से युक्त होता है वाच्य तथा दूसरा व्यंग्य ही होता है जिसकी अभिव्यक्ति व्यंजना शक्ति से होती है। उस व्यंजना का आधार क्या है यह प्रश्न स्वयं निराधार है।

एवं चात्मन्यधिक्षेप्ये किमर्थं तत्त्वदर्शिनः ।
याख्यातारोऽप्यधिक्षिप्ता मोहात् को वेत्ति वा हितम् ॥१६॥

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त की व्यर्थ आलोचना करने वाला व्यक्ति जब स्वयं उपहास का पात्र है तो उसने अपनी कृति (व्यक्तिविवेक) में ध्वनिकार एवं उनके तत्वदर्शी टीकाकार (अभिनवगुप्त आदि) का उपहास क्यों किया ? यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्तिविवेक ग्रन्थ के कर्त्ता ने मोह अर्थात् ध्वनि-सिद्धान्त विषयक अपने अज्ञान के कारण ही ऐसा किया है क्योंकि मोहाविष्ट व्यक्ति हिताहित नहीं जानता।

समाधानः—

यद्यप्यर्थेषु सर्वेषु प्राक् छब्दः कुरुते मतिम् ।
तथापि तद्व्यवस्थार्थं विशेषणमपेक्षते ॥१७॥

इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि यद्यपि शब्द निश्चित अर्थ बोध कराने से पहले अपने सम्बन्धित सभी अर्थों का ज्ञान करा देता है तथापि उसकी व्यवस्था के लिये विशेषण की अपेक्षा होती है। क्योंकि बिना विशेषण के प्रयोग के कोई भी शब्द किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता।

तच्चेत् तद्वदनेकार्थं मुख्योर्थः कोऽवतिष्ठताम् ।
यस्तत्र प्राकरणिकः पौर्वापर्यगतिः कुतः ॥१८॥

यदि आपकी बात स्वीकार भी कर लें कि शब्द पहले अपने से सम्बन्धित सभी अर्थों की प्रतीति करा देता है तो समस्या हल है कि उनमें से मुख्य अर्थ किसे कहा जाय। यदि यह

कहें कि जो प्राकारणिक है उसे ही मुख्य अर्थ समझना चाहिए तो प्रश्न उठता है कि उसमें और अन्य अर्थों में पूर्वापर भाव का ज्ञान कैसे किया जाय । अर्थों के पूर्वापर भाव'के ज्ञान के बिना प्राकरणिक अर्थ का निश्चय नहीं किया जा सकता ।

सा चेत् प्रकरणाद्यो हि प्रकृतस्तस्य सा पुरः ।
पश्चादन्यस्य सामर्थ्यगम्या तस्योपमानता ॥१९॥

पूर्वापर भाव को भी यदि प्रकरण से ही हुआ मान लिया जाय तो जो अर्थ प्राकरणिक है उसी का ज्ञान पहले होगा । फिर अन्य अर्थों का । तथा उस अर्थ की उपमानता का बोध अन्य अर्थ के सामर्थ्य से होगा ।

यतो न तावतैवायं व्यापारो विरतो ध्वनेः ।
व्यापारविरतौ हि स्यान्न ततोऽर्थान्तरे मतिः ॥२०॥

शब्द का व्यापार केवल प्राकरणिक अर्थ का बोध कराकर ही विरत नहीं हो जाता । क्योंकि व्यापार की समाप्ति हो जाने से अर्थान्तर का बोध नहीं हो सकता ।

ध्वनेरनेकार्थस्यापि यथा प्रकरणादिभिः
अनादृत्यैव तच्छक्तिं प्रस्तुतार्थविनिश्चयः ॥२१॥
क्रियते तद्वदेवायं नेष्यतेऽर्थान्तरेऽपि किम् ।
को विशेषोऽस्य यदयं शब्दशक्तिनिबन्धनः ॥२२॥

जिस प्रकार शब्द के अनेकार्थक होने पर भी उसकीशक्ति के बिना ही प्रकरणादि के द्वारा प्रस्तुत अर्थ के निश्चय की बात कही गई है उसी प्रकार बिना किसी शक्ति के शब्द की अर्थान्तर (अप्रस्तुत अर्थ) में गति अभीष्ट क्यों नहीं है ? इस अन्य अर्थ में क्या विशेषता है कि इसकी प्रतीति के लिये शब्द-शक्ति का होना आवश्यक माना गया है ।

विशेषणानुगुण्यं चेदर्थान्तरगतेः पदम् ।
यतस्तदप्यनेकार्थमिष्टमेव विशेष्यवत् ॥२३॥

यदि यह कहें कि शब्द अपने विशेषणों के अनुरूप ही अर्थान्तर की प्रतीति कराता है तो विशेष्य के समान ही विशेषण भी क्या अनेकार्थक इष्ट नहीं ? अपितु वह भी अनेकार्थक ही होता है ।

अनेकार्थत्वमप्यस्य कुतस्तदवसीयते ।
एवमेवावसायश्चेद्विशेष्येऽवगतिर्न किम् ॥२४॥

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि विशेष्य की अनेकार्थता का बोध भी कैसे होता है । यदि यह कहें कि यह यों ही हो जाता है तो विशेष्य में भी विशेषण की सहायता के बिना अनेकार्थता का ज्ञान वैसे ही क्यों नहीं हो जाता ?

तत एव विशेष्याच्चेद् भवेदन्योन्यसंश्रयः ।
अथोभयपरामर्शादिष्यतेऽर्थान्तरे मतिः ॥२५॥
स्यादेवं प्रकृतार्थश्चेत् सिध्येन्नायं तया विना ।
ततोऽनया विमर्शः स्यादन्यथातिप्रसज्यते ॥२६॥

यदि यह कहें कि विशेषण की अनेकार्थता का निश्चय विशेष्य से ही हो जाता है तो अन्योन्याश्रय दोष पड़ता है और यदि कहें कि विशेषण और विशेष्य दोनों के परामर्श से ही

शब्द से अन्य अर्थ का बोध कराना अभीष्ट है तो अर्थान्तर के ज्ञान के बिना प्रकृत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती । फिर अर्थान्तर के विमर्श से ही प्रकृत अर्थ की प्रतीति माननी होगी अन्यथा अतिव्याप्ति दोष होगा ।

तस्मादनेकार्थत्वेऽपि विशेषणविशेष्ययोः ।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थं वाच्यमेव निबन्धनम् ॥२७॥

इसलिये विशेषण और विशेष्य के अनेकार्थक होने पर भी अन्य अर्थ की प्रतीति का हेतु वाच्य को ही मानना चाहिए ।

संघटनावर्णाहितविशेषवाचकसमर्पितादर्थात् ।
क्रोधादिविशेषगतिर्धूमविशेषादिव कृशानोः ॥२८॥

जिस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट एवं पक्ष में धर्म के रूप में रहने वाले धूम से वह्नि का अनुमान होता है उसी प्रकार उस शब्द के अर्थ से, जिसमें वर्णों एवं उनकी संघटना (योजना) से विशेषण का आधान हुआ होता है, क्रोध आदि विशिष्ट भावों का (अर्थान्तर के रूप में) बोध होता है ।

सुप्तिङसम्बन्धाद्याः क्रोधोत्साहादिकान् यथा भावान् ।
गमयन्ति, तद्विधेयाविमर्श एवोक्तमस्माभिः ॥२९॥

सुप् तिङ् आदि विभक्तियाँ तथा सम्बन्ध आदि कारक जिस प्रकार क्रोध एवं उत्साह आदि भावों की प्रतीति कराते हैं उसे हमने विधेया-विमर्श दोष के प्रसंग में ही कह दिया है ।

तदिदं विस्तरस्यास्य तात्पर्यमवधार्यताम् ।
यार्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम् ॥३०॥

सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता ।
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानमनुमैकसमाश्रयम् ॥३१॥

उपर्युक्त समूचे विस्तृत विवेचन का निम्नलिखित तात्पर्य समझना चाहिए—

आप (ध्वनिवादी) को अर्थान्तर (व्यंग्य) की अभिव्यक्ति के लिये (प्रकरणपर्यालोचनादि) जो सामग्री अपेक्षित होती है, वही सामग्री हम अनुमितिवादियों को गमक (हेतु) के रूप में सम्मत है । ध्वनि में अर्थान्तर की अभिव्यक्ति का आधार प्रकरणपर्यालोचन माना गया है । अनुमितिवाद में वही प्रकरणपर्यालोचन लिंग अर्थात् हेतु का काम करता है । फिर वहाँ अनुमिति होने में कोई बाधा नहीं होती । क्योंकि किसी वस्तु से उससे भिन्न प्रकार की वस्तु का ज्ञान एकमात्र अनुमान के ही आधार पर हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

वाच्यवाचकयोः स्वार्थप्राधान्यप्रतिषेधतः ।
ध्वनेः शक्त्यन्तराभावाद् व्यक्तेश्चानुपपत्तितः ॥३२॥

क्योंकि ध्वनिवादी ने वाच्य एवं वाचक के द्वारा अपने अर्थ की अपेक्षा दूसरे अर्थ की प्रधानतया अभिव्यक्ति को ध्वनि कहा है । वाच्य एवं वाचक के द्वारा अपने अर्थ से अर्थान्तर की प्रधानतया अभिव्यक्ति की बात का निषेध यहाँ किया गया है । अभिधा के अतिरिक्त ध्वनि नाम की कोई शब्द-शक्ति सम्भव नहीं । व्यंजना की भी सिद्धि नहीं हो पाती ।

प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता ।
यत्त्वन्यत् तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम् ॥३३॥

ध्वनि-सिद्धान्त का प्राणभूत तत्त्व व्यंजना व्यापार ही है । अतः उसी का विवेचन मैंने इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया है । (वस्तु अलंकार एवं रसादि प्रभृति) ध्वनि के जो अन्य

भेद-प्रभेद हैं उनसे मेरा वैमत्य प्रायः नहीं के बराबर है। अतः इस ग्रन्थ में उनकी उपेक्षा कर दी गई है।

प्रायः प्रतीतिवैचित्र्यरसास्वादविदः प्रति।
सूपकारक्रियेयं मे साफल्यमुपयास्यति ॥३४॥

एक विलक्षण प्रकार की अनुभूति ही रस है। उसके आस्वाद को जानने वाले सहृदय सामाजिक को ध्यान में रखकर किया गया मेरा यह प्रयास उसी प्रकार सफलता को प्राप्त होगा जिस प्रकार उत्तम रसोइये के द्वारा तैयार किया हुआ उत्तम भोजन, उसके आस्वाद को जानने वाले व्यक्ति को पाकर, उसके निर्माता के प्रयास को सफल बना देता है।

आधातुं व्युत्पत्तिं नप्तृणां क्षेमयोगभाजानाम्।
सत्सु प्रथितनयानां भीमस्यामितगुणस्य तनयानाम् ॥३५॥

श्रीधैर्यस्याङ्गभुवा महाकवेः श्यामलस्य शिष्येण।
व्यक्तिविवेको विदधे राजानकमहिमकेनायम् ॥३६॥

श्री धैर्य के पुत्र तथा महाकवि श्यामल के शिष्य राजानक महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक नामक इस ग्रन्थ की रचना अपने इन दौहित्रों की ज्ञान वृद्धि के लिए किया है जो मेरे अमित गुणशाली जामाता भीम के पुत्र हैं तथा जो अप्राप्त की प्राप्ति एवं प्राप्त के संरक्षण में सतत सचेष्ट रहने से सद्विद्या के भाजन हैं और अपने उत्तम आचार विचार के कारण समाज में सुप्रतिष्ठित हो गये हैं।

इस श्लोक में महिमभट्ट ने अपना पारिवारिक परिचय दिया है। इस श्लोक का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में महिमभट्ट के व्यक्तिगत परिचय नामक शीर्षक में देखिए।

प्रतिपाद्य बुद्धयपेक्षौ प्रायः संक्षेपविस्तरौ कर्त्तुः।
तेन न बहुभाषित्वं विद्वद्भिरसूयितव्यं नः ॥३७॥

ग्रन्थकर्ता अपनी कृति में विषय का संक्षेप या विस्तार में विवेचन पाठकों की बुद्धि के अनुरूप ही करता है। यदि पाठक सुबुद्ध है तो संक्षेप में अन्यथा विस्तार में ही विवेचन करना होता है। इसलिये विद्वानों से मेरी प्रार्थना है कि वे मेरे इस बहुभाषण (विस्तारपूर्वक विवेचन) पर दोष न दें या गुण में दोष के आविष्कारण रूप असूया न करें।

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो
नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम्।
हासैककारणगवेषणयानवार्थ-
तत्त्वावमर्शपरितोषसमीहया वा ॥३८॥

ध्वनिकार के द्वारा उद्भावित व्यक्ति अर्थात् व्यंजना के विवेचन में मैंने उन तर्कों एवं युक्तियों का उपन्यास किया है जिनका उल्लेख आज तक किसी ने नहीं किया था। अतः मेरा विश्वास है कि विद्वान् लोग मुझे अवश्य स्मरण करेंगे। चाहे वह स्मरण मेरा उपाहास करने के लिए अथवा मेरे द्वारा की गई गवेषणा (समीक्षा) द्वारा उद्भावित नये विषयों के तत्व ज्ञान से अपने को परितुष्ट (तृप्त) करने की इच्छा से हो।

इति श्री व्रजमोहन चतुर्वेदी द्वारा कृत महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक की संग्रहकारिकाओं के भाषानुवाद का तृतीय-विमर्श पूर्ण।

॥ समाप्त ॥

संग्रन्थावली

(क) संस्कृत-ग्रन्थ

१. **अग्निपुराण** : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज ४१, पूना (१९५७)
२. **अन्नं भट्ट** : तर्क-संग्रह, मास्टर खेलाड़ीलाल, काशी ।
३. **अभिनवगुप्त** : अभिनवभारती (नाटचशास्त्र की टीका), गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९५६ ।
४. **अभिनवगुप्त** : ध्वन्यालोक लोचन (टीका), चौखम्भा, काशी ।
५. **अभिनवगुप्त** : ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिनी, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावली (६०) श्रीनगर १९३८ ।
६. **अप्पय दीक्षित** : चित्रमीमांसा, काव्यमाला, ३८; बम्बई ।
७. **अप्पय दीक्षित** : कुवलयानन्द, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।
८. **आनन्दवर्धन** : ध्वन्यालोक (लोचन तथा बालप्रिया टीकाद्वयोपेत) काशी संस्कृत सीरीज (चौखम्भा) वाराणसी (१९४०) ।
९. **आशाधर भट्ट** : त्रिवेणिका :गवर्नमेंट संस्कृत लायब्रेरी, बनारस (१९२५) ।
१०. **कुन्तक** : वक्रोक्तिजीवित, एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता ।
११. **केशवमिश्र** : तर्कभाषा : चौखम्भा, वाराणसी (मूलमात्र) ।
१२. **क्षेमेन्द्र** : औचित्यविचारचर्चा, चौखम्भा, वाराणसी ।
१३. **क्षेमेन्द्र** : कविकण्ठाभरण, काव्यमाला, बम्बई ।
१४. **गंगेशोपाध्याय** : तत्त्वचिन्तामणि, श्री कामाख्यानाथ तर्कवागीश सम्पादित ।
१५. **गोविन्द ठक्कुर** : प्रदीप (काव्यप्रकाश टीका), चौखम्भा, वाराणसी ।
१६. **जगन्नाथ, पंडित राज** : रसगंगाधर, काव्यमाला सं० सी० १२, बम्बई (१९३९) ।
१७. **जयदेव** : चन्द्रालोक, चौखम्भा, काशी, (१९५०) ।
१८. **जयरथ** : विमर्शिनी (रुय्यक के अलंकारसर्वस्व की टीका) काव्य-माला, बम्बई ।
१९. **जयन्त भट्ट** : दीपिका (काव्यप्रकाश टीका) गवर्नमेंट संस्कृत लायब्रेरी, बनारस ।
२०. **दण्डी** : काव्यादर्श, प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर (भ० ओ० इ०) पूना, (१९३८) ।
२१. **धनंजय** : दशरूपक (धनिककृत अवलोक सहित), चौखम्भा, वाराणसी ।
२२. **नागेश** : गुरुमर्म प्रकाशिका (रसगंगाधर टीका), चौखम्भा, वाराणसी ।

२३. **नागश :** उद्योत, (काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका पर टीका) चौखम्भा, वाराणसी ।
२४. **नरेन्द्रनाथ चौधरी :** काव्यतत्त्वसमीक्षा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
२५. **पातंजल महाभाष्य :** (नवाह्निक) निर्णयसागर, बम्बई ।
२६. **प्रतिहारेन्दुराज :** लघुवृत्ति; भ० ओ० इ०; पूना ।
२७. **भरत नाटयशास्त्र :** (भाग—१, २, ३) गायकवाड़े ओ० सी० बड़ौदा ।
२८. **भर्तृहरि :** वाक्यपदीय; ब्रह्मकाण्ड, चौखम्भा, वाराणसी ।
२९. **भानुदत्त :** रसमंजरी : चौखम्भा, काशी ।
३०. **भामह :** काव्यालंकार, चौखम्भा, काशी ।
३१. **भोज :** सरस्वतीकण्ठाभरण, द्राविड़ेश्वर शास्त्री, काशी ।
३२. **भोज :** श्रृंगारप्रकाश, श्री यदुगिरियतिराज सम्पत्कुमार रामानुज मुनि द्वारा मद्रास से प्रकाशित (१९२६) ।
३३. **भट्टोद्भट :** काव्यालंकारसारसंग्रह; भ० ओ० इ० पूना ।
३४. **मम्मट :** काव्यप्रकाश (झलकीकर कृत बालबोधिनी टीकोपेत) षष्ठ (संस्करण) भण्डारकर ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, पूना ।
३५. **मल्लिनाथ :** तरल (विद्याधर के एकावली की टीका) तिरुवेन्द्रम् ।
३६. **महिमभट्ट :** व्यक्तिविवेक (रुय्यक कृत व्याख्यान टीकोपेत), तिरुवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम् ।
३७. **महिमभट्ट :** व्यक्तिविवेक (व्याख्यान विवृति टीकाद्वयोपेत), काशी संस्कृत सीरीज, १२१ (१९३६) ।
३८. **मुकुल भट्ट :** अभिधा-वृत्ति-मातृका; निर्णयसागर, बम्बई ।
३९. **राजशेखर :** काव्यमीमांसा : गायकवाड़ ओरियण्टल, बड़ौदा ।
४०. **रुद्रट :** काव्यालंकार : काव्यमाला–२, बम्बई ।
४१. **रूपगोस्वामी :** उज्वलनीलमणि : निर्णयसागर; बम्बई ।
४२. **रुय्यक :** अलंकारसर्वस्व, शारदा-भवन, काशी ।
४३. **वामन :** काव्यालंकार सूत्र वृत्ति; (कामधेनु टिप्पणी सहित) ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना (१९२७) ।
४४. **विद्यानाथ :** प्रतापरूद्रयशोभूषण, बाम्बे संस्कृत सीरीज, ६५ बम्बई ।
४५. **विद्याधर :** एकावली, त्रिवेन्द्रम् सं० सी०, तिरुवेन्द्रम ।
४६. **विश्वनाथ :** साहित्यदर्पण, चौखम्भा, काशी ।
४७. **विश्वनाथ पंचानन :** न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, निर्णयसागर, बम्बई ।
४८. **विष्णुधर्मोत्तरपुराण :** श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
४९. **शारदातनय :** भाव प्रकाशन : गायकवाड़ ओ० सी०, बड़ौदा ।
५०. **श्रीकृष्ण भट्ट :** वृत्तिदीपिका, गवर्नमेंट संस्कृत लायब्रेरी, बनारस ।
५१. **समुद्रबन्ध :** (अलंकार-सर्वस्वटीका) तिरुवेन्द्रम् सं० सी० ४० (१९१५)
५२. **हेमचन्द्र :** काव्यानुशासन, काव्यमाला–७०; बम्बई ।

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

१. कान्तिचन्द्र पाण्डेय : स्वतंत्रकलाशास्त्र, चौखम्भा, वाराणसी ।
२. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
३. नगेन्द्र : रससिद्धान्त, ने० प० हा०, दिल्ली ।
४. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा मंदिर, काशी ।
५. बलदेव उपाध्याय : भारतीय-साहित्य-शास्त्र— भाग १, २; प्रसादपरिषद्, काशी ।
६. भोलाशंकर व्यास : ध्वनि-संप्रदाय और उसके सिद्धान्त; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
७. व्रजमोहन चतुर्वेदी : शब्द-शक्ति-विमर्श, ज्ञान-भारती, दिल्ली ।
८. राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य-विमर्श, भारतीभंडार, प्रयाग ।
९. रामचन्द्र द्विवेदी : अलंकार-सर्वस्व-मीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

(ग) आंग्ल ग्रन्थ

1. **Dasgupta & De**—History of Sanskrit Literature; University of Calcutta (1947).
2. **Dasgupta, S. N**.—Fundamentals of Indian Art., Bharatiya Vidya Bhavan. Bombay.
3. **De, S. K**.—Sanskrit Poetics; Calcutta (1960).
4. **De, S. K**.—Sanskrit Poetics as a study of Aesthetics, Oxford University Press, Bombay.
5. **Kane, P. V.**—History of Sanskrit Poetics, Moti Lal Banarsi Das, Delhi.
6. **Krsnamurthy, K.**—Essays in Sanskrit Criticism, Karnatak University, Dharwar.
7. **Pandeya, K. C.**—Abhinavagupta; Chowkhamba, Varanasi.
8. **Pandeya, K. C.**—Comparative Aesthetics, Chowkhamba, Varanasi.
9. **Raghvan, V.**—Some Concepts of Skt. Alankāraśāstra. Adyar Library, Madras.
10. **Sankaran**.—Some Aspects of Literary Criticism, University of Madras.
11. **Shastri, K. S.**—Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit K. S. R. Institute, Mylapur, Madras.

